'अध्ययनमाला'याश्चतुर्थ-पञ्चम-कुसुमरूपो विशेषाङ्कः
श्रीमहावीर-परिनिर्वाण-
स्मृति-ग्रन्थः
प्रधानसम्पादकः—डॉ० मण्डनमिश्रः
सम्पादकः— डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठी
प्रकाशनस्थलम्
श्रीलालबहादुरशास्त्री-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठम्,
१/६ शान्तिनिकेतनम्, नई दिल्ली—२१
विद्यया विन्दतेऽमृतम्

दिल्लीस्थ-श्रीलालबहादुरशास्त्री-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठस्य—'अनुसन्धान-प्रकाशन-विभाग'प्रवर्तिताया
'अध्ययनमाला'याश्चतुर्थ-पञ्चम-कुसुमरूपो विशेषाङ्कः

भगवतः श्रीमहावीरस्य पञ्चविंशतिशततम-निर्वाणमहोत्सवमभिलक्ष्य प्रकाशितः

श्रीमहावीर-परिनिर्वाण-

स्मृति-ग्रन्थः

प्रस्तावना-लेखकः

श्रीदेवनन्दनप्रसादयादवः

उपमन्त्री— केन्द्रीयशिक्षा-समाजकल्याणमन्त्रालयः

अध्यक्षः— शासीपरिषद्, राष्ट्रियसंस्कृत-संस्थानम्, दिल्ली

प्रधानसम्पादकः

डॉ० मण्डनमिश्रः, प्राचार्यः

सम्पादकः

डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठी, प्रवाचको विभागाध्यक्षश्च

सह-सम्पादकः

डॉ० चक्रधरबिजल्वानः, व्याख्याता

प्रकाशनस्थलम्

श्रीलालबहादुरशास्त्री-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठम्

१।६ शान्तिनिकेतनम्, नईदिल्ली-२१

१९७५-ई०

अनुक्रमणिका

प्रथमो भागः

[श्रीमहावीर-चरितामृतम्]

द्वितीयो भागः

[आर्हत-धर्म-सुषमा]

तृतीयो भागः

[जैनवाङ्मयानुशीलनम्]

प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान-विज्ञान के मूल प्रवर्त्तकों में वैदिक व पौराणिक ऋषि-मुनियों व महामनीषियों के साथ ही
तिहासिक अवतारी महापुरुषों के नाम लिये जाते हैं, उनमें भगवान् महावीर का अन्यतम स्थान है । इस
नव ने अपने समय में भारतीय समाज को एक नई दिशा देने के साथ ही ज्ञान और आचार का एक ऐसा
प्रकाशपुञ्ज छोड़ा, जो भारत में ही नहीं अपितु संसार भर में मानवमात्र का पथ प्रशस्त करता रहेगा । ऐसी
भूतियों का स्मरण करना, उनके प्रति श्रद्धासुमन चढ़ाना तथा उनकी शिक्षा पर चलना प्रत्येक व्यक्ति की
र्या का अंग होना चाहिए, किन्तु आधुनिक जीवन की आपाधापी में अधिकतर व्यक्तियों के लिए यह सम्भव
पाता कि वे प्रतिदिन ऐसे कार्य में कुछ समय लगा सकें । इन्हीं व्यावहारिक कठिनाइयों को ध्यान में रखकर
हाविभूतियों के स्मरण का सामूहिक तथा सार्वजनिक रूप से आयोजन किया जाता है, जिससे कि विभिन्न
र्यों में अस्त-व्यस्त लोगों को भी, कुछ समय के लिए ही सही, अपने जीवन को लोकमंगल या आत्म-कल्याण
र प्रवृत्त करने का अवसर मिल सके । भगवान् महावीर की २५००वीं परिनिर्वाण शताब्दी पर देश-विदेश
योजित किए जाने वाले समारोहों ने हम सबको आत्मसुधार की आवश्यकता का स्मरण दिलाया है और
यह भी अवसर दिलाया है कि हम भी उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर सकें । "श्री लालबहादुर शास्त्री
संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली" के "अनुसन्धान विभाग" से भी इस अवसर पर **"महावीर-परिनिर्वाण-स्मृतिग्रन्थ"**
ाशन कर "आर्हत-ज्ञान-यज्ञ" में एक "लघु आहुति" देने का निश्चय किया गया, यह बहुत ही प्रसन्नता का
है ।

शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार द्वारा संचालित "राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान" के तत्त्वावधान में चल रहे
स्कृत विद्यापीठों में 'श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली' का एक प्रमुख स्थान है ।
ई० में इस विद्यापीठ की स्थापना हुई थी और तब से यह शैक्षिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य
ला आ रहा है । प्राच्य-पद्धति से आचार्य कक्षाओं तक अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त यहां लगभग १००
भिन्न शास्त्रीय विषयों पर शोध-कार्य कर रहे हैं । इस विद्यापीठ से अबतक लगभग पच्चीस मानक ग्रन्थ
हो चुके हैं । विद्यापीठ की शोधपत्रिका को प्रायः विषय-विशेष के विशेषांकों के रूप में भी निकाला जाता
ान् महावीर के परिनिर्वाण के २५००वें वर्ष में देश-विदेश में सर्वत्र विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों, सम्मेलनों
साथ-साथ महान् ग्रन्थों का प्रणयन भी किया जा रहा है । ज्ञान के प्रचार-प्रसार में संलग्न विद्यापीठ
ना के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह भी भगवान् महावीर के प्रति युग की मांग के अनुरूप अपनी
क प्रकट करे ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी में लिखित शोधलेखों का संकलन किया गया है । प्रथम भाग
महावीर की संस्कृत भाषा में जीवनी दी गई है और द्वितीय-तृतीय भाग में जैनदर्शन, जैनसंस्कृति तथा जैन

ग्राचार्यों से सम्वन्धित लेख हैं ।

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के तत्त्वावधान में संचालित सभी विद्यापीठों में प्राच्य-पद्धति से पठन-पाठन तथा ग्रनुसन्धान के द्वारा भारत के प्राचीन महामनीषियों के प्रति ग्रादरभावना को वढ़ाने पर ही नहीं, वल्कि उनके द्वारा प्रवर्तित ग्रहिंसा, ग्रपरिग्रह ग्रादि को जीवन में ग्रपनाने पर भी वल दिया जाता है । भगवान् महावीर की स्मृति में इस ग्रन्थ का संकलन या निर्माण कर विद्यापीठ ने एक प्रकार से भारत की समस्त संस्कृत-शिक्षण-संस्थाग्रों का भी प्रतिनिधित्व किया है । संस्कृत का विशाल वाङ्मय भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, महात्मा बुद्ध ग्रादि के समान भगवान् महावीर का भी विशेष रूप से ऋणी है । वस्तुतः भारत की महत्ता का एक प्रमुख ग्राधार यह भी रहा है कि हमारे पूर्वजों ने "शुभ", "उत्तम" या "मंगलमय" के लिये ग्रपने मस्तिष्कों के द्वार कभी भी वन्द नहीं किये । जैन दर्शन में ग्रनेकान्तवाद का वड़ा महत्त्व है ग्रौर इसका प्रमुख ग्राशय यही है कि ग्रपने दृष्टिकोण को सही मानते हुए भी ग्रधिकतर सांसारिक मामलों में ग्रन्य लोगों के दृष्टिकोणों पर भी समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए । सामाजिक मामलों में यदि हम ग्रपने दृष्टिकोण को उदार वना लें तो उससे कई सामाजिक बुराइयों की समाप्ति हो सकती है । भगवान् महावीर के ग्रन्य सिद्धान्त भी वड़े उपयोगी हैं । यदि उनमें से कुछ को भी हम ग्रपने जीवन में ग्रपना सकें तो निश्चय ही हमारा कल्याण होगा ।

इस ग्रन्थ के संकलन, सम्पादन तथा प्रकाशन में ग्रनुसन्धान-विभाग ने जो परिश्रम किया, उसके लिये वह साधुवाद का पात्र है । जिन विद्वानों ने इस ग्रन्थ के लिए लेख भेजे, उनका मैं विशेष रूप से धन्यवाद करता हूं इन दो शब्दों के साथ इस "ग्रध्ययनमाला-विशेषांक" को मैं भगवान् महावीर की स्मृति में समर्पित करता हूं ।

भगवान् महावीर परिनिर्वाण-दिवस

—देवनन्दनप्रसाद यादव

अनुमोदना-सन्देशः

"श्रीलालबहादुरशास्त्री-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ"स्य पंचविंशतिशततमं निर्वाण-महोत्सवं लक्ष्यीकृत्य भग-
ावीरस्य पुण्यस्मृतेर्निर्णयो यावान् सामयिकस्तावानेव हितावहः ।

भगवता महावीरेण शाश्वत-सत्यानामुद्घाटनं कृतम् । तत्र सामयिक-सत्यानि स्वयं समाहितानि
शाश्वतसत्यं त्रिकालाबाधितं भवति । यतः समस्यानां समाधानस्य समीचीनो दृष्टिकोणो न लभ्येत तन्न
तत्यं भवेत् । मन्येऽहं ये-ये अध्यात्मसिन्धौ निमज्जनमकार्षुस्ते सर्वेपि सत्य-दर्शिनो महात्मानः सत्यस्य शाश्वतं
कटयाञ्चक्रुः । महावीरस्य दृष्टौ ते सर्वेपि महावीरा एव । अतो महावीरस्य स्मृतिरस्ति सर्वेषां शाश्वतसत्यस्य
णां स्मृतिरथवा साक्षात् शाश्वतसत्यस्य स्मृतिः । अनुमोदेऽहं अस्मिन् पुण्यकार्ये प्रवृत्तानां भवतां सर्वेषां
वनाम् ।

आचार्यः तुलसी

ा हाउस,
र (राजस्थान)

[श्वेताम्बर जैन तेरापन्थी संघ से वर्तमान आचार्य]

शुभकामना

फोन { आगरा ७२२०२
नई दिल्ली: ३८६७३४

३२ ए, भगवती देवी जैन मार्ग
आगरा कैन्ट
दिनांक ११-१०-७५

नाई,

आपका पत्र दिनांक ४-१०-७५ का मिला । धन्यवाद ।

मुझे जानकर प्रसन्नता हुई कि आप श्री भगवान् महावीर की २५००वीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर
की ओर से "श्री महावीर-परिनिर्वाण-स्मृतिग्रन्थ" (विशेषांक) प्रकाशित कर रहे हैं । उस उपयोगी और
न आयोजन के लिए बधाई एवं आपका कार्य सानन्द सम्पन्न हो इसके लिए शुभ कामनाएँ ।

आपका—

अचलसिंह
सदस्य लोकसभा
८७, नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली

प्रधानसम्पाद्कीय

भगवान् महावीर की २५००वीं परिनिर्वाण शताब्दी पर भारत ही नहीं अपितु विश्वभर में अनेक कार्यक्रमों का आयोजन किया गया है। इस पुनीत अवसर पर 'श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ' के 'अनुसन्धान-विभाग' द्वारा प्रवर्तित अनुसन्धान-पत्रिका 'अध्ययनमाला' के विशेषाङ्क के रूप में संकलित, सम्पादित तथा प्रकाशित "श्रीमहावीर-परिनिर्वाण-स्मृति-ग्रन्थ" आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

विद्यापीठ की बहुविध गतिविधियों में अनुसन्धान व प्रकाशन का अत्यधिक महत्त्व है। १९६२ ई० में इस विद्यापीठ की स्थापना हुई थी और तब से लेकर अब तक यहाँ से लगभग ३० मानक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। इसके अतिरिक्त लगभग १०० छात्र विभिन्न शास्त्रीय विषयों पर शोधकार्य कर रहे हैं। संस्कृत की शिक्षा को अधिकाधिक लोकोपयोगी बनाने तथा शोध की प्रक्रिया को युग की माँगों के अनुरूप चलाने के लिए विद्यापीठ में शोध-प्रशिक्षण सत्रों का आयोजन भी किया जाता है। इसके साथ ही भारतीय संस्कृति, सभ्यता तथा पुरातत्त्व की दृष्टि से जिन स्थानों पर अन्वेषण के लिए उपयोगी सामग्री मिलने की सम्भावना है, उनकी यात्राएँ करना और महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों का संग्रह भी शोधविभाग के कार्यक्रमों में समाविष्ट है। शोधविभाग की मुख-पत्रिका 'अध्ययनमाला' को अपेक्षानुसार विषय-विशेष से सम्बन्धित विशेषांकों के रूप में भी प्रकाशित किया जाता है।

ज्ञान तथा आचार के विश्लेषण की दृष्टि से श्रीमहावीर-परिनिर्वाण शताब्दी से सम्बन्धित कार्यक्रमों का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। संस्कृत-वाङ्मय के क्षेत्र में जिन अनेक महापुरुषों का प्रभाव रहा, उनमें भगवान् महावीर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रस्तुत स्मृतिग्रन्थ द्वारा हमने एक प्रकार से समस्त संस्कृत-प्रेमियों की ओर से भी भगवान् महावीर के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने का प्रयास किया है। कतिपय कठिनाइयों के कारण इस ग्रन्थ का आकार बृहद् नहीं हो पाया और अन्य भी कई प्रकार की त्रुटियाँ अवश्य ही रह गई होंगी। भगवान् महावीर की शिक्षाओं के अनुरूप अपने जीवन को ढालना तो आजकल कतिपय सिद्ध-मुनियों के अतिरिक्त अन्य साधारण लोगों के लिए कठिन ही हो गया है फिर भी निष्ठापूर्वक प्रयत्न करते रहने से हम कुछ-न-कुछ तो आत्मकल्याण कर ही सकते हैं। महापुरुषों के स्मृति-दिवसों या निर्वाण शताब्दियों को सामूहिक रूप से मनाते रहने का उद्देश्य उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना तो है ही, साथ ही इससे एक ऐसा पवित्र वातावरण भी बनता है, जिससे कई लोगों के जीवन में एक शुभ मोड़ भी आ जाया करता है। 'श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ' की शिक्षा-पद्धति तथा आचार-प्रणाली में अहिंसा आदि शाश्वत सिद्धान्तों का पर्याप्त समावेश है, विद्यापीठ के छात्रों, स्नातकों, शुभचिन्तकों, शिक्षकों व अधिकारियों में भगवान् महावीर के प्रति आदर-भावना रखनेवालों की संख्या बहुत अधिक है। संस्कृत के पाठ्यग्रन्थ तथा शिक्षणक्रम में भी प्रायः उन सभी अच्छाइयों का समावेश किया गया है, जिनकी वजह से भारत को जगद्गुरु माना जाता रहा है। कहना न होगा कि सांस्कृतिक, दार्शनिक तथा सामाजिक दृष्टि से भगवान् महावीर ने हमारे देश को अपने समय में एक ऐसा मार्ग दिखाया, जिस पर चलकर

मनुष्य रागद्वेष तथा सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पा सकता है। भगवान् महावीर की २५००वीं निर्वाण शताब्दी पर विदेशों में भी जो असाधारण समारोह आयोजित किये गये, उनसे यह स्वतःसिद्ध है कि जैनधर्म व दर्शन के प्रति आदर की भावना विश्वव्यापिनी है। ऐसी स्थिति में विद्यापीठ द्वारा स्मृतिग्रन्थ का यह प्रकाशन-आयोजन आकार की दृष्टि से विशाल न होने पर भी भावना की दृष्टि से तो किसी भी अन्य आयोजन से कम नहीं है। भगवान् राम को शबरी के बेर बड़े सुन्दर लगे थे। भगवान् कृष्ण ने विदुर की सूखी रोटियाँ आनन्द से खायीं थीं। भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में भी यह कथा प्रचलित है कि जब धूल में खेलते हुए एक बालक ने उनके भिक्षापात्र में एक मुट्ठी धूल डाली तो उन्होंने अपने साथियों से यह कहते हुए धूल को स्वीकार किया कि "वस्तु का नहीं भाव का मूल्य समझा जाना चाहिए, इस बालक की सहज श्रद्धा व दानवृत्ति का महत्त्व समझा जाना चाहिए। श्रद्धापूर्ण समर्पण के संस्कारों को कुचलने की अपेक्षा उन्हें पल्लवित होने देना चाहिए।" इसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी चंदना के बासी बाकले स्वीकार किये थे। जिससे यह सिद्ध होता है कि जब हम किसी महाशक्ति या महापुरुष के प्रति लघुरूप में भी अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं तो उस समय विचारणीय बात यह नहीं रह जाती कि हमारी श्रद्धा का उपादान श्रद्धेय के गौरव के अनुरूप है या नहीं। उस समय तो यही देखा जाना चाहिए कि हमारी श्रद्धा निस्स्वार्थ, निश्छल तथा समग्र है या नहीं। इस दृष्टि से यदि विद्वद्गण विचार करेंगे तो यह लघुग्रन्थ निश्चय ही अपने उद्देश्य की पूर्ति करता हुआ दिखाई देगा।

यह बात मैं और भी स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि इस विद्यापीठ की कोई भी गतिविधि लोक दिखावे, आत्मप्रचार या महज खानापूर्ति के लिए नहीं होती। आरम्भ से ही इस विद्यापीठ की यह परम्परा रही हैं कि जिन मूल्यों के लिए भारत सदैव सचेत रहा और जिनकी वजह से पराधीनता की बेड़ियों में बँधकर भी हमारे देशवासी अपने अस्तित्व को सुरक्षित कर सके, उनको यह विद्यापीठ अपने क्रिया-कलापों से उजागर करता रहे। सम्भवतः यही कारण है कि विद्यापीठ के स्नातक युग की मांग तथा भारतीय नेताओं के मार्गदर्शन के अनुरूप भारतीय समाज की बुराइयों को दूर करने व विभिन्न रूपों में देश की सेवा करने में देश की किसी भी अन्य सस्था के छात्रों से पीछे नहीं हैं। मैं इस बात का इस दृष्टि से भी उल्लेख कर रहा हूँ कि हम ज्ञान के साथ-साथ आचार को भी समान महत्त्व देते हैं और अहिंसा, छूआछूतनिवारण, अपरिग्रह आदि आर्हत-सिद्धान्त हमारे लिए अध्ययन के ही नहीं, व्यवहार के भी निदर्शक हैं। संस्कृत की परम्परीण शिक्षा के साथ युगानुरूप आचार के ऐसे सम्मिश्रण की बड़ी आवश्यकता थी। भगवान् महावीर ने अपने समय में स्वयं भी इस ओर पर्याप्त ध्यान दिया था और इस प्रकार विद्यापीठ भी अपनी अल्पशक्ति व सीमा के अनुसार इस महनीय कार्य में सतत संलग्न है।

इस ग्रन्थ को तीन भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग—**'श्रीमहावीरचरितामृतम्'** में विभिन्न जैनग्रन्थों के आधार पर भगवान् महावीर की जीवनी संस्कृत में दी गई है। विद्यापीठ के शोधविभाग के प्रवाचक डा० रुद्रदेव त्रिपाठीजी ने इस भाग को सरल तथा सुललित संस्कृत में लिखा है. जिससे कि केवल संस्कृत जाननेवालों को भी इससे लाभ हो सके और उन लोगों को भी इसे समझने में कठिनाई न हो जो संस्कृत नहीं जानते। द्वितीय भाग **'आर्हत-धर्म-सुषमा'** में जैनधर्म के वर्तमान आचार्यों तथा मुनियों के लेख समाविष्ट किये गये हैं। इन से निश्चय ही ग्रन्थ का गौरव बढ़ा है और एक प्रकार से आर्हत धर्म व दर्शन की वर्तमान महाविभूतियों का भी अनुमोदन हमें प्राप्त हुआ है। तृतीय भाग—**"जैनवाङ्मयानुशीलनम्"** में विभिन्न विद्वानों के शोधपूर्ण लेखों का संकलन किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ को सब प्रकार से उपयोगी बनाने का भरसक प्रयास किया किया गया है। हमें कहाँ तक इसमें सफलता मिली-इसका निर्णय तो हमारे नीरक्षीर-विवेकी पाठक ही कर सकेंगे।

इस ग्रन्थ के लिए सन्देश व शोधलेख भेजने का जिन-जिन महानुभावों ने कष्ट उठाया, उनके प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। केन्द्रीय शिक्षा एवं समाजकल्याण उपमन्त्री तथा राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान की शासी परिषद् के अध्यक्ष **श्री देवनन्दन प्रसाद यादव जी** ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने की कृपा की। उनके प्रति भी हम कृतज्ञताज्ञापन करते हैं। इस ग्रन्थ के संकलन सम्पादन तथा प्रकाशन में विद्यापीठ के अनुसन्धान-विभाग के प्रवाचक डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी तथा शोधव्याख्याता डॉ० चक्रधर बिजल्वान ने जो रुचिपूर्वक परिश्रम किया, वह प्रशंसनीय है। संस्थान के वर्तमान निदेशक श्री प्रभातचन्द्र शर्माजी तथा विद्यापीठ की स्थानीय प्रबन्धसमिति के अध्यक्ष संसद्-सदस्य श्रीराजाराम शास्त्री जी के शुभाशीर्वाद के बिना यह पुनीत कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता था, अतः उनका भी मैं हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य शाम प्रिंटिंग एजेन्सी के स्वत्वाधिकारियों ने बड़ी शीघ्रता से किया है, अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। ग्रन्थ के मुद्रण आदि में अवश्य ही कुछ त्रुटियाँ रह गई होंगी, उनके लिए अपने सुविज्ञ पाठकों से क्षमायाचना करते हुए मैं इस ग्रन्थ को दिल्लीस्थ श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ परिवार की ओर से भगवान् महावीर की २५००वें निर्वाण पर्व पर उनके श्रीचरणों में सादर समर्पित करता हूँ।

नईदिल्ली
७ नवम्बर, १९७५

डॉ० मण्डन मिश्र
प्रधानसम्पादक तथा प्राचार्य

सम्पादकीयम्

भारतस्य राजधान्यां विराजमानमिदं विद्यापीठं संस्कृत-विद्याया अध्ययनाध्यापनाय तथैकस्यान्ताराष्ट्रियस्य संस्कृतसंस्थानस्य न्यूनतामपनेतुमखिलभारतीय-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलनेन विजयदशम्यां १९६२ ईशवीयवत्सरे संस्थापितम् । अस्येद सौभाग्यमासीद् यदस्य शासननिकायस्याध्यक्ष्यमपि भूतपूर्व-प्रधानमन्त्रि-श्रद्धेयश्रीलालबहादुर-शास्त्रिभिः स्वीकृतं तथा तेषामेव नेतृत्वे 'अखिल-भारतीय-संस्कृत-विद्यापीठ' नाम्ना च पञ्जीकृतम् ।

स्वर्गत-श्रीशास्त्रिमहाभागानां प्रेरणया विद्यापीठं पर्याप्तं बलमाप्तवत् तथा तैः प्रधानमन्त्रिसदृशस्य गौरवपूर्णस्य पदस्य दायित्वं निर्वहद्भिरपि संस्थाया अस्या विकासे महती रुचिर्गृहीता । वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य वाराणस्यां सम्पन्ने दीक्षान्तसमारोहे (२६ दिसम्बर १९६४ ई० वत्सरे) तथा २७ नवम्बर-१९६५ ईशवीयवत्सरे नेपालदेशस्य महाराजाधिराजश्रीमहेन्द्रमहाभागानामुपस्थितौ दिल्ल्यां सम्पन्नस्यास्य विद्यापीठस्य भवन-शिलान्याससमारोहे तैरिदं विद्यापीठमेकमन्ताराष्ट्रियसंस्थानं निर्मातुं घोषितम् । ते स्वजीवनस्यान्तिमसमयावध्यस्या-ध्यक्षा आसन् तेषां नेतृत्वे च द्वित्रवर्षात्मके समय एव संस्थानेनानेन देशस्य शिक्षण-संस्थासु स्वीयं महत्त्वपूर्णं स्थानं निर्मितम् ।

तेषां निधनानन्तरं विद्यापीठस्य सेवास्तथा स्व० श्रीशास्त्रिभिः सह विद्यापीठस्यैतिहासिक-सम्बन्धा-नवलोक्य भारतस्य प्रधानमन्त्रि-श्रीमतीइन्दिरागांधीमहाभागाभिरपि विद्यापीठस्य सभापतिपदं स्वीकृतं तथा ताभिः २अक्टूबर १९६६ वत्सरे विद्यापीठस्य भारत-सर्वकारद्वाराधिग्रहणस्यार्थ च श्रीशास्त्रिणां सेवाभ्यः श्रद्धाञ्जलि-समर्पणदृष्ट्याऽस्य 'श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय-संस्कृतविद्यापीठ' नाम स्थापनायोद्घोषितम् । प्रधानमन्त्रिमहाभा-गानामाध्यक्ष्ये दिल्ल्या उपराज्यपाला डॉ० आदित्यनाथझामहानुभावाः कार्यवाहकाध्यक्षरूपेण विद्यापीठस्योन्नतौ महत्त्वपूर्णं योगदानं कृतवन्तः ।

प्रधानमन्त्रिश्रीमतीन्दिरामहाभागानां घोषणानुसारं भारतसर्वकारस्य शिक्षामन्त्रालयेनैकस्याः स्वाय-त्तसंस्था—(ऑटोनोमसबाडी)या रूपेण अप्रैल १९६७ ईशवीयवत्सरात् विद्यापीठस्याधिग्रहण कृतं तथाऽस्य सञ्चाल-नायैकस्याः सभायाः स स्थापनामप्यमकरोत्— यस्याः सभापतयो भारत-सर्वकारस्य नागरविमानन-मन्त्रिणो डॉ० कर्ण-सिंहमहोदयास्तथा श्रीचपलाकान्तभट्टाचार्या (भूतपूर्व-संसत्सदस्याः) आसन् । दि० २१-१२-१९७० ई० वर्षतोऽस्य विद्यापीठस्य 'राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थाने'नाधिग्रहणं विहितं तथाऽस्य व्यवस्थाया एकां 'स्थानीयप्रबन्ध-समिति'मस्थापयत् । तदा प्रभृत्येवास्य विद्यापीठस्य श्रीलालबहादुरशास्त्रीकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठ'मिति नाम विद्यते । साम्प्रतञ्चास्याः स्थानीय-प्रबन्ध-समितेः सभापतयः प्रो० राजारामशास्त्रिणः संसत्सदस्याः सन्ति ।

विद्यापीठस्य कार्यकलापाः

विद्यापीठस्य महल्लक्ष्यं संस्कृतस्यान्ताराष्ट्रियकेन्द्ररूपेण कार्यसम्पादनमस्ति । परं साम्प्रतिकानां साधनानां सौविध्यानां च दृष्ट्या निम्नाङ्कितानां प्रवृत्तीनां सञ्चालनं विद्यापीठस्य तत्त्वावधाने क्रियते—

(१) अनुसन्धान-प्रकाशन-विभागः ।
(२) पाण्डुलिपि-सङ्ग्रहः पुस्तकालयश्च ।
(३) स्नातकोत्तर-सङ्कायः ।
(४) प्रशिक्षण-सङ्कायः ।
(५) शारदीय-ज्ञान-महोत्सवायोजनमन्याः प्रवृत्तयश्च ।

एताः सर्वा अपि प्रवृत्तयः स्वे स्वे वर्त्मनि नित्यश उत्तरोत्तरं वर्धमानाः सत्यो राजधान्यां भारतीय-संस्कृते-र्गौरवानुरूपाणि संस्कृत-साहित्य-संवर्धनशालीनि कार्याणि च सम्पादयितुं सहायिका भवन्ति ।

अनुसन्धान-प्रकाशन-विभागः

एतासु प्रवृत्तिषु ई० सन् १९७३ तमे वत्सरे— 'अनुसन्धान-प्रकाशन-विभाग'स्य स्थापनयाऽत्र विविधशास्त्रेषु प्रायः शतं छात्राः वाचस्पति (पी-एच ०डी०) विद्यावारिधि (डी० लिट्०) शोधोपाधिभ्यां शोधकार्याणि सम्पादयन्ति । शिक्षामन्त्रालयद्वारा विद्यापीठद्वारा च कतिभ्यश्चिच्छात्रेभ्यो द्विशतरूप्यकाणां वृत्तयोऽपि दीयन्ते ।

साम्प्रतं चतुर्भ्यश्छात्रेभ्यो वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयात् पदवीप्रदानमप्यभूत् । एवमेव राष्ट्रियसंस्कृत-संस्थानस्य पदवीप्राप्तये पञ्च तथा वा० सं० विश्वविद्यालयात् पदवीलब्धये त्रयः शोधप्रबन्धाः १९७४-७५ वर्षे प्रस्तुताः सन्ति ।

सहैवास्मिन् विभागे महत्त्वपूर्णानां ग्रन्थानां प्रकाशनमपि क्रियते । अद्य यावद् 'अखिलभारतीय-संस्कृत-साहित्यसम्मेलन'स्य तत्त्वावधाने कार्यं कुर्वता पञ्च ग्रन्थानां तथा ततः परं प्रायः पञ्चविंशति महत्त्वपूर्णग्रन्थानां च प्रकाशनं विहितम् । साम्प्रतं 'तैत्तिरीय-संहितायास्तदीयस्य सायणभाष्यस्य च हिन्द्यनुवादस्तथा 'देवीपुराण'स्य प्रकाशनं प्रवर्तते । वर्षद्वयादस्मादेव विभागाद् 'अध्ययनमाला' नाम्नैकस्य शोधनिबन्धात्मक-प्रकाशनस्य शुभारम्भः सञ्जातोऽस्ति यस्य प्रथम कुसुमं १९७२-७३ ई० वर्षे प्रकाशितम् । द्वितीय-तृतीयकुसुमरूपो विशेषाङ्कश्च स्व० म० म० श्रीपरमेश्वरानन्दशास्त्रि-स्मृतिग्रन्थः १९७३-७४ ई० वर्षे प्रकाशितः । चतुर्थ-पञ्चमकुसुमरूपेणायं "श्रीमहावीर-परि-निर्वाण-स्मृतिग्रन्थः" पाठकानां पुरत उपस्थाप्यत एव ।

एतदतिरिक्तमस्मिन् विभागे 'भारतीय-दर्शन-कोश'-निर्माण-योजनाऽपि स्वीकृता विद्यते, यस्याः पूर्तये सम्प्रति न्यायविषये पारिभाषिकशब्दानां सङ्कलनं प्रवर्तितमस्ति ।

सहैवानेन विभागेन शोधच्छात्राणां सौकर्याय प्रतिसप्ताहमेका सङ्गोष्ठी सम्पाद्यते यस्यामनुसन्धित्सवः स्वस्वविषयकान् निबन्धान् पठन्ति । तेषु तेषु विषयेषु च विविधाश्चर्चा भवन्ति । अस्मिन्नेव वर्षे विभागेऽस्मिन्

'अनुसन्धान-प्रशिक्षण-सत्र'स्याप्यारम्भोऽक्रियत यस्मिन् त्रिषु मासेषु चतुर्विंशतिसङ्ख्यकैर्विद्वद्भिः शोध-प्रक्रियाया विषयानधिकृत्यैकत्रिंशद्व्याख्यानानि प्रदत्तानि । तत्र प्रदत्तानां भाषणानां शीर्षकैः सह भाषणकर्तॄणां नामसूची निम्नाङ्किता विद्यते—

दिसम्बर १९७४ तो मार्च १९७५ पर्यन्तं
अनुसन्धान-प्रशिक्षणसत्रस्य
वक्तारो व्याख्यान-विषयाश्च

वक्ता	विषय
१—डॉ० नगेन्द्र	(१) अनुसन्धान की अर्थमीमांसा ।
२—डॉ० मण्डन मिश्र	(१) परम्परीण संस्कृत शिक्षा में नवीन प्रणाली से अनुसन्धान कार्य की विधियाँ व दिशाएँ ।
३—श्री अमीरचन्द्र शास्त्री	(१) गीता के परिप्रेक्ष्य में—शोध और योग । (२) साहित्य सम्बन्धी शोध के आयाम ।
४—डॉ० दयानन्द भार्गव	(१) संस्कृत अनुसन्धान की प्रकीर्ण समस्याएँ ।
५—डॉ० सत्यकाम वर्मा	(१) वैदिक अनुसन्धान की दिशाएँ । (२) भाषा-विज्ञान में अनुसन्धान की अपेक्षाएँ तथा दिशाएँ ।
६—डॉ० सुबेसिंह राणा	(१) शोधकार्य में अभिलेखों के उपयोग की प्रक्रिया ।
७—डॉ० कृष्णलाल नादान	(१) शोध प्रक्रियाएँ और पद्धति ।
८—डॉ० (श्रीमती) नम्बियार	(१) शोध-प्रबन्ध में पादटिप्पणियाँ जोड़ने की विधि ।
९—श्री सी० आर० स्वामिनाथन्	(१) पाण्डुलिपि-विज्ञान ।
१०—डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी	(१) शोधकार्य में रूपरेखा-निर्माण तथा प्रस्तावनाएँ । (२) शोधकार्य और अनुवाद की प्रक्रिया । (३) प्रूफशोधन एवं टंकण-सम्बन्धी कतिपय ज्ञातव्य तत्त्व ।
११—डॉ० सत्यपाल नारंग	(१) शोध उपकरण ।
१२—डॉ० योगेशदत्त शर्मा	(१) साहित्य सम्बन्धी अनुसन्धान की दिशाएँ ।
१३—डॉ० मधुसूदन मिश्र	(१) भाषाविज्ञान सम्बन्धी अनुसन्धान की प्रक्रिया एवं दिशाएँ ।
१४—डॉ० लालबहादुर शास्त्री	(१) जैन-साहित्य में शोध के आयाम ।
१५—डॉ० तीर्थराज त्रिपाठी	(१) व्याकरण सम्बन्धी शोधकार्य की अपेक्षाएँ व सीमाएँ ।
१६—श्री बृज विहारी स्वरूप	(१) शोध की सीमाएँ । (२) समस्या का चयन ।
१७—डॉ० ओमप्रकाश सिंहल	(१) अनुसन्धित्सुओं की अर्हताएँ ।

१८—डॉ० चक्रधर बिजल्वान	(१) तुलनात्मक अनुसन्धान की अपेक्षाएँ, सीमाएँ व दिशाएँ । (२) शोधकार्य में कोशों के उपयोग की प्रक्रिया ।
१९—श्री रामशरण शास्त्री	(१) संस्कृत नाटकों से सम्बन्धित अनुसन्धान की दिशाएँ ।
२०—श्री ओमप्रकाश शर्मा	(१) शोधकार्य में संस्कृत और हिन्दी साहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध ।
२१—डा० हर्षनाथ मिश्र	(१) व्याकरण सम्बन्धी शोधकार्य की दिशाएँ । (२) काव्यशास्त्र सम्बन्धी अनुसन्धान की अपेक्षाएँ तथा दिशाएँ ।
२२—श्रीबलिराम शुक्ल	(१) न्यायशास्त्र सम्बन्धी अनुसन्धान की अपेक्षाएँ तथा दिशाएँ ।
२३—श्रीचन्द्रहास शर्मा	(१) प्रशिक्षण और अनुसन्धान ।
२४—श्रीविश्वप्रकाश	(१) काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से सम्बन्धित अनुसन्धान-कार्य की दिशाएँ ।

एतानि व्याख्यानानि यथावसरं संस्कृते हिन्द्यां वा प्रवर्तितानि । प्रशिक्षण-सत्रेऽस्मिन् प्रायः ४० छात्रा उपस्थिता अभूवन् । एतेषु ये पूर्णरूपेणोपस्थितिमदुस्तेभ्यो विद्यापीठादेकैकं प्रमाण-पत्रमपि प्रदत्तम् । अयमेव कार्यक्रमोऽस्मिन्नपि वर्षे प्रचलिष्यति नवीनाश्छात्राश्चानेन लाभान्विता भविष्यन्तीत्याशास्महे ।

स्मृतिग्रन्थ-निदर्शनम्

इदं तु सर्वविदितमेव यदेषमो भगवतो महावीरस्य पञ्चविंशतिशततमं निर्वाणवर्षमभिलक्ष्य न केवलं भारतदेश एवापि तु समग्रेऽपि विश्वेऽहिंसा-संयम-त्यागमयजीवन-सदृशानामुच्चादर्शाणां भावनायाः प्रचार-प्रसाराय 'श्रमणसंस्कृति' समुपासकैरभिनवान्यायोजनानि विहितानि । अयं 'जैनधर्मस्याभ्युदयस्याभूतपूर्वः प्रसङ्ग' इति विचार्यास्मिन् वर्षे यावच्छक्ति सर्वैरपि तदनुयायिभिः शासन-शासनाधिकर्तृभिश्च पूर्णेन हृदयेन सत्याहिंसा-संयम-तपः-प्रवृत्तीनां प्रतिजनं विकासकामनया सहयोगः प्रदत्तः । भगवतो महावीरस्योपदेशानां प्रतिगृहं ससम्मानं ग्रहणं भवेत् तथा सर्वोऽपि जनस्तान् स्वकीये जीवनेऽवतार्य तथा व्यवहरेदिति धिया नाना ग्रन्थानां स्मृति-ग्रन्थानां पत्र-पत्रिकाणां च प्रकाशनानि प्रतिज्ञातानि ।

विद्यापीठमिदं प्रारम्भादेव संस्कृत-शिक्षापद्धतौ जैन-दर्शनस्याध्ययनाध्यापनादिषु सततं जागरूकमेवास्ति । न केवलं शास्त्र्याचार्यकक्षास्वेवात्र छात्रा अधीयतेऽपि तु ते शोध-कार्येऽपि विशिष्टां रुचिं दर्शयन्ति । इतः शोधोपाधिप्राप्तये श्रीमुक्ताप्रसादपटेरियाजैनदर्शनाचार्येण **'जैनदर्शन आत्म-द्रव्यविवेचनम्'** इति विषयमवलम्ब्य वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालयाद् विद्यावारिधि (पी-एच० डी०) रित्युपाधिः प्राप्तः । अस्मिन्नेव वर्षे श्रीदामोदरशास्त्रि-व्याकरणाचार्येण राष्ट्रिय-संस्कृतसंस्थानाद् वाचस्पति(पी-एच० डी०)रित्युपाधये स्वीयो **"भारतीयदर्शनपरम्परायां जैनदर्शनाभिमतं देवत्वम्"** इति शीर्षकः शोधप्रबन्धः समर्पितः । एवमेव 'संस्कृतसाहित्ये श्रीसमन्तभद्रस्य योगदान' तथा 'जैनपद्मपुराणस्य समीक्षात्मकमध्ययन'मित्यादिषु विषयेष्वपि केचन छात्राश्छात्राश्च शोधकार्याय तत्पराः सन्तीति प्रमोदावहमेव ।

वर्षेऽस्मिन् भगवतो महावीरस्य पञ्चविंशतिशततमनिर्वाण-महोत्सवावसरे समस्तस्यापि संस्कृतजगतस्तदनुरागिणाञ्च भावाञ्जलि-समर्पणमपि भवेदिति पावनया प्रेरणया सम्प्रेरितं **श्रीलालबहादुर-शास्त्री-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ**'मपि लोकमाङ्गल्यकर्तृष्वीदृशेषु कर्म्मसु प्रारम्भादेव प्रवृत्तिमत्त्वात् स्वान्तर्गत-**'अनुसन्धान-प्रकाशन-विभाग'**-

माध्यमेन प्रकाश्यमानाया **'अध्ययनमाला'**या विशेषाङ्करूपेण **'श्रीमहावीर-परिनिर्वाण-स्मृतिग्रन्थ'**स्य प्रकाशनाय निरचैषीत् । तदनुसारं चास्माकं प्राचार्यवर्येण प्रस्तुतस्य निर्णयस्य स्वीकृतिः प्रकाशनसमित्या प्राप्ता । ततः परं कार्यालयसम्बद्धेतरव्यवस्थापूर्वकं विदुषां लेखादिसम्प्राप्तये परिपत्राणि प्रेषितानि यथासमयं चास्य ग्रन्थस्य प्रकाशनमारब्धम् । सोऽयं ग्रन्थोऽद्य भवतां पुरस्ताद् विद्यते ।

अस्य ग्रन्थस्य **प्रथमे भागे**ऽन्तिमतीर्थङ्करस्य भगवतो महावीरस्य जीवन-चरित्रं सङ्कलय्य संस्कृतभाषायां 'श्रीमहावीर-चरितामृत'मिति नाम्ना प्रकाशितम् । श्रीमहावीरस्य चरित्राणि अर्द्धमागधी-संस्कृत-हिन्द्यादि-भाषासु नानारूपेण विविधाचार्यैर्निर्मितानि सन्ति, किञ्च लोकोत्तरचरित्रशालिनो जीवन-सागरस्य कस्मिन्नपि सामान्ये पात्रे समावेशोऽपि दुःशक एव । निखिलमपि वाङ्मयं वीक्ष्य कोऽपि तादृशं भगवतश्चरित्रमाकलयितुं कथं प्रभवेत् ? साम्प्रतं प्रवर्तमानानां सम्प्रदायानां मान्यता अपि विविधाः सन्ति यासां पूर्णज्ञानं विना कथं किमपि चरित्रं सङ्कलयेयमिति चिन्ता भूयो भूयो नैराश्यं भावयति स्म । परं महाकवेः कालिदासस्य रघुवंशीयं पद्यमिदं तदा मार्गदर्शकरूपेण स्मृतिगोचरतामगच्छत्—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ इति

पद्यमिदं स्मृत्वैव चरिताकलनाय पूर्वेषां विदुषां 'महावीर-चरित्र'-ग्रन्थाः सङ्गृहीताः । तेषु मुख्यतयाऽऽचार्य-श्रीनेमिचन्द्रशास्त्रि-ज्यौतिषाचार्यप्रणीतः 'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा', श्रीकामताप्रसादजैन-प्रणीतः 'भगवान् महावीर' शतावधानि-पं० श्री धीरजलालटोकरशीशाह-प्रणीता 'श्रीमहावीर-वचनामृत'-ग्रन्थस्था 'भगवान् महावीर [जीवनरेखा]' ग्रन्थाश्चरित्रग्रथने सहायका अभूवन् । आगम-परिचयाय डॉ० जगदीशचन्द्रजैनरचितः 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थस्तथाऽऽगमवाचनाविषयालेखने पं० मुनिश्रीअभयसागरगणि-विरचित- आगमना अजवालां' नामकं गुर्जरभाषायां प्रकाशितं पुस्तकं च मार्गदर्शकमभूताम् । अत एतेषामुपकारभरं स्वीकरोमि ।

द्वितीये भागे जैनधर्मस्य वर्तमानाचार्याणां मुनीनां च लेखाः समाविष्टाः सन्ति । येषु 'विश्वधर्मः, जैनाचार्यैः संस्कृते स्वतन्त्रग्रन्थानां प्रणयनं, भगवतो महावीरस्योपदेशा अस्माकं कर्तव्यं च, भगवतो महावीरस्य जीवनदर्शनं, श्रीमद्यशोविजयमहाराजस्य संक्षिप्तं व्यक्तित्वं कृतित्वं च तथा जैनमतानुसारमभावप्रमेयमीमांसादिविषयात्मका लेखाः संस्कृत-हिन्दीभाषयोः सन्नद्धाः सन्ति । अस्य भागस्याभिधानम् **'आर्हत-धर्म-सुषमा'** इति कल्पितम् ।

तृतीये भागे—चतुस्त्रिंशल्लेखाः प्रकाशिताः । एतेषु क्रमशो जैन-दर्शन-सम्प्रदाय-व्याकरण-धर्म-चरित्रभाषा-मानववाद-संस्कृति-स्तोत्र-नारी-समाजवाद-श्रमणक-योग-मीमांसा-चरित्र-मन्त्रशास्त्राचार-विचारादयो विषया विभिन्नैर्विद्वद्भिश्चर्चिताः सन्ति । अस्य भागस्य नाम **'जैनवाङ्मयानुशीलन'**मिति निर्धारितम् ।

एवं सरल-सरस-सुर-सरस्वती-समभ्येतॄणां विदुषां परमेण सौहार्देन सहयोगेन च **'श्रीमहावीर-परिनिर्वाण-स्मृतिग्रन्थो'**ऽयं प्राचीनार्वाचीन-साहित्य-समीक्षाऽनुसन्धान-विषय-वस्तु-परीक्षण-साम्प्रदायिकाचार-वर्णनादि-विषयैर्यथायथं सम्भूष्य स्वसीम साधनानि च विचार्य त्रिषु भागेषु सुसंयोज्य प्रकाशितः ।

जैनसाहित्यं जैनेतिहासं जैनदर्शनं तदन्तर्गतानि नानाविधानि तदङ्गानि चाधिकृत्य जैनविद्वद्भिरनेके ग्रन्थाः प्रकाशिताः सन्ति तत्रापि विचारणायां सत्यां समग्रस्य जैनसाहित्यस्य मुख्यत्वेन द्वौ प्रकारौ भवतः (१) सार्वजनीनं

जैनसाहित्यं (२) साम्प्रदायिकं जैनसाहित्यञ्चेति। अनयोः प्रकारयोर्यत् साहित्यं विद्यते तत् तु प्राकृत-संस्कृत-देश्य-भाषादिषु लिखितं सदनेकरूपतां धारयति। सार्वजनीने साहित्ये न केवलं लोकोपयोगिनः शास्त्रीयाश्च ग्रन्था एव स्वयं जैनविद्वद्भिर्निर्मिताः परमन्यैराचार्यैः प्रणीतेषु ग्रन्थेषु स्वज्ञानप्रभाविकाः पाण्डित्यमण्डिताष्टीका-प्रटीका अपि विरचिताः। परःसहस्रं ग्रन्था अद्य जैनवाङ्मयस्य गौरवं वर्धयन्ति। तेभ्य एवात्र यत् किञ्चित् सङ्गृह्य पुरस्कृतं विद्यते। मन्ये तदिदं विदुषां प्रमोदाय ज्ञानवर्धनाय चावश्यं सहयोगि भविष्यतीति।

अस्य स्मृतिग्रन्थस्य सम्पादन-प्रकाशन-सौविध्यप्रदानाय आचार्याः प्रधानसम्पादकाश्च **डॉ० मण्डनमिश्र-महाभागाः** सर्वदा सहायका अभवन्। एतेषां सौमनस्येन विभागस्य सर्वाणि कार्याणि प्रगतिमन्ति विद्यन्ते पदे पदे च मार्गदर्शनपूर्वकं सर्वासु प्रवृत्तिषूत्तरोत्तरं विकासाय ते प्रेरयन्तीति तेषामुपकृति-स्मरणपूर्वकमाभारमूरीकरोमि। 'श्रीमहा-वीरचरितामृत'-लेखने विविधग्रन्थप्रदानपूर्वकं विचार-विमर्शदानाय सुहृद्वरश्रीदामोदर-शास्त्रिणेऽस्यैव विद्यापीठस्य जैनदर्शनव्याख्यातृवर्याय च धन्यवादान् वितीर्यात्र लेखने पूर्वरूप-निरीक्षणे वा जातानां त्रुटीनां कृते क्षमायाच्ञापूर्वकं संशोधनाय प्रार्थयन् विरमामीत्यलं पल्लवेन।

संस्कृतविद्यापीठम्	विदुषामाश्रवः
नईदिल्ली-२१	**डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी**
७ नवम्बर, १९७५ ई०	सम्पादकः

प्रथमो भागः

श्रीमहावीर-चरितामृतम्

श्रीमहावीर-चरितामृतम्

[विषयानुक्रमणिका]

—०—

प्रणति-मङ्गलम्

(१)

नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूत-कलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥[१]

(२)

तव जिनशासन-विभवो, जयति कलावपि गुणानुशासन-विभवः ।
दोष-कशासन-विभवः, स्तुवन्ति चैनं प्रभा-कृशासनविभवः ॥[२]

(३)

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वम् ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्ण-दोषाऽऽशय-पाश-बन्धम् ॥[३]

(४)

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥[४]

(५)

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥[५]

(६)

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानशृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥[६]

(७)

प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थ—प्रतिबुद्धैकमूर्तये ।
नमः श्रीवर्द्धमानाय भव्याम्बुरुहभानवे ॥[७]

(८)

स्थेयाज्जातजयध्वजाप्रतिनिधिः प्रोद्भूतभूरिप्रभुः,
प्रध्वस्ताखिलदुर्नयद्विषदिभः सन्नीतिसामर्थ्यतः ।
सन्मार्गस्त्रिविधः कुमार्गमथनोऽर्हन्वीरनाथः श्रिये,
शश्वत्संस्तुति-गोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः ॥[८]

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचारे, समन्तभद्रः,
२. स्वयम्भूस्तोत्रे समन्तभद्रः,
३-६. युक्त्यनुशासने समन्तभद्रः,
७. न्यायविनिश्चये, अकलंकः,
८. युक्त्यनुशासनटीकायाम्, विद्यानन्दः,

(९)

अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्द्धमानं जिनमाप्तमुख्यं स्वयम्भुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ॥[९]

(१०)

अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यानन्दमयात्मने ।
नमोऽर्हते कृपाक्लृप्तधर्मतीर्थाय तायिने ॥[१०]

(११)

सिद्धेर्धाम महारिमोहहननं कीर्तेः परं मन्दिरम्,
मिथ्यात्वप्रतिपक्षमक्षयसुखं संशीतिविध्वंसनम् ।
सर्वप्राणिहितं प्रभेन्द्रभवनं सिद्धं प्रमालक्षणम्,
सन्तश्चेतसि चिन्तयन्तु सुधियः श्रीवर्द्धमानं जिनम् ॥[११]

(१२)

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः सनातनः ।
आविरासीदतो वन्दे तमहं वीरमच्युतम् ॥[१२]

(१३)

जयति विजितरागः केवलालोकशाली, सुरपतिकृतसेवः श्रीमहावीरदेवः ।
यदसमसमयाब्धेश्चारुगाम्भीर्यभाजः, सकलनयसमूहा बिन्दुभावं भजन्ते ॥ [१३]

(१४)

श्रीवीरः स जिनः श्रिये भवतु यत्स्याद्वाददावानले,
भस्मीभूतकुतर्ककाष्ठनिकरे तृप्यन्ति सर्वेप्यहो ।
संशीतिव्यवहारलुब्धनिकरानिष्ठाविरोधप्रमा-
वन्ध्यासम्भवसंकरप्रभृतयो दोषाः परै रोपिताः ॥[१४]

(१५)

स श्रीवीरजिनो जीयाद्यस्य पादनखांशवः ।
विकारो भवराजीवराजेस्तरुणभानवः ॥

—उत्तराध्ययनसूत्रलघुवृत्तौ

(१६)

यन्नाममात्रवशतोऽपि शरीरभाजां नश्यन्ति सामजघटा इव दुष्कृतौघाः ।
पादाग्रलाञ्छितमृगेन्द्रभुवा भियेव देवः स वः शिवसुखं वितनोतु वीरः ॥

—विवेकमञ्जरीवृ

९. अन्ययोगव्यवच्छेदिकायाम्, हेमचन्द्रः,
१०. प्रमाणमीमांसायाम्, हेमचन्द्रः,
११. प्रमेयकमलमार्तण्डे, प्रभाचन्द्राचार्यः,
१२. तत्त्वार्थसूत्रे, प्रभाचन्द्रः,
१३-१४. षड्दर्शनसमुच्चयटीकायाम्, गुणरत्नसूरिः ।

श्रीमहावीर-चरितामृतम्

—डा० रुद्रदेवत्रिपाठी

तीर्थङ्कर-परम्परा भगवान् महावीरश्च

तित्थयरा चउवीस वि केवलणाणेण दिट्ठसव्वाट्ठा ।
पसियंतु सिवसरूवा तिहुवण-सिरसेहरा मज्झं ॥

श्रीवीरसेनाचार्यस्य 'जयधवला'यां प्रोक्ताया अस्या गाथाया अनुसारं 'तीर्थङ्कराः केवलज्ञानेन दृष्टसर्वार्थाः शिवस्वरूपास्त्रिभुवनशिरःशेखराश्च भवन्ति' । प्रत्येकमवसर्पिण्युत्सर्पिणीकाले च चतुर्विंशति-तीर्थङ्करा भवन्ति । ते हि तदानीन्तने काले समस्तेषु महापुरुषेषु प्रधाना धर्म-दर्शनस्य स्वरूप-निर्धारका वीतरागा अहिंसा-समता-सहिष्णुताद्युपासकाः स्याद्वादस्योदारया चिन्तनपद्धत्या सर्वधर्मसमभाव-बोधका आत्मशोधनस्य सुपरीक्षित-मार्ग-प्रवर्तकाश्च भूत्वा सकलं जीवजातं मनसो नैर्मल्याय सम्यक्त्वमुपदिशन्ति ज्ञान-विज्ञान-सदाचाराऽऽस्थाऽऽत्मशोधन-प्रक्रियाभिश्च परमात्मतत्त्वोपलब्धये च 'तीर्थं' प्रवर्तयन्ति । तीर्थप्रवर्तनादेव ते 'तीर्थङ्करा' इत्युदीर्यन्ते ।

जैन-परिभाषानुसारं तीर्थशब्दस्यार्थो **'धर्मशासन'**मित्यस्ति । व्युत्पत्तिदृष्ट्या—तीर्थशब्दः √तॄ धातोः थक् प्रत्ययान्निष्पन्नः । **'तरति पापादिकं यस्मादिति तीर्थम्'** अथवा **'तरति संसारमहार्णवं येन तत् तीर्थम्'** इत्येवं शब्द-कल्पद्रुमकारः प्रतिपादयति तीर्थशब्दम् । इत्थमस्याभिधागतोऽर्थः किल घट्टः सेतुर्गुरुर्वाऽस्ति लाक्षणिकोऽर्थश्च **'धर्म'** इति । **'तीर्थं करोतीति तीर्थङ्कर'** इति तु स्पष्टमेव । तीर्थङ्करा वस्तुतः कस्यापि नवीनस्य धर्मस्य सम्प्रदायस्य वा प्रवर्तनं न कुर्वन्ति, परं ते तु— 'अनादिनिधनस्यात्मधर्मस्य साक्षात्कारं विधाय वीतरागभावेन तस्य पुनर्व्याख्यानं प्रवचनं वा विदधति, अत एव ते मानवसभ्यतायाः संस्थापका नेतारो भवन्ति । ते हीदृशाः शलाकापुरुषाः सन्ति ये सामाजिकीं चेतनां विकासयन्ति मोक्षमार्गं च प्रवर्तयन्ति । संसाररूपायाः सरितस्ताराय धर्मशासनरूपसेतु-निर्मातारः सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्ररूप-पोत-निर्मातारो वा तीर्थङ्करा उच्यन्ते ।

तीर्थङ्कर-शब्दोऽयं नास्ति रूढः । अयं तु महिमशालिने दयालवे निःस्वार्थाय निर्भीकाय सर्वज्ञाय जितेन्द्रियाय निर्मल-विश्वासधारिणे च प्रयुज्यते । पदमिदमात्मविकासस्य चरमोत्कर्ष-प्रतीकम् । अतस्तीर्थङ्करः स भवति यो हि विशिष्टो वीतरागः सर्वज्ञो हितोपदेष्टा च संसार-सागराद् जनानामुद्धाराय सन्मार्गमुपदिशति । तस्मादेव तीर्थङ्करो मोक्षमार्गस्य प्रवर्तको युगपुरुषो भवति ।

जैनविचारकाणां दृष्ट्या संसारोऽयमनादिकालादेव सततं गतिशीलो विद्यते । कालचक्रानुसारमुत्कर्षमयाय कालाय 'उत्सर्पण'स्य तथाऽपकर्षमयाय कालाय 'अवसर्पण'स्याभिधानं प्रदत्तम् । एतयोरुत्सर्पणयोः सुषम-दुःषमादयः

षड्-षड् भेदा भवन्ति। उत्सर्पणकाले प्राणिनामुत्कर्षा अवसर्पणकाले च ह्रासाः सञ्जायन्ते। परं सुषम-दुःषम-कालस्यागमनेन सहैव विचार-सङ्घर्षाः कषायवृद्धयः क्रोध-लोभ-प्रपञ्चस्वार्थाहङ्कार-वैरादीनां परम्पराः प्रादुर्भवन्ति। तदा मानवसमाजादेव कतिपये विशिष्ट-प्रतिभा-सम्पन्ना जना उद्भवन्ति ये जनान् शान्तेः पन्थानं दर्शयन्ति।

एते विशिष्ट-बल-बुद्धि-प्रतिभासम्पन्ना जना मानव-समाजे कुलानि स्थापयन्ति। ते च—

कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति।
युगादि-पुरुषाः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः॥

—महापुराण० आदिपुराणे ३।२१२-१

एतदनुसारं 'कुलकराः—कुलधरा युगपुरुषा'श्चेति प्रोच्यन्ते। एते कुलकरा मानवसभ्यतायाः सूत्रधारा ग्राम-नगरादीनां संस्कृतेर्जनकाश्च भवन्ति। एतेषां संख्या चतुर्दश मन्यते। कुलकराणां स्थित्या सर्वा अपि जनसाधारणस्य जीवनावस्थाः सुचारुरूपेण व्यवस्थिता भवन्ति तदाऽऽध्यात्मिक-क्षुधोपशान्तये चतुर्विंशति-तीर्थङ्कराः, द्वादश चक्रवर्तिनः, नव बलभद्राः, नव नारायणा नव च प्रतिनारायणा एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषाः प्रादुर्भवन्ति ये सर्वविधायां सामाजिक-व्यवस्थायां वैयक्तिकजीवनोत्थाने च सहायका भवन्ति।

आद्यतीर्थङ्करः श्रीऋषभदेवः

तीर्थङ्करेषु 'श्रीऋषभदेव'स्य नाम सर्वप्रथममायाति। एतैरात्मविद्याया नेतृत्वं विहितम्। लोकेभ्यः कृषिशिक्षया सह जीवनोपयोगिनां षट्कर्मणामपि शिक्षा तैरेव प्रदत्ता। प्रत्येकं कल्प-कालस्य समानमेव जैनधर्मस्य प्रवर्तनमपि तेषामेव पुण्यं कर्माभूत्। सहयोग-सहास्तित्व-सहृदयता-सहिष्णुता-सुरक्षा-सौहार्द-समानतानां पाठान् पाठयित्वा गुणकर्मानुसारिण्या व्यवस्थायाः प्रतिपादनं त एवाशिक्षयन्। अहिंसा-दयावृत्ति-संयम-रत्नत्रयादीनामाराधनाय ते विशिष्य प्रेरितवन्तः।

श्रीऋषभदेवमहाराजानां जननी मरुदेवी पिता च श्रीमान् नाभिराज आस्ताम्। एतेषां जन्मनः समकालमेव सर्वत्र शान्तेः साम्राज्यं प्रासरत्। समस्तस्यापि जगतः कल्याणाय धर्मामृतस्य वर्षाकरणाद् वृषभदेवः, धर्मस्याद्यप्रवर्तनाच्च 'आदिनाथ'नाम्नाऽपि जनास्तान् स्मरन्ति। इक्ष्वाकुवंश-प्रभवानामेतेषां विवाहानन्तरं शतं पुत्रा ब्राह्मी सुन्दरी चेति पुत्रीद्वयं चाभवन्। एतैरसङ्ख्यात-वर्षावधि राज्यं विहितम्। धर्मानुकूला राज्यव्यवस्था सञ्चालिता तथाऽन्ते विरज्य श्रमणदीक्षाऽङ्गीकृता। अनेके राजानः सामन्ता महापुरुषाश्च तैः सहैव दीक्षिता अभवन। घोरं तपः प्रतप्यान्ते केवलज्ञानं सम्प्राप्ता लोकेभ्यश्च शान्तेरुपदेशान् वितरितवन्तः।

श्रीऋषभदेवानन्तरं क्रमेण—**अजितनाथ-सम्भवनाथ-अभिनन्दन-सुमतिनाथ-पद्मप्रभ-चन्द्रप्रभ-पुष्पदन्त-शीतल-श्रेयांस-वासुपूज्य-विमल-अनन्त-धर्म-शान्तिनाथ-कुन्थु-अरनाथ-मल्लि-मुनिसुव्रत-नमि-नेमि-पार्श्वनाथ**—नामान एकविंशतितीर्थङ्करा अभवन्। एते सर्वेऽपि सत्यस्यान्वेषका आत्मसाक्षात्कार-सम्पादका आसन् स्वीयाभिरन्तर्दृष्टिभिर्मानवानां तात्कालिकीनां समस्यानां च समाधानानि प्रास्तुवन्,। अनेकान्ताहिंसासमताप्रभृतितत्त्वानां प्रवर्त्तनेन शान्तेर्मार्गदर्शनञ्चाकुर्वन्।

तीर्थङ्करः श्रीपार्श्वनाथः

त्रयोविंशतितम-श्रीपार्श्वनाथ-तीर्थङ्कराणां जन्म वाराणस्यामभूत्। तेषां माता महाराज्ञी वामादेवी जनकश्च महाराजोऽश्वसेन आसीत्। जीवनस्य त्रिंशत्तमे वर्षे गृहत्यागानन्तरमेते सम्मेदशिखर-नाम्नि पर्वते तपश्चरणमकुर्वन्। पर्वतोऽयं साम्प्रतमपि 'पार्श्वनाथ-पर्वत'नाम्ना सुप्रसिद्धो विद्यते। एतैः केवलज्ञानं सम्प्राप्य सप्तति-

वर्षपर्यन्तं श्रमणधर्मस्य प्रचारः कृतः । जैन-पुराणानुसारं श्रीपार्श्वनाथभगवतां निर्वाणं श्रीमहावीरस्य निर्वाणात् २५० वर्षेभ्यः पूर्वमभवत् । श्रमणपरम्परायामेतेषां प्रभावोऽतीव गभीरोऽस्ति । क्षमाधारायाः प्रवाहकानामेतेषां प्रभावातिशयेन श्रमणसंस्कृतेः पर्याप्ता समुन्नतिरभवत् । निर्ग्रन्थ-सम्प्रदायस्य तपस्विता-रूक्षता-जुगुप्सा-प्रविविक्ततारूपतपश्चतुष्टयमप्येतेषां समये सुप्रवर्तितमभूत् ।

एवं तीर्थङ्कर-परम्परेयं वैज्ञानिकदृष्ट्या सत्यान्वेषक-परम्परेव प्रामुख्यमभजत् । अस्यामेव परम्परायां चरमतीर्थङ्कररूपेण भगवतः श्रीमहावीरस्य जन्म रूढिवादस्यान्धविश्वासस्य च निरोधपूर्वकं जनेभ्यो वास्तविकं मार्गं दर्शयितुमभवत् । विश्वबन्धुत्वस्य सुप्रसाराय सुप्रचाराय तीर्थपरम्परायाश्च ध्वस्तप्रायाणां घट्टानां पुनरुद्धाराय तथा सहजकरुणायाः सर्वत्र विस्ताराय श्रीमहावीरस्याविर्भावः सर्वथाऽऽवश्यकः सामयिकश्चासीत् ।

पूर्वकालिक्यः परिस्थितयः

भारतस्य प्राचीनमितिवृत्तं महता गौरवेण गर्भितं विद्यते । अस्य धरायां महर्षयो महापुरुषाश्च स्वतपःपरम्पराभिः प्रभूतं तेजः सम्प्राप्य भूयसः कल्याणकरान् उपदेशान् उपदिष्टवन्तः । तेषूपदेशेषु नीतिका धार्मिका आध्यात्मिकाश्च नैकश उपदेशा महत्त्वभाजः सन्ति येषां परिशीलनेन सकलस्यापि जनिमतो जीवनं न केवलमात्मकल्याणाय, अपितु परेषामपि हिताय भवति । एवंविधेषु महात्मसु भगवतो महावीरस्याभिधानं विश्वप्रसिद्धं विद्यते ।

श्रीमहावीरस्य जन्मकालः षड्विंशतिशतवत्सरेभ्यः पूर्वतनो भारतीयसंस्कृतेरितिहासे सांस्कृतिक्या दृष्ट्या नातिसमीचीन आसीदिति तद्विदां वादः । तं कालमितिहासज्ञाः 'तमःपूर्णः काल' इति प्रचक्षते । तदानीं सर्वतो विसारी हिंसायाः प्रसारः, असत्यस्य प्रचारः, अन्यायस्याधारः, विषमताया विचारः शोषणस्य च सञ्चारश्चिरं रमते स्म । धर्मस्य नाम्ना नैके मार्गा आविष्कृता आसन् येषु विकृतीनां बहुलः प्रवेशो जनानां भ्रान्ते पथि प्रेरणायालमभवत् । जीवनस्य वास्तविकं तत्त्वं विस्मृत्य मानवा भौतिकीष्वेवैषणासु लिम्पन्ति स्म ।

तेषु दिवसेषु दार्शनिकस्य चिन्तनस्य स्थानमधिगृहीतमभूद् वराक्याऽन्धश्रद्धया । चार्वाकस्य विचार-सरणिः सवेगं प्रसरन्ती सकलस्यापि लोकस्य जीवन-धोरणीं विचित्रे वर्त्मनि समुपस्थापयति स्म । पूर्णकाश्यपस्याघोषोऽकर्मण्यतावादं, भगवतस्तथागतस्य 'यत् क्षणिकं तत् सत्' तथा 'सर्वमनित्य'मित्याद्युपदेशाः क्षणिकवादं, साङ्ख्यदर्शनस्य 'आत्मनः कूटस्थत्वं नित्यत्वं' चेति नित्यत्ववादं, गोशालकस्य नियतिवादं, अजितकेशकम्बलस्योच्छेदवादं, प्रक्रुद्धकात्यायनस्यान्योन्यवादं, सञ्जयवेलट्ठिपुत्रस्य विक्षेपवादं च तत्तन्मतानुसर्त्तारः सम्प्रचार्य स्व-स्व-प्रतिभा-प्रभाव-भाविता जनान् वैचारिकेषु पञ्जरेषु पूरयित्वा यथारुचि बुद्धिकेलीः स्फोरयन्तः किमपि चित्रमेव वातावरणं समसृजन् । सत्यमेवैवं स आसीत् चिन्तनेऽपि सङ्क्रमणकालः ।

आर्थिकस्थितिदृष्ट्या तीर्थङ्करस्य श्रीमहावीरस्य जन्मकाले भारतेऽर्थसङ्कटो नासीत् । तदानीन्तनं भारतं पूर्णं समृद्धिमत् सुसम्पन्नं सुखि च समभवदिति तात्कालिक-जैन-बौद्धादि-साहित्य-पर्यालोचनेन प्रतीयते । सर्वत्राभरण-वसन-शिल्पवस्तुजात-वर्णनैर्जनानामार्थिकी स्थितिः सन्तोषावहाऽभूदिति ज्ञायते । क्रय-विक्रयाभ्यां रौप्यमापक-स्वर्ण-रजत-ताम्रमुद्राणां प्रयोगाः पणार्द्धपण-पादपणाष्टभागपण-रौप्यमापक-धरण-रूपेण प्रचलिता आसन् । कृषि-वाणिज्य-पशु-पालन-शिल्पादय आयानां साधनान्यवर्तन्त । आमोद-प्रमोद-सामग्रीणां बाहुल्यमपि कूप-वापिका-स्ननागार-सभा-गृह-नाट्यशालादिभ्योऽनुमातुं शक्यते ।

परं सामाजिकी स्थितिर्नाभूत् सन्तोषावहा । सर्वत्र जातिवादस्य सम्पोषः समाजं मुख्यतया ब्राह्मणवादं प्रत्याकर्षत् । यज्ञानां प्रामुख्यं सर्वत्र व्याप्तिमदवर्तत तत्रापि बलिविधानानि स्वेच्छाचारान् वर्धयन्ति स्म । स्वार्थलो-

लुप्ता हिंसाविश्वस्तिभाजश्च यथेच्छं हिंसाकर्मसु प्रवृत्ताः सन्त आत्मन ईप्सितानि साधयितुं सक्षमा अभवन् । **वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरिति** भावनया सर्वोऽपि लोको वर्णाश्रमपद्धतौ ब्राह्मणमेव गुरुत्वेनामन्यत । नारीणां स्वातन्त्र्यं कुण्ठितमेवातिष्ठत् । **'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हती'**त्येतादृश्य उक्तयस्तासां सर्वविधे विकासे बाधिका भवन्ति स्म । शूद्रादिवर्णानां दशा च शोचनीयतामेव गता प्रत्यभात् ।

राजनीतिकी व्यवस्था विशृङ्खलप्राया सती जनानावर्त्त-विवर्त्तयोरन्तराले संस्थाप्य मानसमस्वास्थ्यं समपादयत् । स्थिरत्वं क्वापि नास्थात् । अनेकत्र भागेषु प्रजातन्त्रात्मकानि गणराज्यानि स्थापितान्यासन् येषु विधानानुसारं प्रतिनिधयो निर्वाचनमाध्यमेन विजित्य राज्यमण्डलस्य सदस्यतामभजन्त । जनानां हिताय ते प्रायतन्त । तदानीन्तनेषु गणराज्येषु 'लिच्छवि-शाक्य-मल्ल-कोल्य'-प्रभृतीनि गणराज्यानि प्रधानानि व्यराजन्त । गणराज्यातिरिक्तं मगधोत्तर-कोसलवत्सावन्ति-कलिङ्ग-वङ्गाङ्ग-प्रभृतीनि राज्यतन्त्राण्यासन् । एतेषु परस्परं स्नेहोऽपि व्यलसत् परं प्रजाजनाः स्वातन्त्र्यं नानुभवन्ति स्म ।

एवं सर्वत्र पाखण्ड-प्रचुरतायाः स्वार्थस्य वादानां च झञ्झावातः सर्वानुद्वेल्लयन्नेवातिष्ठत् । एतामवस्थां श्रीपार्श्वनाथ-परम्पराया अन्तिमः प्रतिनिधिः श्रीकेशिकुमार एवं व्यवर्णयत्—

अंधकारे तमे घोरे चिट्ठंति पाणिणो बहू ।
को करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥

—उत्तराध्ययन० २३।७३

भगवतो महावीरस्य युग एव चीनदेशे लाओत्सेः कन्फ्यूशियसश्च, ग्रीकदेशे पेरामिण्डस् इम्पेडोलस् च, ईरानदेशे जरथुस्त्रः, भारतदेशे च गौतमबुद्धः सर्वेऽप्येते मानवधर्मस्य संस्कृतेश्च महान्तः प्रसारका अभूवन् । सर्वेषामेतेषां स्वानि स्वानि चिन्तनानि, अनुभवास्तथा प्रयोगा अभवन् । सर्वेऽपि परमानन्दस्य सत्यस्य वा गवेषणाय सकलं सांसारिकं सौख्यं विसृज्य वैराग्यं प्रति वर्धमाना आसन् । एतेषां साधना-मार्गा यद्यपि भिन्न-भिन्ना अवर्तन्त तथापि लक्ष्यं समेषामेकमेवाभूत् । एवं सत्यपि सकलानां लक्ष्यविषयिण्यः परिभाषाः केन्द्र-बिन्दवश्चैकत्वं नाभजन् । सर्वेषां प्रवृत्तयोऽपि विभिन्ना अभूवन् । तथापि तदानीन्तनाः सर्वेऽपि महापुरुषाः मानवस्य सत्तां सर्वोन्नतामेवोदघोषयन् ।

तस्मिन् काले सर्वोऽपि मानवगणः प्राचीना रूढिपरम्पराः परिवर्तयितुं क्रियाशीलोऽवर्तत । प्रत्येकं विचारकः स्वार्थानामन्धविश्वासानां रूढिवादानाञ्च ध्वंसन-पूर्वकं मानवताया नवीनां प्रतिष्ठां च कर्त्तुं कृतसङ्कल्प इवातिष्ठत् । अशान्तेरसन्तोषस्य च प्रपुष्टं प्रसारं निरोद्धुं कस्यापि महत्त्वशालिनः प्रतिभावत आवश्यकतैव मन्ये भगवतो महावीरस्यविर्भावाय प्रेरयित्री समजायत ।

अत एव भगवतो महावीरस्य प्रादुर्भावः सत्यमेव लोकमङ्गलायाभवत् । येन जगतो जीवनस्य च गहनं तलं प्रविश्य तत्रैव न स्थितमपि तु ततोऽग्रे वर्धनाय तदपि लङ्घितम् ।

जन्मस्थानं वंश-परिचयश्च

भगवतो महावीरस्य जन्मस्थानमधिकृत्य 'कल्पसूत्र'-प्रोक्तैः 'विदेहे' 'विदेहजच्चे' 'विदेहसुकुमाले'-प्रभृतिविशेषणैस्तथा 'दशभक्ति'[1]हरिवंशपुराणादिषु समागतैः 'सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे' 'भरतेऽस्मिन्

१. सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेह-कुण्डपुरे ।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् सम्प्रदर्श्य विभुः ॥

—निर्वाणभक्ति० ४

विदेहाख्ये विषये भवनाङ्गणे । राज्ञः कुण्डपुरेशस्य वसुधाराऽपतत् पृथु'रित्यादि-वर्णनैश्च प्रायो निश्चितमेवास्ति यद् विदेहराज्यमेव तदीया जन्मभूमिरभूदिति ।

तदानीं स्थापितेषु वृजिसङ्घः (वज्जीसङ्घः) सर्वतो बलशाली प्रतिष्ठितश्चासीत् । तस्मिन् 'विदेह-लिच्छवि-ज्ञातृक-वज्जि-उग्र-भोग-कौरव-इक्ष्वाकु-संज्ञका'न्यष्टौ कुलानि सम्मिलितान्यासन् । एतेषु ज्ञातृकक्षत्रियाणां राजधानी कुण्डपुरं[१] कुण्डग्रामो वाऽभूत् । इममेव ग्रामं 'क्षत्रियकुण्ड'नाम्नाऽपि व्यवहरन्ति स्म । इदं च नगरं वैशाल्या उपनगरेष्वेकमभूत् तथा 'क्षत्रिय-कुण्ड'-'ब्राह्मण-कुण्ड'नामभ्यां द्वयोर्भागयोर्विभक्तं व्यराजत । क्षत्रियकुण्डसन्निवेशो ब्राह्मणकुण्डसन्निवेशादुत्तरस्यां स्थित आसीत् । क्षत्रियकुण्डग्रामे ज्ञातृकवंशीयाः क्षत्रिया वसन्ति स्म । महाकविः 'असगः' उपनगरस्यास्य वैशिष्ट्यमेवमवर्णयत्—

तत्रास्त्यथो निखिलवस्त्ववगाहयुक्तं भास्वत्कलाधरबुधैः सवृषं सतारम् ।
अध्यासितं वियदिव स्वसमानशोभं, ख्यातं पुरं जगति कुण्डपुराभिधानम् ॥
प्राकारकोटिघटितारुणरत्नभासां, छायामयैः परिगता पटलैः समन्तात् ।
आभाति वारिपरिखा नितरामनेकां, सन्ध्याश्रियं विदधतीव दिवापि यत्र ॥
धौतेन्द्रनीलमणिकल्पितकुट्टिमेषु, यत्रोपहार-रचितान्यसितोत्पलानि ।
एकीकृतान्यपि सलीलतया प्रयान्ति, व्यक्तिं पतद्भ्रमर-हुङ्कृतिभिः समन्तात् ॥
जैत्रेषवः सुमनसो मकरध्वजस्य, निस्तेजिनाम्बुजरुचो शशलक्ष्मभासः ।
अप्रावृषोर्नवपयोधरकान्तियुक्ता, यस्मिन् विभान्त्यसरितः सरसा रमण्यः ॥
अत्युन्नताः शशिकरप्रकरावदाता, मूर्धस्थरत्नरुचिपल्लवितान्तरिक्षाः ।
उत्सङ्गदेशसुनिविष्टमनोज्ञरामाः, पौरा विभान्ति भुवि यत्र सुधालयाश्च ॥
लीलामहोत्पलमपास्य कराग्रसस्थं, कर्णोत्पलञ्च विगलन्मधु यत्र भृङ्गाः ।
निःश्वाससौरभरता वदने पतन्ति, स्त्रीणां मुहुर्मृदुकराहतिभीप्सवश्च ॥

(वर्धमानचरितस्य १७सर्गे ७-१२ पद्यानि)

एवंविधैर्वर्णनैः सिद्धं भवति यत् 'कुण्डपुरं' तदानीं सर्वाभिः सम्पद्भिर्विभूषितं नगरमासीत् । तच्च 'हरिवंशपुराण'स्य 'एकमेव सदा धत्ते यत्समस्ताकरश्रिय'मित्युक्तिं सर्वथा चरितार्थयति स्म । साम्प्रतं कुण्डपुरमिदं 'वसाढ़'-नाम्ना ख्यातमस्ति । इदमेव महिमशालि नगरं भगवतो महावीरस्य जन्मस्थानमासीदिति—

धन्यं कुण्डपुरं धन्या च तदीया धरित्री ।

अस्यामेव धरित्र्यां विदेहाद्यष्टकुलेषु इक्ष्वाकुवंशस्यैव शाखाभूतं शुद्धार्यकुलरूपेण सुप्रख्यातं 'ज्ञातृक-क्षत्रिय' कुलमवर्तत । एतेषां ज्ञातृक-क्षत्रियाणां निवासस्थानानि प्रामुख्येन वैशाली-कुण्डग्राम-कोल्लगसन्निवेशेषु समभवन् । ज्ञातृवंशोऽयं प्राकृतापभ्रंशभाषयोः 'णाय(नात-नाथ)वंश' इति रूपेण व्यवहृतः । बौद्धग्रन्थेषु कुलमिदं 'निगंठ-नातपुत्ता'-दिशब्दैः परिचायितम् । ज्ञातृक-क्षत्रियाः प्राचीनात् कालादेव जैनधर्मोपासका आसन् स्वसमये च विशिष्टाः सम्माननीयाः सुप्रतिष्ठिता राजकुलरत्नभूताश्चावर्तन्त ।

---

१. अथ देशोऽस्ति विस्तारो जम्बूद्वीपस्य भारते । विदेह इति विख्यातः स्वर्गखण्डसमः श्रिया ॥
तत्राखण्डलनेत्राली-पद्मिनी-खण्डमण्डनम् । सुखाम्भः कुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम् ॥
—तत्रैव, १।२११-२२२।;

अत्रेदमपि स्पष्टीकरणमावश्यकं प्रतीयते यद् वज्जीगणतन्त्रात्मके तन्त्रे नेके लघु-दीर्घा राजानः संयुक्ता आसन् । बौद्धग्रन्थ—'**जातक-अट्ठकथा**'या अनुसारं तेषां राज्ञां संख्या ७७०७ मिताऽभूत् । परमियत्-संख्यावन्तो नृपतय एकत्र सम्मिल्य देशस्य कार्य-सञ्चालनं कर्तुं कथं प्रभवेयुरतस्तेषु केषाञ्चन जनानां कार्य-सञ्चालनाय विशेष-रूपेण चयनमक्रियत । ते यथासमयं वैशाल्याः सङ्घागारनामके राजभवने सम्भूय चर्चा विचारणाः कुर्वन्ति स्म तथा राजकीयानां सामाजिकीनां च कार्यप्रणालीनां निर्धारणानि विदधति स्म । एतेषां निर्णयानामनुसारमेव विदेहस्य शासनं प्राचलत् । सङ्घागारे विहितानां निर्णयानां व्यवस्थितरूपेण पालनं भवेत् तदर्थं निरीक्षणाय तथाऽन्येषां कार्य-कलापानां व्यवस्थापनाय पूर्वोक्तेषु नृपतिष्वष्टानां भूपतीनामेका समिद् निर्मिताऽभूद् यस्यां शुद्धा आर्यवंश्याः सम्मानिताः कुलीना राजानः प्रतिनिधित्वेनागृह्यन्त । तत्र च ज्ञातृवंशाय प्राथम्यं दीयते स्म ।

बौद्धसाहित्यस्यातिप्राचीने '**महावस्तु**'नाम्नि ग्रन्थेऽस्य ज्ञातृवंशस्य वर्णनं भगवता बुद्धेनेत्थमकारि—

स्फीतानि राज्यानि प्रशास्यमाना सम्यग् राज्यानि करोति ज्ञातयः ।
तथा इमे लेच्छवि-मध्ये सन्तो देवेहि शास्ता उपमामकासि ॥

अत्र भगवान् बुद्धो गङ्गामवतीर्य वैशालीं प्रति गच्छति स्म तदा तेषां स्वागताय वैशालीसङ्घस्य लिच्छविप्र-भृतिक्षत्रियाः शोभायात्रां निर्माय पुर आयान्ति स्म तदा तैर्वर्णितं यद् 'एते क्षत्रियाः स्वागतार्थमायान्ति, एषु ये ज्ञातृनामकाः क्षत्रियाः सन्ति ते विशालस्य स्वकीयराज्यस्य शासनं साधुतया सम्पादयन्ति किञ्चैते लिच्छविगणस्य क्षत्रियेषु तथा प्रतिष्ठिताः सन्तः शोभन्ते यथा शास्तृषु देवाः शोभन्त इति ।'

ईदृशं महान्तं प्रतिष्ठाशालिनं परमपवित्रं धर्मनिष्ठं सुसंस्कृतं ज्ञातृवंशं भगवान् महावीरः स्वजन्मना सम्भूष्य भूयोऽपि तद्गौरवमवर्धयत् ।

महाराजः श्रीसिद्धार्थो महाराज्ञी त्रिशला च

कुण्डपुरस्य शासनं बहोः कालाद् ज्ञातृवंशीयाः क्षत्रिया एव चालयन्ति स्म । तेषु भगवतो महावीरस्य पिता-महः '**श्रीसर्वार्थ-महाराजाः**' शासनप्रमुखरूपेण प्रजानां हितानि साधयन्तः स्वीयां प्रजावत्सलतां प्राचीकटन् राज्य-व्यवस्थायाः शुचित्वेन शासन-पद्धतिं समभूषयन् स्वकीयैः सदाचारैः सद्व्यवहारैश्च सकलानपि लोकान् सन्मार्गे प्रावर्तयन् । तेषां धर्मपत्नी '**महाराज्ञी श्रीमती**' धर्मपरायणा मातृवात्सल्यप्रतिमूर्तिरिव सर्वेषां प्रजाजनानां परमादर-णीया समवर्तत । एतयोरेव पुत्ररूपेण 'श्रीसिद्धार्थ'स्य जन्माभवत् । सति काले च श्रीसिद्धार्थ-महाराजः स्वकीयेन बुद्धिकौशलेन विद्यावैभवेन च संयुक्तः सन् पित्रा शासन-प्रमुखपदेऽभिषिक्तः । शासनप्रमुखपदे स्थिताः श्रीसिद्धार्थ-नरेन्द्राः स्वीयैर्गुणैः सर्वानतिशय्य ज्ञातृकुलस्य प्रतिनिधिरूपेण वज्जीनां सङ्घे सर्वोच्चायां समितौ व्यराजन्त । अस्मात् प्रभावातिशयादेव विदेहस्य क्षत्रियसमाजे तेषां प्रतिष्ठाऽत्यन्तं स्थितिमत्यवर्तत ।

'**श्रीसिद्धार्थमहाराजा**' यदा शासनप्रमुखा आसँस्तदा तेषां राज्यव्यवस्थात इतिहासस्य कलुषितानि पृष्ठानि समुज्ज्वलान्यभूवन् । ते शस्त्र-विद्यायां शास्त्रेषु च पारदृश्वानो धर्मज्ञा विद्यानुरागिणो बुद्धिमन्तः प्रभावशालिनश्चा-वर्तन्त । महाकवि-'पुष्पदन्त' विरचिते '**वीरजिणिंद-चरिउ**'नामके काव्ये सिद्धार्थनरेन्द्रवर्णनमित्थमुपलभ्यते—

कुंडउरि राउ सिद्धत्थु सहिउ । जे सिरिहरु मग्गण-वेस रहिउ ॥
अकवाल-चोज्जु जो देउ रुद्दु । अमहिउ सुरेंहिं जो गुण-समुद्दु ॥
ण गिलिउ गहेण जो समर-सूरु । जोधम्माणंदु सधर दूरु ॥

जो णरु अविहंदलि दलिमल्लु । जो पर-णर-णाहहु जणइ सल्लु ।।
अणिवेसिय णिय मंडल-कुरंगु । जो भवणइंदु अविहंडियंगु ।।
जो कामधेणु पसु-भाव-चुक्कु । जो चिंतामणि चिंता-विमुक्कु ।।
अणवरय-चाइ चाएण धण्णु । असहोयर-रिउ सयमेव कण्णु ।।
दो बाहु वि जो रणि सहसबाहु । सुहि-दिण्ण-जीउ जीमूयबाहु ।।
दालिद्दहारि रायाहिराउ । जो कप्परुक्ख णउ कट्ठभाउ ।।

एतदनुसारं त आत्महितैषिणः श्रीधराः सन्तोऽपि न वामनावतारसम्बन्धि-याचकवेषधारिणः, दुःखिभ्यः शम्भुरिव दानदातारः सन्तोऽपि न रुद्रवत् कपालधारिणः, गुणानां समुद्राः सन्तोऽपि न समुद्रवद् देवैर्मथिताः, समरे सूर्याः (शूरा) सन्तोऽपि न केतुग्राहवन्तः, धर्मे मुदं मन्यमाना धनुर्धरा अपि न युधिष्ठिरवद् वनवासं श्रिताः, सुमल्लानां विजेतारो नराः सन्तोऽपि नार्जुनवद् बृहन्नलावेषधरा आसन् । शत्रुहृदयशल्यभूतास्ते भूतलमवतीर्णा इन्द्र-चन्द्र-कामधेनु-चिन्तामणि-कर्ण-सहस्रबाहु-जीमूतवाहन-कल्पवृक्ष-सदृक्षाः सन्तोऽपि न तत्तद्गतदोषवन्तोऽभूवन्निति ।

तेषु दिवसेषु वैशाली-गणतन्त्रमपि सर्वाधिकं शक्तिशालि लोकप्रियञ्चाभूत् । गणतन्त्रस्यास्य राजधानी 'वैशाली'नगरमासीत् तच्च—'सिंधु-विसइ वइसालि-पुरवरि । घर-सिरि-ओहमिय-सुर-वर-घरि ।।' इति महावीर-चरितानुसारं देव-विमानवदुत्तुङ्गैः प्रासादैः परिभूषितमद्योतत । एतस्याधिनायको महाराजश्चेटकः उत्तरपुराणा-नुसार—

सिन्ध्वाख्य(ढच)विषये भूभृद् वैशालीनगरेऽभवत् ।
'चटेका'ख्योऽतिविख्यातो विनीतः परमार्हतः ।।७५।।३४।।

अतिविख्यातो विनीतः परमार्हतश्चासीत् । काशी-कौशलस्य नव लिच्छवीनां नव मल्लराज्ञां चाधिनायकोऽपि महाराजश्चेटक एवाभूत् । अस्य पितुर्नाम 'केक' इति मातुर्नाम च 'यशोमती'ति स्मर्यते । वशिष्ठगोत्रो लिच्छवि-क्षत्रियोऽयं स्वकीय-कुलाभिमान-पराक्रमाभ्यां विराजमानो धर्मेण राज्यं प्रशासति स्म । अस्य धर्मपत्नी श्रीमती 'सुभद्रा' ऽवर्तत या हि यथाकालं धनदत्त-धनभद्रोपेन्द्र-शिवदत्त-हरिदत्त-कम्पन-प्रयङ्ग-प्रभञ्जन-प्रभास'-प्रमुखान् दश पुत्रान् प्रियकारिणी-त्रिशला-मृगावती-सुप्रभा-प्रभावती-चेलिनी-ज्येष्ठा-चन्दना-प्रभृतीश्च सप्त कन्या अजनयत् ।[1]

तासु कन्यासु 'त्रिशला'ऽतीव कोमलस्वभावा मृदुल-वचना परमप्रज्ञाशालिनी विशालहृदयाऽवर्तत । सर्वेषां प्रियकरणेन प्रियव्यवहारेण च सा 'प्रियकारिणी' नाम्नाऽपि प्रसिद्धि प्राप्ताऽऽसीत् । श्रीजिनसेनाचार्यैर्हरिवंशपुराणे—

---

१. द्रष्टव्यम्— धणयत्तउ धणभद्दु उविंदउ । सुहयत्तउ हरियत्तु णियंगउ ।।
कंभोयक कंपणउ पयंगउ । अवरु पहंजणु पुत्तु पहासउ ।।
धीयउ सत्त रूव-विण्णासउ ।
सेयंसिणी सुहव पियकारिणि । अवर मिगावइजणहारिणि ।।
सुप्पह देवि पहावइ चेलिणि । बालमराल लीलगइ-गामिणि ।।
जेट्ठ विसिट्ठ भडारी चंदण । रूव-रिद्धि-रंजिय-संकंदण ।।
(—वीर जिणिंदचरिउ, सन्धि—५)

उच्चैः कुलाद्रि-सम्भूता, सहजस्नेहवाहिनी ।
महिषी श्रीसमुद्रस्य, तस्यासीत् प्रियकारिणी ॥
चेतश्चेटकराजस्य, यास्ताः सप्त शरीरजाः ।
अतिस्नेहाकुलं चक्रुस्तास्वाद्या प्रियकारिणी ॥

इत्यादि-पद्यैस्त्रिशलाया गौरवं वर्णितम् । एवं सौजन्य-सौशील्य-गुण-गण-मण्डितायास्त्रिशलाया विवाह-संस्कारः श्रीमता चेटकराजेन पूर्वपरम्पराऽनुसारं तदानीं कुण्डपुरस्य प्रधानशासकरूपेण ख्यातिङ्गतेन महाराज-श्रीसिद्धार्थेन सह सम्पादितः। वैशाल्याः राजवंशेन सहोभयोः कुलयोः कीर्तिरतितरां व्यापृता । द्वयोर्महत्कुलयोः सम्मिलनमिदं विदेहस्येतिहासेऽमरीं गाथां प्रसारयितुं सफलमभूत् । महाराजः श्रीसर्वार्थः श्रीचेटकराजश्च परस्परमेतेन सम्बन्धेन परमां सन्तुष्टिमन्वभूताम् ।

प्रियकारिणी महाराज्ञी त्रिशला स्वीयैरनुपमैर्गुणैर्महाराजश्रीसिद्धार्थस्य मनो जितवती । धर्मवत्सलो महा-राजश्च प्रियकारिणीं धर्मपत्नीं सम्प्राप्यात्मानं धन्यममंस्त । समग्रमपि कुण्डपुरं सहजेनानन्देन तरङ्गितमभवत् । सर्वाः प्रजाश्चैतेन वैवाहिक-मङ्गलेन प्रमुदिता अभूवन् । स्वर्ण-सुरभि-संयोगोऽयं सर्वेषामानन्दवर्धनायालमभवत् ।

महाराजः श्रीसिद्धार्थो महाराज्ञी श्रीमती त्रिशलादेवी च कुण्डपुरस्य सप्ततलालङ्कृते नन्द्यावर्त-नाम्नि राज-प्रासादे सुखेनावसताम् । कुण्डपुरं तदानीं देवेन्द्रस्यामरावत्या अपि विशिष्ट समृद्धिमद् प्रत्यभात् । श्रीसिद्धार्थनरेन्द्र-प्रशासने तत्रत्याः सकला अपि प्रजाः परमेण धार्मिकजीवनेन कालं यापयन्ति स्म । हिंसाया व्यसनस्य च सर्वत्र विलोप एवासीत् । जनाः श्रमणसंस्कृतेः पालने दत्तचित्ता अभवन् । सर्वे धर्ममुखेनैवार्थ-काम-पुरुषार्थानामुपलब्धये प्रयत्नशीला आसन् ।

राजप्रासादस्य शीर्षभागे जिनेन्द्रस्य चैत्यालय आसीद् यत्र राजपरिवारः सश्रद्धं परमात्मानमुपास्ते स्म । त्रयोविंशतितमतीर्थंकरस्य भगवतः श्रीपार्श्वनाथस्य धर्मशासनोपासको महाराजः श्रीसिद्धार्थो धर्मात्मा दयालुर्व्यसनहीनश्च सन् राजधर्मस्य पालने स्वात्मकल्याणसाधने च दत्तचित्तोऽभूत् ।

प्राप्ते काले देवेन्द्रः स्वकीयेनावधिज्ञानेन भगवतो महावीरस्य जन्मास्मिन्नेव कुण्डपुरे भविष्यतीति विज्ञाय कुबेरं कुण्डपुरस्य शोभाभिवृद्धये समादिशत् । कुबेरस्तत्र पञ्चदशमासेभ्यः पूर्वं रत्नवृष्टिमकरोत् । सर्वत्र शोभायाः समृद्धेश्च साम्राज्येन धरित्री पुलकिता व्यराजत् ।

त्रिशलादेव्याः स्वप्नदर्शनम्

कतिपयमासानन्तरं अच्युत-स्वर्गात् प्रच्युतो भूत्वा तीर्थङ्कर-महावीरस्य जीवस्त्रिशलादेव्या गर्भं प्रविष्टः । तद्दिनमाषाढशुक्लषष्ठ्या आसीत् । महाराज्ञी प्रियकारिणी नन्द्यावर्त-राजप्रासादस्याभ्यन्तरवर्तिनि प्रकोष्ठे हंसतूलिकादि-विभूषिते रत्नपर्यङ्केऽर्धनिद्रितावस्थायां प्रसुप्ताऽभूत् । रात्रेरन्तिमे प्रहरे महाराज्ञी महत्या विभूतेरुदयसूचकान् षोडश[1] स्वप्नानपश्यत् । तेषु—

१—चतुर्दन्तः प्रोन्नतो गजः ।
२—श्वेतवर्णः प्रोन्नतस्कन्धो वृषभः ।

---

१. एतेषां स्वप्नानां संख्या श्वेताम्बर-सम्प्रदाये चतुर्दश वर्तते । तदनुसारं सिंहासन-देवविमान-नामनी अधिके वर्तेते । कतिपयेषु स्वप्ननामस्वप्यन्तरं मिलति परं भावे नास्ति वैषम्यम् ।

३—समुच्छलन् सिंहः ।
४—कमलसिंहासने स्थिता लक्ष्मीः ।
५—सुरभिते मन्दारपुष्पाणां द्वे माले ।
६—नक्षत्रैः परिवेष्टितश्चन्द्रः ।
७—उदयाचले समुदीयमानः सूर्यः ।
८—स्वच्छजलपूरितौ स्वर्णकलशौ ।
९—जलाशये क्रीडारतं मत्स्ययुगलम् ।
१०—स्वच्छसलिलभरितो जलाशयः ।
११—गम्भीरघोषपूर्णः सागरः ।
१२—मणिजटितं सिंहासनम् ।
१३—रत्नैः प्रकाशमानं देवविमानम् ।
१४—धरणेन्द्रस्य गगनचुम्बि विशालं भवनं—नागविमानम् ।
१५—रत्नानां विपुलो राशिः ।
१६—निर्धूमो वह्निः ।

स्वप्न-वेलायां हस्तनक्षत्रमासीद् यन्मङ्गलस्य विभूतेश्च प्रतीकमस्ति। स्वप्नदर्शनानन्तरं त्रिशलाया निद्रा भग्ना। सा व्यचिन्तयत्—अद्यावधि पूर्वमीदृशाः स्वप्ना न कदापि मया दृष्टाः । मम मनसि हर्ष उत्तरोत्तरं वर्धते, यन्मया जागरितावस्थायामपि कदाचिन्न कलितं तत्स्वप्ने कथमायातं ? मया विलोकिता एते स्वप्नाः सामान्या न सन्ति, अवश्यमेव भविष्यति स्वप्नानां मधुराणि फलानि भविष्यन्ति ।

त्रिशलाया मुखमण्डलं दिव्यया दीप्त्या भासितम् । तस्या हृदये दिव्यस्य ज्ञानस्याजस्रस्रोतः प्रावहत् । तस्याः पुण्यानां कमलानि विकस्वराण्यभूवन् । प्रत्यङ्गमस्फुरत् कल्याणमयानि सूचनानि च पुरः प्राचीकटन् ।

यथायथा त्रिशला स्वप्नानां विषये विचारयति स्म तथा तथा तस्या मानसिकी स्थितिर्विचारपरम्परायामतितरां व्यापृताऽभूत् । तदीया चिन्तनधारा स्वप्नानां फलावबोधायाऽऽकुलिता समजायत । प्रान्ते दृष्टस्वप्नानां फलज्ञानाय सा महाराजं श्रीसिद्धार्थं प्रति गन्तुमैच्छत् ।

आवश्यककर्म-निवृत्त्यनन्तरं सहर्षमाभरणानि धारयित्वाऽऽनन्दातिरेकेण प्रफुल्लवदना सा राजसभायामगच्छत् । तत्र च पारिषद्यानामभिवादनं स्वीकुर्वाणा महाराजश्रीसिद्धार्थेनाभिनन्दिता जय-जयारावेण सह भूपतेरर्धासनमभूषयत् । कुशलप्रश्नानन्तरं प्रातरेव राजसभायामागमनकारणं ज्ञातुकामेन महाराजेन पृष्टम् —

देवि, सहसाऽत्रागमने किं कारणम् ? सत्यावश्यके कारणे कस्मान्नायञ्जनोऽन्तरेवाकारितः ?

देवी त्रिशला मधुरेण स्वरेण व्यज्ञापयत् । स्वामिन् ! अद्य मया निशीथिन्याश्चतुर्थे यामे षोडश स्वप्नाः दृष्टाः । तेषां फलं जिज्ञासमानाऽहमुत्साहाधिक्येन प्रेरिता स्वयमेवोपस्थिताऽस्मि । निमित्तशास्त्रेषु तुरीये यामे विलोकितानां स्वप्नानां फलानि भविष्यत्सूचकानि भवन्तीति श्रूयते । अतः कृपयैतेषां फलानि निबोधयतु ।

महाराजः श्रीसिद्धार्थस्त्रिशलादेव्या वर्णितान् स्वप्नान् समाकर्ण्य प्रावोचत्—"देवि ! तव गर्भादेका महती विभूतिः प्रादुर्भविष्यति यस्या अस्तित्वमात्रेणात्र हिंसाऽसत्यपरिग्रह-सङ्घर्षात्याचारादीनामन्तो भविष्यति । त्रिशले!

त्वमतीव सौभाग्यशालिन्यसि यत् तव कुक्षेरेकमपराजितं ज्योतिः प्रादुर्भविष्यति । युगान्यागमिष्यन्ति गमिष्यन्ति च, परं तव सूनोः कीर्ति-गाथा सर्वत्र सदैव गुञ्जिता स्थास्यन्ति । स देवानां देवः सर्वेषां श्रद्धा-पात्रं भविष्यति । इन्द्रादयोऽपि तच्चरण-वन्दनाय लालायिताः स्थास्यन्ति । ऋद्धयः सिद्धयश्च तच्चरणयोर्लुठिष्यन्ति । स हि लोक-कल्याणाय स्वीयानि सुखानि परित्यज्यात्मसाधनां करिष्यतीति ।"

एतेषां स्वप्नानां प्रतीकरूपेणैतेऽर्था मन्यन्ते —

(१) **गजः**—तीर्थनायकस्य, (२) **श्वेतवृषभः**—सत्यप्रवर्तकस्य, (३) **सिंहः**—अनन्तोर्जायाः, (४) **मन्दार-पुष्पमाले**—दिग्दिगन्तेषु यशःसुरभि-विस्तारस्य, (५) **लक्ष्मीः**—देवेन्द्रैर्वन्दनीयस्य, (६) **चन्द्रः**—अमृतवर्षणस्य, (७) **सूर्यः**—दिव्यज्ञानप्राप्तेः, (८) **जलपूर्णः कलशः**—करुणायाः प्रसारस्य, (९) **मत्स्ययुगलम्**—अनन्तसौख्योपलब्धेः, (१०) **जलाशयः**—संवेदनशीलतायाः (११) **सागरः**—हृदयस्य विशालतायाः, (१२) **मणिमयं सिंहासनम्**—वर्चस्व-प्रभु-त्वयोः, (१३) **देव-विमानम्**—कीर्तेः, (१४) **धरणेन्द्रभवनम्**—अवधिज्ञानस्य, (१५) **रत्नानां निचयः**—अनन्तगुणानां तथा (१६) **निर्धूमोऽग्निः**—निर्वाणस्येति ।

एवं विशिष्टनिमित्तज्ञ-श्रीसिद्धार्थनरेन्द्रमुखात् फलानि ज्ञात्वा महाराज्ञी त्रिशलाऽऽत्मानं धन्यधन्यं मन्यमाना सोत्कण्ठं प्रतीक्षमाणाऽस्थात् । तस्या मनो भाविनो बालकस्य वैशिष्ट्यानि विचिन्त्यात्यन्तं शान्तिमवापत् ।

गर्भ-कल्याणकम्

पुण्योदयेन संसारस्य समस्तं वैभवं प्राप्यते । पुण्यात्मनो गृहे लक्ष्मीर्दासीभूय वसति कुवेरः कैङ्कर्यं कुरुते जागतिकं सर्वं सौख्यजातं हस्तामलकमिव सम्पद्यते । महाराजश्रीसिद्धार्थस्य महाराज्ञ्यास्त्रिशलायाः पुण्यवैभवस्य च किं कथनीयम् ? ययोः प्रासादे चरमतीर्थङ्करश्रीमहावीरस्य जीवोऽच्युतात् स्वर्गात् प्रच्युतो भूत्वा पुत्ररूपेण जन्म ग्रहीताऽभूत् । यदा श्रीमहावीरस्य जीवस्त्रिशलाया गर्भेऽवतरितस्तदा स्वर्गे देवेन्द्रस्त्रिशलायाः सेवायै चिन्तितः । तेन देवाङ्गनाः कुण्डपुरं प्रवेशिताः । सर्वत्र सुखसमृद्धीनां विलासा व्यजृम्भन्त । जैनशास्त्रेषु वर्णितमस्ति यद् देवेन्द्रस्याज्ञया ५६ षट्-पञ्चाशद् दिक्कुमारिका राजमातरं सेवितुं प्रवृत्ता आसन् । ता देवीं त्रिशलां प्रसादयितुं रसपूर्णाः काव्यगोष्ठ्य आचरन्ति स्म माता त्रिशला च यथाऽवसरं समुपस्थापितानां प्रहेलिकानां प्रश्नानां चोत्तराणि महत्या प्रज्ञया ददाति स्म । तेषूत्तरेषु तस्याः प्रज्ञया सह गर्भस्थस्य बालकस्यापि दिव्यप्रतिभाया दर्शनानि भवन्ति स्म । तेजःपुञ्जे भगवति गर्भमागते सति महाराजस्य तथाऽन्येषां कुटुम्बिजनानां यशस्तेजः-पराक्रम-वैभवानां पूर्णो विस्तारः समभवत् । मातुः प्रतिभा प्रदीप्ताऽभूत् । प्रजाजनाश्च सर्वविधसुखसुविधानामनुभवमकुर्वन् ।

महाराजश्रीसिद्धार्थस्य गृहाङ्गणं देव-देवाङ्गनानां क्रीडास्थलमिवावर्तत । महावीरस्य गर्भकल्याणकोत्सव-सम्पादनाय न केवलं मनुष्या एवापि तु चतुर्निकायस्य देवा अपि समुत्सुका आसन् । वैशाल्याः समस्तानां नगराणामुप-नगराणां च कृषिसम्पदाऽवर्धत । गोधनाश्वधन-गजधनानि निरन्तरं वृद्धिमगच्छन् । क्षेत्रेषु सर्वत्र शाद्वलत्वमशोभत । पशवः पक्षिणश्च पारस्परिकं वैरं विसृज्य प्रेम्णाऽवसन् । प्रियकारिण्यास्त्रिशलायाः शोभासंवृद्ध्यै श्रीदेवी, लज्जाभि-वृद्ध्यै ह्रीदेवी, धैर्योत्कर्षाय धृतिदेवी, स्तुतिगानाय कीर्तिदेवी, विवेक-विचारादीनां संरक्षणाय बुद्धिदेवी, धन-धान्य-प्रवृद्ध्यै च लक्ष्मीदेवी संलग्नाऽभूत् । मातुस्त्रिशलायाः सेवायै राजप्रासादस्य परिचारिकास्त्ववर्तन्तैव सहैव स्वर्गस्य देवाङ्गना अपि शुश्रूषायै सम्प्राप्ता आसन् ।

प्रसङ्गोऽयं **'वीरजिणिंदचरिउ'** काव्येऽतीव काव्यात्मना वर्णितः । यथा—

दुवई— कय विब्भम-विलास परमेसरि बालमराल-चारिणी ।
कंकण-हार-दोर-कडिसुत्तय-कुंडल-मउड-धारिणी ॥
चंदक्क-कंति संपण्णकित्ति । सिरि हरि सलच्छि दिहि पंकयच्छि ।
सइ कित्ति बुद्धि कम-गब्भ-सुद्धि । आसाढ-मासि ससियर पयासि ।
पक्खंतरालि हय-तिमिर-जालि । दिस-णिम्मलम्मि छट्ठी-दिणम्मि ।
संसार-सेउ थिउ गब्भि देउ । सम्पण्ण हिट्ठि- कय-कणय-विट्ठि ।
जक्खेण ताम णवमास जाम । मासम्मि पत्ति चित्ता णिउत्ति ॥

इत्यादि ।

अयमस्याशयो यद्—'तीर्थङ्करस्य भगवतो महावीरस्य गर्भावतरणानन्तरं विभ्रम-विलासैर्विभूषिताभिर्बालहंसचारिणीभिः कङ्कण-हार-दोरक-कटिसूत्र-कुण्डल मुकुटादिधारिणीभिश्चन्द्रसूर्य-सदृश-कान्तिमतीभिः कमलनयनाभिः श्री-ह्रीलक्ष्मी-धृति-कीर्ति-बुद्धिप्रभृतिभिर्देवीभिः स्वयमागत्य महाराज्याः गर्भकल्याणकं सम्पादितम् । आषाढमासस्य शुक्लपक्षीय-षष्ठीदिनादारभ्य नव मासावधि धरणेन्द्रयक्षः स्वर्णवृष्टिं सम्पादयति स्म ।' इत्यादि ।

समस्तमप्यन्तःपुरं हर्षपूर्णं व्यराजत । देव्यास्त्रिशलाया मनोरञ्जनाय विविधाः सामग्रचः सज्जीकृताः । प्रतिक्षणं तस्याः सुविधायै ध्यानं दीयते स्म । सेवार्थमुपयाता देव्यः सङ्गीतेन नृत्येन नव-नवेन च रूपकेण देव्या मनो विनोदयन्ति स्म । कदाचिद् भित्तिषु काष्ठफलकेषु वस्त्रेषु च विद्धचित्राणि अविद्धचित्राणि रसचित्राणि वा निर्माय देवीं प्रसादयन्ति स्म । कदाचिच्च लोकजीवनस्य प्रेरणामयीं लीलां वर्णयित्वा लोकगीतानि गात्वा प्रकृतेः पुण्यानि वर्णनानि प्रस्तुत्य च मातरं ता अन्वरञ्जयन् ।

एवं नृत्यगोष्ठी-संगीतगोष्ठी-नयगोष्ठी-शास्त्रगोष्ठीप्रभृतिभिस्त्रिशलाया मनसि रस-माधुर्यस्य सञ्चारः क्रियते स्म । महाराजः श्रीसिद्धार्थोऽपि गर्भवत्यास्त्रिशलाया दोहद-पूरणे पूर्णतया सावधान आसीत् । मातुस्त्रिशलाया अपि मन आमोद-प्रमोदैः शास्त्रचर्चा-तत्त्वचर्चाभिश्च नितरां पावनतामगाहत । मातुः पवित्राणां संस्काराणां प्रभावो गर्भस्थे शिशावपि पतति स्मैव । तदिदं गर्भकल्याणकं सर्वेषां कल्याणायाभवत् ।

जन्मकल्याणकम्

रवि-रश्मयो भूमेः स्पर्शाय प्रवृद्धाः । तमस आवरणं सहसा विद्रुतम् । सर्वे सर्वेभ्यः प्रत्यक्षीभूताः । अस्पष्टतायाः साम्राज्यं समाप्तम् । स्पष्टता सर्वत्र व्यापृता सती सर्वान् प्रेरयति स्म । एवंविधे पुण्यमये काले प्रियंवदा दासी समुपागता । प्रणम्य च सिद्धार्थमहाराजं पुत्रजन्मनः सूचनमकरोत् । समाकर्ण्य प्रियंवदाया वचनानि महाराजः परमानन्दमविन्दत् । प्रियंवदायै बहुमूल्यान्याभूषणान्युपहाररूपेण वितरितानि दासीकर्मणा च सा सर्वस्मै कालाय विमुक्ता । नव मासोत्तरमष्टदिनानां गर्भावधि-समाप्त्यनन्तरं चैत्रशुक्लत्रयोदश्यामुत्तराफाल्गुनी-नक्षत्रे मध्यरात्रिसमये ग्रहाणामुच्चस्थितौ[1] शिशोः प्रादुर्भावः सर्वत्र हर्षप्रकर्ष-वर्षकः समजायत । विश्ववन्द्य—**तीर्थङ्करश्रीमहावीरस्य** जन्मसमये चतुर्थकाले दुःषम-सुषमयोः पञ्चसप्ततिवर्षोत्तरं त्रयो मासा अवशिष्टा अभूवन् । कुण्डपुरस्य धरा कृतकृत्यतां श्रिता ।

---

१. चैत्रसितपक्ष-फाल्गुनि-शशाङ्कयोगे दिने त्रयोदश्याम् ।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥५॥

—निर्वाणभक्तौ पूज्यपादाचार्यः ।

तीर्थङ्करवर्द्धमानस्य वपुः काञ्चनीमाभां धारयदासीत् । मुखमण्डलेऽगणितानां सूर्याणां दीप्तयोऽरोचन्त । नवजातस्य शिशोः कान्त्या सकलोऽपि राजप्रासादस्तन्महिम्ना च सकलमपि भूमण्डलं व्यद्योतत ।

सौधर्मेन्द्रस्य सिंहासनं प्राकम्पत तथा भवनवासिदेवानामावासेषु घण्टाध्वनिरभवत् । अवधिज्ञानेन देवैर्ज्ञातं यत् कुण्डग्रामेऽन्तिमतीर्थङ्करस्य भगवतो महावीरस्य जन्म सम्पन्नम् । ते हर्षनिर्भरमानसाः समस्तेन परिवारेण परिवृताः कुण्डपुरं प्राप्ताः । नन्द्यावर्तप्रासादमागत्य सौधर्मेन्द्रेण परिक्रमाऽऽचरिता तथा प्रियकारिण्याः स्तुतिर्गीता ।

इन्द्राणी प्रसूतिगृहं प्राप्ता । तया मातुः सान्त्वनायै मायामयो बालस्तत्र शायितस्तथा तीर्थङ्करं वर्धमानं क्रोडे नीत्वा बहिरायाता शिशुश्च सौधर्मायार्पितः । स चैरावतोपरि स्थित्वा सकलेन देवपरिवारेण सह सुमेरुपर्वतस्य रत्नमय्यां पाण्डुक-शिलायां तं संस्थाप्य क्षीरोदर्णनिर्मलेन जलेन तमभ्यषेचयत् ।

अभिषेकानन्तरं सुरराजः श्रीवर्द्धमान वैशाल्या राजमार्गेण कुण्डपुरमानीतवांस्तथेन्द्राणी पूर्ववदेव प्रसूतिगृहं गत्वा तं शिशुं मातुः प्रियकारिण्याः पार्श्वेऽशाययत् ।

शिशोर्महावीरस्य जन्मनैव राज्ञः सिद्धार्थस्य बलं वैभवं चावर्द्धताम् । सर्वत्र महाराजस्योदाराशयतायाः ख्यातिः प्रसृता ।

नामकरणमहोत्सवः

महाराजः श्रीसिद्धार्थः शुभेऽहनि मङ्गले मुहूर्ते मङ्गलमयस्य जगतो मङ्गलायाविर्भूतस्य शिशोर्नामकरणोत्सव-सम्पादनेच्छया समस्तान् बन्धुबान्धवान् स्वेष्टमित्राणि च समामन्त्र्य बालकस्य नामकरण-विधिं समपादयत् । उत्सवे समागताः सर्वेऽपि प्रियजना नयनाभिरामं बालं विलोक्य परमं मुदमविन्दन् मङ्गलोपहारांश्च समार्पयन् । तेषां सत्कार-विधिमभिलक्ष्य विविधा आमोद-प्रमोदा अभवन् प्रतिदानेन च महाराजस्तान् समतोषयत् ।

तस्मिन्नवसरे महाराजोऽकथयत्—"अयं शिशुर्महाभागोऽस्ति । अयं यस्माद् दिनात् त्रिशालाया गर्भमागतस्त-दाप्रभृत्येवास्माकं प्रासादे, नगरे राज्ये च धन-धान्यादीनां वृद्धिरभवत् । अतोऽस्य सार्थकं नाम 'वर्द्धमान' इति कर्तव्यम् । उपस्थितेन जनसमुदायेन महाराजस्यायं प्रस्तावः सहर्षमनुमोदितो वीरबालकोऽयं 'वर्द्धमान' इति नाम्ना च प्रसिद्धिं प्राप्नोत् ।

सिद्धार्थप्रियकारिण्योः सममानन्ददायकम् ।
वर्द्धमानाख्यया स्तुत्वा सदेवो वासवोऽगमत् ॥२।४॥

इति हरिवंशपुराणानुसारं देवराडिन्द्रोऽपि तत्रागतैरन्यैर्देवैः सह नामकरणोत्सवमिमं सम्पाद्य वर्द्धमाना-भिधानं चानुमोद्य देवपुरीं प्रस्थितः ।[1]

१—भगवतो महावीरस्याभिधान-विषये—'आवश्यक-निर्युक्ति-विशेषावश्यकभाष्य—कल्पसूत्राचाराङ्ग-सूत्रकृताङ्ग—महावीरचरित्र—चउप्पन्न—महापुरिस-चरिय-त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र-पउमचरिय-हरिवंशपुराणोत्तर-पुराणादिग्रन्थेष्वपि वर्णनानि सन्ति, येषु 'वर्द्धमान' इति नामनिर्धारणमधिकृत्य सिद्धार्थस्याभिवृद्धिरेव हेतुरूपेण साधिताऽस्ति । तत्रैवेदमपि क्वचिद् वर्णितमस्ति यत् महावीरस्य मातुर्गर्भागमनानन्तरमेव सिद्धार्थनृपतेः स्नेहे सत्कारे च क्रमशो वृद्धिर्भवति स्म तस्मान्महाराजेन जन्मनः पूर्वमेव पुत्रस्य 'वर्द्धमान' इति नाम करणाय निश्चितमासीत् । तत्सङ्कल्पानुसारमेव सत्यवसरे नामेदं निर्धारितमिति ।

भगवतो नामान्तराणि

भारतीयसंस्कृतौ नामकरणाय ये सिद्धान्ताः स्वीकृताः सन्ति तेपु गुण-कर्म-जाति—मातृकुल-पितृकुल-स्वकुल-स्वेष्टदेवादीनामाधारेण नामानि निर्धार्यन्ते। भगवतो महावीरस्य नामनिर्धारणेऽप्येषा प्रवृत्तिः स्वीकृतिं श्रिता। तदनुसारं च—

भगवतो ज्ञातृकुले जन्माभूदिति दृष्ट्या ज्ञातपुत्रः (नायपुत्तो नातपुत्तो वा), काश्यपवंशे समुद्भवात् काश्यपः (कासवः), वैशाल्या अतिसम्पर्कवशाद् 'वैशालिकः', सञ्जय-विजयनाम्नोश्चारणमुन्योर्मानसिकचाः शङ्काया निराकरणात् 'सन्मतिः', मातृकुलाधारेण 'विदेह' इत्यादीनि नामानि प्रथितानि।

सर्वतो व्यापकं नाम 'महावीर' इत्यस्य विपये तु बहूनामागमानां ग्रन्थानां च निर्देशोऽस्ति यद् "भगवान् कीदृशेऽपि भये समुपस्थितेऽचल एव स्थास्यति, सङ्कल्पाद् मनागपि न चलिष्यति, निष्कम्पः सन् परीपहादीनुपसर्गांश्च शान्तेन भावेन सहिष्यत इति भाविनो गुणान् ज्ञात्वा वज्री 'महावीर' इति नाम घोपितवानिति।"[1]

भगवतो महावीरस्य विश्वविश्रुतं नाम 'महावीर' इत्येवास्ति। तत्त्वार्थसूत्रस्य प्रारम्भिक्यां कारिकायां 'जगति महावीर इति त्रिदशैर्गुणतः कृताभिख्य' इति प्रतिपादितम्। आचार्यः श्रीहरिभद्रोऽपि दशवैकालिकस्य वृत्तौ "महावीरेण—शूरवीर—विक्रान्ताविति कषायादि—शत्रुजयान् महाविक्रान्तो महावीर" इति वर्णयति स्म। जिनदासगणी महत्तरोऽपि 'महंतो यसो गुणेहिं वीरोत्ति महावीरो' (दशवैका० जिनदासकृत-चूर्णौ) इत्यादि कथयित्वा महावीराभिधानमेव सर्वलोकप्रथितं नामेति प्रकटितवान्। एतेन स्पष्टं भवति यद् भगवतो वर्धमान इति नाम सत्त्वेऽपि धीरता-वीरतादिगुणैः 'महावीर' इत्येव नाम सर्वप्रसिद्धमभूदिति।

जन्मकुण्डली-विचारः

भगवतो महावीरस्य जन्म-कुण्डली बहुपु ग्रन्थेपु समुपलभ्यते। आगमेषु केवलं 'ग्रीष्मर्तौः प्रथमे मासे द्वितीये पक्षे हस्तोत्तरानक्षत्रे चैत्रशुक्ल-त्रयोदश्यां श्रमणभगवतो महावीरस्य जन्माभूदिति' वर्णनं विद्यते। कल्पसूत्रे—'उच्चठाणगएसु गहेसु' 'पुव्वरत्ता व रत्तकालसमयंमि' इत्यादि वर्णनं मिलति। टीकाकारा एतदेव सूचनं विशिष्टरूपेण परिशील्य येषां ग्रहाणां स्थितीः समसूचयन् तदनुसारं या कुण्डली सर्वत्रोपलभ्यते तस्याः स्वरूपमित्थमस्ति—

---

१. (क) भीमं भयभेरवं उरालं अचेलयं परिसहं सहइ त्ति कट्टु देवेहिं से णामं कयं 'समणे भगवं महावीरे।'
—आचारांग० २।१५-१६॥

(ख) अयले भयभेरवाणं परीसहोवसग्गाणं खंतिखये पडिमाणं पालए धीयं अरतिरतिसहे दविए वीरियसंपन्ने देवेहिं से णामं कयं 'समणे भगवं महावीरे'। —कल्पसूत्र० १०४

(ग) घोरं परीसहचमुं अधियासित्ता महावीरो।
—आवश्यकनिर्युक्ति ४२०

(घ) महोपसर्गैरप्येष न कम्प्य इति वज्रिणा।
महावीर इत्यपरं नाम चक्रे जगत्पतेः॥
—त्रिषष्टि० १०।२।१००।

तीर्थङ्करस्य भगवतः श्रीमहावीरस्य जन्मकुण्डली
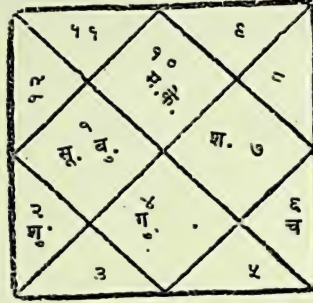
एतदनुसारं ज्योतिषशास्त्राणि ग्रहाणां दृष्ट्यैवंविधानि फलानि वर्णयन्ति—

(१) यदा जातकस्य जन्म चरलग्ने भवति तथा गुरुः शुक्रो वा पञ्चमे भावे स्थितो भवेत् शनिश्च केन्द्रे स्थितो भवेत् तदा जातकस्तीर्थनायको-वतारी वा भवति ।

(२) सप्तमे भावे राहुः स्थितो भवेत् भावेऽस्मिश्च पापग्रहस्य दृष्टिः स्यात्, सप्तमश्च पापाक्रान्तो भवेत् तदा पत्न्या अभावो भवति । ईदृशस्य जातकस्य विवाहो न भवति । अनेन योगेन जातकस्य संयमित्वमपि सूचितं भवति ।

(३) तीर्थङ्करमहावीरस्य जन्मकुण्डल्यां शुक्रचन्द्रमसोः स्थितिर्विंशत्युत्तरमेकशतमंशानामन्तराले विद्यते। स्थितिरियं तेषां सर्वज्ञताया वीतरागतायाश्च सूचिकाऽस्ति । चन्द्रो नवमभावे बुधस्य गृहे स्थितः । बुधश्च केन्द्रे सूर्येण सह विराजते । चन्द्रः सप्तमेशोऽपि विद्यते । अतो महावीरस्य द्वादशवर्षाणां साधनायाः सूचका एते ग्रहाः सन्ति । नवमस्थश्चन्द्रमा दर्शनशास्त्राणामाचारशास्त्राणां विविधज्ञानविज्ञानानां चाभिज्ञतां सूचयति । जातकोऽनुपमप्रभावधरः समाजोद्धारकश्च भविष्यतीति ज्ञायते ।

(४) महावीरस्य जन्मकुण्डल्यां 'चन्द्रचूड'योगो विद्यते । भाग्येशो बुधः केन्द्रे स्थितः । अस्मिन् योगे समुत्पन्नो बालः प्रसिद्धज्ञानशाली, धर्मप्रचारक आत्मज्ञानी च भवति लोककल्याण-भावनां च लग्नस्थो भौमः सूचयति । लग्नगत उच्चैःस्थो भौम उपसर्गाणां परीषहाणां जयित्वमपि व्यञ्जयति ।

एवं भौम-बुध-गुरु-शुक्र-शनिग्रहाणामुच्चस्थित्या पञ्चमहापुरुषयोगः सञ्जातः स च महावीरस्योत्कृष्ट-महापुरुषत्वेन सह तीर्थङ्करयोगं प्रपूरयति ।

भगवतो बाल्य-जीवनम्

तीर्थङ्करो वर्धमानो द्वितीयायाश्चन्द्रमस इव क्रमशो वृद्धिं गच्छति स्म । जन्मनः प्रभृत्येव तस्य शारीरिकी सुषमाऽनुपमाऽऽसीत् । वर्धमानस्य रक्तं दुग्धधारेव धवल-धवलमभूत् । वाणी मधुर-मधुरा मनोमोहिनी व्यराजत । शरीरं शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-यव-धनुः-प्रभृत्यष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्याकैः शुभलक्षणैरन्वितमासीत् । शिशोर्दक्षिणे चरणे सिंहस्य चिह्नमङ्कितमासीदतस्तं दृष्ट्वा भाविनः पुरुषार्थस्य प्रतीकं मत्वा महावीरस्य चिह्नं सिंहमेव सुरराजेन प्रकटितम् ।

माता प्रियकारिणी तनयं हिन्दोलिकायां दोलयन्ती तदीयानन-लावण्यं विलोक्यातीवानन्दमनुभवति स्म । वर्धमानस्य शारीरिक्या सहाध्यात्मिकी विभूतिरपि वर्धमाना प्रत्यभात् ।

विशेषावश्यकभाष्ये—

असितसिरओ सुणयणो बिंबोट्ठो धवलदंतपंतीओ ।
वरपउमगब्भगोरो फुल्लुप्पल-गंधणीसासो ।।१८४६।।

औपपातिकसूत्रे च—

अवदालिय पुंडरीयणयणे चंदद्ध समणिडाले वरमहिसवराह-सही-सद्दूल उसभ-नागवरपडिपुन्न-विउलक्खंधे ।

इत्यादि वर्णनानुसारं भगवतः शरीरमुदारं शृङ्गारितमाभरणरहितं सदपि विभूषितं लक्षण-लक्षितं गुणालङ्कृतं श्रिया समन्वितञ्चाभवत् । कमलसदृशी विकसिते नयने, अर्द्धचन्द्र इव दीप्तिमल्ललाटं, वृषभ इव मांसलः स्कन्धः, प्रलम्बौ करौ, सुदृढा शोभनाऽऽकृतिः, निर्धूमवह्निरिव तेजस्वि मुखं स्वर्णप्रभेव निर्मला शरीरप्रभा चाभवन् । ईदृशीमेव विशिष्टतां स्मृत्वा पुष्पदन्तकविवरेण प्रोक्तम्—

जगि भणमि भडारउ कहु समाणु ।।
जो पेक्खिविणउ गंभीरु उयहि । जो पेक्खिवि ण थिरु गिरिंदु समहि ।।
जो पेक्खिवि चंदु ण कंति कंतु । जो पेक्खिवि सूरुण तेयवंतु ।।
मज्झत्थ-भाउ सुह-सुक्क-लेसु । णं धम्मु परिट्ठिअ पुरिस वेसु ।। इति ।।

अयं कविः कथयति यदहं भगवन्तं कमिव वर्णयामि? तमवलोक्य समुद्रस्य गाम्भीर्यं, पृथ्व्याः सुमेरोश्च स्थैर्यमपि सामान्ये अभताम् । शिशोस्तेजस्विता कान्तिश्च-सूर्याचन्द्रमसोः कान्ति-तेजस्विताभ्यामपि प्रशस्ते आस्ताम् । माध्यस्थ-भावेन मुक्तः शुक्ललेश्यावाँश्च श्रीवर्द्धमानः साक्षाद् धर्म इव व्यराजत् ।

भगवतो महावीरस्य लालनं पालनं पवित्रे वातावरणे तत्र नियुक्तानां परिचारिकाणां परिचर्यया सह स्वयं महाराज्ञी त्रिशलाऽनवरतं स्नेहेन सम्पादयति स्म । आचाराङ्गसूत्रे क्रमशः (१) दुग्धपानाय, (२) स्नपनाय (३) वस्त्राभरणधारणाय, (४) क्रीडाविधानाय तथा (५) क्रोडीकरणाय च पञ्च परिचारिका नियुक्ता आसन्निति सूचितम् । तदीयं कुसुममिव कोमलं बाल्यं सुखेनावर्द्धत ।

ज्ञानदीप्त्या तच्छरीरमनवरतं देदीप्यमानमभवत् । एकमखण्डं ज्योतिस्तं प्राकाशयत् । मति-श्रुतावधिज्ञानानां प्रकाशस्तमालोकयत् सौन्दर्यराशिः स्वयमाविरभवत् । साम्प्रतं वर्धमानः प्रासाद-परिसरं परित्यज्य क्रमेण क्रीडासक्तः सवयोभिः सखिभिः सह गृहोद्यानेषु वीथिषु चत्वरेषु पुरजनावासपरिसरेषु चाप्यगच्छत् । जना अलौकिकप्रभापरिषिक्तं बालमिमं दृष्ट्वा दृष्ट्वाऽऽनन्दसरसी-समवगाहनमिव परमां शान्तिमन्वभवन् । सर्वेऽपि महाराज्यास्त्रिशलाया महाराजस्य सिद्धार्थस्य कुण्डपुरवासिनां च सौभाग्यानि प्रशंसन्ति स्म ।

यदा वर्द्धमानोऽष्टवर्षदेशीय आसीत् तदा गृहोद्याने स्वकीयैः साखिभिः सह क्रीडामकरोत् । तदा सौधर्मेन्द्रस्य सभायां महावीरस्य पराक्रमविषयिणी वार्ता प्रवृत्ता । तत्रेन्द्रोऽकथयत्—'बालको महावीरः शैशवादेवात्यन्तं साहसी पराक्रमशाली च विद्यते । देवो दानवो मानवो वा कोऽपि तं पराजेतुं न शक्नोति ।'

सङ्गमनामको देव इन्द्रस्य कथनेऽस्मिन् विश्वासमकृत्वा महावीरं परीक्षितुमगच्छत् । तत्र च—

दृष्ट्वोद्यानवने राजकुमारैर्बहुभिः सह ।
काकपक्षधरैरेकवयोभिर्बाल्यचोदितम् ।।
कुमारं भास्वराकारं द्रुमक्रीडापरायणम् ।
स विभीषयितुं वाञ्छन् महानागाकृतिं दधत् ।।

मूलात् प्रभृति भूँजस्य यावत्स्कन्धमवेष्टत ।
विटपेभ्यो निपत्याशु धरित्रीं भयविह्वलाः ।।
प्रपलायन्तं तं दृष्ट्वा बालाः सर्वे यथायथम् ।
महाभये समुत्पन्ने महतोऽन्यो न तिष्ठति ।।
ललज्जिह्वा शतात्युग्रमारुह्य तमहिं विभीः ।
कुमारः क्रीडयामास मातृपर्यङ्कवत्तदा ।।
विजृम्भमाणहर्षाम्भोनिधिः सङ्गमकोऽमरः ।
स्तुत्वा भवान् महावीर इति नाम चकार सः ।।

—उत्तरपुराण० ७४/२८९-२९

एतदनुसारं महावीरस्य धैर्यं पराक्रमो निर्भीकता चातीव प्रशसनीया अभवन् । अस्याः क्रीडाया नामनि 'आमल खेडं' 'आमलकीक्रीडा' 'सुंकलिकडएणं' रुक्खखेड्डेणं द्रुमक्रीडा-प्रभृतीनि क्रमशः शीलाङ्क-हेमचन्द्र-जिनदासगणि-महत्तर हरिभद्र-गुणचन्द्राद्याचार्यैः स्वस्वग्रन्थे लिखितानि[1] ।

एवमेव तिन्दुषकक्रीडायामपि श्रीवर्द्धमानस्याद्वितीयं पराक्रमं ज्ञात्वा सोऽभिमानी देवः प्रान्ते सुरेन्द्रकृतां प्रशंस ततोऽप्यधिकां विज्ञाय श्रीमहावीरं प्रणम्य स्वस्थानं प्रस्थितः ।

श्रीवर्द्धमानो बाल्यादेवातुलबलधरोऽभूत् । आगमेषु तीर्थङ्कराणां बलविषये वर्णितमस्ति यदनन्तानां सुरेन्द्राण बलं तीर्थङ्करस्य कनिष्ठायामङ्गुली भवति । इत्थमेव 'दक्खे-दक्खपइन्ने-पडिरूवे-आलीणे-भद्दए-विणीए' प्रभृति षड्भि विशेषणैर्महावीरस्य सर्वकलादक्षता, दक्षप्रतिज्ञताऽऽदर्शरूपसम्पन्नता कच्छप इव स्वात्मनि गुप्तता शुभलक्षणालङ्कृतत मातृ-पितृ-गुरुजनेषु विनयिता च स्वाभाविक्यो भवन्तीति सूच्यते ।

तीर्थङ्करस्यात्माऽनादिकालादेव संसारे परोपकारस्वभाववान् स्वार्थविरहितः सर्वत्र समुचित-क्रियाचरण शीलो दैन्यरहितः सकलानामेव कार्याणां सम्पादकोऽपकर्तृजनेष्वपि दयावान् कृतज्ञतागुणभूषितो दुष्टवृत्तिभिरप्यदम्य चेता देवगुरुप्रभृतीनां बहुमानकर्ता गम्भीराशय-परिपूर्णश्च भवति । एतदनुसारं श्रीमति महावीरे सर्वेऽपीमे गुण उत्कृष्टरूपेण विकसिता आसन् ।

---

१. (क) पारद्धं च एक्कम्मि तरुणे हेट्ठम्मि आमलयखेड्डं । (चउप्पन्न० २७१)
(ख) कुर्वत्यामलकीं क्रीडां राजपुत्रैः सह प्रभौ । (त्रिषष्टि० १०।२।१०६)
(ग) अह ऊणअट्ठवासो भयवं कीलइ कुमारएहिं सयं
आमलिया खेल्लेणं लोयरसिद्धेण पुरबाहिं ।। (महावीर० ७५ ।)
(घ) आवश्यकचूर्णि पृ० २४६ ।
(ङ) भगवं पुण चेडरूवेहिं समं रुक्खखेड्डेण कीलइ । (आव० हारि० वृत्ति० पृ० १८१)
(च) ··· समं पारद्धो रुक्खखेड्डेण अभिरमिऊं । (महावीर० पृ० १२५)
(छ) कुमारं भास्वराकारं द्रुमक्रीडापरायणम् । (उत्तरपुराण० ७४।२९१)
(ज) मथुरायाः कंकालीटीलातः कुशाणकालिकमेकमीदृशं शिलाखण्डमुपलब्धं यस्मिन् देवपरीक्षायाश्चित्र विद्यते ।

वयसो वृद्धया सह महावीरस्य शारीरिकी वृद्धिरपि क्रमशोऽवर्धत । राजकीयोद्यानेषु राजकुमारोऽयं सहचरैः सह नानाविधाभिः क्रीडाभिः क्रीडन् शनैः शनैः शिक्षण-प्रवृत्तावपि नियोजितः । श्रीमहावीरस्याध्ययनविषये सर्वतः प्रथमं जिनभद्रगणि-विरचिते 'विशेषावश्यक-भाष्ये—

अथ तं अम्मापितरे जाणित्ता अधिय अट्ठवासायं ।
कतकौतुअलंकारं लेहायरियस्स उवणेंति ॥

इत्यादि वर्णनं विद्यते । उत्तरवर्तिनो लेखका विषयमेनमतीव रसमयशैल्या प्रातिष्ठिपन् । बौद्धग्रन्थे 'ओपम्मसयुत्तस्य अट्ठकथायां' वर्णितमस्ति यत् 'तदानीं विदेहे क्षत्रियकुमारान् शिक्षयितुं विशिष्टाः शिल्पशाला आसन् । तासु क्षत्रिय-कुमारेभ्योऽक्षरज्ञानं व्यवहारोपयोगि गणितं नानाविधाः कलाश्च शिक्ष्यन्ते स्म तथा युद्धविद्यायाः सैद्धान्तिकं प्रायोगिकं-च ज्ञानमपि दीयते स्म । धनुर्विद्याया उच्चशिक्षया क्षत्रियकुमारा युद्धे परमनिपुणा अक्षणवेधिनः केशवेधिनश्च भवन्ति स्म ।'

क्षत्रियकुमारोचितायामीदृश्यामेव शिल्पशालायां श्रीवर्द्धमानोऽष्टमवर्षपूर्त्यनन्तरं प्रवेशितः परं तन्मनस्तत्र नारज्यत । यस्य मन आध्यात्मिक-प्रवृत्तौ संलग्नमहिंसावृत्तौ च परिपूर्णं भवेत् स युद्धविद्यायां हिंसकविद्यायां वा कथं रज्येत । ? शिल्पशालाया आचार्येण शिशो रुचिजागर्तये पूर्णरूपेण प्रयासो विहितः परं सर्वमपि निष्फलतामगात् । आवश्यकचूर्णिप्रभृतिग्रन्थेषु वर्धमानस्याध्ययनविषये वर्णितमस्ति यद् 'जन्मसिद्धज्ञानानामलौकिक-प्रतिभायाश्च ज्ञानाभावाद् शिल्पशालां प्रविविक्षोः कुमारस्य बुद्धिवैभवं परिचाययितुं सुरेन्द्रो वृद्धब्राह्मणरूपेण तत्रागतः । सर्वेषां चोपस्थितौ स काँश्चिद् जटिलान् व्याकरणप्रश्नानपृच्छत् । श्रीवर्धमानस्तेषां प्रश्नानामुत्तराणि सप्रमाणमदात् । उत्तराणि श्रुत्वा सर्वे विस्मयं प्राप्तास्तदा विप्ररूपधरेणेन्द्रेण प्रोक्तम्—विज्ञवर ! नायं साधारणो बालकः, अयं तु विद्यायाः सागरः समस्तशास्त्राणां पारगामी चास्ति ।' त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्राधारेणेदमपि ज्ञायते यद् ब्राह्मणः स भगवता प्रोक्तानि सर्वाण्यपि व्याकरणसम्बन्धीन्युत्तराणि सङ्गृह्य 'ऐन्द्रव्याकरण'नाम्नाऽघोषयत् ।[1]

पितरौ बालस्य लोकोत्तरं ज्ञानं प्रतिभां च विज्ञायातीव प्रसन्नावभूताम् । ताभ्यां ज्ञातं यदावयोस्तनयोऽयं तु गुरूणामपि गुरुरस्तीति ।

युवावस्था विवाहोपक्रमश्च

भगवतो महावीरस्य पितरौ पार्श्वपरम्पराया अनुयायिनावास्ताम् । तयोरहिंसा-करुणा-संयमशीलता-प्रभृति-गुणैः समग्रं जीवनमालोकितमभूदतो महावीरस्य जीवनमपि तथैव सुसंयतमासीत् । यौवनलक्ष्मीः स्वयं वरीतुं प्रवृत्ता । सप्तहस्तपरिमितं तच्छरीरं स्वाभाविकैरतिशयैर्युक्तं[1] सत् सर्वेषां मनोमोहकमभूत् । राज्ञी त्रिशला राजा सिद्धार्थश्च

---

१. इदं भगवतेन्द्राय प्रोक्तं शब्दानुशासनम् ।
उपाध्यायेन तच्छ्रुत्वा लोकेष्वैन्द्रमितीरितम् ॥१०।२।१२१।

१. तीर्थङ्करा जन्मन एव नामकर्मप्रकृतिसमुदयात् तीर्थङ्कराणां दशभिरतिशयैरन्विता भवन्ति । ते चातिशयाः— १—स्वेदरहितता २—निर्मलशरीरता, ३—गोक्षीरधाराधवलरुधिरता, ४—वज्रऋषभनाराचसंहननता, ५—समचतुरस्रशरीरसंस्थानता, ६—अनुपमरूपता, ७—नृपचम्पकसमानोत्तमगन्धधारकता, ८—अष्टोत्तर-सहस्रोत्तमलक्षणसमन्विततता, ९—अनन्तबलशालिता १०—हितमित-मधुरभाषिता चेत्यादयः सन्ति ।

स्वकीयं परमप्रियं तनयं वीक्ष्यातीव मुदमन्वभवताम्। युवावस्थायाः प्रवेशात् पूर्वमेव तदीया जन्मसिद्धा वैराग्यवल्लरी समङ्कुरिता भवति स्म। वैराग्यं शनैः शनैर्वर्धमानं सदात्मशुद्धिं प्रति गतिशीलमभवदेव। संसारस्य वैभवानि निःसाराणीवासन्। लोकजीवने व्याप्तानामनौचित्यानामध्ययनपूर्वकं वर्धमानस्य मनो मानवद्वारा मानवशोषणमपाकर्तुं चेष्टते स्म। श्रीमहावीरः प्रारम्भादेव काँश्चन नियमान् स्व्यकरोत्। तेषु च—

(१) जीवदयाऽहिंसावृत्तिश्च

(२) सत्यभाषणम्

(३) अचौर्यव्रतपालनम्

(४) ब्रह्मचर्यव्रतधारणम्

(५) अभिरुचीनां सङ्कोचः

इत्यादयः प्रमुखा आसन्। अत एव श्रीवीरः काम-क्रोध-लोभ-मोहाद्यन्तरङ्गशत्रुभिः सह योद्धुं सज्जो भवति स्म। ततश्च राजकुमारस्य यौवनं, बुद्धिवैभवं, आमोद-प्रमोदसाधनानि, दासदासीसमवायं च विलोक्य माता कामनामकरोद् यन्मम सूनुरयं समानरूपयौवन-सम्पन्नां राजकुमारीं परिणीय नन्द्यावर्त-प्रासादस्य शोभां वर्द्धयेदिति।

समुचिते काले कामनेयं प्रस्तावरूपेण महाराजस्य पुरत उपस्थापिता। को नाम जनकस्तनयं कल्याण-परम्परा-परिषिक्तं प्रेक्षितुं नाभिलषेत्? सहर्षं त्रिशलायाः प्रस्तावोऽनुमोदितः। मन्त्रिणोऽप्यत्र सम्मता एवासन्। अनेके राजानः स्वीयानां कुमारीणां परिणयाय लालायिताः सन्तोऽनुनयानकुर्वन्। कलिङ्गदेशस्य भूपतेर्जितशत्रोः कन्या यशोदाऽतीव रूपलावण्यसंयुताऽऽसीत्। तां विलोक्य त्रिशलादेवी सिद्धार्थभूपतिश्च तां वधूरूपेणावलोकयितुमुत्कण्ठितावभूताम्। विषयेऽस्मिन् वर्द्धमानस्य विचारं ज्ञातुं माता प्राप्तावसरे प्रेम्णा पुत्रमवोचत्—'वत्स! अस्माकं सौभाग्यमिदं यत्त्वमस्मत्कुलेऽवतीर्णोऽसि। तीर्थङ्करो भूत्वा त्रिलोकपूज्यो भविष्यसि, त्रयाणामपि लोकानां जनास्तव दर्शनानि कृत्वा कृतकृत्या भविष्यन्ति। अहमपि त्वां विलोक्य परमानन्दमनुभवामि। नन्दन! आवयोरियं बलवतीच्छा वर्तते पुत्रत्वभावना च तां भूयोऽपि मुखरीकरोति यदावां त्वां वधूसहितं पश्येवेति।'

कुमारो वर्द्धमानः प्रसविव्या वचनानि निपीय किञ्चित् स्मयमानो मातरं प्रत्युवाच—"**मातः! इदं तव ममत्वस्य प्रदर्शनमेवास्ति। भवत्या विश्वं प्रति नयने प्रसार्य न दृष्टम्। कीदृग् दुःखितमस्ति विश्वम्? शीलधर्मस्य कीदृशी दुरवस्था भवति? जननि! लोककल्याणाय धर्म-तीर्थस्य पुनः स्थापनाय च ममावश्यकता वर्तते। अहं खिद्ये, यत्तवैषोऽभिलाषः पूर्तिं न यास्यति। अहं विवाहबन्धने बद्ध्वा संसारस्य चक्रावर्ते न पतिष्यामि। ममेयं बलवतीच्छाऽस्ति यदहं विवाह-बन्धने न पतित्वा सत्यमनुसन्धास्यामि जीवनस्य श्रेष्ठताञ्च वरिष्यामि।**"

राजमाता त्रिशला चकित-चकिता सती कारुण्यपूर्णेन स्वरेणावदत्—"पुत्र, विवाहं न करिष्यसि? किमहं पौत्रस्य मुखावलोकनाद् वञ्चितैव स्थास्यामि? मातुर्मातृत्वं पौत्रप्राप्त्यैव पूर्णतां प्रतिपद्यते।"

राजकुमारो महावीरोऽकथयत्—'मातः! मया लोकस्यात्मनश्च कल्याणाय महाव्रतं स्वीकृतम्। पश्यत्येव भवती, समग्रोऽपि लोकः सत्याद् दूरं गच्छति। हिंसायाः सर्वत्र साम्राज्यं वर्द्धते। ज्ञानं परित्यज्य जना अज्ञानं श्रयन्ते। अतोऽहं तमःप्रकाशे परिवर्तयितुं वाञ्छामि, सामाजिकीं सांस्कृतिकीं क्रान्तिं च समुद्भाव्य समाजं सत्यं पन्थानं दर्शयितुमभिलषामि। अहं जीवनस्य निर्मलं लक्ष्यं विहाय विषय-वासनासु लिप्तो भवितुं नेच्छामि। साधनायां परिग्रहः सर्वतोऽधिकं बाधको भवति स च परिग्रहः पारिवारिकैः सम्बन्धैरवाप्यते। अतोऽस्य सर्वथा त्याग एव श्रेयान् भवति। विवाहो जीवनस्य परिधिं सङ्कीर्णयति, तस्मादस्य परित्यागस्त्वावश्यक एव न ह्यपित्वनिवार्योऽपि विद्यते।

सत्यं प्रसन्नताया जनकं सभ्यतायाः समुत्पादकञ्च । इदमेव जीवनं श्रेष्ठं पवित्रं च सम्पादयति । सर्वतः समुन्नता महत्त्वाकाङ्क्षा यदि कस्यापि भवितुं शक्नोति तदा सा सत्यज्ञानस्यैव । सत्यमेव मानवं परोपकाराय विशिष्य प्रेरयति । इदमेवात्मनः पवित्रः प्रकाशः । सत्यमन्वेषणाल्लभ्यते, तपसो लभ्यते लक्ष्यते चानुभवात् ।'

राजमाता पुत्रस्य वचनानि श्रुत्वा स्तब्धाऽभूत् । सा चिन्तयति स्म यदहं पुत्रमुद्वाह्य राजभवनं पुत्रवध्वा आगमनेन मङ्गलगीतिभिर्मुखरितं करिष्यामि । पुष्पवत् सुकुमारी पुत्रवधूर्यदा राजभवनस्य प्राङ्गणे विचरिष्यति तदा मम सर्वेऽपि स्वप्ना मूर्तिमन्तो भविष्यन्तीति ।

परं महावीरेण तु मम सकलोऽपि स्वप्न-प्रासादो धूलिसात्कृतः । पुनरपि सा साहसमवधार्य प्रोवाच 'पुत्रक ! त्वं लोककल्याणे प्रवर्त्स्यसि, अधर्मस्याज्ञानस्य च तमस्तिरस्करिष्यसि किन्त्वस्य किं भविष्यति ? क एनद् रक्षिष्यति ?'

संयतेन स्वरेण महावीर उदतरत्—"मातः ! सर्वं वस्तु विनश्वरम् । यच्च विनश्यद् वस्तु तत्कृतेऽस्माभिश्चिन्तावद्भिर्न भवितव्यम् । अस्माभिस्तु शाश्वतं सत्यं प्राप्तव्यं सम्प्राप्तेन तेनैव सत्येन समाजो व्यवस्थापनीयः । नेदं जीवनात् पलायनमपि तु वास्तविकेन जीवनेन सह सामञ्जस्यस्थापनं विद्यते ।"

पुत्रस्यादम्यां वैराग्यभावनां विलोक्य माता मौनमास्थिता । वस्तुतः सा साधारणा माता नासीत् । तीर्थङ्करं पुत्रं जनयित्वा सा महद्गौरवान्विताऽभूत् । तस्या हृदये धर्मज्ञानं श्रद्धा जनकल्याणभावना च निरतं विद्यमाना एवासन् । साऽऽत्मनस्तनयं परिणाययितुमवश्यमचेष्टत परं नैवमवाञ्छद् यद् महावीरो जीवनस्य सत्यं मार्गं परित्यजेत् । अतस्तयाऽनुभूतं यन्महावीरस्य कथनं यथार्थमेवास्तीति ।[1]

तीर्थङ्करमहावीरस्य जन्म वैभवपूर्णे परिवेशेऽभूत् । तस्य परितः परिवारस्य वैशालीगणतन्त्रस्य च समृद्धिर्व्याप्ताऽऽसीत् । यौवने विवाहाकरणसङ्कल्पाद् हृदये विराग-प्रवृत्तिरधिकं स्फुरिताऽभूत् । राजभवने नर्तकीनां परिचारिकाणां नूपुरझङ्काराः श्रुतिपथमायान्ति स्म । परिचारका इच्छाभिव्यक्तेः पूर्वमेव सर्वमपीप्सितं पुरोऽकुर्वन् ।

राजभवने पञ्चेन्द्रियाणां सर्वाणि सुखानि पूर्णरूपेण सुलभान्यासन् । अशन-वसनानां भोगोपभोगानां वस्तून्यपि प्रस्तुतान्येवाभूवन् । नृत्यं वाद्यं सङ्गीतं मनोरञ्जनं च प्राचलदेव । परं वर्द्धमान एतेभ्यः सर्वेभ्यः पृथग्भूयात्मचिन्तनेऽनवरतं सम्मग्नः सन् जल-कमलमिव राजप्रासादेऽवसत् ।

संसाराद् विरतिः

एकदा श्रीवर्द्धमानस्य स्मृतौ तदीयाः पूर्वभवानां घटनाः सहसैव समुद्भूताः । सोऽज्ञासीद् यद् 'अहं पूर्वस्मिन् भवे षोडश-स्वर्गस्येन्द्र आसम् । तत्र मया द्वाविंशतिसागरावधि दिव्या भोगोपभोगा भुक्ताः । तस्मात् पूर्वतने भवेऽहं संयमधारणपूर्वकं तीर्थङ्कर-प्रकृतेर्बन्धमकार्षं यस्योदयोऽस्मिन् भवे भविष्यति । सम्प्रति धर्मस्य नाम्ना पापात्याचारा वर्धन्तेऽतः पापनाशोऽज्ञानस्यापाकरणं चात्यावश्यके स्तः । यावदहं संयमं न गृहीष्यामि, तावदात्मशुद्धिं कर्तुं न शक्ष्यामि

---

१. भगवतो महावीरस्य विवाहविषये श्वेताम्बरसम्प्रदायस्य मान्यता पृथग् विद्यते । तत्र वर्णितमस्ति यन्महावीरस्य रुचिर्विवाह-विषयिणी कथमपि नासीत् परं मातुराग्रहवशात् समरवीरनामकस्य महासामन्तस्य 'यशोदा'-नाम्न्या कन्यया सह विवाहः कृतः । कालक्रमेणैकं पुत्रीरत्नमपि प्राप्तं यस्य नाम 'प्रियदर्शना'ऽभवत् । कालान्तरे तस्या विवाहश्च तस्मिन्नेव नगरे 'जमाली'नामकेन क्षत्रियकुमारेण (यो हि भगवतो ज्येष्ठभगिन्याः सुतोऽभूत्) सह सम्पन्न इति ।

तथा यावत् स्वयं शुद्ध-बुद्धो न विष्यामि तावद् विश्वस्य कल्याणं दुःशकम् । अतो मोह-कर्दमाद् बहिर्निःसृत्य मयाऽऽत्म-विकासः करणीयः ।

'एवं वर्धमानस्य हृदये वैराग्य-भावना समुद्भूता तस्मिनेव समये लौकान्तिका देवास्तत्समक्षमुपस्थिताः प्रोचुश्च 'भवता यत् संसारस्य मोहत्यागपूर्वकं विषय-भोगेभ्यो विरज्य संयमधारणाय विचारितं स विचारो नितान्तं हितावहः । भवन्तस्तपस्त्याग-संयमैरेवाजरामरं पदं प्राप्स्यन्ति विश्वज्ञातारो द्रष्टारो भविष्यन्ति तथा विश्वमुद्धरिष्यन्तीति ।'

लौकान्तिकदेवानां वचांस्याकर्ण्य वर्द्धमानस्य वैराग्यं भूयोऽपि प्रगाढमविचलं चाभूत् । तैः कुण्डपुरस्य राजभवनं विसृज्यैकान्ते वने आत्मसाधनायै दृढं निश्चितम् । राजा सिद्धार्थो ब्राह्मणेभ्यः किमिच्छकं दानं दत्त्वा तान् समतोषयत् ।

तदानीमेवेन्द्रस्यासनं कम्पितम्, अवधिज्ञानाच्च सोऽन्तिमतीर्थङ्करस्य वर्द्धमानस्य वैराग्यभावनां ज्ञातवान्, तदा देवगणैः सह तत्कालमेव कुण्डपुरस्य राजभवनमुपागतः । आगत्य च हर्षोत्सवं कृतवान् ।

यदा त्रिशला राज्ञी राजकुमारस्य वर्द्धमानस्य संसाराद् विरक्तेः समाचारान् ज्ञातवती, तदा सा पुत्र-स्नेहवशाद् विह्वलतां प्राप्ता । तस्या हृदि विचारोऽयमायातो यद्—'राजसुखे सम्पुष्टो मम सुतो वन-पर्वतानां कण्ट-काकीर्णे स्थाने नग्नः सन् शीत-ग्रीष्मजानि कष्टानि कथं सहिष्यते ? कथं वा तादृशे पथि विहरिष्यति ? नग्नेन शिरसा वपुषा चातप-वर्षादि-प्रभवानि दुःखानि कथं तरिष्यति ? कथं तत् कठिनं तपः क्व च तदीयं कोमलं वपुः ?' इत्येवं मनस्येव मनसि चिन्तयन्ती संज्ञाहीनाऽभूत् । तदानीमागतैर्देवैस्त्रिशला सम्बोधिता—'मातः ! तव पुत्रोऽतीव बलवान् धीरो वीरो वज्र-वृषभ-नाराच-संहननश्चास्ति । साम्प्रतं स सर्वोच्चं पदं प्राप्तुं गच्छति, तत उच्चं किमपि पदं न भवति । तव पुत्रः केवलमात्मन एवोद्धर्त्ता न भविष्यति, अपि तु परं सोऽनेकेषां प्राणिनां संसारार्णवात् तारको भविष्यति । 'अये वीरमातः ! मोहावरणमपाकुरु । त्वं धन्याऽसि । त्वां 'विश्वोद्धारकतीर्थङ्करस्य जननी'ति कथयित्वा संसारोऽनन्तकालं यावद् यशोगाथाभिः स्तोष्यति ।'

एवं देवैः सम्बोधनं लब्ध्वा राज्ञी त्रिशला प्रबोधमुपगता तथापि पुत्रवियोगविह्वला सती तदीय-सौख्य-कामनया च चिन्तातुराऽवर्तत । वन्यानां हिंस्रजीवानामुपद्रवसङ्कुले प्रदेशे निवासजन्य-कष्टान्यनिष्टानि च कथमयं तरि-ष्यतीति चिन्ताकुलचित्ताऽवसत् । वर्द्धमानो मातरं पितरं परिवारजनाँश्च समाश्वास्य राजभवनाद् निःसृतः ।

कुण्डपुराद् बहिः विरक्तं कुमारं वर्द्धमानं नेतुं चन्द्रप्रभा नाम्नी रमणीया शिविका समानीता । तस्यां वर्द्धमानो निषण्णः । जय-जयारावैः सह पूर्वं मनुष्यैः पश्चादिन्द्रादिदेवैः शिविका स्वे स्वे स्कन्धे धारिता ज्ञातृखण्ड-वनं च प्रापिता ।

शाद्वलितं वनप्रान्तम्, विशुद्धो गन्धवहः, सर्वत्रापि नीरवा शान्तिः । तत्र शिविकाऽवतारिता । वर्द्धमानेनोत्सा-हेन तीर्थङ्करवर्द्धमानोऽवतरितः । आसीदत्रैका स्वच्छा शिला । अत्रेन्द्राण्या रत्नचूर्णेन स्वस्तिकस्य कलापूर्णा रचना विहिता । तस्योपरि श्रीवर्द्धमानोऽतिष्ठत् । तदनन्तरं शरीरस्य समस्तानि वस्त्राभरणानि पराकृत्य प्राकृतिकः स्वतन्त्रः नग्नश्रमणवेषः स्वीकृतः । स्वहस्ताभ्यां शिरः केशानां पञ्चमुष्टिलुञ्चनं विहितम्, यदासीच्छारीराद् मोहत्यागस्य प्रतीकभूतम् । तदनन्तरं 'नमः सिद्धेभ्यः' इति कथनपूर्वकं सिद्धान् नमस्कृत्य पञ्चमहाव्रतानि पिञ्छकं कमण्डलुं च धारितवान् तथा सर्वसावद्यं त्यक्त्वा पद्मासनं विधायात्मध्याने निमग्नः ।

सुरराजस्तीर्थङ्करस्य केशान् समुद्रे प्रक्षेप्तुं रत्नमञ्जूषायां न्यदधात् । एवं चरमतीर्थङ्करश्रीमहावीरस्य मार्गशीर्षकृष्णदशम्यां हस्तोत्तरयोर्मध्यवर्तिनि समये दीक्षोत्सवं परिसमाप्य समस्ता इन्द्रादयो देवाः स्वस्वस्थानं प्रति प्रस्थिताः ।

बाह्येभ्यो विचारेभ्यो मनो निरुध्य मौनभावेनाचले पद्मासने स्थित्वा तीर्थङ्करो महावीरो यदाऽऽत्मचिन्तने निमग्नस्तदानीमेव तस्य मनःपर्ययज्ञानस्योदयोऽभवद् यो हि निकटे भविष्यति केवलज्ञानोदयस्य सूचक आसीत् ।

इदं तीर्थङ्करभगवत आत्माऽभ्युदयस्य प्रथमं चिह्नमभूत् ।

भगवतो महावीरस्य योगसाधनम्

'आत्मशुद्धेरात्मनः साक्षात्कारस्य मुक्तेर्निर्वाणस्य वा प्राप्तये योगमार्गालम्बनं विना नास्त्यन्यः कश्चन उपायः ।' तथ्यमिदं सर्वथोपादेयमिति मत्वा भगवान् महावीरो योगमार्गमात्मसात् कृतवान् । योगदीक्षा चेयं भोगै-श्वर्ययोः परित्यागं विना नाभूत् सुलभेति सञ्चिन्त्य भगवता सर्वप्रकारिका भोगलिप्साः परित्यक्ताः समग्रस्यैश्वर्यस्य परित्यागं च विधायैकस्य निर्ग्रन्थस्य—श्रमणस्य वृत्त्या जीवनयापनं प्रारब्धम् ।

आत्मनः पावित्र्य-सम्पादनाय पापकारिणीषु प्रवृत्तिषु पूर्णरूपेण प्रतिबन्धं निधाय शुद्धं स्वच्छं चात्मानं सम्पादयितुं योगदीक्षाऽङ्गीकारावसरे श्रीमहावीरः सावद्ययोगस्य मनसा वाचा कर्मणा च परित्यागमकरोत् । अस्यां साधनायां यमानां पालमानवश्यकमासीदिति धिया —अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्या-परिग्रहप्रभृति पञ्च महाव्रतानां धारणमप्रमत्तभावेन चैतेषां पालनमसाधयत् ।

यमैः सह नियमा अपि पालनीया भवन्ति । अत एव भगवतो रात्रिभोजनत्याग-सदृक्षाः कतिपये नियमा अपि स्वीकृतास्तथाऽऽवश्यकतानुसारं तेषु परिवर्तनं परिवर्धनं चापि कृतम् ।

उदाहरणाय कस्यचन तपस्विन आश्रमेतैः केषाञ्चित् कटूनामनुभवानामनन्तरमेते पञ्च नियमा अङ्गीकृताः—

(१) यत्राप्रीतिर्भवति तस्मिन् स्थाने नोषितव्यम् ।
(२) यथासम्भवं ध्यान एव स्थातव्यम् ।
(३) यावच्छक्यं मौनं धारणीयम् ।
(४) भोजनं पात्रापेक्षया हस्तेनैव कर्तव्यम् ।
(५) गृहस्थो नानुनेतव्यः ।

स दृढप्रतिज्ञ आसीत्, अतो नियमानामेतेषां पालनं पूर्णरूपेणाकरोत् ।

'अभ्यासेन योगः सिद्धयति' तदर्थं स योगाभ्यास एव दत्तचित्तः सन् तदीयाः प्रक्रियाः क्रमशः साधयति स्म । तत्रापि तदीया धारणाऽऽसीद् यदासनसिद्धिं विना काययोगे स्थिरता न सुलभा । किञ्च शीतातप-वायु-कुज्झटिका-प्रभृतिभ्यो नैकविधजन्तुभ्यश्च समुत्पन्नानामुपद्रवाणां परिस्थितौ निशङ्कभावेन स्थातुमपि पूर्णोपादेयत्वमासनसिद्धे-रेवास्ति, कारणादस्मात् सर्वप्रथमं लक्ष्यमासनसिद्धिं प्रत्येव प्रत्तं तथा कानिचिदासनानि सिद्धान्यपि विहितानि । सम्बन्धेऽस्मिन् 'आचाराङ्गसूत्रे' वर्णितमस्ति यत्—'भगवान् स्थिरावस्थया संस्थाय नैकविधेष्वासनेषु स्थिरीभूय ध्यायति स्म तथा समाधिदक्ष आकाङ्क्षाविहीनश्च भूत्वोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकान् विचारयति स्मेति ।'

उत्तराध्ययनसूत्रस्य त्रिंशत्तमेऽध्ययने कथितमस्ति यत्—

ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जंति, कायकिलेसं तमाहियं ॥२६॥

एतेन ज्ञायते यद् भगवान् वीरासन-पद्मासनोत्कटिकासन-गोदोहिकासन-प्रभृति-सरलान्यासनानि विशिष्य प्रियाणि मनुते स्म तथा तेषु दीर्घकालं यावत् स्थिरोऽभूदिति।

अनेकशः स कायोत्सर्गासनेऽपि संस्थितोऽभूत्। श्वासनिरोधरूपां प्राणायाम-क्रियां स नान्वमोदत। तदीया मान्यताऽऽसीद् यत् प्राणवायोर्निग्रहेण कदर्थना-प्राप्तं मनः शीघ्रं स्थिरं न भवतीति। परं स भाव-प्राणाया[1]-मायावश्यमेव महत्त्वमदात्, यस्मिन् वहिरात्मभावस्य रेचकोऽन्तरात्मभावस्य पूरकः स्थिरतारूपस्य कुम्भको भावानां संयमनक्रिया च मुख्या आसन्।

पञ्चानामपीन्द्रियाणां विषयेभ्यो मनस आकर्षणं तथा यत्र स्वकीयेच्छा भवेत् तत्र स्थापनं 'प्रत्याहारः' कथ्यते। साधारणाय जनायेयं क्रिया कठिना भवति यतो हि तस्य मनः श्लेष्मणि मक्षिकायाः संश्लेष इवेन्द्रियाणां विषयेषु लिप्तं तिष्ठति तस्माच्च केनापि प्रकारेण पृथग् न भवति। परं भगवतो मनः संवृत्तमभूत् पुद्गलानां च स्वल्पामपि सङ्गतिं स न वाञ्छन्ति स्म। अस्मादेव कारणादेषा क्रिया शीघ्रमेव सिद्धिं प्राप्ता। आचाराङ्गसूत्रे वर्णित-मस्ति—'ते भगवन्तः कषाय-रहिता लोभ-रहिताः शब्दरूपयोश्च मूर्च्छा-रहिताः साधकदशायां च पराक्रममाणाः स्वल्प-मात्रमपि न प्रमाद्यन्ति स्म। ते स्वानुभूति-पूर्वकं संसारस्य स्वरूपं विज्ञायात्मशुद्धेः कार्ये सावधानास्तिष्ठन्ति स्मेति।'

योगाभ्यासं परिसमाप्य भगवान् धारणासिद्धये प्रायतत तदर्थं च भद्रा-महाभद्रा-सर्वभद्राख्याश्च प्रतिमा-स्तैरङ्गीकृताः। तत्र हि भद्रप्रतिमाया विधिरेवं विद्यते—दिनद्वयस्य निराहारमुपवासमादृत्य प्रातः पूर्वाभिमुखीभूय कस्मिन्नप्येकस्मिन् पदार्थे दृष्टेः केन्द्रीकरणम्। तदनन्तरं निशायां सत्यां दक्षिणस्यां दिशि मुखं कृत्वा पूर्वोक्तयैव पद्धत्या कस्मिन्नप्यन्यस्मिन् पदार्थे दृष्टेः स्थिरीकरणम्। द्वितीये दिवसे प्रातःकाले सति पश्चिमदिशायां निशाप्रवृत्तौ चोत्तरस्यां दिशि मुखं विधाय पूर्वोक्तपद्धत्यैव कस्मिन्नपि वस्तुनि दृष्टेः केन्द्रीकरणमिति। अस्यायमाशयो यदस्मिन् विधौ नैरन्तर्येण द्वादशहोरावधि एकस्मिन् पदार्थे धारणा विधीयते तथाऽयं प्रयोगोऽष्टचत्वारिंशद्धोरा यावत् प्रचलति। भगवान् इमं प्रयोगं दश वर्षाणां योगाभ्यासानन्तरं श्रावस्तीनगर्या एकस्मिन् भागे स्थिते 'सानुयष्टिक'-नाम्नि ग्रामेऽकरोत् साफल्यं चालभत।

महाभद्र-प्रतिमायां चतुर्विंशतिहोरापर्यन्तमेकस्यां दिशि मुखं कृत्वा कस्मिन्नप्येकस्मिन् पदार्थे दृष्टिः स्थिरीक्रियते। षण्णवति होरापर्यन्तं निराहारोपवासैरेषा प्रतिमा पूर्यते। अस्यां क्रियायामपि भगवान् सफलो ऽभूत्।

सर्वतोभद्रप्रतिमाया विधिस्त्वत्यन्तं कठिनः। अस्यां चतस्रो दिशः, चतस्रो विदिशः; ऊर्ध्वा दिग् अधो दिक्चैवं दशसु दिक्ष्वेकैकमहोरात्रं यावद् दृष्टिस्थैर्यं क्रियते तथा दश दिनानि यावद् निराहारमुपवासाः क्रियन्ते। प्रति-मायामस्यामपि विजयं प्राप्नोद् भगवान्।

---

१. —श्रीहरिभद्रसूरेः 'योगदृष्टि-समुच्चये' चतुर्थ्यां दृष्टावस्य प्राणायामस्य वर्णनं विद्यते।

'अप्रमत्तभावेन स्थातव्य'मिति भगवतो मुख्यः सिद्धान्त आसीत्, कारणादस्मात् क्वापि प्रमादो न प्रविशेदेतर्थं सोऽतीव सावधानोऽभवत् । निद्रामपि योगसाधनायां बाधिकां मनुते स्म तस्माद् निद्रासेवनमपि स नाकरोत् । आचाराङ्गसूत्रे कथितमस्ति—'भगवन्तः कस्मिंश्चित् समय उत्कटासनादिषु स्थैर्यमभजन् परं निद्रेच्छया नैव । कदाचिद् निद्राऽऽगच्छन्ती प्रतीयते स्म तदा ते संसारवर्धकं प्रमादं मत्वा सततमुत्थाय तां पराऽकुर्वन् । आवश्यकतानुसारं शीतकाले रात्रौ बहिर्गत्वा मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानेऽपि तिष्ठन्ति स्म । निद्राया अपसारणायायं तदीयो मुख्यः प्रयोग आसीत् ।'

मनसो निष्क्रियता व्यर्थचिन्तनस्य द्वारमस्ति । अतो भगवान् न कदाऽपि मनो निष्क्रियमकरोत् । कदाचित् तदनुप्रेक्षायां—तत्त्वचिन्तने योजयति स्म कदाचिच्च धर्मध्याने नियोजयति स्म । धारणा-सिद्धचा तस्य धर्मध्यानेऽतीवौज्ज्वल्यं स्थिरत्वं चागच्छताम् ततः परं तु स आत्मनः शुद्धोपयोगरूपं शुक्लध्यानं धारयितुं पूर्णरूपेण साफल्यमविन्दत् ।

शुक्लध्यानस्य द्वितीयस्यां भूमिकायां श्रुतज्ञानालम्बन-ग्रहणावसरे द्रव्यस्यैव पर्यायस्याभेदचिन्तनं भवति तथाऽस्यामेव भूमिकायां मनसः समस्तानां वृत्तीनां लये सति केवलज्ञानमुत्पद्यते । तेन कैवल्यज्ञानेनात्मा भूत-भविष्यद्-वर्तमानकालिकसमस्तवस्तूनां सर्वानपि पर्यायान् ज्ञातुं शक्नोति, द्रष्टुं शक्नोति सर्वज्ञकोटौ च विराजते ।

भगवान् महावीरो जृम्भिकग्रामाद् बहिर्ऋजुवालिकानद्या उत्तरे भागे स्थितस्य कस्यापि देवालयस्य निकटे श्यामाकनाम्नो गृहस्थस्य क्षेत्रे, शालवृक्षस्याधो भागे, उत्कटिकासनेन स्थित्वोपवासद्वयस्य तपश्चर्यापूर्वकं ध्यानावस्थित आसीत् तदा सोऽस्य शुक्लध्यानस्य द्वितीयां भूमिकां प्राप्तस्तदानीमेव केवलज्ञानं प्राप्तवान् । इदं शुभदिनं वैशाखशुक्लदशम्याः केवलज्ञानप्राप्तिसमयश्च दैवसिकश्चतुर्थः प्रहर आसीत् ।

चित्तस्य सर्वथा चाञ्चल्यनाशात् समाहितावस्था प्राप्यते किञ्च साऽपूर्वमानन्दमनुभावयति । एवं भगवान् महावीरोऽधुना सच्चिदानन्दावस्थां सम्प्राप्त आसीत् सा चावस्था जीवनस्यान्तिमसमयावधि स्थैर्यमभजत् ।

श्रीमहावीरभगवान् महान् राजयोगी आसीत्, तेन चोत्तरकाले स्वशिष्येभ्योऽपि राजयोगस्यैव दीक्षा प्रदत्ता ।

अत्रेदं स्मर्तव्यमस्ति यद् योगदीक्षा कस्मादपि गुरोर्गृह्यते तथा साधको गुरोर्मार्गदर्शन-पद्धतावेवाग्रे वर्धते परमेतेनैषा योगदीक्षा स्वयं गृहीता स्वानुभवाधारेण च पुरो वर्धित्वा केवलज्ञानस्य प्राप्तिं यावत् सम्प्राप्तः । जैनशास्त्रकारास्तं 'स्वयंसम्बुद्ध' इत्यकथयन्, तस्येदमेव कारणम् ।

सर्वविधान् भयान् सोऽजैषीत् । मृत्युभयमपि स जितवान् । सहैव स आन्तरिकान् काम-क्रोधादिशत्रूनपि विजित आसीदिति कारणात् तदीया गणना जिनेषु क्रियते स्म ।

उत्कृष्टया योगसाधनया, उग्रया तपश्चर्यया, विशुद्धेन जीवनेन यत्र च स गच्छति स्म तत्र मङ्गलानां प्रवर्तनं भवति स्मेति कारणात् स सर्वेषां पूजनीयोऽभूत्, तस्मादेव स 'अर्हत्' इति माननीयेन विशेषणेन सम्बोध्यते स्म ।

योगसाधनावसरे भगवान् नैकाः सिद्धीः प्राप्नोत् ।

कैवल्यप्राप्तिर्धर्मचक्र-प्रवर्तनं च

जगति यदा कश्चिदपि जनः स्वर्णवद् निघर्षणच्छेदनताप-ताडन-प्रभृतीनि नानाविधानि कष्टानि सहते तदा तस्य मूल्यं वर्धते । रत्नं टङ्कन-घर्षण-कर्षण-व्यवस्थापनादि-कर्मभिरेव सन्मूल्यवद् भवति तथैव मानवोऽपि परमात्म-

तत्त्वोपलब्धयेऽनादिकालाद व्याप्तं कर्ममलं दूरीकर्तुं नितरां परिश्राम्यति । 'आत्मनः परमात्मत्वं बहुनाऽऽयासेन साध्यत' इति ज्ञात्वैव श्रीमहावीरेणापि तप आचरितम् । वर्षाणां द्वादशीं यावत् कठोरं तपो योगकर्म च संसाध्य पूर्वसञ्चितः कर्मराशिः क्षीणतामानीतः । कर्मणामागमनं (आस्रवः) तथा बन्धः क्षीयेते स्म । अत आत्मनः प्रच्छन्नं तेजः क्रमेणोदेति स्म कर्मभारश्च क्रमेण ह्रसति स्म ।

विहारं कुर्वन् भगवान् महावीरो मगधप्रान्तस्य 'जृम्भिका'-ग्रामस्यान्तिके प्रवहन्त्या 'ऋजुकूला'-नद्यास्तटे शालिवृक्षस्याधोभागे क्षपकश्रेणीमारुह्य केवलज्ञानावर्तिकाः कर्मप्रकृतीः क्षेतुं ध्यानमग्नोऽभवत् । तत्र हि निर्मलेन चेतसा ऽऽज्ञाविचयादिचतुर्णां महतां धर्मध्यानानामभ्यास आचरितः । अनन्तानुबन्धिनः क्रोध-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्वसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वतिर्यञ्चायुर्देवायुर्नरकायुःप्रभृतीनां दश कर्मप्रकृतीनां चतुर्थगुणस्थानात् सप्तमगुणस्थानमध्ये क्षयः कृतः कर्मरूपशत्रूणां विनाशाय तीर्थङ्करश्रीमहावीरोऽभ्यस्तवान् क्षपकश्रेणीञ्चारुह्य स्त्यानगृद्धि-निद्राऽनिद्रा-प्रचलानरकगति-तिर्यञ्चगति-एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियरूपजाति-चतुष्टय-नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी- तिर्यग्गति-तिर्यग्गत्यानुपूर्वी-आतपो-द्योत-स्थावर-सूक्ष्म-साधारणादि-षोडशकर्मप्रकृतीर्नाशितवान् । भगवान् श्रीमहावीरः शुक्लध्यान-साधनयाऽनिवृत्तिकरणनामकगुणस्थानस्य प्रथमे भागेऽवस्थितः । भूयश्चास्यैव गुणस्थानस्य द्वितीये भागे चरित्र-घातकानष्ट कषायान् तृतीये भागे नपुंसकवेदं, चतुर्थे भागे स्त्रीवेदं, पञ्चमे भागे हास्यादिषट्कं, षष्ठे भागे पुरुषवेदं, सप्तमे भागे संज्वलनक्रोधं नवमे भागे संज्वलनीं मायां चानाशयत् । तदनन्तरं दशमस्य गुणस्थानस्य भूमावारुह्य सूक्ष्मसंज्वलनलोभस्य विनाशमकरोत् ।[1]

एवं समस्तं मोहनीयं कर्म विनाश्य द्वादशतमं गुणस्थानमारूढः । अस्य गुणस्थानस्य द्वयोः समययोरुपान्त्यसमये निद्रा-प्रचलानाम्न्योर्द्वयोः कर्मप्रकृत्योस्तथाऽन्ते समये पञ्च ज्ञानवारणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां तथा पञ्चान्तरायानां चतुर्दशकर्मप्रकृतीनां विनाशः सम्पादितः । इत्थं द्वादश गुणस्थानावधि त्रिषष्टिकर्मप्रकृतीर्विनाश्य त्रयोदशतमं गुणस्थानमारूढवान् ।

एतेन गुणस्थानारोहणेन श्रीमतो महावीरस्य शुभ्रता-शुचिता सर्वत्र प्रकटिता । घाटि कर्मणां सप्तचत्वारिंशत् ४७ तथाऽघातिकर्मणां षोडश १६ संख्या मिलित्वा त्रिषष्टि प्रकृतीनां विगलनेन कैवल्यसूर्योदयः सञ्जातः । महावीरस्य सौम्यमुद्रायां सर्वज्ञता तरङ्गायिता । कर्मशत्रव आत्मसमर्पणमकुर्वन् । यथा सूर्योदयानन्तरं सर्वत्र प्रकाशो व्याप्नोति तथैव कैवल्योदये सति दिव्यं तेजो व्याप्नोत् ।

भगवतो महावीरस्य कैवल्योपलब्धिमिमां श्रीयतिवृषभाचार्य एवमवर्णयत्—

वइसाहसुद्धदसमी मघारिक्खम्मि वीरणाहस्स ।
रिजुकूलानदीतीरे अवरण्हे केवलं णाणं ॥

(ति० ४।१७०१)

एतदनुसारं वैशाखशुक्लदशम्याः शुभदिने मघानक्षत्रे ऋजुकूलानदीतीरेऽपराह्णे कैवल्यप्राप्तिरियमभूत् ।

भगवतः केवलज्ञान-कल्याणकस्योत्सवं सम्पादयितुं चतुर्निकायस्य देवा मनुष्याश्चैकीभूताः । सर्वैरपि भक्तिभावपूर्वकं तदीयस्य केवलज्ञानस्यार्चना विहिता । सार्धपञ्चमासोत्तरद्वादशवर्षाणां दुर्द्धर्षतपश्चरणस्य फलमर्हत्त्वरूपेण सुलभमभूत् । तीर्थङ्करप्रकृतेरुदयाद् दिव्यदेशनायाः सामर्थ्यमपि प्राप्तम् ।

---

१. अत्र वर्णितानां गुणस्थानानां विस्तृतं वर्णनं जैनग्रन्थेषु द्रष्टव्यम् ।

साधना-कालिक्यो विहारभूमयः

भगवान् श्रीमहावीरश्चातुर्मासस्य दिवसेष्वेकस्मिन्नेव स्थानेऽवसत्, शिष्टेस्वष्टसु मासेषु पृथक्-पृथक् स्थलेषु विहारानकरोत् । साधनाकाले च भगवान् विदेह-बङ्ग-मगध-काशी-कौशलादि-जनपदेषु विहृतवान्, इति तदीय-साधना-कालस्य चातुर्मास-नामावल्या ज्ञायते । यथा हि —

प्रथमश्चातुर्मासः—मोराक सन्निवेशस्य निकटे तापसानामाश्रमेऽस्थिकग्रामे च ।

द्वितीयश्चातुर्मासः—राजगृहनगराद् बहिर्नालन्दाऽऽवासान्तर्गतमेकस्य तन्तुवायस्य शालायाम् ।

तृतीयश्चातुर्मासः—अङ्गदेशस्य राजधान्यां चम्पानगर्याम् ।

चतुर्थश्चातुर्मासः—पृष्ठचम्पानगर्याम् ।

पञ्चमश्चातुर्मासः—भद्दिलपुरे ।

षष्ठश्चातुर्मासः—भद्रिकापुर्याम् ।

सप्तमश्चातुर्मासः—आलभिकानगर्याम् ।

अष्टमश्चातुर्मासः—राजगृहे ।

नवमश्चातुर्मासः—राढप्रदेशस्य वन्यभागे ।

दशमश्चातुर्मासः—श्रावस्तीनगर्याम् ।

एकादशश्चातुर्मासः—वैशाल्याम् ।

द्वादशश्चातुर्मासः—चम्पानगर्याम् ।

भगवान् भारतस्य भिन्नभिन्नेषु भागेषु विहृत्य जनान् त्यागनिष्ठायै संयमाय चोपदिशति स्म । आगम[1]-निर्युक्ति-चूर्णिभाष्य-प्राचीन-चरित्रग्रन्थादिषु तदीया विहार-विषयकाः सङ्केता उपलभ्यन्ते । सार्धपञ्च मासोत्तर-द्वादशवर्षाणां तपःसाधनेयं प्रचलिता । साधना-काले विविधघटना घटिताः । एतासु घटनासु तीर्थङ्कर-महावीरस्य त्याग-सहिष्णुता-साहस-धैर्य-दया-क्षमा-प्रभृति-विशिष्टगुणानां चित्राण्यपि स्फुटीभवन्ति । यथा हि —

प्रथमवर्षस्य साधना—कर्मार-ग्रामे कायोत्सर्गावसरे गोपालस्य, कुलपतेराश्रमे गोभिः कुटीरस्यैव तृणभक्षणस्य अस्थिग्रामे शूलपाणि-यक्षस्य च घटनास्तदीयानां सहिष्णुता-धैर्य-साहसानां कथा व्यञ्जयन्ति । वर्षावासोऽयमस्थिक-ग्रामेऽभूत् ।

द्वितीयवर्षस्य साधना—वाचलां प्रति प्रस्थानावसरे चण्डकौशिक-दृष्टिविषस्य मौनमुद्बोधनं तत्फलरूपेण सल्लेखना-व्रतधारणपूर्वकं तस्य सद्गतिप्रापणं, श्वेताम्बीनगर्याः श्रीप्रदेशिराज्ञो धर्मारावने प्रवर्तनं, सुरभिपुरं प्रति गमनकाले गङ्गायामागतस्य ज्वारस्य शमनं, नालन्दायां वर्षावासकाले मासिकोपवासस्तत्पूर्तिसमये श्रेष्ठिनो गृहे निर-न्तरायाहारप्रभावाद् नालन्दायां गन्धोदकवृष्टिः पुष्पवृष्टिः सुरभितवायु-सञ्चारो देवानां दुन्दुभिनादस्तथा 'दानमि-दमाश्चर्यकारी'ति नभोवाणीश्रवणरूपपञ्चाश्चर्यस्फुरणं, गोशालकस्य शिष्यत्वस्वीकृतिश्चेत्यादय आत्मशोधनसाहस-तितिक्षादिगुणान् स्फोरयन्ति ।

तृतीयवर्षस्य साधना—आत्मविकासाय प्रयस्यन् भगवान् महावीरोऽस्मिन् वर्षे द्वितीयं वर्षावास-कालं परि-समाप्य कोल्लाग-सन्निवेशं विहृतः । ततश्च ब्राह्मणग्रामं तदनु च विहृत्य चम्पानगरीं प्राप्तः । तृतीयो वर्षावासोऽत्रैव यापितः । अस्मिन् वर्षावासे भगवता कर्मनिर्जराया अष्टाविंशतिमूलगुणानां पालन-पूर्वकं द्वयोर्द्वयोर्मासयोरुपवासाः

१. दिगम्बरसाहित्ये वर्षावासानामेतेषां वर्णनं न लभ्यते ।

स्वीकृताः । अनया दान-शील-तपो-भावरूपस्य चतुर्विधिधर्मस्य साधनया मानवता प्रतिष्ठापिता । जीवनं पूर्णतया सरलं सरसं च सम्पन्नम् । अध्यात्मशक्तीनां सर्वोत्कृष्ट-विकासाय स्वयं पुरुषार्थं विधायात्मचिन्तन-प्रक्रियामहरहोऽवर्धयत् ।

चतुर्थवर्षस्य साधना—अनवरतसाधनाबलेन भगवान् क्षमायाः पूर्णाभ्यासं साधितवान् । कर्मपाशाः शिथिलतामासादितवन्तः । तपःप्रभावेन कर्मशृङ्खला जर्जरिता । दीक्षायाश्चतुर्थे वर्षे स्वीयं तपोऽत्यधिकं तेजस्कृतम् । एकाग्रता-शीतातप-सहिष्णुतापूर्वकं ग्रामानुग्रामेषु कालायस-पत्रकालय-कुमाराक-सन्निवेशेषु च विहृत्य पृष्ठचम्पा-नगर्यां वर्षावासः सम्पादितस्तत्र च कठोरेण तपश्चरणेनात्मानुसन्धानं साधितम् ।

पञ्चमवर्षस्य साधना—चतुर्थं चातुर्मासं व्यत्याप्य भगवता निराकुलेन भावेन क्षुत्तृषोः परीषह-पूर्वकं कयंगलां प्रति विहृतम् । तत्र बहिरुद्याने देवालये रात्रिवासः, ततः श्रावस्ती-हल्यदुय-नंगला-चोराकसन्निवेश-कलम्बुकासन्निवेशेषु विहारं कृत्वाऽनार्यदेश-विहाराय च चिन्तितम् । कर्मक्षयाय साधनायास्तीव्रताया उपसर्ग-परीषह-सहनाय च लाढ़देशं प्रति प्रस्थानं कृतम् । अनार्यैरत्र विहितास्तर्जना-ताडनानिन्दाद्युपसर्गाः कर्मनिर्जरार्थमावश्यका आसन् । विहारमार्गे नानाविधानि काठिन्यान्यनुभूतानि । शुद्धाहार-प्राप्त्यभावात् प्रायः सर्वदोपवासस्तथा मार्गेऽनार्यैरुद्भाविता अनेक उपसर्गाः प्राप्ता येषां सहनेनापि साधनायां वैशिष्ट्यमायातम् । तत आर्यप्रदेशमागत्य मलयेषु विहृत्य भगवता पञ्चमो वर्षावासो मलयस्य राजधान्यां भद्दिलपुरे विहितः । अस्मिन् चातुर्मासेऽनशनादिभिः सह विविधासनपूर्वकं ध्यानात्मकं तप आचरितम् । एवमियं पञ्चमवर्षीया साधनाऽग्निकृतोपसर्गजय-सन्देहजन्योपसर्गजयादिभिरतीव-महत्त्वपूर्णाऽभूत् ।

षष्ठ-वर्षस्य साधना—चातुर्मासस्य चतुर्ष्वपि मासेषूपवासग्रहणानन्तरं भद्दिलपुराद् बहिः पारणाऽभवत् । ततः कयलि (कदली)-समागम-जम्बूखण्ड-तम्वायसन्निवेश-कूपियसन्निवेशेषु विहारं कृत्वा वैशालीं प्रति प्रस्थातुं भगवान् सज्ज आसीत्तदा गोशालकः पूर्वविहारेषु सम्प्राप्तान् क्लेशान् स्मृत्वा भगवन्तं प्राह—'भगवन् ! भवन्तो न तु मम रक्षां कुर्वन्ति न च भवता सह निवासात् किमपि सुखं मिलति, प्रत्युत कष्टान्येव भवन्ति सहैव भोजनस्यापि चिन्ता प्रत्यहं पीडयति । अतोऽहमग्रे श्रीमता सह विहर्तुमसमर्थोऽस्मि ।' इति कथयित्वा स राजगृहं प्रति प्रस्थितः । भगवानपि शान्तेन मौनभावेन च गोशालकस्य कथनमश्रृणोत् । ततश्च वैशालीं प्रविश्य भगवान् कर्म्मारशालायां ध्याने स्थितवान् । तत्र लोहकार उपसर्गाय सन्नद्धः स च केनाप्यन्येन भद्र-पुरुषेण निवारितः । ततः परं ग्रामाक-सन्निवेशे विभेलकयक्षोद्बोधः शालिशीर्षे कटपूतना-कृतानामुपसर्गाणां सहनं, भद्रिकापुर्यां च वर्षावासः श्रीमतो महावीरस्याखण्डमात्मचिन्तनं परीषहनं सर्वत्र प्रेम शान्ति-सौख्यानां प्रसारश्च वीतरागता-प्रभावातिशयान् प्रकटयन्ति ।

सप्तमवर्षस्य साधना—मासषट्कं यावद् गोशालकोऽपि पृथग् विहारं कृत्वा भूयोऽपि शालिशीर्षे भगवता मिलितः । वर्षाकालं व्यत्याप्य भगवान् नगर्या बहिर्भागे चातुर्मासोपवासस्य पारणां कृत्वा मगधेषु विहर्तुं प्रस्थितवान् । आत्मसाधकस्य योगीश्वरतीर्थङ्करमहावीरस्यात्मदर्शन-सम्बन्धिनी साधनोत्तरोत्तरं वर्धमानाऽऽसीत् । आत्मदर्शकस्य विषये च भगवता महावीरेणेदं सर्वथाऽनुभूतं यद्—'यावज्जनः सकलमपि विश्वमात्मनः समानेन भावेन न पश्यति न च तत्र विश्वसिति तावदात्मदर्शनं न सम्भवम् । आत्मदर्शनं मानवस्य प्रसुप्तां शक्तिं प्रबोधयति, आत्मानं पूर्णतया विकासयति तथाऽऽत्मनः स्वरूपं पूर्णरूपेणोद्घाटयति । एवं वीतरागताया निष्कामतायाश्च समुपलब्धये चिन्तयन् साधना-समृद्ध्यै सुतरां प्रयस्यन् शीतकाले ग्रीष्मकाले च मगधेषु विहृत्य वर्षादिवसेषु चातुर्मासं व्यत्यापयितुम् 'आलभिका'नगर्यामवात्सीत् । चातुर्मासिकानि तपांसि विविधा योगक्रियाश्चात्र साधिताः ।

अष्टमवर्षस्य साधना—श्रमणजीवनस्य प्रधानमुद्देश्यं प्राणिनः श्रेयोमार्गाय प्रवर्तनमस्ति । वर्षावासस्य समाप्त्यनन्तरं पारणायै कुण्डाक-सन्निवेशं प्रति प्रस्थानं विहितम् । सन्निवेशेऽस्मिन् वासुदेव-मन्दिरे ततश्च मद्दना-सन्निवेशे बलदेवमन्दिरे च भगवता कियच्चिद् दिनावधि ध्यानमादृतम् । ततः परं लोहार्गलराजधान्यां गमनं कृतम् । अत्र जितशत्रो राजपुरुषैः सन्देहवशाद् भगवान् गोशालकश्च निगृहीतौ । राजसभायां बन्दिरूपेणानीताविमावालो-क्यास्थिकग्रामस्य नैमित्तिकेनोत्पलेन परिचायितौ तदा बन्धनमुक्तिमासाद्य जितशत्रुणा भगवान् परिपूजितः क्षमा-पितश्च । लोहार्गलात् पुरिमतालपुरे विहृतम् । तत्रोद्याने निवसता भगवता बहव उपसर्गाः सोढाः । वग्गुरश्रावकेण भगवानभिवन्दितः सत्कृतश्च । तत उन्नाग-गोभूमि-प्रभृतिषु विहृत्य राजगृहीं प्राप्तवान् । अष्टमो वर्षावासोऽत्रैवाति-वाहितः । अस्मिश्च तुर्मासे चित्तशुद्धेर्विशिष्याभ्यासः कृतः । भ्रमणशीलं मनो विषयेभ्यः पराकृत्य स्वस्वरूप एव केन्द्री-कृतम् । मनो यथा यथा शान्तं निष्कम्पञ्चाभवत् तथा-तथा स्थैर्यमवर्धत । एवं वर्षावास-समाप्तिकाल एव सावधि-योगस्य साधनापि समाप्तिमगमत् ।

नवमवर्षस्य साधना—राजगृहाद् विहारानन्तरं भगवान् लाढदेशान् प्रति प्रस्थितः । ततश्च वज्रभूमि-शुद्धभूमि-सुम्हभूमि-प्रभृत्यादिवासि-प्रदेशेषु गतः । तत्र प्रायो ध्यानयोग्यानि स्थलान्येव नासन्, न च चैत्यान्यपि तत्रावर्तन्त तस्मात् प्राय उद्यानेष्वेव नगराद् बहिरुपस्थाय सामायिकं समपादयत् । सामायिक-क्रिया भगवतो महावी-रस्यात्मोपलब्धेः साधनमभूत् । दुष्टा हसन्ति स्म धूलि-प्रस्तरखण्डादीनि प्रक्षिपन्ति स्म दुर्वदन्ति स्म तथा कारणं विनैव विघ्नोत्पादनं च कुर्वन्ति स्म । चातुर्मासागतौ वन्यभाग एवैकस्मिन् वृक्षस्याधस्तादेव चातुर्मासग्रहणं कृतम् । उपवासः स्वीकृतः । सामायिकस्य सिद्ध्यै कायोत्सर्गे ध्याने च भगवान् नितरां प्रावर्तत । शारीरिक्याश्चञ्चलतायाः शारीरिक-ममत्वस्य च सर्वथा परित्यागो विहितः । इहलोक-परलोक-अत्राण-आकस्मिक-मृत्यु-प्रभृतिसप्तभयेभ्यो विमुक्त आत्मनः सान्निध्ये विचरणशीलो जितेन्द्रियः सामायिक-संयमी भगवान् महावीरः षण्मासावधि अनार्यभूमौ भ्रमणं विधाय वर्षाकालानन्तरमार्यभूमावुपागतः ।

दशमवर्षस्य साधना—भगवान् महावीरो गोशालकश्चार्यभूमौ सिद्धार्थपुरं प्रति गच्छन्तौ कूर्मग्रामं प्रति प्रस्थितौ । कूर्मग्रामाद् बहिर्वैश्यायनं निन्दतो गोशालकस्य विनाशाय वैश्यायनेन तेजोलेश्या क्षिप्ता, सा च भगवतः प्रभावातिशयाद् व्यर्थतां गता । गोशालक इतः श्रावस्तीं गतस्तत्र च मासषट्कं यावत् तपस्तप्त्वा निमित्त-शास्त्रं चाधीत्य स्वं प्रभावातिशयं च वर्धितवान् ।

सिद्धार्थपुराद् भगवान् वैशालीं प्रस्थितः । एकदा स नगराद् बहिरुद्याने कायोत्सर्गध्याने स्थितः । तत्र बालका भगवन्तमजानन्तः कोऽप्ययं पिशाचः प्रेतो वा भविष्यतीति धियाऽनेकधा तमपीडयन् । तत्र वनराजेन शङ्खेन बालका बोधिताः स्वयं च भगवन्तं प्रणम्य क्षमामयाचत । वैशालीतो वाणिज्यग्रामं सम्प्राप्य तत्र ग्रामाद्-बहिः कायोत्सर्ग-मुद्रापूर्वकं ध्यानं स्वीकृतम् । साधनाप्रभावेन नैकाः सिद्धयो भगवन्तं वृतवत्यः परं तासामुपयोगः कदाप्युपसर्गाणां निरोधार्थं न विहितः । अत्रैव श्रमणोपासक आनन्दो भगवन्तमवन्दत । इतो विहृत्य श्रावस्तीं प्राप्यात्रैव वर्षावासोऽ तिवाहितः । वर्षोऽयं संयम-सिद्धेर्वर्ष आसीत् ।

एकादशवर्षस्य साधना—श्रावस्त्यां वर्षावासं विधाय भगवान् तत्कालपूर्तौ सानुलट्ठीय-सन्निवेशं प्रति प्रस्थानं कृतवान् । अत्र भद्र-महाभद्र-सर्वतोभद्र-तपस्याः[1] सम्पाद्य षोडशोपवासाः कृताः । उपवासान्त आनन्दस्य गृहे पारणां

१. एतासां तपस्यानां किञ्चिद्वर्णनं चरितामृतस्यास्य २४ तमे पृष्ठे विद्यते । अन्यत्र ग्रन्थेषु सर्वतोभद्रप्रतिमा-विषये विशेष्य स्पष्टीकृतमस्ति । यथा—**सर्वतोभद्र-प्रतिमा**—द्वाभ्यां विधिभ्यां सम्पाद्यते । तत्र प्रथमविधौ

विधाय दृढभूमिं प्रति विहृतः। मार्गे पेढालोद्यानस्य पोलासचैत्य उपोष्य ध्यानमकार्षीत्। अत्रैव सङ्गमदेवः परीक्षणाय ध्यानाद्विचालनाय च विंशतिमितानुपसर्गानकरोत् परं भगवान् मनागपि न व्यचलत्। एवमेवाग्रे तोसलि-

---

क्रमशो दश दिशः प्रत्यभिमुखीभूयैकैकस्याहोरात्रस्य कायोत्सर्गः क्रियते। द्वितीय-विधौ प्रतिमाया अस्या द्वौ भेदौ स्तः। १—लघुसर्वतोभद्रप्रतिमा २—महासर्वतोभद्रप्रतिमा च।

१—लघुसर्वतोभद्रप्रतिमा—अस्यास्तपस्याया आरम्भ उपवासाद् भवति तथाऽनुक्रमेण वर्द्धनाद् द्वादशभक्तं यावद् गम्यते। द्वितीयस्मिन् क्रमेऽधो निर्दिष्टयन्त्रस्य मध्याङ्कमादिं मत्वा चल्यते तथा पञ्चसु खण्डेषु क्रमोऽयं पूर्यते। एकस्याः परिपाट्याः कालमानं दशदिनाधिकं मासत्रयं यावद् विद्यते। चतस्रः परिपाट्यो भवन्ति। क्रमज्ञानाय यन्त्रमिदं ज्ञातव्यमस्ति—

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

अस्मिन् यन्त्रे लिखितानामङ्कानां सर्वेष्वपि भागेषु योगः समान आयाति। अत एवायं 'सर्वतोभद्रयन्त्र' इति कथ्यते।

२—महासर्वतोभद्र - प्रतिमा—अस्यास्तपस्याया आरम्भोऽप्युपवासादेव भवति। अनुक्रमेण वर्द्धनात् षोडशभक्तं यावद् गम्यते। वर्द्धनक्रमो लघुसर्वतोभद्रतपस्याऽनुरूप एवास्ति। अन्तरं केवलमिदं वर्तते यत्त्रोत्कृष्टं तपः षञ्चोला विद्यतेऽत्र च सप्तोपवासाः क्रियन्ते। एकस्याः परिपाट्याः कालमानं चत्वारिंशद्दिनोत्तरमेकवर्षस्य विद्यते। अस्या अपि चतस्रः परिपाट्यः सन्ति। चतसृणामपि सम्पूर्णं कालमानं दशदिवसयुतपञ्चमासोत्तरं चतुर्णां वर्षाणामस्ति। अस्य क्रमज्ञानाय यन्त्रमिदं ज्ञापकमस्ति—

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

-मोसलि-सिद्धार्थपुर-वृज-ग्रामादिष्वपि स सङ्गमदेवो नैकविधानुपसर्गानकरोत् परं भगवता ते सर्वेऽपि सोढाः प्रान्ते सः पराजित्य भगवन्तं प्रणम्य क्षमायाच्ञामकार्षीत् । ततो विहृत्य पुनः श्रावस्त्यामुपागतस्ततोऽग्रे कोशाम्बी-वाराणसी-राजगृह-मिथिलादिषु विहारपूर्वकं वैशालीमुपागच्छत् । अत्र काममहावनोद्याने चातुर्मासिकं तप आचरितम् । अस्यामेकादशवर्षस्य साधनायां कर्मणामसङ्ख्यातगुणिता निर्जराऽभवत् ।

द्वादश-वर्षस्य साधना—संवर-कर्मनिर्जराभ्यां भगवान् विचित्रानभिग्रहान् धारयित्वा चर्यायै निर्गच्छति स्म तत्पूर्त्यभावे च भूयः ससन्तोषं परावृत्य साधनामाचरत् । वर्षाकालमतिवाह्य भगवान् वैशालीतः सुसुमारपुरं प्रति विहृत्य भोगपुर-नन्दिग्राममेंढियग्रामेषु परिभ्रम्य कोशाम्बीं प्राप्तवान् । अत्र पौषकृष्णप्रतिपदायां चर्याविषयको विचित्र एवाभिग्रहः स्वीकृतः यस्य पूर्त्या 'चन्दना' वन्दनीयाऽभवत् । अन्ते तप इदं पूर्तिमगात् । कैवल्य-प्राप्तिश्च वैशाख-शुक्लदशम्यामभूत् ।

लोकमाङ्गल्यसाधनम्

तीर्थङ्करेण भगवता महावीरेणार्हत्त्वं प्राप्तम् । तदीय-ज्ञानस्यापूर्वेण प्रकाशेन निखिलमपि जगद् दीप्तिमदभूत् । दिशः शान्ता विशुद्धाश्च सम्पन्नाः । वायुः शुद्धः सुखदः प्रवातः । सौधर्मेन्द्रोऽन्ये चतुर्निकायदेवाश्च महावीरस्य केवलज्ञान-कल्याणक-पूजनमकार्षुः । इन्द्रः कोषाध्यक्षं कुबेरमाकार्य समवशरणस्य रचनाया आदिशत् । इन्द्रेणाभिलषितं यद् विगतत्रयोविंशतितीर्थङ्कराणामिव तीर्थङ्करश्रीमहावीरभगवतोऽपि संसारस्य शान्त्यै देशना भवेत् । तदनुसारम् ऋजुकूलायास्तटे समवशरणस्य रचना जाता । चतुर्षु द्वारेषु धर्मध्वजा दोधूयन्ते स्म । समवशरणे प्राकार-चैत्यवृक्ष-ध्वजा-वनदेवी-तोरण-स्तूप-रत्नमय-जिनप्रतिमाभिश्चापूर्वा शोभा विराजमानाऽऽसीत् । मध्यभागे गन्धकुटी व्यराजद् यत्र स्वर्णसिंहासनं तदुपरि स्वर्णकमलं चासीत् । द्वादश-कोष्ठकेषु विभक्तमिदं समवशरणं (सभामण्डपं) साधु-आर्यिका-देव-देवाङ्गना-पशु-पक्षि-प्रभृतीनामुपवेशनाय व्यवस्थितमभूत् । मुनयो देवा देवपुरुषाः पशुपक्षिणश्च देशनाश्रवणाय समुपस्थिताः । भगवान् महावीरोऽपि सौम्यया मुखमुद्रया निखिलं जगतीतलं पावयन् स्थित आसीत् ।

भगवान् तपस्यादिवसेषु मौन एव तपांस्याचरद् तस्माद् देशनाश्रवणायोद्ग्रीवा जीवा लालायिता आसन् परं देशनाप्रारम्भो न जातः । पञ्चषष्टि-दिनानि व्यतीतानि । भगवता विहृत्य राजगृहनिकटे विपुलाचल आगमनं कृतम् । अत्रापि समवशरणस्य रचना कुबेरेण कृता । परं प्रवचनावसरे वाण्यास्तादृश एव गतिरोध आसीदत इन्द्रेणा-वधिज्ञानद्वारा तत्कारणं ज्ञातं यद् 'यथार्थज्ञानिनो गणधरस्याभावाद् ज्ञान-गङ्गाऽवरुद्धा विद्यते । यावद् वास्तविकस्य जिज्ञासोस्तथा श्रुतधारकस्योपस्थितिर्न भविष्यति तावद् देशना न भविष्यतीति ।'

इन्द्रो गणधरं प्राप्तुमिन्द्रभूतेर्गौतमस्य सकाशं जिज्ञासुरूपेण मध्यमापावायां महायज्ञस्थलं बटुकरूपेण प्रविष्टः स्वकीयबुद्धिकौशलेन च तं समवशरणं यावदानीतवान् । शास्त्रार्थचिकीर्षयाऽत्र प्राप्त इन्द्रभूतिर्मानस्तम्भदर्शनेन निरभिमानः सञ्जातस्तथा भगवतो दर्शनेन विगलितमिथ्यात्वः सन् आषाढपूर्णिमायां दीक्षां गृहीतवान् । श्रावणकृष्ण-प्रतिपदायां ब्राह्मे मुहूर्ते भगवतो दिव्यध्वनिः प्रारभत धर्मतीर्थप्रवर्तनदिनमपि तदेवाभवत् । तदेवोक्तं **'तिलोय-पण्णत्ती'**ग्रन्थे—

वासस्स-पढममासे सावणमासम्मि बहुलपडिवाये ।
अभिजी-णक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥ १।६९॥ इति

गणधरेष्विन्द्रभूतेः प्रधानं स्थानमासीत्। अन्ये दश गणधरा अपि क्रमेण—'अग्निभूति-वायुभूति-शुचिदत्त--सुधर्मस्वामि-मण्डिक-मौर्यपुत्राकम्पिकाचल-मेतार्य-प्रभास-नामानस्तत्र समवशरणे समुपस्थिता आसन्। एते सर्वेऽपि स्वशिष्य-प्रशिष्यैः सह दीक्षिता अभूवन्।

ततः परं लोकोद्धारमीहमानेन भगवता धर्मदेशनाः समारब्धाः। साधनाकाले भगवतो न कोऽपि शिष्य आसीन्न चानुयायी। एकाकितयैव सकला साधना प्राचलत्। धर्मतीर्थस्थापनानन्तरं शिष्या अनुयायिनश्च भूयांसो जाताः। समाजं नीतिपरायण सदाचारशीलं धर्मानुरागिणं तत्त्वनिष्ठं च सम्पादयितुं धर्मप्रवचनान्यारब्धानि। तेष्व-साधारणं साफल्यं प्राप्तं तत्र च त्रीणि कारणानि प्रधानान्यभूवन्—

१—लोकभाषायाः प्रयोगः २—देश-वर्णजाति-लिङ्गभेदैर्विना सर्वेभ्यः समानानामुपदेशानां दानम्। ३—जीवनस्य परमसत्यतत्त्वानामुपस्थापनम्।

धर्मामृतस्य वर्षणं भगवता न केवलं राजगृहस्य परिसर एव कृतमपितु दूर-सुदूरवर्ति-प्रदेशेष्वपि विहार-पूर्वकं विहितम्। हरिवंशपुराणे वर्णितमस्ति यद्—

काशि-कोशल-कौशल्य-कुसन्ध्यास्वष्टनामकान् ।
साल्व-त्रिगर्त-पञ्चाल-भद्रकार-पटच्चरान् ॥
मौक-मत्स्य-कनीयांश्च सूरसेन-वृकार्थपान् ।
मध्यदेशानिमान् मान्यान् कलिंग-कुरु-जांगलान् ॥
कैकेयात्रेय-काम्बोज-वाह्लीक-यवन-श्रुतीन् ।
सिन्धु-गान्धार-सौवीर-सूर-भीरुक-देश्रुकान् ॥
वाडवानभरद्वाज-क्वाथतोयान् समुद्रजान् ।
उत्तरांस्तार्णकार्णांश्च देशान् प्रच्छालनामकान् ॥
धर्मेणायोजयद् वीरो विहरन् विभवान्वितः ।
यथैव भगवान् पूर्वं वृषभो भव्यवत्सलः ॥३।३-७॥

अनेन विहारेण नैकशो जना भगवतो वचनामृतं भूयो भूयः पीत्वा समग्रानपि जात्यादि-भेदभावान् विस्मृत्य दीक्षिता अभवन् बहुशश्च स्वीयानि जीवनानि संस्कृत्यहिंसा—संयमपूर्णानि जीवनानि स्व्यकुर्वन्। भगवतो धर्म-सभायामुपस्थाय देशनाश्रवणानन्तरं नैकेषां जीवने मङ्गल-प्रभातोदयः समभवत्। सम्यक्श्रद्धा-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चा-रित्रगुणानां दिव्यः प्रकाशः सर्वानपि तमोगह्वरादुद्धर्तुं क्षमोऽभवत्। भगवतो देशनया लोकानां हृदयेष्वपूर्वा दिव्यतोद्गता। जनानां ज्ञानचक्षूंष्युन्मीलितानि। अज्ञानस्य सघनोऽन्धकारो विलयं गतः। रूढिग्रस्तः समाजो मुक्तिं प्राप्तः जनतायाः सन्देहा भ्रमाश्च समाप्ताः।

अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रह-समत्व-संयममैत्री-मिथोविश्वासादयश्च प्राणिमात्रमनेकान्तसिद्धान्तं प्रेरयन्ति स्म। भगवतो महावीरस्य लोककल्याणकारिषु समवशरणेषूपदेशामृतपानात् कोटिशो जनाः श्रद्धावन्तः सन्तस्तच्चरणयोः श्रद्धासुमनांसि समर्प्य कृतकृत्यतामविन्दन्त। युगेभ्य आगता शारीरिकी मानसिकी वा दासता क्षीणतां गता। धर्मस्य विकृतयः पराकृताः। आत्मवत् सर्वभूतेष्वित्येष उद्घोषः सार्थकतां श्रितः।

संघ-स्थापना

तीर्थङ्करस्य भगवतो महावीरस्य देशनाभिः प्रभाविता अनेके राजानो महाराजा राजकुमाराः सार्थवाहाः श्रेष्ठिनो राजमहिष्यः श्रेष्ठि-पत्न्यः सामान्या नरा नार्यश्च शिष्यत्वं प्राप्ताः । इन्द्रभूतिप्रभृतीनां दीक्षा-ग्रहणानन्तरमेव सङ्घ-व्यवस्थापन-सम्बन्धिनी समस्याऽऽवश्यकतां गताऽऽसीत् परमाध्यात्मिकीं परिपूर्णतां प्राप्तेन भगवता तत्र ध्यानमपि न दत्तम् । भगवतोऽस्यां लोकप्रवृत्तौ हर्षो विषादो वा नाभूद् न च तत्र तदीय आग्रहश्चासीत् । सत्यं पुरः स्थापनीयमिति कृत्वा देशना-दानं समवशरणे भगवान् विदधाति स्म तथापि शिष्यसङ्ख्या वृद्धयेदमावश्यकमभूद् यत् सङ्घस्य व्यवस्थापना क्रियेत ।

श्रीमहावीरभगवतो भक्ता द्विविधा आसन् । प्रथमे भक्ता गृहत्यागिनो द्वितीयाश्च गृहवासिनः । गृहत्यागिषु मुनय आर्यिकास्तथा गृहवासिषु श्रावकाः श्राविकाश्चावर्तन्त । एतेषां सर्वेषां भक्तानां चतुर्विध-सङ्घः स्थापितः । एवं सङ्घेऽस्मिन् भगवता जातिव्यवस्था वर्णव्यवस्था वा न स्वीकृताऽपितु केवलमाचारमधिकृत्य सर्वाऽपि व्यवस्था सम्पादिता । जैनमुनीनामाचारनियमाः कठोरा आसँस्तेषां नियमानामाचरणपूर्वकमात्मनो ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यादिगुणांस्ते विकासयन्ति स्म । उत्तरपुराणानुसारं सङ्घेऽस्मिन्—

> शतानि त्रीणि पूर्वाणां धारिणः शिक्षकाः परे ।
> शून्यद्वितयरन्ध्रादि-रन्ध्रोक्ता सत्यसंयमाः ॥
>
> सहस्रमेकं त्रिज्ञानलोचनास्त्रिशताधिकम् ।
> पञ्चमावगमाः सप्तशतानि परमेष्ठिनः ॥
>
> शतानि नव विज्ञेया विक्रयर्द्धि-विवर्द्धिताः ।
> चतुर्दश सहस्राणि पिण्डिताः स्युर्मुनीश्वराः ॥
>
> चन्दनाद्यार्यिकाः शून्यत्रयषड्वह्निसम्मिताः ।
> श्रावका लक्षमेकं तु त्रिगुणाः श्राविकास्ततः[1] ॥७४।३६५—

पूर्वधारिणः ३००, शिक्षकाः ६६००, अवधिज्ञानिनः १३००, केवलिनः ७००, विक्रियाधारिणः ६००, मनःपर्ययज्ञानिनः ५००, वादिनः ४०० एवं सर्वपिसङ्ख्या १४००० मिताऽभूत् । किञ्च—आर्यिकाः ३६००, श्रावकाः १०००००, श्राविकाश्च ३००००० संख्यामिता अभूवन् ।

वीरसङ्घे सप्त गणा अवर्तन्त[2] येषां व्यवस्थामेका दशगणधरा इन्द्रभूति-प्रभृतयः सम्पादयन्ति स्म । श्रवण-बेल्गोलस्य शिलालेख-सं० १०५ तो ज्ञायते यत्—

> तस्याभवन् सदसि वीरजिनस्य सिद्धसप्तर्द्धयो गणधराः किल रुद्रसङ्ख्याः ।
> ये धारयन्ति शुभदर्शनबोधवृत्तैर्मिथ्यात्रयादपि गणाद् विनिवर्त्य विश्वान् ॥४॥
>
> पूर्वज्ञानिह वादिनोऽवधिजुषः श्रीपर्य्ययज्ञानिनः,
> सेवे वैक्रियकांश्च शिक्षकयतीन् कैवल्यभाजोऽप्यमून् ।

---

१. तिलोयपण्णत्त्यां ४।११६६-११-७६ तथा हरिवंशपुराणे ६०।४३२-४४० ऽपि वर्णनमेतदीदृशमेवास्ति ।

२. श्वेताम्बरग्रन्थेषु नव गणानामुल्लेखो विद्यते । एवमेव श्रमणादीनां संख्याविषयेऽपि न्यूनाधिक्यं दृश्यते ।

इत्यग्न्यम्बुनिधित्रयोत्तर-निशानाथास्तिकार्यैः शतैः,
रुद्रानेकशताचलैरपि मितान् सप्तैव नित्यं गणान् ॥६॥

(—जैनशिलालेखसङ्ग्रहे पृ० १६६)

चतुर्विधस्य सङ्घस्य धार्मिकी शासनव्यवस्था गणधराधीनाऽवर्तत तथाऽप्यार्यिकासङ्घस्य नेतृत्वं सती साध्वी चन्दनैव समभालयत् । सङ्घव्यवस्थाया उदारा नियमा आसन् येषां पालनं यथोचितरीत्या क्रियते स्म । कदाचित् कार्य-वशात् कोऽपि मार्गभ्रष्टो भवति स्म तदा सङ्घसमक्षं प्रायश्चित्ताचरणानन्तरं पुनः पूर्वपदे स्थापनं विधीयते स्म । अत्र विषये सात्यकिमुनेर्ज्येष्ठाया आर्यिकायाश्चोदाहरणे उल्लेखनीये स्तः । सर्वेऽपि धर्मनियमानां परिपालने पूर्णतया दत्ता-वधाना अभूवन् । ज्ञाने तपश्चरणे च सर्वेऽपि विवेकपूर्वकं संलग्ना आसन् । भ्रामर्या वृत्त्या साधव आहारादीन् गृह्णन्ति स्म । यथोक्तं ग्रन्थान्तरे—

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं ।
ण य पुप्फं किलामेइ सो अ पीणेइ अप्पयं ॥
एमेए समणा मुत्ता जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणारया ॥

अर्थात्—यथा द्रुमेषु पुष्पितेभ्यः पुष्पेभ्यो भ्रमरा रससञ्चयं कुर्वन्ति रस-पान काले च पुष्पं मनागपि न पीडयन्ति तथैव समस्तैर्मोह-ममत्वैर्मुक्ता मुनयोऽपि व्यवहरन्ति । यथा भ्रमरा पुष्पाणां रससञ्चयात् सन्तुष्यन्ति तथैव साधवोऽपि विधिपुरस्सरं प्राप्तैर्दानैः सन्तुष्यन्ति । इति । सेयं व्यवस्थाऽद्यापि सर्वत्र प्रवर्तिता विद्यते ।

भगवतो निर्वाण-प्राप्तिः

मानव-जीवनस्य चरमं लक्ष्यं निर्वाण-प्राप्तिरस्ति । आत्मनः परमात्मत्वसिद्धिरेव निर्वाणम् । अस्योपलब्धये भगवता तपःसंयमसाधनानां मार्गे विहृत्य योग-कषाययोर्निरोधपूर्वकं निर्वाणस्य भूमिका साधिताऽऽसीत् । निर्वाण-प्राप्तेरिमानि सोपानानि गुणस्थानारोहणमिति कथ्यन्ते । इमानि सोपानानि सूचयन्ति यत्—'कामना जयत, आत्मानं निष्कलुषं सम्पादयत' इति । तीर्थङ्करः श्रीमहावीरोऽस्यां भूमौ ज्ञानामृतं प्रवाहयितुमागच्छत् । निरन्तरं त्रिंशद्वर्षपर्यन्तं विहारान् कृत्वा भुवः क्लेशा अपहस्तिताः । मानव-समाजो दुःखैर्विनोचितस्तदीयहृदये ज्ञानदीपं प्रज्वाल्य सुखस्य शान्तेः कल्याणस्य च मार्गः प्रकाशितः ।

भगवान् श्रीमहावीरः संसारस्य प्राणि-जगते दिव्यं ज्ञानं वितरन् पावापुरीं प्राप्तः । तत्र हि मनोहरोद्यानवने सरसां मध्यस्थे मणिमये शिलातले विराजितः । विहारान् विसृज्यात्र भगवान् कर्मनिर्जरामवर्धयत् । मनोवाक्काय-योगं निरुध्य क्रियारहितः सन् मोक्षोपयोगीन्यघातिकानि कर्माणि नाशयितुं प्रतिमायोगः स्वीकृतः । दिव्यध्वनिर वरुद्धो वचनयोगश्च पूर्णतया निरुद्धः । अनेन योगेन—"देवगति-शरीरपञ्चक-सङ्घात-पञ्चक-बन्धनत्रयाङ्गोपाङ्ग-त्रय-संस्थानषट्क-संहनन-षट्क-वर्णपञ्चक-गन्धद्वय-रसपञ्चक-स्पर्शाष्टक-देवगत्यानुपूर्व्या गुरुलघूपघात-परघातोच्छ्वास-वि-हायोगतिद्वयापर्याप्ति-प्रत्येकशरीरास्थिर-शुभाशुभ-दुर्भग-दुःस्वर-सुस्वरानादेयायशःकीर्त्यसतावेदनीय - नीचगोत्रनिर्माण"-रूपाणां द्वासप्ततिकर्मप्रकृतीनामयोगिगुणस्थानस्योपान्त्ये क्षयः कृतः । एवमेव स्वस्य शक्तिबलेन शुक्लध्यानस्य चतुर्थ-भेदरूप-व्युपरतक्रियानिवृत्तेरालम्बनं विधाय "आदेय-मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्व्य-पञ्चेन्द्रियजाति-मनुष्यायुः-पर्याप्ति-त्रस-बादर-सुभग-यशःकीर्ति-सातावेदनीयोच्चगोत्र-तीर्थङ्करनामकर्म"रूपाणां त्रयोदश प्रकृतीनामन्तसमये क्षयो विहितः ।

योगनिरोधाय भगवता षष्ठोपवास आहृतः कायोत्सर्गेण च कर्मप्रकृतयो विनाशिताः। एवं कार्तिककृष्ण-चतुर्दश्यां रात्रेरन्तिमे यामे स्वातिनक्षत्रे भगवता मोक्षपदं प्राप्तम्। श्रीमान् **असगकवि'वर्धमानचरिते'** प्रसङ्ग-मिममेवमवर्णयत्—

कृत्वा योगनिरोधमुज्झितसभः षष्ठेन तस्मिन् वने,
व्युत्सर्गेण निरस्य निर्मलरुचिः कर्माण्यशेषाणि सः।
स्थित्वेन्दावपि कार्तिकासितचतुर्दश्या निशान्ते स्थिते,
स्वातौ सन्मतिरासमाद भगवान् सिद्धिं प्रसिद्धश्रियम्॥ (सर्ग० १८, पद्यसं० ९७)

अमावास्याया उषसि भगवतो निर्वाणकाले सुधर्मादयस्तत्रैव समुपस्थिता आसन्। लिच्छवी-गणराज्यस्य चाष्टादश राजानोऽपि तत्रासन्। पावापुर्यां जनसमूहोऽपि निर्वाण-कल्याणकार्चनायोपस्थितः। सर्वैरपि दीपप्र-ज्वालन-पूर्वकं दिव्यज्योतिषि विलीनस्य भगवतः समर्चनायां स्वीयानि भक्तिपुष्पाणि समर्पितानि। इदमेवोक्तं हरिवंशपुराणे—

ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया, सुरासुरैर्दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समन्ततः, प्रदीपिकाकाशतला प्रकाशते॥
तथैव च श्रेणिकपूर्वभूभुजः, प्रकृत्य कल्याणमहं सह प्रजाः।
प्रजाः सुरेन्द्राश्च सुरैर्यथायथं, प्रयाचमाना जिनबोधिमर्थिनः॥ ६६।१९-२०॥

एवं द्वासप्ततिवर्षाणामायुषः पूर्तौ भगवतो निर्वाणमभूत्।

भगवतो महावीरस्योत्तराधिकारः

तीर्थङ्करस्य भगवतो महावीरस्य चतुर्विध-सङ्घस्य सदस्याः पञ्चलक्षमिता नरा नार्यश्चासन्। मुनिसङ्घ एकादश गणधराणामाध्यक्ष्ये नवसु गणेषु वृन्देषु वा विभक्तमभूत्। श्रावक-श्राविका-सङ्घे सर्वस्यापि वर्गस्य जातेश्च व्यक्तय आसन्। भारतस्य प्रतिकोणं तदनुयायिनो विद्यमाना आसन्नेव सहैव भारताद् बहिर्गान्धार-कापिशा-पारसीक-देशेष्वपि तदीया भक्ता अवसन्।

श्रीमहावीरस्य निर्वाण-प्राप्त्यनन्तरं तदीय उत्तराधिकारो जैनसङ्घस्य नायकत्वं प्रधानगणधरेसा श्रीइन्द्रभूति-गौतममहाभागेन प्राप्तम्। यस्मिन् दिने भगवतो निर्वाणमभूत्, तस्मिन्नेव दिने तदीयः प्रधानशिष्यो गौतमगण-धरोऽपि केवलज्ञानी सञ्जातः। तन्मुक्त्यनन्तरं क्रमशः सुधर्मस्वमि-जम्बूस्वामिनावपि केवलज्ञानं लब्ध्वा मुक्तावभूताम्। ततः परं कोऽप्यनुबद्धः केवली नाभूत्। एतेषां त्रयाणामपि धर्मप्रवर्तनस्य सामूहिकः कालो द्वाषष्टिवर्षाणामस्ति।

एतदेवोक्तं 'तिलोयपन्नत्ती' ग्रन्थे—

जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी।
जादो तस्सि सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो॥

तम्मि कदकम्मणासे जंबूसम्मि त्ति केवली जादो ॥
तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा ॥
वासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवंताणं ।
धम्मपयट्टणकाले परिमाणं पिंडरूपेणं ॥ (४।१४७६-१४७८)

तदनन्तरमिन्द्रभूतिगौतम-गणधरेण द्वादशवर्षावधि सङ्घस्य सञ्चालनं विहितम् । अयमेव महानुभावः श्रीमतो महावीरस्योपदेशान् सङ्कलय्य शृङ्खलाबद्धरूपेण व्यवस्थाप्य वर्गीकृत्य च भगवतो वाणीं सुस्थायिनीं व्यदधात्[1] ततोऽग्रेऽपि सर्वेऽप्याचार्या निधिमिमं संरक्षितुं प्रयत्नशीला विभान्त्येव। अतएवैत एव भगवत उत्तराधिकारिणः सन्तीति गदितुं सुशकम् ।

जैनागम-साहित्यम्

जैनाचार्यैर्विरचितं वाङ्मयं पर्याप्तं विशालं विद्यते । आगमभाषायामिदं **'श्रुतज्ञान'**मिति कथ्यते । प्राचीनकाले समस्तमपि श्रुतज्ञानं चतुर्दशपूर्वेषु—**उत्पादपूर्व-अग्रायणी-वीर्यप्रवाद-अस्तिनास्तिप्रवाद-ज्ञानप्रवाद-सत्यप्रवाद- आत्मप्रवाद - समयप्रवाद-प्रत्याख्यानप्रवाद-विद्यानुप्रवाद- अवन्ध्य- प्राणावाय- क्रियाविशाल- बिन्दुसारा**-भिधेष्वन्तर्निहितमासीत् । भगवता महावीरेणेदमेकादश-गणधरेभ्य उपदिष्टं तदेवेदं **'जैनागम-आगम'**[2] नाम्ना सर्वत्र सुप्रसिद्धं सद्विद्योतते ।

एवं विशिष्टशक्तिसम्पन्ना गणधर-नाम-कर्म-लब्धिशालिनो महापुरुषाः प्रभोर्महावीरस्यैकान्तहितकारिणी-रात्मस्वरूपावगाहिनीर्वाणीः सूत्ररूपेण सङ्ग्रथ्य शिष्येभ्यः प्रशिष्येभ्यश्च ग्रहण-धारणोपदेशादि-सौविध्यं दातुं प्रायतन्त । एतद्विषये श्रीभद्रबाहुस्वामिना प्रोक्तम्—

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तेइ ॥ (आवश्यक-निर्युक्तिः १२)

एतदनुसारं जैनागमानां प्ररूपणं भगवताऽर्हता विहितं सूत्ररूपेण निबन्धनं च गणधरैः कृतमिति सुस्पष्टमेव ।

एतेषामागमानां सङ्ख्या षट्चत्वारिंशद् विद्यते । तत्र द्वादशाङ्गानि जैनशास्त्रेषु सर्वतः प्राचीना ग्रन्थाः सन्ति। **'दुवालसंगं वा प्रवचनं वेदो'** (आचाराङ्गचूर्णी ५।१८५) इत्याद्युक्त्यनुसारमेतान्यङ्गानि वेदनाम्ना क्वचिद् गणीपटकनाम्ना च ख्यातानि । इमान्यङ्गानि भगवतो महावीरस्य गणधरश्रीसुधर्म-स्वामिग्रथितानि मन्यन्ते । एतानि

१—पुणो तेणिंदभूदिणा भाव-सुद-पज्जय-परिणदेण बारहंगाणं चोद्दसपुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा ।—धवला टीका, १ पुस्तकं, पृ० ६५ ।

२—हेयोपादेय-रूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात् ।
कालत्रयगतानर्थान् गमयन्नत्त्वागमः स्मृतः ॥१००॥

—उपासकाध्ययने,

क्रमशः—१-आयारंग (आचाराङ्ग) २-सूयगडंग-(सूत्रकृताङ्ग) ३-ठाणांग-(स्थानाङ्ग) ४-समवायांग (समवायाङ्ग)-५-विवाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति-भगवती[1]) ६-नायाधम्मकहाओ (ज्ञानधर्मकथा) ७-उपासगदसाओ (उपासकदशा) ८-अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा) ९-अणुत्तरोववाइयदशाओ (अनुत्तरोपपातिकदशा) १०-पण्हवागरणाइं (प्रश्नव्याकरण) ११-विवागसुय (विपाकसूत्र) १२-दिट्ठवाय (दृष्टिवाद)प्रभृतीनि सन्ति । एतेषु दृष्टिवादो विच्छिन्नो विद्यते ।

यथा वेदानामङ्गान्युपाङ्गानि च सन्ति तथैवात्राप्युपाङ्गानां रचना प्रतीयते । एतेषां ग्रथनं स्थविराचार्यैर्विहितमिति प्रसिद्धिः ।

उपाङ्गानां सङ्ख्यापि द्वादश वर्तते । येषु क्रमशः—१-ओववाइय (औपपातिक) २-रायपसेणिय-(राजप्रश्नीय) ३-जीवाभिगम (जीवाजीव—विभाग) ४-पन्नवणा—(प्रज्ञापना)—५-सूरियपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति)-६-जंबुद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति) ७-चंदपण्णति (चन्द्रप्रज्ञप्ति) ८-निरयावलियाओ अथवा कप्पिया-(निरयावलिका अथवा कल्पिका) ९-कप्पवडंसियाओ (कल्पावतंसिका) १०-पुप्फियाओ (पुष्पिका) ११-पुप्फचूलियाओ-(पुष्पचूलिका) १२-वण्हिदसाओ (वृष्टिदशा)श्चेति समाविष्टानि सन्ति ।

नन्दीसूत्रस्य टीकाकर्तुः श्रीमलयगिरेरनुसारं तीर्थङ्करोपदिष्टं श्रुतमनुसृत्य श्रमणाः प्रकीर्णकानां रचनाः कुर्वन्ति किंवा श्रुतमनुसृत्य वचनकौशलपूर्वकं धर्मदेशनादि-प्रसङ्गेन श्रमणैः प्रोक्ता रचनाः प्रकीर्णकनाम्ना मन्यते । भगवतो महावीरस्य काले प्रकीर्णकानां संख्या चतुर्दशसहस्रमितासीत् । परं सम्प्रति मुख्यरूपेण दशप्रकीर्णकग्रन्था उपलभ्यन्ते । यथा—

१-चउसरण (चतुःशरण) २-आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान) ३-महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान)-४-भत्तपरिण्णा (भक्तपरिज्ञा) ५-तंदुलवेयालिय (तन्दुलवैचारिक) ६-संथारग (संस्तारक) ७-गच्छायार (गच्छाचार)-८-गणिविज्जा (गणिविद्या) ९-देविंदथय (देवेन्द्रस्तव) १०-मरणसमाही (मरणसमाधिः)चेति ।

छेदसूत्राणि जैनागमानां प्राचीनतमो भागोऽस्ति तस्मादस्य महत्त्वं विशिष्य वर्तते । एतेषु सूत्रेषु निर्ग्रन्थानां प्रायश्चित्तविधेः प्रतिपादनमस्ति । एतानि सूत्राणि चारित्रिकशुद्धतायाः स्थिरत्वे सहायकानि सन्ति तस्मादेतान्युत्तमश्रुतानि कथ्यन्ते । छेदसूत्रेषु जैनभिक्षूणामाचारविचारसम्बन्धि-नियमानां विवेचनानि सन्ति । एते नियमा भगवता महावीरेण तदीयशिष्यवर्गेण च देश-कालयोः परिस्थितेरनुसारं श्रमणसम्प्रदायार्थं निर्धारिताः । छेदसूत्राणामध्ययनं विना कोऽप्याचार्यो भिक्षुसम्प्रदायं नीत्वा ग्रामानुग्रामेषु विहर्तुं न शक्नोति ।

संक्षिप्तशैल्यामालिखितानामेतेषां सूत्राणां सङ्ख्या षड् विद्यते । यथा—

१-निसीह (नशीथ) २-महानिसीह (महानिशीथ) ३-ववहार (व्यवहार) ४-दसासुयक्खंध (दशाश्रुतस्कन्ध)-५-कप्प (कल्पाथवा वृहत्कल्प) ६-पञ्चकप्प अथवा जीवकप्प (पञ्चकल्पाथवा जीतकल्पे)ति ।

१—व्याख्याप्रज्ञप्तिरेव भगवतीसूत्रनाम्ना विख्याता विद्यते ।

मूलसूत्राणि साधुजीवनस्य मूलभूतानुपदेशान् प्रकटयन्ति। आगमेषु मूलसूत्राणां स्थानं नैकाभिर्दृष्टिभि-र्महत्त्वशालि विद्यते। एतेषूत्तराध्ययनं दशवैकालिकश्च जैनागमेषु प्राचीनतमे सूत्रे मन्येते। एतेषां सङ्ख्या चत्वारि विद्यते। यथा —

१-उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन) **२-दशवेयालिय** (दशवैकालिक) **३-आवस्सय** (आवश्यक) **४-पिंडनिज्जुत्ति** अथवा **ओहनिज्जुत्ति** (पिण्डनिर्युक्ति ओघनिर्युक्ति)र्वेति।

तथा—**१-नंदिसूत्तं** (नन्दीसूत्रं) २—**अनुयोगदारसुत्तं** (अनुयोगद्वारसूत्रं) चेति। प्रान्ते द्वयमप्यागमेषु परि-गणिते सती षट्चत्वारिंशन्मितां संख्या पूरयतः।

इयमागमानां सङ्ख्याऽन्यत्र चतुरशीतिमिताऽपि सूचिताऽस्ति यस्यां ११ अङ्गानि, १२ उपाङ्गानि, ५ छेद-सूत्राणि,[1] ५-मूलसूत्राणि[2] ८ अन्ये ग्रन्थाः[3] ३० प्रकीर्णकानि,[4] १२ निर्युक्तयः[5] १ विशेषावश्यकमहाभाष्यञ्च सम्मिलितानि भवन्ति।

श्वेताम्बरा दिगम्बराश्चेति द्वावपि सम्प्रदायावेतानागमरूपेण स्वीकुर्वन्ति परं साम्प्रतं दिगम्बरसम्प्रदाया-नुयायिनः 'कालदोषेणेम आगमा विनष्टा' इति मन्वते श्वेताम्बर-सम्प्रदायानुयायिनश्चैतान् यथावत् स्वीकुर्वन्ति।

---

१. पंचकप्प (पञ्चकल्प)स्यात्र गणना न क्रियते।

२. उत्तराध्ययन—दशवैकालिक-आवश्यक-नन्दी-अनुयोगद्वाराणि।

३—कल्पसूत्र-जीतकल्प-यतिजीतकल्प-श्राद्धजीतकल्प-पाक्षिक-क्षामणा-वंदित्तु-ऋषिभाषित-प्रभृतयः।

४. प्रकीर्णकानीमानि नाम्नैवमाम्नातानि प्रतीयन्ते—

१—चतुःशरणम्
२—आतुरप्रत्याख्यानम्
३—भक्त-परिज्ञा
४—संस्तारकम्
५—तन्दुलवैचारिकम्
६—चन्द्रवेध्यकम्
७—देवेन्द्रस्तवः
८—गणिविद्या
९—महाप्रत्याख्यानम्
१०—वीरस्तवः
११—अजीतकल्पः
१२—गच्छाचारः
१३—मरणसमाधिः
१४—सिद्धप्राभृतम्
१५—तीर्थोद्‌गारः
१६—आराधनापताका
१७—द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः
१८—ज्योतिष्करण्डकम्
१९—अङ्गविद्या
२०—तिथिप्रकीर्णकम्
२१—पिण्डनिर्युक्तिः
२२—सारावलिः
२३—पर्यन्ताराधना
२४—जीवविभक्तिः
२५—कवचम्
२६—योनिप्राभृतम्
२७—अङ्गचूलिया
२८—वंशचूलिया
२९—वृद्धचतुः शरणम्
३०—जम्बूप्रकीर्णकम्

५. द्वादश निर्युक्तयो यथा—

१—आवश्यकनिर्युक्तिः
२—दशवैकालिक ,,
३—उत्तराध्ययन ,,
४—आचाराङ्ग ,,
५—सूत्रकृताङ्गनिर्युक्तिः
६—बृहत्कल्प ,,
७—व्यवहार ,,
८—दशाश्रुत ,,
९—कल्पसूत्रनिर्युक्तिः
१०—पिण्ड ,,
१२—ओघ ,,
१३—संसक्त ,,

सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्तिः ऋषिभाषितनिर्युक्तिश्चानुपलब्धे स्तः। एते सर्वेऽपि संहृत्य त्र्यशीत्यागमा भवन्ति। एतेषु जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणस्य 'विशेषावश्यकमहाभाष्य'स्य संयोजनाच्चतुरशीतिसङ्ख्या पूर्णतामेति।

आगमानां महत्त्वम्

इदं सर्वथा सत्यमस्ति यत् कालदोषेणागमसाहित्यं बहुधा क्षतिग्रस्तमभूत् । भगवतो महावीरस्य निर्वाण-प्राप्त्यनन्तरं प्राय एकसहस्रवर्षाणां कालः काठिन्यपूर्ण आसीत् । बहुत्र दुष्कालवशात् साधव आचार्याश्च श्रुतस्य संरक्षणेऽसमर्था अभवन् । वृद्धसम्प्रदायपरम्पराश्च विच्छिन्नाः । तथापि यत्सुरक्षितमस्ति तस्मिन्-प्राचीना जैनपरम्परा अनुश्रुतयो लोककथास्तात्कालिक्यः सामाजिक्यः प्रथा धर्मोपदेशपद्धतय आचारा विचाराः संयमपालन-विधयश्च विद्योतन्ते । तदानीन्तन्यः सामाजिक्यो धार्मिक्यो राजनीतिक्यश्चावस्था एतेषामालोकनेनालोचनेन च स्पष्टतां यान्ति ।

यीशोर्द्वितीयशत्या आरभ्य षोडशीं शतीं यावदागमसाहित्यस्य व्याख्याकाल आसीत् । अस्मिन् सुदीर्घे काले विद्वद्भिराचार्यवर्यैरागमसाहित्योपरि निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णी-टीका-विवरण-विवृति-वृत्ति-दीपिकाऽवचूरि-अवचूर्णी-विवेचन-व्याख्या-छायाऽक्षरार्थ-पञ्चिका-टब्बा-भाषाटीका-वचनिका-प्रभृति विपुलं व्याख्यात्मकं साहित्यं रचितम् । आगमानां विषया इयन्तो गम्भीराः परिभाषिकाश्च सन्ति येषां परिज्ञानाय व्याख्यात्मकं साहित्यमतीवावश्यकमासीत् । सेयमावश्यकता व्याख्याकारैः सम्पूर्य महानुपकारः कृतः ।

दिगम्बरसम्प्रदायानुसारमागमाः

भगवतो महावीरस्य स्थितिसमये दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायरूपः कोऽपि भेदो नासीत् । सर्वेऽपि महावीरोप-दिष्टस्य निर्ग्रन्थप्रवचनस्यानुसर्तार आसन् । परं कालान्तरे सम्भवतः प्रथमायां शत्यां विशिष्य 'अचेलकत्व'विषये परस्पर मतभेदः सम्पन्नः । ततः परं चागमानां स्वीकृतावपि मतभेदः समुत्पन्नः । दिगम्बरसम्प्रदायानुयायिनामागम-विषयिणी मान्यतैवमस्ति —

अस्यां परम्परायां श्वेताम्बर-परम्परा-स्वीकृतानां पञ्चचत्वारिंशदागमानां विषये मान्यता विद्यते यदेत आगमा विच्छिन्नाः सञ्जाता इति । तथा दिगम्बरसम्प्रदाय आगमानां द्वौ भेदौ स्तः १—अङ्गबाह्या आगमा २—अङ्गप्रविष्टाश्च । अनयोरङ्गबाह्यस्य चतुर्दश भेदाः । तेषु—**'सामायिक-चतुर्विंशतिस्तव-वन्दना-प्रतिक्रमण-वैनयिक-कृतिकर्म-दशवैकालिकोत्तराध्ययन-कल्पव्यवहार-कल्पाकल्प-महाकल्प-पुण्डरीक-महापुण्डरीक-निषिद्धिकाः'** सन्ति । **अङ्ग-प्रविष्टस्य द्वादश भेदाः सन्ति** । तेषु—**'आचार-सूत्रकृत-स्थान-समवाय-व्याख्याप्रज्ञप्ति-नाथधर्मकथोपासकाध्ययनान्त-कृद्दशाऽनुरोत्तरोपपातिकदशा-प्रश्नव्याकरण-विपाकसूत्र-दृष्टिवादा आयान्ति** । दृष्टिवादस्य पञ्चाधिकाराः—**परिकर्म-सूत्र-प्रथमानुयोग पूर्वगत-चूलिकाऽभिधाना** विद्यन्ते । परिकर्माधिकारस्य—१—**चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति-जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति-द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति-व्याख्याप्रज्ञप्ति-नामकाः पञ्चभेदाः सन्ति** । सूत्राधिकारे जीव-त्रैराशिकवाद-नियतिवाद-विज्ञानवाद-शब्दवाद-प्रधानवाद-द्रव्यवाद-पुरुषार्थवादानां वर्णनं प्रथमानुयोगे पुराणानामुपदेशास्तथा पूर्वगताधिकारे उत्पादव्यय-ध्रौव्यानां कथनमस्ति । एतेषां सङ्ख्या चतुर्दश विद्यते । चूलिकाया अपि—जलगता स्थलगता मायागता रूपगता-काशगता चेति पञ्च भेदाः सन्ति ।

दिगम्बर-परम्परानुसारं द्वादशाङ्गागमानामुच्छेदः सञ्जातः केवलं दृष्टिवादस्यैव कश्चनांशोऽवशिष्टः । यो हि 'षट्खण्डागम—कर्मप्राभृत-कषायप्राभृत' रूपेण विद्यमानोऽस्ति । अस्मिन् सम्प्रदाये प्रकारान्तरेण जैनागमाश्चतुर्षु भागेषु विभक्ता वर्तन्ते । **प्रथमानुयोगे** 'रविषेणस्य पद्मपुराणं, जिनसेनस्य हरिवंशपुराणादिपुराणे तथा जिनसेनस्य शिष्यश्रीगुणभद्रस्योत्तरपुराणमन्तर्भवन्ति । २—**करणानुयोगे**'सूर्यप्रज्ञप्ति-चन्द्रप्रज्ञप्ति-जयधवला'-नामन्तर्भावो

विद्यते । ३—द्रव्यानुयोगे—'कुन्दकुन्दस्य रचनाः—प्रवचनसार-पञ्चास्तिकाय-समयसारादयः, उमास्वातेः सटीकं तत्त्वार्थसूत्रं, समन्तभद्रस्य—'आप्तमीमांसा तट्टीका'श्च समायान्ति । ४—चरणानुयोगे—'वट्टकेरस्य मूलाचारः—'त्रिवर्णाचार'स्तथा समन्तभद्रस्य 'रत्नकरण्डश्रावकाचारोऽन्तर्भवन्ति ।

दिगम्बर-परम्परायां भगवतो महावीरस्य द्वादशाङ्गवाण्या सम्बद्धौ **'षट्खण्डागम-कषायप्राभृत'**नामानौ द्वावेव ग्रन्थौ सम्मान्यौ स्तः । शिष्टं समस्तमपि श्रुतज्ञानं विलुप्तं विच्छिन्नं वा मन्यते । अतोऽनयोः परिचयोऽप्यत्र दीयते ।

षट्खण्डागमस्तन्महत्त्वं च

भगवतो महावीरस्योपदेशस्तदीयगणधरेण गौतमेन्द्रभूतिना द्वादशाङ्गरूपे निबद्ध आसीत् । श्रीमहावीरस्य निर्वाणानन्तरं त्र्यशीत्युत्तरषट्शतवर्षोत्तरावाधि अङ्गज्ञानस्य प्रवृत्तिः प्रचलिताऽऽसीत् ततः परं गुरुशिष्यपरम्परातो दीयमानोऽयमुपदेशः क्रमेण विलुप्तः । अस्य द्वादशाङ्गस्य कियांश्चिदंशो गिरिनगर (गिरनार-काठियावाड़)स्थचन्द्र-गुहायां ध्यानमग्नस्याचाराङ्गस्य पूर्णज्ञातुः श्रीधरसेनस्य स्मृतिपटले सुरक्षितमासीत् । अस्य श्रुतज्ञानस्य विलोपभयाद् धरसेनमहाभागेन महिमानगरीस्थाय मुनिसम्मेलनाय पत्रं प्रहितं तत्फल-स्वरूपं चान्ध्रप्रदेशात् **पुष्पदन्त-भूतबलि-नामानौ द्वौ मुनी** आगतौ । धरसेनाचार्येणैतौ द्वावपि मेधाविनौ शिष्यौ पाठितौ । अध्यापने दृष्टिवादस्य पूर्वास्तथा विआहपण्णत्तेः केचनांशा आसन् । अयमाचार्यो मन्त्रशास्त्रस्यापि पण्डितोऽभूत् । अनेन कूष्माण्डिनीदेव्याः सम्प्राप्य 'जोणिपाहुड' (योनिप्राभृत)नामको ग्रन्थः पुष्पदन्तभूतबलिभ्यां लिखित आसीत् । एताभ्यामेव पुष्पदन्तभूतबलिभ्यां षड्-खण्डागमस्य रचना विहिता । पुष्पदन्तेनाचार्येण सप्तसप्तत्युत्तरैकशतसङ्ख्यकसूत्रेषु सत्प्ररूपणा भूतबल्याचार्येण च षट्सहस्रसूत्रेषु शिष्टो ग्रन्थः प्रणीतः ।

'कर्मप्राभृत-महाकर्मप्रकृतिप्राभृत-आगमसिद्धान्त परमागम-खण्डसिद्धान्त-षट्खण्डसिद्धान्तादि-नामभिरपि ग्रन्थोऽयं परिचीयते । श्वेताम्बरसम्प्रदाये यथाऽऽचाराङ्गादिग्रन्थानामागमिकी मान्यता विद्यते तथैव **'कर्मप्राभृत-कषाय प्राभृताभ्यामागमिकी** मान्यता दिगम्बरसम्प्रदाये दीयते । एवं चतुर्दशपूर्वाणामन्तर्गतस्य द्वितीयाग्रायणीपूर्वस्य कर्म-प्रकृतिनामकाधिकारस्याधारेण षट्खण्डागमस्याधिकांशभागस्योद्धारो विहितः ।

ईदृशस्य महत्त्वपूर्णग्रन्थस्य समये समये नैकाष्टीका आरचिताः । तासु टीकासु कुन्दकुन्दाचार्यकृता 'परिकर्म' शामकुण्डकृता 'पद्धतिः' तुम्बूलूराचार्यकृता 'चूडामणिः' समन्तभद्रस्वामिकृता 'टीका' तथा बप्पदेवगुरुकृता 'व्याख्या-प्रज्ञप्ति'नाम्नी टीका प्रधाना आसन् । दौर्भाग्यादिमाः सर्वा अपि साम्प्रतमनुपलब्धाः सन्ति । सर्वतो महत्त्वपूर्णा सम्प्रति सुलभा च टीका 'धवला' विद्यते । अस्या निर्माताऽस्ति **श्रीवीरसेनः** । अयं हि श्रीमत आर्यनन्दिनः शिष्यः । टीकेयं बप्पदेवगुरोर्व्याख्याप्रज्ञप्तिटीकाधारेण चूर्णिका-पद्धत्या प्राकृत-संस्कृत-मिश्रिता द्वासप्ततिसहस्रश्लोकपरिमाणा निर्मिता । अस्याः समाप्तौ प्रदत्तायाः प्रशस्त्या अनुसारं षोडशोत्तराष्टशतमिते ख्रिस्तीयवत्सरे वाटग्रामपुरे टीकेयं पूर्तिं गता ।

श्रीवीरसेनचार्यो बहुश्रुतो मनीषी दिगम्बराचार्याणां श्वेताम्बराचार्याणां च विशालस्य साहित्यस्यालोडनं विधाय धवलायामुद्धरणरूपेणावश्यकान् सिद्धान्तांशान् विन्यस्तवान् । षट्खण्डागमस्य षट् खण्डाः सन्ति । क्षुल्लक-बन्ध-जीव-स्थान-क्षुल्लकबन्ध-बन्धस्वामित्वविचय-वेदना-वर्गणा-महाबन्धाभिधेषु षट्स्वपि खण्डेषु चूलिका अधिकारा अनुयोग-द्वाराणि च सन्ति येषु सूचितानां विषयाणां विस्तरेण प्रतिपादनं विद्यते ।

भूतबलिना पुष्पदन्तविरचितसूत्राण्येकीकृत्य पञ्चानां खण्डानां षट्सहस्रसूत्रनिर्मित्यनन्तरं षष्ठस्य महाबन्ध-खण्डस्य त्रिंशत्सहस्रश्लोकप्रमाणस्य निर्माणं विहितम् । इममेव ग्रन्थराजं 'महाधवल' नाम्ना स्मरन्ति । अत्र प्रकृति-स्थित्यनुभागप्रदेशबन्धानां विस्तरेण वर्णनमस्ति । धवल टीकायास्तृतीयचतुर्थांशो भागः प्राकृतभाषायां शिष्टो भागश्च संस्कृतभाषायां विद्यते । षट्खण्डागममाधारीकृत्यैव श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तालङ्कारेण 'गोम्मटसार'स्य रचना कृता । अयं ग्रन्थो 'जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड'-नामभ्यां द्वाभ्यां विभागाभ्यां विभक्तोऽमस्ति ।

कषायप्राभृतस्य महत्त्वम्

षट्खण्डागम इवैव कषायप्राभृतस्योद्गमस्थानमपि दृष्टिवाद एवास्ति । दृष्टिवादस्य ज्ञानप्रवादनामक-पञ्चम-पूर्वस्य दशमवस्तुनः पेज्जदोषनामकतृतीयप्राभृतात् कषायप्राभृतस्योत्पत्तिरभूत् । अस्य रचयिताऽऽचार्यः श्रीगुणधरो विद्यते । जयधवलाकारः स्वप्रणीतायां टीकायां प्रारम्भे—

जेणहि कसायपाहुडमणेयणमुज्जलं अणंतत्थं ।
गाहाहि विवरियं तं गुणहरभडारयं वंदे ॥६॥

इति विलिख्य श्रीगुणधरभट्टारकं वन्दितवान् । तीर्थव्युच्छेदभयादस्य ग्रन्थस्योपदेशः श्रीमता गुणधरेण विहितः । अयमाचार्यो महावीरप्रभोर्निर्वाणानन्तरं त्र्यशीत्युत्तरषट्शतवर्षाणां पश्चादङ्गानां पूर्वाणामाचार्यपरम्परात उपदेशं प्राप्य प्रवचनवात्सल्यवशात् षोडशसहस्रपदप्रमाणस्य 'पेज्जदोसपाहुड' ग्रन्थस्याशीत्युत्तरैकशतमितासु गाथासु प्रणयनं कृतवान् ।

अस्य ग्रन्थस्य प्रतिपाद्यविषयाणामुल्लेखः स्वयं ग्रन्थकारेण द्वाभ्यां गाथाभ्यां प्रस्तुतः । यथा—

(१) पेज्ज-दोसविहत्ती ट्ठिदि-अणुभागे च बंधगे चेय ।
वेदग-उवजोगे वि य चउट्ठाण-वियंजणे चेर्या ॥१३॥

(२) सम्मत्त-देसविरयी संजम उवसामणा च खवणा च ।
दंसण-चरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥

एतदनुसारं पञ्चदशार्थाधिकारा अस्मिन् ग्रन्थे विद्यन्ते येषां १—प्रेयोद्वेष २—स्थित्यनुभागविभक्ति ३—बन्धक ४—सङ्क्रम ५—वेदक ६—उदीरणा ७—उपयोग ८—चतुःस्थान ९—व्यञ्जन १०—सम्यक्त्वोपशामना ११—दर्शनीयमोहनीयक्षपणा १२—देशविरति १३—संयमोपशामना १४—संयमक्षपणा १५—अद्धापरिमाणनिर्दे-शेत्यादि नामानि सन्ति ।

'श्रुतावतार'स्योल्लेखानुसारमतेस्य १—आचार्ययतिवृषभकृतं 'चूर्णिसूत्रं २—उच्चारणाचार्यरचिता उच्चारणावृत्तिः ३—आचार्यज्ञानकुण्डविरचिता 'पद्धतिटीका' ४—तुम्बूलूराचार्यकृता 'चूडामणिव्याख्या' ५—बप्प-देवगुरुकृता 'व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्तिः ६—आचार्यवीरसेन-जिनसेनकृता 'जयधवला' टीका चेति षड् व्याख्याः सन्ति । एतासु टीकासु प्रथमाऽन्तिमा च व्याख्ये साम्प्रतमुपलभ्येते ।

दिगम्बरसाहित्ये श्रुताङ्गसाहित्यम्

कषायप्राभृतोपरि चूर्णिसूत्राणां रचयिता श्रीयतिवृषभाचार्यः करणानुयोगस्य प्राचीनं प्राकृतभाषामयं 'तिलोय-

पण्णत्ती, त्रिलोकप्रज्ञप्ति-नामकं ग्रन्थं प्रणीतवान् । अयं ग्रन्थस्त्रिलोकविषयकं वर्णनं प्रस्तौति । अस्या ज्ञानं ग्रन्थ-कर्त्राऽऽचारपरम्परात एव प्राप्तम् । अस्य ग्रन्थस्य विषयः श्वेताम्बरागमेषु—'सूर्यप्रज्ञप्ति-चन्द्रप्रज्ञप्ति-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-ग्रन्थेभ्यस्तथा दिगम्बरीय'धवला-जयधवला-टीका-त्रिलोकसारादिप्राकृतग्रन्थेभ्यः साम्यं धारयति । लोकविभाग-मूलाचार-भगवती-आराधना-पञ्चास्तिकाय-प्रवचनसार-समयसारादिप्राचीनग्रन्थेषु त्रिलोकप्रज्ञप्तेरस्या भूयस्यो गाथाः समानाः सन्ति । अत्रैव भगवतो महावीरस्य निर्वाणादारभ्यैकसहस्रवर्षावधिकानां राज्ञां कालस्य वर्णनं विद्यते । यति-वृषभस्य समयो विक्रमसंवत्सरात् पूर्वं षड्विंशत्युत्तरपञ्चशतवर्षाणां सुनिश्चितमस्ति ।

एवं श्रुतधराचार्येषु क्रमशो गुणधर-धरसेन-पुष्पदन्त-भूतबलि-आर्यमंक्षु-नागहस्ति-वज्रयशश्चिरन्तनाचार्य-यतिवृषभोच्चारणाचार्य-वप्पदेव-कुन्द-कुन्द-वट्टकेर-शिवार्य-स्वामिकुमार (कार्तिकेय)-गृध्रपिच्छाचार्या अस्यां परम्परायां समुत्पन्नाः । यैः कर्मसाहित्यागमिकप्रकरण-साहित्य-धर्मोपदेश-योगाध्यात्मानागार-सागाराराचार-विधिविधान-कल्प-मन्त्र-तन्त्र-पर्व-तीर्थ-विषयकं प्रभूतं साहित्यं विरचितम् ।

श्रुतधराणां मानसानि निष्कारणं वात्सल्यपूर्णानि परोपकारपरायणानि तथोच्चापूर्वभावनाभरितान्यासन् अतस्ते विषमदुःषमारस्य विकटात् कालबलप्रभावाद् मेधा-श्रद्धा-धारणाशक्तीनां ह्रासमवलोक्य यथाकथमपि भगवतो वाण्याः स्रोतसः किमपि कियदपि पानीयं प्राणिनो लभेरन् किञ्च तदास्वादनेनात्मानं कर्मबन्धनाद् मोचयितुं प्रयते-रन्निति ग्रन्थप्रणयनान्यकार्षुः । तदेव साहित्यजातमद्य यथाकथञ्चिदस्माकं पुरत उपलभ्यते, इत्येतस्य धीरया धियाव-बोधनं तथा समास्वादनमेव कल्याणायेति ।

आगम-वाचना-परम्परा

श्वेताम्बरपरम्पराया अनुसारं सकलमप्यागमसाहित्यं विविधानां वाचनानां प्रवर्तनादद्य यावत् सुरक्षितमति-ष्ठदिति मन्यते । एतासु वाचनासु षड्वाचनानामितिवृत्तमित्थं लभ्यते—

(१) प्रथमा वाचना—प्रभोर्महावीरस्य पट्टपरम्परायां पञ्चमश्रुतकेवलिरूपेण प्रसिद्धस्य **श्रीभद्रबाहुस्वामिनः** समये द्वादशवर्षीयो भीषणो दुष्काल आपतितः । अस्मिन् दुःसमये गोचरीणां काठिन्येन साधवोऽनुकूलतानुसारं यत्र तत्र विहृताः । सुदीर्घो भागः सिन्धूनां नदीनां तटवर्तिप्रदेशान् गतः । तस्मिन्नेव समये नन्दवंशस्य साम्राज्येऽपि क्रान्ति-रासीदतो मगधदेशे पञ्चाम्बुप्रदेशे च भीषणा स्थितिरभूत् । इत्थं श्रमणानां पृथक्-पृथग्गमनेनागमानां पठनं पाठनं चाव्यवस्थितमभवत् । अनेके ज्ञानिन आचार्याः स्वर्गस्था अभूवन् । शिष्टानां ज्ञानिनां ज्ञानान्यपि शीर्णमयान्य-भवन् । फलतो मुखपाठपद्धत्या सुरक्षितमागमज्ञानं विशृङ्खलतां व्रजति स्म । अस्यां स्थितौ पाटलीपुत्रे वीरनिर्वाणसं० १६० निकटे पूज्याचार्य-श्रीस्थूलभद्रस्वामिनोऽध्यक्षतायां श्रमणसङ्घ एकीभूय परस्परं यद् यस्य स्मृतावासीत् तत्तद् श्रुत्वा स्मृत्वा च द्वादशाङ्गस्य व्यवस्थितसङ्कलनाप्रयासानकरोत् । अस्या वाचनाया अभिधानं **द्वादशाङ्गश्रुतसङ्कलन-वाचनेति** वक्तुं पार्यते । अस्यां वाचनायामेकादशाङ्गानि व्यवस्थितानि । ततः परं त्रुटितरूपेण समुपलभ्यमाने द्वादशत-माङ्गं दृष्टिवादमध्येतुं पू० स्थूलभद्रस्वामिप्रभृति-पञ्चशतसाधवो नेपालदेशे महाप्राणध्याने विराजमानानां श्रीभद्रबाहु-स्वामिनां निकटे मगधस्थश्रमणसङ्घेन प्रेषिताः । तेषु सर्वेऽपि कालबलेन खिन्नाः सञ्जाताः । अतः केवलं स्थूलभद्र-स्वामिन एव दशपूर्वावधि सूत्रार्थान् यथावदधीतवन्तस्ततो विषमकलिकालप्रभावान्नारीभ्योऽपि विद्याऽध्यापनरूपा-हम्भाववृत्त्या सिंहरूपस्य विकुर्वणायास्त्रुटेः कारणाच्चान्तिमचतुःपूर्वान् सूत्ररूपेणैवाध्येतुमशक्नुवन् ।

द्वितीयाऽऽगमवाचना—ततः परं जिनकल्प्या अभ्यासकानां पूज्याचार्यश्रीआर्यमहागिरीणां गुरुभ्रातृश्रीआर्य-सुहस्तिसूरिमहाराजानामाध्यक्ष्ये सम्राजा सम्प्रति-महाराजेन विज्ञप्तिपूर्वकमुज्जयिन्यां श्रमणसङ्घ एकीकृत्य द्वितीया वाचना कारिता । अस्याः समयो वीरनिर्वाणवत्सरः—२४५ तो २६१ पर्यन्तोऽभूदिति विभिन्नैः प्रमाणैर्ज्ञातुं शक्यते । अस्या वाचनाया उल्लेखः **श्रीहिमवन्तस्थविरावलीग्रन्थे** विद्यते । किञ्चास्या वाचनाया **'आगमसंरक्षण-वाचने'**त्यभिधानमासीदित्यप्यनुमीयते ।

तृतीयाऽऽगमवाचना—इयं वाचना महामेघवाहनखारवेलस्य प्रार्थनया पूज्याचार्यसुस्थितसूरेस्तथा पूज्याचार्य-सुप्रतिबद्धसूरेरध्यक्षतायां शत्रुञ्जयावतार-तीर्थस्वरूपे कुमरगिरिस्थले बृहद्श्रमणसङ्घसम्मेलनं संयोज्य सम्पादिता । अस्यां वाचनायामेकादशाङ्गानां दशपूर्वाणां च पाठा व्यवस्थापिताः । आचार्यश्रीबलिस्सहसूरिभिरस्या वाचनायाः प्रसङ्गेन 'विद्याप्रवाद' पूर्वतोऽङ्गविद्यादिशास्त्राणमुद्धारः कृतः । अस्या उल्लेखोऽपि प्राचीने हिमवन्तगिरिस्थविराव-लीग्रन्थे विद्यते । इयं वाचना वीरनिर्वाणसंवत्सर ३०० तो ३३० वत्सराणां मध्येऽभूदित्यनुमीयते ।

तुरीयाऽऽगमवाचना—यदा भूयोऽपि दुष्कालप्रवर्तनमभूत् तदा वाचनाचार्यरूपेण विख्याताः श्रीनन्दिसूरयो युगप्रधानाः श्रीआर्यरक्षितसूरयो गणाचार्याः श्रीवज्रसेनसूरयश्च प्रसिद्धा आसन् । एतैः समयस्य दुरवस्थां विलोक्या-गमानां सुरक्षायै प्रभावकाचार्याणां सम्मतिपूर्वकं प्रत्येकं सूत्रस्य मुख्यार्थं प्रकरणाश्रयेणावलम्ब्यान्यार्थांश्च गौणीकृत्य समस्तस्य जिनागमवाङ्मयस्य स्वातन्त्र्येण वर्गीकरणं विहितम् । तत्रानुयोगचतुष्टयमित्थमासीत्—

१—**द्रव्यानुयोगः** (दृष्टिवादः) द्वादशतममङ्गम् ।
२—**चरणकरणानुयोगः** (एकादशाङ्गानि, छेदसूत्राणि, महाकल्पोपाङ्गानि मूलसूत्राणि च ।
३—**गणितानुयोगः**—सूर्यप्रज्ञप्ति-चन्द्रप्रज्ञप्त्यादयः ।
४—**धर्मकथानुयोगः**—ऋषिभाषितोत्तराध्ययनादयः ।

एवमाचार्यार्यरक्षितसूरिणा चतुर्णामनुयोगानां व्यवस्थापनं विधायागमाश्चिरञ्जीविनो विहिताः । एषा वाचना वीरनिर्वाण सं०५९२ तमस्य निकटे दशपुर (मन्दसौर) नगरे सम्पन्ना ।

पञ्चम्यागमवाचना—वीरनिर्वाण सं०८३० तो ८४० वत्सरस्य निकटे पूज्याचार्यश्रीस्कन्दिलसूरय उत्तराप-थस्थान् मुनीन् **मथुरायां** तथा नागेन्द्रवंशीय-परमप्रभावकश्रीहिमवन्तक्षमाश्रमण-शिष्य-श्रीनागार्जुनसूरयश्च दक्षिणापथ-स्थान् मुनीन् **बलभीनगर्यामागमानां** सङ्कलनायैकीकृतवन्तः । एतस्या अपि कारणे तदानीन्तनी राज्यक्रान्तिस्तथा द्वादश-वर्षा त्मको भीषणो दुष्काल आस्ताम् । इयं वाचनोभाभ्यामाचार्याभ्यामुभयोः स्थानयोः सम्पादिता । इमे इदमपि सूचयतो यत्तदानीन्तनः कालोऽतीव सङ्कटपूर्णं आसीत् । केचनाचार्या एवमपि मानयन्ति यदस्यामेव वाचनायां लौकिकीं स्थितिं जनानामल्पस्मृतित्वञ्चावधार्याचार्यैरागमानां पुस्तकरूपेण सङ्कलनमपि स्वीकृतमभूदिति ।

षष्ठ्यागमवाचना—इयं वाचना वाचकवंशस्य वाचनाचार्यश्रीस्कन्दिलसूरिसम्पादितायाः माथुरीवाचनाया उत्तराधिकारिणाऽऽचार्य-श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन तथा श्रीनागार्जुनसूरिसम्पादितायाः वालभीवाचनाया-उत्तराधि-कारिणाऽऽचार्यश्रीकालकसूरिणा संयुज्य वलभीपुर्यां सौराष्ट्रे सम्पादिता । अस्यां वाचनायां चतुरशीत्यागमानां सुव्य-वस्थितं सङ्कलनं ताडपत्रेपु साधुभिरालेखनं चाभूत् । अस्मिन्नेव कालेऽन्येषां महत्त्वपूर्णग्रन्थानामपि पुस्तकरूपेणालिख्य

सङ्कलनमभूत् किञ्चास्यामेव वाचनायां माथुरी-वलभी-वाचनयोः सम्पन्नानां पाठभेदानामपि व्यवस्थापनं गीतार्थानां सूचनानुसारमक्रियत । अस्याः समयो वीरनिर्वाणसंवत्सर-९८० तम आसीत् ।

एवमेताः षड्वाचना एवागमानामद्यावधि संरक्षणे प्रवर्धने च सहायिका अभवन् । अद्याप्यासां वाचनानामनुसारं विद्वांसो गणिवरा वाचनां कुर्वन्ति । आगमानां व्यवस्थितरूपेण प्रकाशने नैके प्रयत्नाः संस्थाभिराचार्यैश्च क्रियन्ते अस्यामेव शत्यामुत्पन्नेनागमोद्धारक-श्रीमत्सागरानन्दसूरिवरेण ताम्रपत्रेषु शिलापट्टकेषु चागमानां लेखनं कारयित्वा **'आगम मिन्दिराणि'** निर्मापितानि । पत्राकारेण च प्रकाश्यागममञ्जूषासु तेषां संग्रहोऽपि कारितः । एवमेव 'श्रीजैनश्वेताम्बरतेरापन्थमहासभा'-माध्यमेन तत्सम्प्रदायाचार्यैः श्रीतुलसीगणिवरैरपि विशिष्य स्वशिष्याणां सहयोगेन विशिष्टसम्पादनपूर्वकमागमानां प्रकाशनं विहितम् ।

इत्थं 'कस्यापि धर्मस्य सम्प्रदायस्य ये मौलिका आधार-ग्रन्था भवन्ति त एव तस्य स्वतन्त्रास्तित्वस्याधारा भवन्ति' इति दृष्ट्या वर्तमानकाले प्रवर्तितानां सर्वेषामपि जैनसम्प्रदायानामाधारभूता ग्रन्था **आगमाः** सन्ति । साम्प्रतं जैनसम्प्रदायनाम्ना दिगम्बरसम्प्रदायः श्वेताम्बरसम्प्रदायश्चेति द्वौ विभागौ मुख्यतया वर्तेते । स्त्रीमुक्तिः सर्वज्ञमुक्तिश्च, निर्वस्त्र-मुनित्वं सवस्त्रमुनित्वं चेत्यादिमन्तव्यैः सहैवागमानां विलुप्तत्वमविलुप्तञ्चाधृत्य सम्प्रदायभेदाः प्रवृत्ताः सन्ति । दिगम्बरेषु पुष्पपूजाऽचित्त द्रव्यपूजादिमन्तव्येषु **विंशति-पन्थ-त्रयोदशपन्थ** विभागौ सुस्थितौ स्तः । श्वेताम्बरेषु मूर्तिपूजकाः स्थानकवसिनस्तेरापन्थनामकास्त्रयः प्रमुखाः सम्प्रदाया विद्यन्ते । मूर्तिपूजाका मूर्तिपूजयां विश्वसन्ति परं शिष्टौ द्वौ सम्प्रदायौ तत्र न विश्वसितः । दयादानमिथ्यात्वक्रिया-स्थानकपरम्परादिवार्ता आधृत्य स्थानकवासिसु तेरापन्थिषु मतभेदो विद्यते । तेरापन्थस्यायमेव मतभेदः प्रायेणान्यैर्जैनसम्प्रदायैः सहापि वर्तते ।

तथापि सर्वमान्येषु सिद्धान्तेषु भगवतो महावीरस्य वचनेषु सर्वेऽपि समानरूपेण श्रद्धानाः स्वात्मनो लोकानां च हितायानवरतं सकलोऽपि सङ्घः सुसंयत एवास्ति तदिदमवश्यं गौरवाय ।

पतित-पावनी देशना-धारा

आगम-महासागरस्य समवगाहनेन सम्मथनेन च श्रीमतो महावीरस्य वचनामृतं सम्प्राप्य तदीयया पतित-पावन्या निर्मल-धारया सकलमपि प्राणजगद् जीवयितुं पूर्वाचार्या भूरि श्रमं विहितवन्तः । जगतो जीवनस्य परितापप्रशान्तये भगवता 'अकारत्रय्या' देशनाः प्रदत्ता आसन् यासु **'अहिंसा-अनेकान्त-अपरिग्रहाः'** क्रमशोऽहिंसा मनस्तापमनेकान्तो बुद्धेर्जाड्यमपरिग्रहश्च राष्ट्रस्य विषमत्वं परिहर्तुं सर्वथा सुशकाः सन्ति । इयमेव त्रयी गङ्गा-यमुना सरस्वतीरूपत्रिवेणीति सुनिश्चितम् । अत एवोक्तम्—

> **आर्तत्राणकरी सुधाब्धि-लहरी कारुण्यपूर्णेश्वरी,**
> **संसारार्णव-सङ्कटे प्रपततां ताराय चैकातरी ।**
> **सर्वस्वान्तचरी सुपुण्यनगरी सत्तत्त्वचिन्तादरी,**
> **लोकानामभयाय भाति भुवने श्रीवीरवाणी झरी ।।**[1]

१—डॉ० रुद्रदेवत्रिपठिनः पद्यमिदं-"श्रीमहावीर-वचनामृत' ग्रन्थे प्रकाशितम् ।

(१) अहिंसा

अस्यास्त्रय्याः प्रथमं तत्त्वमस्त्यहिंसा। कस्यापि प्राणिनो हिंसाया निषेध एवास्या बीजम्। 'नाइवाइज्जः किंचण' (आ० श्रु० १, अ० २, उ० ४) इत्युक्त्या भगवता प्रतिपादितं यत्—

सव्वे पाणा पियाउवा सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं। एस मग्गो आरिएहिं पवेइये, जहेत्थ कुसले नोवलिपिज्जासि॥ (तत्रैव० ३-२) इति।

एतदनुसारं सर्वेषां प्राणिनामायुष्यं प्रियं भवति। सुखमनुकूलं दुःखं प्रतिकूलं च भवतः। अत एव हिंसां कोऽपि न वाञ्छति। सर्वेऽपि जीवितुकामाः सन्ति। सर्वेषां जीवनं प्रियमस्ति। एषोऽहिंसामार्ग आर्यैः प्रोक्तस्तस्मात् कुशलो नरः कदापि हिंसातो नैव लिम्पेत्। जिनैर्निर्दिष्टाया अहिंसायाः सारं तु रागादीनामनुत्पाद एवास्ति। यथा हि—

रागादीणमणुप्पाओ अहिंसकत्तं त्ति देसियं समये।
तेसिं चे उपपत्ती हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा॥

अन्यच्च—

अज्झवसिएण बंधो, सत्ते मारेज्ज माथ मारेज्ज।
एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छय-मरणस्स॥
हिंसादो अविरमणं, वहपरिणामो य होइ हिंसा हु।
तम्हा पमत्तजोगे पाणव्ववरोवणो णिच्चं॥
णाणीकम्मस्सं खयत्थमुट्ठिदो णोट्ठिदो य हिंसाए।
अददि असढं अहिंसत्थं, अप्पमत्तो अवधगो सो॥

इत्यादि गाथाभिरहिंसाया विषये सूक्ष्मनिर्देशा अपि दत्ताः। न केवलं हिंसनमेवापि तु हिंसाया अध्यवसाय एव कर्म्मबन्धस्य कारणं भवति। प्रमाद एव नित्यहिंसाऽस्ति। अत एव योऽप्रमत्तोऽस्ति स एव मुनिरहिंसकः। सूयगडागंसूत्रेऽप्युक्तम्—

संबुज्झमाणे उ नरे मइमं, पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता, वेरानुबंधीणि महब्भयाणि॥

अर्थात्—दुःखानि हिंसायाः समुत्पन्नानि। एषैव वैरस्य वर्द्धयित्री महती भयङ्करी च विद्यते। एवं ज्ञात्वा मतिमान् नर आत्मानं हिंसायाः संरक्षेत्। तत्रैव षड्त्रिंशत्यां गाथायामुक्तमस्ति यद् यथा जीवनायाधारस्थानं भूमिरस्ति तथैव भूतानां भविष्यतां च तीर्थङ्कराणामाधारस्थानं 'शान्तिः=अहिंसा' विद्यते। तीर्थङ्करा इयदुच्चं पदमहिंसायाः पालनादेवालभन्त इति—

जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया ।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा ।।

भगवता महावीरेण सर्वेष्वपि धर्मस्थानेषु प्रथमं स्थानमहिंसाया एव प्रदत्तं तत्रापि सर्वैः प्राणिभिः सह संयमपूर्वको व्यवहार एव सर्वोत्तम-प्रकारिकाऽहिंसाऽस्तीत्यपि प्रतिपादितम् —

तत्थिमं पढमं ठाणं महावीरेण देसियं ।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूयेसु संजमो ।।

(दश० अ० ६, गा० ६,)

'अहिंसा परमो धर्म' इत्याघोषः सर्वेषु धर्मेषु प्रधानरूपेण स्वीकृतः । अहिंसां विना तपःसिद्धिः सर्वथा दुरापा भवति । अतः सर्वैरपि सावधानतयाऽहिंसाव्रतं परिपालनीयमिति सिद्ध-सिद्धान्तः ।

(२) अनेकान्तः

द्वितीयं तत्त्वमिद'मनेकान्त'नाम्ना व्यपदिश्यते । अहिंसायाः पालनमनेकान्तदृष्ट्या विनाऽसम्भवम् । यतो हि जैनदृष्ट्या हिंसां न कुर्वन्नपि मानवो हिंसको भवितुं शक्नोति तथा हिंसां कुर्वन्नपि हिंसको न भवति । मत्स्यमारण-भावनया जले जालं विस्तीर्य स्थितो जनो मत्स्यस्य जालागमनं विनाऽपि हिंसकोऽस्ति, यतो हि तदीयो भावो मत्स्य-मारणस्यास्ति किञ्च क्षेत्रं कर्षन् कृषकः कर्षणकाले क्षुद्रान् जीवान् हिंसन्नपि स नास्ति हिंसको यतो हि तदीयो भावोऽन्नोत्पादनस्यास्ति, जीवानां हिंसनस्य नैव । अतो जैनधर्मे हिंसाऽहिंसे कर्तुर्भावेऽवलम्बिते स्तः क्रियासु नैव । यदि बाह्यतो भवित्री हिंसैव हिंसा मन्येत तदा तु कोऽपि जनोऽहिंसको भवितुमेव नार्हति । यतो जगति सर्वत्र जीवाः सन्ति तथा तेषां घाता अपि भवन्त्येव । अतो यः सावधानता-पूर्वकं प्रवर्तते तस्य भावेऽहिंसाऽस्ति तस्मात् सोऽहिंसकोऽप्यस्ति । परं यः स्वकीयासु प्रवृत्तिषु नास्ति सावधानस्तस्य भावे हिंसा विद्यते तस्मात् स हिंसामकुर्वन्नपि नास्त्यहिंसकः ।' इत्यादिकं सकलं विश्लेषणमनेकान्तदृष्ट्या विना नास्ति सम्भवम् । अतो विचार-जगत्यहिंसाया मूर्तरूपमेवानेकान्त इति निश्चितम् ।

अस्यानेकान्तस्य स्वरूप-प्रतिज्ञानाय भगवता महावीरेण वस्तुनः स्वरूप-ज्ञानाय समादिष्टम् । यतो वस्तुनः स्वरूपज्ञानं विना ज्ञेयस्य ग्रहणं दुःशकं हेयोपादेययोः प्रवृत्तिर्ज्ञेयस्वरूपस्य ज्ञानादेव भवति । अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मच-र्यापरिग्रहाणामाचरणमपि ज्ञेयस्य ज्ञानाभावेऽसम्भवमेव । अतस्तीर्थङ्करपरमात्मना प्रोक्तम्—"**उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा ।**" अर्थात् वस्तु प्रतिक्षणमुत्पद्यते विनश्यति ध्रुवं च तिष्ठतीति । इमास्तिस्रोऽप्यवस्था यस्मिन् भवन्ति तदेव ज्ञेयमस्ति वस्त्वस्ति पदार्थोऽस्ति । एतासां तिसृणामपि परस्परमविनाभावोऽस्ति—

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ।।

(प्रवचनसार० गाथा० १००)

गाथामिमां स्पष्टयता श्रीमताऽमृतचन्द्राचार्येणापि टीकायामुक्तम् "न खलु सर्गः संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारौ स्थितिमन्तरेण न स्थितिः सर्गसंहारमन्तरेण। य एव हि सर्गः सः एव संहारः, य एव संहारः स एव सर्गः, यावेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहारावति। तथा हि—य एव कुम्भस्य सर्गः स एव मृत्पिण्डस्य संहारः, भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनावभासनात्। य एव च मृत्पिण्डस्य संहारः स एव कुम्भस्य सर्गः। अभावस्य भावान्तरस्वभावेनावभासनात्। यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैव मृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात्। यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात्।"

एवं त्रिलक्षणात्मकस्य पदार्थस्यैकान्तरूपनित्यत्वानित्यत्वे समीक्षिते। महावीरेणोद्घोषितं यत् किमपि वस्तु नास्ति सर्वथा नित्यं क्षणिकं वा। अस्यास्त्रय्यात्मकतयाः सिद्धये चोदाहरणमिदं प्रस्थापितम्—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥

—(आप्तमीमांसा पद्यं ५९)

अयम्भावो यत्—'एकस्य राज्ञ एकः पुत्रः एका च कन्या ऽभवताम्। राज्ञः समीपे स्वर्णकलशमभूत्। कन्या स्वर्णकलशमेवावाञ्छत् परं पुत्रस्तं विभज्य मुकुटं निर्मातुमैच्छत्। राजा पुत्रस्य हठं पूरयितुं कलशं त्रोटयित्वा मुकुटं निर्मापयति। तदा कलशनाशात् कन्या दुःखिता भवति, मुकुटोत्पादात् पुत्रः प्रसीदति परं राजा तु स्वर्णेच्छुरस्ति यः कलशनाशे मुकुटनिर्माणे च सत्यपि मध्यस्थ एव तिष्ठति। न स शोचति न च प्रसीदति। अतो वस्तु त्रयात्मकमस्तीति।" एवमेव—

पयोव्रतो न दध्यस्ति, न पयोऽस्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥६०॥ (तत्रैव)

एवं वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकता-साधनपुरस्सरमेव लोकस्यानेकान्तसिद्धान्तं प्रति दृष्टिराकृष्टा। अत एवोक्तम्—

जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा न निव्वहइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स॥
(येन विना लोकस्यापि व्यवहारः सर्वथा न निर्वहति।
तस्मै भुवनैकगुरवे नमोऽनेकान्तवादाय॥) इति

(३) अपरिग्रहः

तृतीयं तत्त्वमिदमपरिग्रहनाम्नाऽऽम्नातमस्ति। इन्द्रियाणां वशीकारायास्य पालनमत्यावश्यकम्। ऐन्द्रिय-दास्य-निबद्धा जना जगति स्वीयं परकीयं वा कल्याणं साधयितुं कथमपि न क्षमन्ते। अत एवोच्यते यत्—

गंथच्चाओ इंदिय-णिवारणे अंकुसो व हत्थिस्स ।
णयरस्स खाइया वि य, इंदियगुत्ती असंगत्तं ।।

परिग्रहस्य त्यागः किल हस्तिनो वशीकारायाङ्कुश इवावश्यकः । यथा नगरस्य रक्षार्थं परिखा भवति तथैवेन्द्रियाणां वशीकारायापरिग्रहो नितान्तमुपादेयः । परिग्रहत्यागिनः सुखं चक्रवर्तिनोऽप्यतिरिच्यते । जीवः परिग्रह-निमित्तमेव हिंसामपि कुरुतेऽतोऽहिंसायाः पालनार्थमपि परिग्रहत्याग एवैकं निदानम् । परिग्रहस्य द्वौ भेदौ भवतः— (१) वाह्य (२) आभ्यन्तरश्च । वाह्यस्य परिग्रहस्य दश भेदा भवन्ति–(१) क्षेत्राणि, (२) गृहाः (३) धनं धान्यं च, (४) वस्त्राणि, (५) भाण्डादयः, (६) दासा दास्यश्च, (७) पशवः (८) यानानि, (९) शय्याः, (१०) आसनं च । आभ्यन्तरपरिग्रहस्य चतुर्दश प्रकाराः सन्ति—(१) मिथ्यात्वं, (२) स्त्रीवेदः, (३) पुरुषवेदः (४) नपुंसकवेदः (५)-हास्यं, (६) रतिः, (७) अरतिः, (८) शोकः, (९) भयं, (१०) जुगुप्सा, (११) क्रोधः, (१२) मानः, (१३) माया, (१४) लोभश्च ।

एतेषां परिग्रहाणां ममत्वमेव परिग्रह इत्यप्युक्तं भगवता महावीरेण—

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ।।

(दशवैकालिकसूत्रम्' अ० ६, गा० २०)

अर्थात्—ज्ञातपुत्रेण महर्षिणा महावीरेणात्र वस्त्रादयः परिग्रहाः नोक्ता अपि तु परिग्राह्य-वस्तुनः प्रति यन्ममत्वं मनसि जिघृक्षा स एव परिग्रह इति । प्रान्ते तत्रैव प्रोक्तं यत्—

विडमुब्भेइमं लोणं, तिल्लं सप्पिं च फाणियं ।
न ते सन्निहिमिच्छंति, नायपुत्त-वओरया ।।

अस्यायमाशयः— ये भगवतो महावीरस्य वचनेऽनुरक्ताः सन्ति ते नवनीततैल-घृत-गुडादीनां संग्रहं न कुर्वन्तीति ।

स्याद्वादावतारस्तन्माहात्म्यं च

वस्तुतः सत्यज्ञानादपि कठिनं सत्यस्य यथार्थतः प्रकाशनमस्ति । यतो हि ज्ञानं सत्यं ज्ञातुं शक्नोति परं शब्दस्तद् यथावत् प्रकाशयितुं न शक्नोति । एतस्मादेव कारणाद् भगवता महावीरेणानेकान्तवादेन सह स्याद्वादस्य नयवादस्य चावतारो दार्शनिकक्षेत्रे प्रस्थापितः । परिणामतो वैचारिके क्षेत्रे केनाऽपि सहान्यायो न भवेत् । स्याद्वादस्य वैशिष्ट्यमभिलक्ष्य श्रीसमन्तभद्राचार्येण 'युक्त्यनुशासने' निगदितम्—

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं, नयप्रमाणैः प्रकृताञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैर्निखिलप्रवादिर्भिजिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ।।

अस्य मतस्य स्याद्वादनयस्य प्रवृत्त्याऽन्ये सर्वेऽपि नया विनश्यन्तीति प्रतिपादयन् श्रीयशोविजय उपाध्यायोऽपि 'वीरस्तवे' कथयति—

स्याद्वादनाम्नि तव दिग्विजयप्रवृत्ते,
सेनापतौ जिनपते! नय-सार्वभौम ।

नश्यन्ति तर्कनिवहाः किमु नाम नेष्टा-
पत्तिप्रभूतबलपत्तिपदप्रचारात् ॥६॥इति[1]

तथोत्तरकालिका भूयांस आचार्या भगवतो वचांसि परिशील्य दर्शन-साहित्यादिदिक्षु नानाविधानि शास्त्राणि विरच्य लोककल्याणाय किमप्यपूर्वममृतं पुरस्कृतवन्तस्तदेवाद्य पायं पायं जनाः कृतार्थतामनुभवन्ति वाञ्छन्ति च—

णाणं सरणं मे, दंसणं च सरणं चरिय-सरणं च ।
तव संजमं च सरणं, भगवं सरणं महावीरो ॥ इति ।

उपसंहारः

प्रान्ते महाकवि'श्रीधनपाल'विरचितं 'संस्कृत-प्राकृत-भाषामयं श्रीवीरस्तवं' भगवतो महावीरस्य चरित्र-सारभूतं प्रस्तूय चरितामृतमिदमुपसंह्रियते—

सरभस-नृत्यत्सुर-युवति-कुचतट-त्रुटित-हारतारकितम् ।
जायं सिद्धत्थ-नरिंद-मंदिरं जस्स जम्मम्मि ॥१॥

बुद्ध्वाऽवधिना निज-जन्ममज्जने हृदयभावमशनिभृतः ।
लीलाइ चलणकोडीइ चालिओ जेण सुरसेलो ॥२॥

येन च बाल्ये विबुधो विवर्द्धमानः सविभ्रमं नभसि ।
हणिऊण मुट्ठिणा वामणीकओ कुलिस-कठिणेणं ॥३॥

सुरपतिपुरतो विवृतिं वितन्वता वितत-वाङ्मयं येन ।
जणियं जयस्स विज्जोवएससमए महच्छरियं ॥४॥

माता-पित्रो प्रेमानुबन्धमधिकं विबुध्य यः स्थितवान् ।
दिव्वालंकार-फुरंत-विग्गहो चत्तसंगो वि ॥५॥

येन परित्यज्य जरत्तृणमिव राज्यं समं सुहृत्स्वजनैः ।
वूढो दढनियमभरो लीलाइ गिरिंदरुंदयरो ॥६॥

सङ्गमकसुराधिप-विक्षिप्त-दीप्त-दम्भोलि-भेदसम्भ्रान्तः ।
चमरो चलणुप्पलमूलमागओ रक्खिओ जेण ॥७॥

येन घनकर्मपटलं प्रकटतपो वह्निना विनिर्दह्य ।
पलय-रवि-तेय पायडमुप्पाडितमक्खयं नाणं ॥८॥

---

१. एतद्विषये विशेषज्ञानाय द्रष्टव्या श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायरचिता 'स्तोत्रावली' । सं० डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठी, प्रका० यशोभारती जैन प्रकाशन समितिः, वम्बई ।

यश्च सुचिरं पृथिव्यां मिथ्यात्वान्धं विबोध्य भव्यजनम् ।
ठाणं जम्मणजरमरणरोग-परिवज्जियं पत्तो ॥९॥

तं नमत नम्रशतमखमणिमुकुट-विटङ्क-घृष्ट-चरणयुगम् ।
भुवणस्स वि बंधणपालणक्खमं वद्धमाण-जिणं ॥१०॥

इति डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठि-विरचितं

श्रीमहावीर-चरितामृतम्

समाप्तम् ।

इति 'दशपुर'-वासी श्रीरमाकान्तसूनु-
र्व्यरचयदिह दिल्ल्यां 'रुद्रदेवत्रिपाठी ।
शर-नयनशताब्दस्मारकं निर्वृतेर्वै,
चरितममृत-तुल्यं 'श्रीमहावीर'-शम्भोः ॥१॥

इत्येतद् श्रीमहावीर-चरितामृतमुत्तमम् ।
मुदेऽस्तु पठतां नित्यं, महावीर-प्रसादतः ॥२॥

—०—

द्वितीयो भागः

आर्हत-धर्म-सुषमा

विश्वधर्मः

—उपाध्यायः श्रीविद्यानन्दमुनिः

धर्मशब्दो मानवजीवनस्य सर्वात्मिकायाः पवित्रताया उपलक्षणम् । अस्मिन् लोके परममभ्युदयं कल्याणं च धर्ममार्गेण चरता पुंसाऽऽसाद्यते । धर्मः खलु स्वाभाविकी वृत्तिर्मानवानाम् । अतएव मुनिमहर्षिभिः 'वस्तुस्वभावो धर्मः' इत्युदीरितम् । जलस्य शैत्यम् पावकस्यौष्ण्यं वायोर्गतिमत्त्वमाकाशस्य च अवगाहनत्वमेषां नैसर्गिको धर्मः । विध्याते वह्नौ यथा पावकगुणो नास्ति तथैव धर्महीने मानवे मानवत्वं न विद्यते । सर्वेऽपि पदार्था धर्ममेवाश्रित्य जीवन्ति, वर्धन्ते रोचन्ते च । यदि रसालफले माधुर्यं निम्बे च कटुत्वं न भवेत्तदा को नामानयोर्भेदं परिचिनुयात् ? रात्रिं दिनात्तम एव विभनक्ति । सूर्यादिन्दुं शीतरश्मय एव पृथक् कुर्वन्ति । त एते धर्माः पदार्थानाम् । व्यक्तयः पदार्थाश्च स्वीयैरेभिर्गुणैरेव परिचीयन्ते ।

पूर्वस्मिन् समये येऽस्माकं तत्त्वदर्शिनः शास्त्रकारा अभूवंस्तेषां दृष्टिर्विशाला बुद्धिश्चोदाराऽऽसीत् । न ते केवलं कुक्षिम्भरयोऽभूवन्न चापि मानवजातेरन्यतरमंशं परित्यज्य, विभज्य, छित्त्वा वा स्वचिन्तनोपायनन्यस्तार एवातिष्ठन् । विश्वस्य हितायैवाभूत्तेषां जन्मापि मृतिरपि । आत्मचिन्तनसमुत्थं नवनीतकल्पं शास्त्रनामनिबद्धं यत्तत्त्वं तैः प्रतिन्यस्तं सामाजिकसंस्कृतिकोषे तदद्यापि श्वोऽपि परश्वोऽपि चास्खलितं वर्द्धते, वर्धिष्यते च नात्र संशीतिलवोऽपि । धर्मस्य संहितायाः स्फीता अध्यायास्तेषां मानसगोचरीभूय स्फुटतां प्रयाता येऽद्यापि निरवद्यं निरूपयन्तो मानवजातेरध्वानं परिनिष्ठिताः सन्ति । एते नियमा ये धर्मसुगृहीतनामानो विद्यन्ते दशसंख्यातास्सन्ति । यथा हि—

'उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ।' (तत्त्वार्थ० ९।६) । तत्त्वदर्शिमहर्षिपरामृष्टैरमीभिर्विशेषणैर्गुणसमवायैर्वा व्यूढं जीवनं जनस्य देवानाम्मनस्यपि सौमनस्यमाकर्षणं प्रीतिबन्धं चोत्पादयेत् किम्पुनः प्राकृतपुंसाम् । अमी धर्मा अखिलवसुमतीनिवासिनां मनुष्याणां कृते हितावहास्तस्मात् संज्ञया मानवधर्मनाम्ना व्यवहर्तुं शक्याः । विश्वस्मिन्नपि संसारे मानवस्यैव प्राधान्यमिति सोऽयम्मानवधर्म एव 'विश्वधर्म'-संज्ञयापि निर्वक्तुं शक्यते । अस्य च प्रथमोपदेष्टा श्रीवृषभनाथः परमदेवो जिनाख्यया लोके प्रसिद्धिमुपाश्रित इति तन्नामानुबन्धव्याजेन स एव विश्वधर्मः, मानवधर्मो वा जैनधर्मपदवीमपि प्राप्तः । एतावता जैनशब्दो न जातिरूढः किन्तु प्रागुक्तदशधर्मरक्षितरि कस्मिन्नपि शौचाचारपरायणे कुलीने मद्यमधुमांस(मकारत्रय)त्यागशीले वस्त्रगालित-पयःपाननियते पुंसि प्रसज्यते । अमुमेवाशयमधिकृत्य श्रीमता जिनसेननाम्नाऽऽचार्यवर्येण मनुष्यजातिरेकैवेत्युदीरितं महापुराणे (३०।४५) । एतेनापि दशलक्षणकोऽयं धर्मः समस्तमानवजातेर्धर्मो बोभवीति ।

अथ धर्मलक्षणे ये दश संख्याताः प्रकारा उक्तास्तेषां निरुक्तिं संक्षिप्य व्याख्यास्यामः । तत्र पूर्वमुत्तमशब्दो गृहीतो भवति । स च 'द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति व्याकरणनियमात् क्षमा-मार्दवार्जवादिभिर्दशभिरपि पदैः सह संयुज्यते । ततश्चोत्तमोत्तममार्दवमित्यादि प्रत्येकं धर्मलक्षणमुत्तमपदसमन्वितं व्याख्येय-

मादेयं च तिष्ठति । उत्तमत्वं चोत्कृष्टताव्यपदेश्यं निर्दुष्टं च । अतश्च क्षमां परिपालयन् मानवः परमसोढव्यतागुणेन जगति वर्तेत न कस्मादपि कुप्यति द्रुह्यति वा मृदुतामभृदनंश्चापरुषया वृत्त्या लोकैः सह व्यवहरेदार्जवं चाददानो नर्जुतां जह्यादकपटेन सारल्येन च जीवनं परिचालयेन्न च सर्प इव जिह्मगतिः स्यात् । शुचिताया महन् महत्त्वम् । वित्तशुचिर्वृत्तशुचिरिति नानाविधशुचिता भवति लोके । यो जनः शुचितायाः सर्वेष्वपि क्षेत्रेषु निरवद्यं तिष्ठति स हि न पापैर्लिप्यते । अद्यत्वे भ्रष्टाचारस्य यावती दुरुदीरणा भुवनं व्याप्य तिष्ठति, यावन्तश्च लोकाः स्वकीयस्वार्थनिषेविण उदरम्भरयश्च सन्तो दृश्यन्ते तत्र शुचितायाः, उत्तमशौचस्यैवासन्निधानं बीजं लुण्टाकवृत्तेः सर्वस्वहरणस्पृहायाश्च प्रसक्तिरशौचात् प्रादुर्भवति . मलिनं हि पङ्कं परस्यापि मलमासज्य प्रोथयति । तस्मात् शौचस्य महत्त्वमतिरोहितं विद्यते । **न हि सत्यात्परं तपः'** समीचीना सूक्तिरेषा । तपसो मार्गे प्रवृत्तिमता पुंसा प्रथममसत्यपरित्याग आचरणीयः **'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि'** इति सन्मार्गग्राहिणां प्रथमं वचः । मनसो वचसः कायस्य च पावित्र्यं सत्यग्रहणाद् ऋते न भवितुं शक्यम् । यदि मनसि मिथ्यात्वं बद्धमूलमस्ति तदा तीर्थाटनेन देवदर्शनेन पूजयापि वा सम्यक्त्वप्ररोहाङ्कुरा न प्रादुर्भविष्यन्ति । आत्मनः शुद्धिः सत्यवारिणैव विधीयते तडागकूपतीर्थतोयैः स न शुद्धचति । महाभारतेऽपि भीष्मपितामहो युधिष्ठिरमाह— **'न वारिणा शुद्धचति चान्तरात्मा'** । आत्मनः पावित्र्यं सत्येनैव सम्भवति । यः सत्येऽनुरज्यति तस्मिन् देवा अपि स्निह्यन्ति । असत्येन संविद्धा जना गङ्गामपि कलुषयन्ति परन्तु सत्यप्रियं जनं जाह्नव्यपि प्रतीक्षते । ब्रूते च कदाऽयमागत्य माम् पावयिष्यति ? सत्यस्य महिमानं नेयत्तया परिच्छेद्य व्याहर्तुमीशते कवयोऽपि । संयमस्तु क्षुरस्य धारा । इन्द्रियग्रामान् निरुद्धय तत्तत् समुत्थितान् कषायादींश्च निपात्य कर्मनिर्जरापथे प्रवृत्तिमीहमानस्य परमसुहृदेष संयमः । यथा कच्छपः सर्वावयवसङ्कोचनेन तिष्ठति तथैव तपस्त्यागवर्त्मचारीन्द्रियविलासं समुन्मूलयन्नात्मसम्बोधिं च गृह्णन् स्वात्मन्येव निलीनस्तिष्ठति यस्तु संयमधनमगृहीत्वा धर्मोपासनमिच्छति स भग्नभाण्डे पयो निधातुं वाञ्छति । यथा सच्छिद्रे कुम्भे पूरितं जलं छिद्रमार्गान्निर्गत्य बहिर्याति कुम्भं च रिक्तीकुरुते तथैव संयमवरिवस्यां विना वृषस्य सेवनं संवर्धनं वा खपुष्पकल्पमेव, वन्ध्यास्तन्यमिवातर्कणीयं च । संयमद्वारा रिक्तताया अभाव आसाद्यते । पूर्णता च प्राप्यते पूर्णं हि मनस्तृप्तं भवति । अपूर्णं तु रागादिभिर्भृशं बाध्यते । पूर्णतृप्त एव मननचिन्तनस्वाध्यायेषु निराकुलं निषीदति, निमज्जति तन्मनाश्च सञ्जायते । लौकिकविषयग्रहणार्थमहमहमिकया धावतामिन्द्रियाणां विनेयत्वं संयमः । यः पुमान् स्वकीयमुत्कर्षं कामयत इन्द्रियसार्थपरितृप्तिं चापि समीहते स हयद्वयीसमारूढो निपात्य विनाश्यते । इति मनसा वशीकृतैरिन्द्रियैः, स्वस्थेन कायेन च संयमस्य क्षुरधाराशितः पन्था आश्रयणीयः । तप इत्येतत् सप्तममुपलक्षणं धर्मस्याकस्मिन्नपि मार्गे सिद्धिः प्रयत्नापेक्षिणी भवति । प्रयत्नं विना लोचनयोरग्रेऽपि न्यस्तं स्वादु पक्वान्नपात्रं जठरसात्कर्तुं नैव पार्यते । आत्ममार्गे वैधक्लेशानां सोढव्यता तप उच्यते । यथा सूर्यस्य तिग्मकिरणः कृषिं (सस्यं) पचति, विना सूर्यतापं यथा बीजङ्कुराणां परिपाको नैव जायते तथा तपो विना नोत्कर्षमधिकर्तुं पार्यते । सूर्योऽपि तपन्नेव प्राच्यक्षितिजादुत्थाय मध्येनभस्तिष्ठति, सर्वमपि च गगनं स्वपादैरतिक्रामति । वर्षासु यज्जलं समुद्राणां सूर्यतप्तं भवति तदेव व्योमारोहति शेषं तु तत्रैव जडीभूतं तिष्ठति । अस्माकं राष्ट्रे येषां गीयमानं यशोऽद्यापि श्रुतिशष्कुलीं स्पृशति, येषां चरित्राणां पुण्यकथा वा क्रियासमभिहारेण पठ्यते लोकैस्ते नूनं क्षपितकल्मषास्तपोधना अभूवन् येऽद्यापि स्वकथाभिरस्माकमुज्जीवनं कुर्वन्तः सन्मार्गदर्शने सुनासीरगामिनः सन्ति । अतप्त्वा तपोऽकृत्वा दुश्चरव्रतमविनाम्य दुर्दुरूहदुःशीलशैलान् को नु प्रतापवान् भवितुमर्हति ? यदि दिवाकरः करणैरन्धकारोन्मूलनं न कुर्यात्तदा कीदृशं तस्य तपस्तेजश्च ? तथैव कठोरं तपः शिलासूपविश्य यदि महाशीलधना मुनय आत्मसाक्षात्कारमकृत्वा परितृप्तिमासादयेयुस्तदा तेषां नामापि के गृह्णीयुरादरात् । 'त्यागाच्छान्तिः' इति भारतीयदर्शनस्य संक्षेपः । अस्मिन् संसारे यावन्ति वस्तूनि विद्यन्ते तानि मोहकराणि सन्ति । मनुष्यः कुरंग इव रागाधीनोऽमीभिर्बध्यते । इदं मम, इदं मम, इदं ममेति च

ब्रुवाणो मृत्युपर्यन्तमपि न तृप्यति । एष द्वचक्षरो ममकार एव बन्धनं शरीरिणाम् । संसृतिनाटचभवने लीलाविलास-माचरन्तो मनुष्या नित्यं नवाः कथा सृजन्ति म्रियन्ते च । तेषां पुष्कलपरिग्रहस्य कथा विततास्सन्ति पुराणेषु, कथानु-नाटकेषु, लोकप्रवादेषु च । कश्चित् सार्वभौमसत्तावान् कश्चित् शतसहस्त्रभवनपतिः, कश्चन सम्पदा कुबेरमपि तिर-स्करोति, कस्यचित् षष्टिसहस्राणि अपत्यानि, कश्चित् प्रत्यह लक्षाधिकाः स्वर्णमुद्रा गृह्णाति, वितरति, ददाति चेति विविधकोटिकपरिग्रहसम्भारविविधभारायमाणजीवनं वहन्तो लोका अत्र दृग्गोचरतामुपयान्ति । सर्वेऽपीमे संसार-कर्दमे न्यूनमधिक वा मग्ना विद्यन्ते । पङ्कपरिमार्जने उत पङ्कदवभ्रनिमज्जन एवैतेषां जीवनं समाप्यते । इमे वंचिता इव वराका न कामपि पारलौकिकीं निवृत्ति प्राप्तुं प्रभवन्ति । ममकारपरायणा एवैकस्मिन् दिने महाप्रयाणमधियान्ति । परन्तु शतसहस्रीष्वमीषु कश्चनान्तर्लक्ष्यः सन् स्वात्मराज्यं विगाहते फल्गु पुद्गलघटित-नश्वरलोके लोभनीयवस्तु-समूहेषु च वितृष्णामनुभवन् परपर्यायरतिं विहायात्मनि तिष्ठति । तादृशः पुरुष एव त्यागपथे प्रवर्तते । जहाति च सर्वथा पुत्रमित्रकलत्रभृत्यगृहक्षेत्रभवनविशिष्टाः सम्पत्तीरादत्ते चात्मनो राज्यम् । एवं च ममकार-पराङ्मुखः परां शान्तिमाप्नोति । दृश्यते हि परिग्रहवन्तो लोके विषण्णा अतृप्ताश्च । अतएव केनापि सूक्तिकारेणोक्तं 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' परन्तु यैर्दिगम्बरमुनिभिः कौपीनमपि तत् परित्यक्तं ते कियदपरिसीमसौभाग्यजुषो विद्यन्त इति व्याहरणे तु वाचोऽपि वाचंयमत्वमेव पौरुषम् । विश्वस्मिन् संसारे सन्ति संख्यातिगानि विस्मयौत्सुक्याकाङ्क्षा-कर्षणगृहाणि मनोरमाणि भौतिकच्छन्दांसि येषां मात्रासु यतिषु गतिषु लये च लीनो मर्त्यो मीन इव जलं न जहाति क्षणमपि । एतादृशपदार्थसमवायान् विगणय्य ये कौपीनमपि क्षुल्लकवयःप्रतीकं मन्वानाः परिजहति तेषां छायास्पर्शमपि कथ नु कर्तुं शक्नुयात् क्लेशपरम्परा । महाव्रतधूर्वहा मुनयः स्वेच्छया प्राप्तपरिग्रहं परित्यज्य मोक्षमार्गाध्वनीना भवन्ति । अपरे लोकवृत्त्यनुजीविनो गृहिणोऽपि परिग्रहपरिमाणव्रतमूरीकृत्य त्यागपथे प्रवर्तन्ते । त्यागादनन्तरमाकिंचन्यमाप्यते । अहं प्रभुरहम्भर्ता कर्तेति वा किञ्चित्करस्य भावना । यावत् पुमान् कर्तारमात्मानं मनुते तावत् कर्मसु सरागः सन् किंचित्करत्वाभिमानं हातुं न प्रभवति । एषापि महती विनष्टिः । वृथाभिमानकषायस्य निदानम् । परमधार्मिकस्तु मानवर्द्धिनीमिमां दुष्प्रवृत्तिमपोह्याकिंचित्करत्वमालम्बते । अकिंचनश्च भवति । अकिंचनत्वाद् विश्वेष्वपि पदार्थेष्व-नासक्तिः प्राप्यते । अहमस्मि किंचनेत्यभिमानमेव परपदार्थैः सह रतिभावं गमयति । यथा हि कश्चन रूपभूयिष्ठः पुमान् दर्पणे स्वाकृतिसौन्दर्यं च विभाव्य स्वात्मनि परेषामाकर्षणमनुभवति, अनुमिनोति वा परन्त्वेको जात्यन्धो न तथा-ऽऽत्मानं मनुते तथैव किंचित्करत्वस्य लेशोऽपि रागपरिणतिमुत्पाद्य सन्मार्गाच्च्यावयति । अत एवोत्तमजीवनस्पृहयाल-वोऽकिंचनत्ववृत्तिमाश्रयन्ते । ब्रह्मचर्ये तु सर्वं परिसमाप्यते । यदिदं क्षमात आरभ्याकिंचन्यपर्यवसितं धर्मलक्षणं विद्यते सर्वमपीदं ब्रह्मचर्यमुद्रया अंकितमस्ति । यः स्वाध्यायेन तपसा शौचसंयमाभ्यामात्मचिन्तापरायणः स्वप्रदेशस्योच्चतमासु भूमिषु निविशते स्वकीयं शुक्रं स्वशरीर एव पचति नेन्द्रियविहाराय च स्तोकमपि दत्ते परमकृपण इवाकुप्यं वसु संचि-नोति न परं व्ययीकरोति तादृशोऽदृष्टवीर्यः पुमान् ब्रह्मचर्यस्य परिमितिविकलमानन्दं विन्दति । ब्रह्मचर्यपरिपालने-नैव मेधावी, बलवान्, सत्त्वसंपन्नश्च जायते । एतेनैव च सामान्य-मानुषकोटिमतिशाय्य वैशिष्टयमालम्बते । येन स्त्री-स्मरणमपि विस्मृतं तदीयकथास्वादोऽपि निम्बकटुकतां नीतः, प्रेक्षणमपि तासां नेत्रयोः पंकसम्पर्क इति ख्यातः ताभिरे-कान्तभाषणं महेन्द्रपदविपरणम् मतं तेन जगत्त्रयं जितम् । नीतिकृतोऽर्घ्याञ्जलिमुपायनीकुर्वन्तो ब्रुवते सन्ति संसारे मत्तकरीन्द्रवशीकारनिपुणाः, सिंहैः सह क्ष्वेलाकारिणः परंस्त्रीजयिनः कामकण्टकविमर्दनास्तु विरला एव । यैः कन्द-र्पस्य दर्पो दलितस्ते महामुनयः सदैव त्रिसन्ध्यं नमस्याः । ब्रह्मचर्यनिषेवणात् प्राणिनां वपुषि पुष्पसौकुमार्यं वज्रकाठि-न्यं च युगपदुन्मिषति । मेधा वर्धते । शतसहस्रावधाननिपुणता चावाप्यते । अधीतं शास्त्रं ब्रह्मणा स्थैर्यमश्नुते साम्प्र-तिकलोकेषु मतिस्मृतिभ्रंशस्य यादृशी विपुलता विलोक्यते तस्याः कारणमब्रह्मचर्यमेव । लोकाः स्वकीयेषु वस्त्रेषु,

वेशे, चाकचक्यतानिर्माणे, उपानच्चमत्करणे, मुखचूर्णलेपने, कुन्तलसज्जायां काकपक्षविन्यसने च महत्कौशलश्रमं समयक्षेपं च कुर्वन्ति परं प्राणानामाधारभूतं ब्रह्मचर्यं न रक्षन्ति बहुशश्च तद् विग्लापनं कुर्वन्ति । इदमेव कारणं यत्ते शीघ्रमेव परेतरतिपुरीपान्थाः सन्तोऽवलोक्यन्ते । वीर्यरक्षां विना प्राणरक्षापि न भवित्रीति मन्त्र एष हृदयप्रदेशे वज्राक्षरैरुत्कीर्य रक्षणीयः । ये हि परमात्मवर्त्मनि लग्नास्ते विना ब्रह्मचर्यं मध्येपथं भ्रान्ता इव तिष्ठेयुर्न पुनः प्राप्तुं प्रभवेयुरभिलषितगन्तव्यप्रदेशसीमानमिति निश्चप्रचम् । यथा तक्रमथनेन नवनीतं तस्मात् पृथग्भवति तथैवासंयमजनितचेष्टाभिर्वीर्यं सर्वमपि शरीरं त्यक्त्वा बहिर्निर्याति ततश्च यथा नवनीतविकलं तक्रं चिक्कणगुणेन रहितं लघु च जायते तथैव मानवोऽपि सारहीनः सम्पद्यते । इन्द्रियसंयमपराङ्मुखानां शरीराद् बहिर्निर्गच्छद् वीर्यं तेषां प्राणान् बलं मेधां शक्तिमायुश्च सहैवादाय प्रयाति । यथा निष्पीडितमिक्षुदण्डं यथा वा यन्त्रघटितास्तिला मधुररसेन, स्नेहेन च शून्या भवन्ति तथैव वीर्यविकलं वपुर्मृतमिव संचरति । परमपुरुषार्थपथे महन् मूल्यं वीर्यरक्षायाः । ब्रह्मव्रतं विना न ब्रह्मताऽवाप्यत इति दृढं मतम् ।

ये योगिनो मुनयो महर्षयश्चाभूवन् पुरा काले सन्ति चाद्यत्वे ते यदि चतुर्विंशतिहोरात्मकेऽहोरात्रसमय एकवारमेवान्नं जलं च गृहीत्वा तत्रापि च व्रतान्तरायोपवासप्रभृति पालयित्वा कृशा अतिनीरुजः स्वस्था (आत्मस्थाः) विलोक्यन्ते तत्र ब्रह्मरक्षणमेव बीजम् । इत्थम् प्राचीनैर्धर्मस्य दश लक्षणान्युक्तानि चातीव हृद्यान्युपयोगभाञ्जि च । अमीषु प्रत्येकं लक्षणं जीवनायोत्कर्षमर्पयति, वैशिष्ट्यं वितरति, पापं पराकरोति, धर्मं निदधाति, पुण्यं पुष्णाति, सुकृतं स्फायीकरोति । किंबहुनोदीरितेन ? धर्मपरिपालनेन व्यक्तेः समाजसंस्थायाश्च लोकेऽस्मिन्नेव निश्रेयसं भवति । कल्याणानां परम्परा प्रादुर्भवति । 'धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना' इति प्रायोवादः । अस्यायमाशयो यत् पशवोऽपि खादन्ति, शेरते, विहरन्ति, म्रियन्ते च । मनुष्या अपि तथैवाचरन्ति । यदि मानवजीवने पशुजीवनातिशायि वैशिष्ट्यं किमपि न भवेत्तदा पशौ पुंसि च को भेदः ? मानवो यदि पशुत्वं गच्छति सेयमधमा गतिस्तस्य । स एव च धर्मविशिष्टश्चेत् नरोऽपि नारायणपदवीं स्पृशति सेयमुत्तमा स्पृहणीया च परिणतिः । तस्मात् सर्वभावेन धर्मो धारणीयः । धर्ममुपेक्ष्य वर्तमानानां लोकद्वयी विनश्यति । इत्येष आर्याणां मुनीनां पन्थाः ।

जैन आचार्यों द्वारा संस्कृत में स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन

—मुनि सुशीलकुमार

जैन आचार्यों में संस्कृत में स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना का श्रेय आचार्य उमास्वाती को है। ये सम्भवतः (१-२ शती) पहले विद्वान् हैं जिन्होंने विविध आगम ग्रन्थों में बिखरे हुए जैन तत्त्वज्ञान को योग, वैशेषिक आदि दर्शन ग्रन्थों के समान सूत्रबद्ध किया और उसे तत्त्वार्थाधिगम या अर्हत्प्रवचन के रूप में सामने रखा। इन्होंने सर्वप्रथम यह अनुभव किया कि विद्वत्समाज की भाषा संस्कृत बन रही है, इसलिए जैन-दर्शन संस्कृत में लिखे जाने पर ही विद्वानों का ग्राह्य विषय बन सकेगा। चूंकि ये ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे, इसलिए संस्कृत का अभ्यास होने के कारण इस भाषा में ग्रन्थनिर्माण करना उनके लिए सहज था। वाचक उमास्वाती आगमिक विद्वान् थे, अतः उनकी सभी रचनाएँ आगमपरिपाटी को लिए हुए हैं। उमास्वाती का तत्त्वार्थसूत्र जहाँ जैन तत्त्वज्ञान का आदिम संस्कृत ग्रन्थ है, वहां जैनधर्म व आचार का निपुण करनेवाला उनका 'प्रशमरतिप्रकरण' ग्रन्थ भी अपनी श्रेणी का विशिष्ट ग्रन्थ है।

संस्कृत काव्य-निर्माण की दृष्टि से पहले जैन कवि आचार्य **समन्तभद्र** (वि० २-३री शती) हैं जिन्होंने 'स्वयम्भूस्तोत्र' जैसे स्तुति काव्य का सृजन कर जैनों के मध्य संस्कृत काव्य-परम्परा का श्रीगणेश किया। "यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि संस्कृत भाषा में काव्य का प्रादुर्भाव स्तुति या भक्तिसाहित्य से हुआ है। यों जैन संस्कृत काव्यों की मूल आधार-शिला द्वादशांग वाणी है 'जैनन्याय' का वास्तविक प्रारम्भ भी आ० समन्तभद्र के ग्रन्थों (**आप्तमीमांसा** आदि) से होता है। आचार्य समन्तभद्र ने इष्टदेव की स्तुति के व्याज से एक ओर हेतुवाद के आधार पर सर्वज्ञ की सिद्धि की, दूसरी ओर विविध एकान्तवादों की समीक्षा करके अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की। उन्होंने जैनपरम्परा में सर्वप्रथम न्यायशब्द का प्रयोग करके एक ओर न्याय शब्द दिया तो दूसरी ओर न्यायशास्त्र में स्याद्वाद को गुम्फित किया।

निम्नलिखित विषयों में निम्नलिखित जैन विद्वानों ने सर्वप्रथम संस्कृत रचना प्रस्तुत की:—

	विषय	सर्वप्रथम रचना	समय	रचयिता
१.	जैनदर्शन	तत्त्वार्थसूत्र	(वि० १-२ शती)	आचार्य उमास्वाती
२.	जैनन्याय	आप्तमीमांसा	(वि० २-३ शती)	आ० समन्तभद्र
		स्वयम्भूस्तोत्र आदि...	"	"
३.	काव्य—			
	(क) भक्तिकाव्य	स्वयम्भूस्तोत्र	"	"
	(ख) पौराणिक	पद्मचरित	(ई० ६७६)	रविषेण
	(ग) चरितकाव्य	वरांगचरित	(८वीं शती)	जटासिंह नन्दी
	(घ) सन्देश काव्य	नेमिदूत	(ई० १३वीं शतीका अन्तिम चरण)	विक्रम

(ङ) सन्धान काव्य	द्विसन्धान	८वीं शती	धनंजय
(च) सूक्तिकाव्य	आत्मानुशासन	९वीं शती	गुणभद्र
(छ) खण्डकाव्य	पार्श्वाभ्युदय	८वीं शती	जिनसेन
४. कथा-साहित्य	उपमितिभवप्रपंचकथा	ई० ९०५	सिद्धर्षि
५. व्याकरण	जैनेन्द्रव्याकरण	ई० ४१३-४५५	पूज्यपाद देवनन्दी
६. कोश	नाममाला, अनेकार्थनाममाला	ई० ७८०-८१६	धनंजय
७. अलंकार (छन्द)	छन्दोनुशासन	१२वीं शती	वाग्भट
८. नाटक	ज्ञानसूर्योदय	सं० १६४८	वादिचन्द्र सूरी
९. गणित व ज्योतिष	गणितसारसंग्रह, ज्योतिषपटल	८५० ई०	महावीराचार्य

जैन आचार्यों के समाज में संस्कृत को समादृत स्थान

उपर्युक्त आचार्यों ने संस्कृत में ग्रन्थ प्रणयन कर स्थायी परम्परा का सूत्रपात किया। परवर्ती आचार्यों ने विपुल साहित्य रचकर जैन संस्कृत सहित्य के भण्डार को पूर्ण किया। जब बौद्धदर्शन में नागार्जुन, वसुबन्धु, असंगत तथा बौद्धन्याय के पिता दिङ्नाग का उदय हुआ और दार्शनिक जगत् में इन बौद्ध दार्शनिकों के प्रबल तर्कप्रहारों से खलबली मच रही थी, तो जैन दार्शनिकों के सामने प्रतिवादियों के आक्षेपों का खण्डन कर स्वदर्शन की प्रभावना करने का महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा। इस स्थिति में भाषा की संकीर्णता को स्थान देना अनुचित था। अन्य दार्शनिकों का खण्डन उन्हीं की भाषा में करना उचित समझा गया और इस प्रकार संस्कृत को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करने में आगे का मार्ग प्रशस्त होता गया।

गुप्तकाल तक संस्कृत को पूरे भारत में सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ। जैन साधु-साध्वीसमाज संस्कृत भाषा में भी परिनिष्ठित होने लगा। कहते हैं, सिद्धसेन दिवाकर की मृत्यु के बाद, विशाला (उज्जयिनी) में एक वैतालिक (चारण-भाट) ने सिद्धसेन की बहिन, जो जैन साध्वी थी, के समक्ष अनुष्टुप् छन्द के दो चरण कहे:—

स्फुरन्ति वादिखद्योताः साम्प्रतं दक्षिणापथे।

उक्त जैनसाध्वी ने तुरन्त आगे के दो चरण कहकर उक्त छन्द को पूरा किया:—

नूनमस्तंगतो वादी सिद्धसेनो दिवाकरः[1] ॥

जैन आगम की टीकाओं में भी इसके उदाहरण मिलते हैं जिनसे संस्कृत के व्यवहार-भाषा होने का प्रमाण पुष्ट होता है।[1]

---

१. वैतालिक का कहना था कि आजकल दक्षिणापथ में वादी रूप जुगनूं इधर-उधर मंडरा रहे हैं। जैन साध्वी ने कहा कि इससे यह निश्चित होता है कि सिद्धसेन दिवाकर इस संसार में नहीं रहे (अन्यथा किसी वादी को स्वपाण्डित्य प्रदर्शित करने का साहस नहीं होता)।

१. हरिभद्रसूरि की आवश्यक टीका में एक कथा है, जिसके अनुसार एक इभ्यपुत्र दासियों के जरिये रानी के पास (एक पुड़िया में सामान रखने के बहाने) एक संस्कृत पद्य लिखकर भेजता है:—
काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य मेघान्धकारासु च शर्वरीषु।
मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु ॥

सिद्धर्षि (प्रथम संस्कृत कथाकार) के समय (ई० ९०५) तक संस्कृत ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त कर ली कि प्राकृत भाषा को भूल कर लोग संस्कृत रचनाओं में अपेक्षाकृत अधिक आनन्द अनुभव करते थे। कथा-कहानियाँ जो अबतक प्राकृत जनभाषाओं में रची जा रही थीं, संस्कृत में भी स्थान प्राप्त कर सकीं। सिद्धर्षि स्पष्ट लिखता है:—

संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः।
तत्रापि संस्कृता तावद् दुर्विदग्धहृदि स्थिता॥
बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला।
तथापि प्राकृता भाषा न तेषामभिभाषते॥
उपाये सति कर्तव्यं सर्वेषां चित्तरंजनम्।
अतस्तदनुरोधेन संस्कृतेऽयं करिष्यते॥

(—उपमितिभवप्रपंचकथा १।५१-५२)

किन्तु निम्नकोटि के लोग तथा स्त्रियां उस समय संस्कृतभाषा न बोल कर प्राकृतभाषा का ही व्यवहार करते थे जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने स्वयं 'काव्यानुशासनकारिका' की टीका में कहा है:—

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥

संस्कृत रचना की होड़ ने १३वीं शती तक कठिन से कठिन बन्धनों को भी तोड़ डाला। जैन मुनियों के लिए नाटक आदि विनोदों में भाग लेना वर्जित समझा गया है। नाटक आदि की रचना का तो प्रश्न कैसे उठ सकता था? किन्तु एक समय आया कि जैन आचार्यों ने संस्कृत में नाटक लिखने प्रारम्भ कर दिये।

संस्कृत के प्रति प्रेम की भावना ने संस्कृत रचना की परम्परा को निरन्तर कायम रखा। कहा जाता है कि एक बार सम्राट् अकबर की विद्वत्सभा में जैनों के 'समस्तसुत्तस्स अणन्तो अत्थो' (=समस्त आगमसूत्रों के अनन्त अर्थ हैं) वाक्य का किसी ने उपहास किया। यह बात महामहोपाध्याय समयसुन्दर जी को बुरी लगी और उन्होंने राजा को 'राजानो ददते सौख्यम्' इस ८ अक्षरी वाक्य के १० लाख २२ हजार चार सौ सात अर्थ कर दिखाये। समयसुन्दर की यह कृति **'अष्टलक्षी'** नाम से संस्कृत साहित्य की शोभावृद्धि कर रही है और अभी वह प्रकाशित है।

संस्कृत प्राकृत की स्वामिनी बनी !!

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो छान्दस भाषा और उसकी बोली (यदि कोई थी) के विकसित रूप का

इभ्यपुत्र का सन्देश था—'कामेमि ते' (अर्थात् मैं तुझे चाहता हूँ)।
रानी ने भी उत्तर में एक पद्य लिखा, जो निम्न प्रकार है:—
नेह लोके सुखं किंचिच्छादितस्यांहसा भृशम्।
मितं च जीवितं नृणां तेन धर्मे मतिं कुरु॥
रानी के सन्देश का रूप था—"नेच्छामि ते" (अर्थात् मैं तुझे नहीं चाहती)।

ही परिणाम 'प्राकृत' है। किन्तु संस्कृत के देशव्यापी प्रभाव के चकाचौंध में प्राकृत व्याकरण के रचयिताओं और तत्कालीन विद्वानों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि **'प्राकृत की जननी संस्कृत है'।**

प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते।

—मार्कण्डेय

प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतम् योनिः।

—वासुदेव (कपूरमंजरी टीका)

प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्।

—प्राकृतचन्द्रिका

प्रकृतेरागतं प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम्।

—धनिक (दशरूपकवृत्ति)

प्राकृतशब्दानुशासन के रचयिता महावैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'अथ प्राकृतम्' (८।१।१) सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—"प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्"

दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' में इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं—

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।
तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतः क्रमः।। (१।३६)

वाग्भट ने वाग्भटालंकार (२।२) में लिखा है—

संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता।
प्राकृतं तज्जतत्तुल्यदेश्यादिकमनेकधा।।

इसी तरह, षड्भाषाचन्द्रिका में भी विचार प्रकट किया गया है:—

प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृता मता।
तद्भवा संस्कृतभवा सिद्धा साध्येति सा द्विधा।

जब **चण्ड** अपना **प्राकृतसर्वस्व** और **हेमचन्द्र** अपना **प्राकृतशब्दानुशासन** लिख रहे थे, संस्कृत उस समय एक समृद्ध भाषा थी। पठन-पाठन की भाषा भी यही थी। पठन-पाठन की भाषा के अतिरिक्त शिष्टसमाज के व्यवहार की भाषा के रूप में संस्कृत देश में छा गई थी। प्राकृत वैयाकरण संस्कृत के गहन अध्ययन के पश्चात् ही देशी भाषाओं की ओर उन्मुख हुए होंगे और संस्कृत के सिद्ध शब्दों के साथ ही देशी भाषा में प्राप्त शब्दों की संगति बैठाने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते होंगे। प्राकृत व्याकरण की शैली भी संस्कृत व्याकरणों के अनुरूप है। संस्कृत व्याकरण की तरह से लोप, आगम, आदेश आदि का विधान प्राकृत व्याकरण में किया गया है। यही कारण है कि प्राकृत व्याकरण के निर्माताओं में संस्कृत को मूलभाषा मान कर प्राकृत को उससे पैदा होनेवाली कह देने की प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ।

जैन आचार्यों की उल्लेखनीय संस्कृत रचनाएँ

संस्कृत रचनाओं की सुदीर्घ परम्परा

जैन दर्शन, जैन न्याय व सामान्य दर्शन विषय में **आचार्य उमास्वाति** (वि० २री शती) कृत तत्त्वार्थसूत्र, **आचार्य समन्तभद्र** (वि० २-३ री शती) कृत आत्ममीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र; **मल्लवादी** (ई० ३५०-

४३०) कृत (द्वादशार) नयचक्र; **पूज्यपाद देवनन्दी** (वि० ५-६ शती) कृत सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र पर टीका), **सिद्धसेन**[1] (वि० ६-६ शती) कृत सन्मतितर्क, न्यायावतार और कुछ बत्तीसियाँ, आचार्य **हरिभद्रसूरि** (७०५-७७५ ई०) कृत षड्दर्शनसमुच्चय तथा शास्त्रवार्तासमुच्चय तथा सिद्धसेन कृत न्यायावतार पर वृत्ति; **अकलंक** (७२०-७८० ई०) द्वारा रचित न्यायविनिश्चय लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, (तत्त्वार्थसूत्र पर) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, (समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर) अष्टशती; **आचार्य विद्यानन्द** (ई० ७७५-८४०) कृत प्रमाणपरीक्षा, सत्यशासन-परीक्षा, आप्तपरीक्षा (सर्वार्थसिद्धि के प्रथम श्लोक के भाष्य के रूप में), (तत्त्वार्थ सूत्र पर) तत्वार्थश्लोकवार्तिक समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन पर टीका, आप्तपरीक्षा पर स्वोपज्ञटीका, **सिद्धसेन गणि** (८वीं शती) कृत तत्वार्थसूत्र पर टीका, **सिद्धर्षि गणि** (ई० ९०५ लगभग) कृत (सिद्धसेन के न्यायावतार पर) टीका, **माणिक्यनन्दी** १०-११ शती ई०) कृत परीक्षामुख, **प्रभाचन्द्र** (६८०-१०६५ ई०) कृत (माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख पर) प्रमेयकमलमार्तण्ड, (अलंकक के लघीयस्त्रय पर) न्यायकुमुदचन्द्र; **अनन्तवीर्य**[2] =(वि० ११वीं शती) कृत (माणिक्यनन्दि के परीक्षा-मुख पर) प्रमेयरत्नमाला, (अकलंक के सिद्धिविनिश्चय पर) विशाल टीका, अकलंक के ही प्रमाणसंग्रह पर भाष्य, **शान्तिसूरि** (११वीं शती) कृत (सिद्धसेन के न्यायावतार की प्रथम कारिका पर) सटीक पद्यबन्ध वार्तिक; **जिनेश्वर सूरि** (१०५२ ई० लगभग) कृत (सिद्धसेन के न्यायावतार की पहली कारिका पर) पद्यबन्ध प्रमालक्षण, प्रद्युम्नसूरि के शिष्य **अभयदेवसूरि** (१०६३ ई० लगभग) कृत (सम्मतितर्क पर) वृहत्काय टीका; मुनि चन्द्रसूरि के शिष्य **वादिदेवसूरि** (१२वीं शती) कृत प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और इसी ग्रन्थ पर स्याद्वादरत्नाकर नामक विस्तृत व्याख्या; **आचार्य हेमचन्द्र** (ई० १०८९-११७२) कृत प्रमाणमीमांसा, अन्ययोगव्यवच्छेदिका, वीरचन्द्रसूरि के शिष्य **देवभद्रसूरि** (११४० ई० लगभग) कृत (सिद्धसेन के न्यायावतार पर) टिप्पण **वादिराजसूरि** (वि० १२वीं शती का उत्तरार्ध) कृत प्रमाणनिर्णय, (अकलंक के न्यायविनिश्चय पर) विवरण, **रत्नप्रभसूरि** (११८१ ई० लगभग) कृत स्याद्वादरत्नाकरावतारिका; वायडगच्छीय जीवदेवसूरि के शिष्य **जिनदत्तसूरि** (वि० १२६५) कृत विवेकविलास; **आचार्य मल्लिषेण** (१२८२ ई० लगभग) कृत (हेमचन्द्र की अन्ययोगव्यवच्छेदिका पर) स्याद्वादमञ्जरी; **मेरुतुंग** १३६२ ई० लगभग) कृत षड्दर्शननिर्णय (अप्रकाशित); **जयसिंह सूरि** (१५वीं शती, कृत न्यायसारदीपिका, **आचार्य गुणरत्न** (ई० १३४३-१४१८) कृत (षड्दर्शनसमुच्चय पर) टीका; **सोमतिलकसूरि** (वि० १३५५-१४२४) कृत (षड्दर्शन समुच्चय पर) विवृति; **शुभविजय** (१७वीं शती) कृत स्याद्वादमाला; **विनयविजय** (१६५२ ई०) कृत नयकर्णिका; **यशोविजय** (१८वीं शती) कृत जैनतर्कभाषा, अनेकान्तव्यवस्था, नयप्रदीप, ज्ञानबिन्दु, न्यायखण्डखाद्य, न्यायालोक आदि मौलिक व व्याख्यात्मक ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

जैनधर्म आचार व नैतिक उपदेश पूर्ण साहित्य की परम्परा में आचार्य **उमास्वाती** का प्रशमरतिप्रकरण संस्कृत का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें जैन तत्त्वज्ञान, कर्मसिद्धान्त और साधुओं व गृहस्थों के आचार का सरल व सुन्दर शैली में वर्णन है। हरिभद्रसूरि ने इस पर टीका लिखी है, **अमृतचन्द्रसूरि** (ई० ९९८ के आसपास) कृत पुरुषार्थ-

---

१. पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार के मत में वि. ६ठी शती तथा वि. ९वीं शती के मध्य ३ सिद्धसेन हुए हैं। प्रथम सिद्धसेन (वि. ६-७ शती) ने सम्मतितर्क, दूसरे (वि. ७-८ शती) ने न्यायावतार और अन्तिम सिद्धसेन ने कुछ बत्तीसियाँ लिखीं। पं. सुखलालजी के मत में सिद्धसेन दिवाकर का समय वि. ५वीं शती है, बाद में उनका मत ६ या ७वीं के सम्बन्ध में दृढ़ हुआ है।

२. प्रो. उदयचन्द्र जैन के मत में २ अनन्तवीर्य हुए। प्रथम ने सिद्धिविनिश्चय लिखा, दूसरे (लघु अनन्तवीर्य) ने प्रमेयरत्नमाला की रचना की।

सिद्धयुपाय, **वीरनन्दी** (ई० ११११५ के लगभग) कृत आचारसार, **सोमप्रभसूरि** (१२-१३ शती) कृत सिन्दूरप्रकर, शृंगारवैराग्यतरंगिणी का भी विशिष्ट स्थान है।

इसी तरह रत्नकरण्डश्रावकाचार (समन्तभद्र या योगीन्द्र कृत), **अमितगति** (ई० १००० के लगभग) कृत श्रावकाचार, **आशाधर** कृत सागारधर्मामृत एवं अध्यात्मरहस्य (ई० १२३९); **गुण भूषण** (१४-१५ शती) कृत श्रावकाचार, १७वीं शती में अकबर के राज्यकाल में **राजमल्ल** द्वारा रचित लाटीसंहिता का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

हेमचन्द्र (१२वीं शती) कृत योगशास्त्र में भी मुनि व श्रावक के धर्मों का तथा योग-सम्बन्धी विषयों का निरूपण है।

संस्कृत में आचार-सम्बन्धी और प्रसंगवश योग का भी वर्णन करने वाला ग्रन्थ ज्ञानार्णव भी एक विशिष्ट ग्रन्थ है जिसके रचयिता श्री **शुभचन्द्र** (१२वीं शती) है।

ध्यान व योग सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थों की रचना भी जैन आचार्यों ने की। **पूज्यपाद** कृत योगविषयक दो संस्कृत रचनाएँ हैं:—इष्टोपदेश, समाधिशतक। **आ० हरिभद्र** ने योगबिन्दुसमुच्चय में जैनयोग का विस्तार से वर्णन किया है। हरिभद्र ने जैन परम्परा के योगसम्बन्धी विचारों को कुछ नये रूप में प्रस्तुत तो किया ही है, साथ ही वैदिक व बौद्धपरम्परासम्मत योगधाराओं से उसका मेल बैठाया है। योगदृष्टिसमुच्चय पर स्वयं **हरिभद्र** कृत तथा **यशोविजयगणि** कृत टीका प्राप्त है। यशोविजय जी ने योगसम्बन्धी चार द्वात्रिंशिकाएं भी लिखी हैं। **गुणभद्र** कृत आत्मानुशासन (९वीं शती), **अमितगति** कृत सुभाषितरत्नसंदोह (१०-११वीं शती) तथा इन्हीं की दूसरी रचना योगसार है जिनमें नैतिक व आध्यात्मिक उपदेश भी हैं।

आ० **हेमचन्द्र** (१२वीं शती) कृत योगशास्त्र में भी योगसम्बन्धी निरूपण है।

प्राकृत ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा पर **भट्टारक शुभचन्द्र** ने संस्कृत टीका (ई० १५५६) की रचना की है।

जैन आचार्यों व विद्वानों द्वारा भक्तिकाव्य की परम्परा में अनेक रचनाएँ रची गई, जिनमें आचार्य समन्तभद्र का स्वयम्भूस्तोत्र, आचार्य सिद्धसेन कृत बत्तीसियां, विद्यानन्दी पात्रकेशरी (ई० ५-६) कृत बृहत्पंचनमस्कार स्तोत्र, मानतुंगाचार्य (वि० ७वी) कृत भक्तामरस्तोत्र, भट्ट अकलंक कृत अकलंकस्तोत्र; बप्पभट्टि (ई० ७४३-८३८) कृत चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र, धनंजय (वि० ८-९वीं शती) कृत विषापहार स्तोत्र; गुणभद्र (९वीं शती) कृत आत्मानुशासन; हेमचन्द्र (१२वीं शती) कृत वीतरागस्तोत्र; शुभचन्द्र प्रथम (१२वीं शती) कृत ज्ञानार्णव; अमितगति (वि० १०५०) कृत सुभाषितरत्नसन्दोह; अर्हद्दास (१३वीं शती) कृत भव्यजनकण्ठाभरण; सोमप्रभ रचित सूक्तिमुक्तावलि; पद्मानन्द कृत वैराग्यशतकम्, विमलकवि रचित प्रश्नोत्तररत्नमाला और दिवाकर मुनि (१५वीं शती) रचित शृङ्गारवैराग्यतरंगिणी विशिष्ट स्थान रखते हैं।

पौराणिक काव्यों में रविषेण (ई० ६७६) कृत पद्मपुराण, **जिनसेन** (ई० ७८३) कृत हरिवंशपुराण, **सकलकीर्ति** (वि० १४५०-१५१०) का हरिवंशपुराण, **शुभचन्द्र** (१५५१ ई०) कृत पाण्डवपुराण, **मलधारी देवप्रभ**-२२०० **सूरि** कृत पाण्डवचरित्र, **जिनसेन** तथा उनके शिष्य **गुणभद्र** (८-९वीं शती) कृत महापुराण (आदि पुराण उत्तर पुराण), **हेमचन्द्र** कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, **पंडित आशाधर** (१३४६-१४१४ ई०) कृत महापुराणचरित विशेष उल्लेखनीय हैं।

चरितकाव्यों की परम्परा में **जटासिंहनन्दी** (७-८ ई०) ने वराङ्गनाचरित, **वीरनन्दी** (ई० १०वीं शती) ने चन्द्रप्रभचरितम्, **असग** (१०वीं शती) ने शान्तिनाथचरित, **वादिराज** (१०वीं शती) ने पार्श्वनाथचरित, **महासेन**

(११वीं शती) ने प्रद्युम्नचरित, **हेमचन्द्र** (१२वीं शती) ने कुमारपालचरित, **गुणभद्र द्वितीय** (१२वीं शती) ने धन्यकुमारचरित, **धर्मकुमार** (१३वीं शती) ने शालिभद्रचरित, **जिनपाल उपाध्याय** ने सन्तकुमारचरित (अप्रकाशित), **मलधारी देवप्रभ** ने पाण्डवचरित व मृगावती चरित, **माणिक्यनन्दी सूरि** ने पार्श्वनाथचरित, **सर्वानन्द प्रथम** ने चन्द्रप्रभचरित व पार्श्वनाथचरित, **विनयचन्द्र** ने मल्लिनाथचरित, पार्श्वनाथचरित व मुनिसुव्रतचरित, **मलधारी हेमचन्द्र** ने नेमिनाथचरित, चन्द्रतिलक (वि० १३१२) ने अभयकुमारचरित, **भावदेव सूरि** ने पार्श्वनाथचरित, जिनप्रभसूरि (वि० १३५६) ने श्रेणिकचरित जैसे उत्तम ग्रन्थों की रचना कर संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि की।

इसके अतिरिक्त, हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, वाग्भट (१२वीं शती) का नेमिनिर्वाण महाकाव्य तथा **अर्हद्दास** (१३वीं शती) के मुनिसुव्रतमहाकाव्य का प्रणयन इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है।

सन्देश काव्यों में **विक्रम** (ई० १३ शती का अंतिम चरण) का नेमिदूत, **मेरुतुंग** (१४-१५ शती ई०) का जैन-मेघदूत, **चरित्रसुन्दर गणि** (१५वीं शती) का शीलदूत, **वादिचन्द्र सूरि** (१७वीं शती) का पवनदूत, **विनयविजय गणि** (१८वीं शती) का इन्द्रदूत, **मेघविजय** (१८वीं शती) का मेघदूतसमस्यालेख, **विमलकीर्ति गणि** का चन्द्रदूत उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इन सन्देश काव्यों में शान्तरस की अमृत धारा प्रवाहित होती है और पाठकों में शाश्वत आनन्द प्रदान करने की क्षमता निहित है।

जैन काव्यजगत् में **अनेकार्थक (सन्धान)** काव्यों का प्रवेश ई० ५-६ठी शती से हुआ। **वसुदेवहिण्डी** की चत्तारि अट्ठ गाथा के १४ अर्थ तक किये गये हैं। ८वीं में महाकवि **धनंजय** का द्विसन्धान महाकाव्य सर्वप्रथम सन्धान महाकाव्य है। ११वीं शती के **शान्तिराज कवि** द्वारा पंचसन्धान महाकाव्य रचा गया, जो अभी अमुद्रित है।

मेघविजय उपाध्याय (१८वीं शती) का सप्तसन्धान महाकाव्य तथा **हरिदत्तसूरि** (१८वीं शती) का राघवनैषधीय भी उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। अनेकार्थक कई स्तोत्र भी रचे गये। **कवि जगन्नाथ** (वि० १६६९) कृत चतुर्विंशतिसन्धान काव्य भी उल्लेखनीय है।

पार्श्वाभ्युदय नामक खण्ड काव्य भी संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। इसकी रचना **जिनसेन** स्वामी ने की थी। इसकी विशेषता यह है कि महाकवि कालिदास के मेघदूत के जितने भी पद्य हैं उन सभी के चरणों को एक-एक करके इस काव्य के प्रत्येक पद्य में समाविष्ट कर लिया गया है। मेघदूत के अन्तिम चरणों को लेकर समस्यापूर्ति किये जाने के तो उदाहरण प्राप्त होते हैं किन्तु सारे मेघदूत को वेष्टित करनेवाला यह एक प्रथम व अद्वितीय काव्य है।

कथासाहित्य के अन्तर्गत **सिद्धर्षि** कृत उपमितिभवप्रपंचकथा, **धनपाल** कृत तिलकमजरी, **हेमचन्द्र** कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, हरिषेण कृत बृहत्कथाकोष को विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

जैन आचार्यों द्वारा लिखे गये संस्कृत **नाटकों** की परम्परा में १३वीं शती के **रामचन्द्रसूरि** कृत निर्भय भीमव्यायोग, नलविलास, कौमुदीमित्रानन्द, **हस्तिमल्ल** कृत विक्रान्तगौरव, सुभद्रा, मैथिलीकल्याण, अंजनापवनजय, रामभद्र कृत प्रबुद्धरौहिणेय, यशःपाल कृत मोहराजपराजय, जयसिंह सूरि कृत हम्मीरमर्दन, यशश्चन्द्र कृत मुद्रितकुमुदचन्द्र, रत्नशेखर सूरि कृत प्रबोधचन्द्रोदय, मेघप्रभाचार्य कृत धर्माभ्युदय, नागदेव, (१६वी शती) कृत मदनपराजय, वादिचन्द्र सूरि (१७वीं शती) कृत ज्ञान सूर्योदय कृतियों का नाम उल्लेखनीय है।

संस्कृत अलंकार व छन्दःशास्त्र सम्बन्धी कृतियों में वाग्भट (१२वीं शती) कृत वाग्भटालंकार, हेमचन्द्र ११वीं) शती) कृत काव्यानुशासन, अरिसिंह (१३वीं शती) कृत काव्यकल्पलता, नरेन्द्रप्रभसूरि (वि० १२८२) कृत

अलंकारमहोदधि, हेमचन्द्र के शिष्यद्वय रामचन्द्र व गुणचन्द्र कृत नाट्यदर्पण, अजितसेन (१४वीं शती) कृत अलंकार-चिन्तामणि, तथा अभिनव वाग्भट (१४वीं शती) कृत काव्यानुशासन का स्थान सर्वोपरि हैं। आ० भावदेवसूरि (वि० १५वीं) का काव्यालंकारसार नामक ग्रन्थ भी अत्यन्त सरल व सरस ग्रन्थ है।

काव्यप्रकाश पर माणिक्यचन्द्र की संकेता नामक टीका, काव्यालंकार पर नेमि साधु कृत टीका तथा काव्या कल्पलता पर श्री अमर मुनि की टीका भी विशिष्ट कृतियों में मानी जाती है।

महाकवि **धनंजय** (ई० ८१३ से पूर्व) कृत नाममाला, अनेकार्थनाममाला व अनेकार्थनिण्टु, **हेमचन्द्र कृत** अभिधानचिन्तामणि व अनेकार्थसंग्रह नामकोश व निघण्टुकोश, **श्रीधरसेन** (१३-१४ ई०) कृत विश्वलोचनकोश (मुक्तावलिकोश), **जिनदत्तसूरि** के शिष्य **अमरचन्द्र** कृत एकाक्षरनाममाला नामक ग्रन्थ कोश-साहित्य की परम्परा में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

व्याकरण साहित्य की रचना करनेवाले जैन आचार्यों व विद्वानों में जैनेन्द्रव्याकरण के रचयिता **आ० देवनन्दी पूज्यपाद** (ई० ४१३-४५५), जैनेन्द्र व्याकरण के परिवर्धित संस्करण के रूप में रचित शब्दार्णव के रचयिता **गुणनन्दी** (१०वीं शती), शब्दार्णवचन्द्रिका के रचयिता **सोमदेव** (शक सं० ११२७) जैनेन्द्रव्याकरण की महावृत्ति के रचयिता **अभयनन्दी** (ई० ७५०), शाकटायनव्याकरण तथा अमोघवृत्ति के रचयिता **आचार्य पल्यकीर्ति** (शक सं० ७३६-७८९), क्रियारत्नसमुच्चय के कर्त्ता **श्रीगुणरत्न** (ई० १३४३-१४१८), हैमशब्दानुशासन के रचयिता **श्री हेमचन्द्र** (१२वीं शती), तथा कातन्त्ररूपमाला के रचयिता **श्री भावसेन त्रैवेद्य** (१४वीं शती) के नाम उल्लेखनीय हैं।

गणित व ज्योतिष शास्त्र पर अनेक जैन आचार्यों व विद्वानों ने अपनी लेखनी उठाई और संस्कृत साहित्य को अनुपम देन दी।

महावीराचार्य (ई० ८५०) कृत गणितसार संग्रह व ज्योतिषपटल, श्रीधर[1] (दसवीं शती का अन्तिम भाग) कृत गणितसार व ज्योतिर्ज्ञानविधि, अज्ञातकर्तृक चन्द्रोन्मीनन, जिनसेनसूरि के पुत्र मल्लिषेण (ई० १०४३) कृत आयसद्भाव, उदयप्रभदेव (ई० १२२०) कृत आरम्भसिद्धि (या व्यवहारचर्या), पद्मप्रभसूरि (वि० १२९४) कृत भुवनदीपक, महेन्द्रसूरि (शक सं० १२९२) कृत यन्त्रराज, हेमप्रभ (१४वीं शती का प्रथम चरण) कृत त्रैलोक्य-प्रकाश नामक ग्रन्थ अनुपम महत्त्व के हैं।

भद्रबाहु के वचनों के आधार पर निर्मित भद्रबाहुसंहिता (६-९ शती के मध्य) भी जैन ज्योतिषसाहित्य की विशिष्ट कृति है।

देश व विदेशों के विभिन्न ग्रंथागारों और विशिष्ट व्यक्तियों के स्वामित्व में विद्यमान समस्त ग्रन्थों और प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियों की गणना की जाय तो जैन आचार्यों व विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत कृतियों की संख्या एक लाख के आसपास पहुँच जाती है। भारत सरकार को चाहिए कि वह ऐसे अप्रकाशित ग्रन्थों के प्रकाशन में सहयोग दे और साथ ही उन समस्त ग्रन्थों की सूचियां (Catalcgue) प्रकाशित करावे ताकि अभी तक प्रकाश में न आई हुई कृतियों का परिचय विश्व के अनुसंधित्सु एवं विद्वानों को प्राप्त हो सके।

---

१. डॉ० दत्त तथा सिंह के मत से श्रीधर का समय ७५० ई० के लगभग है। दीक्षित का कहना है कि श्रीधर महावीराचार्य के पहले हुए हैं महावीराचार्य का समय दीक्षित जी ८५० ई० मानते हैं। कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो महावीराचार्य के बाद श्रीधर का होना मानते हैं। (द्रष्टव्य : भारतीय ज्योतिष का इतिहास—डॉ० गोरखप्रसाद, पृ० १८२-१८३)

भगवतो महावीरस्योपदेशा अस्माकं कर्तव्यं च

—मुनिः श्री नथमलः

भगवतो महावीरस्य ध्यानमुद्रा येन विलोक्यते तस्य मनसि सहजमेष प्रश्न उद्भवति—भगवतश्चक्षुषी नोद्घाटिते न च निमीलिते। किमत्र कारणम् ? ध्यानमासीनानां चक्षुषी निमीलिते भवतः। ध्यानविरहितानामुद्घाटिते ते दृश्येते। किन्तु अर्द्धोन्मीलितनयनयोः किं रहस्यम् ? अस्य प्रश्नस्य समाधानं भगवतो दर्शनेनैव संप्राप्यते। प्रोक्तं भगवता—"जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो"—यथा अन्तः सत्यं वर्तते तथा बहिरपि सत्यम्, यथा बहिः सत्यमस्ति तथा अन्तश्चापि सत्यम्। पारमार्थिकसत्यं न व्यावहारिकसत्यं विरुणद्धि, न च व्यावहारिकसत्यं पारमार्थिकसत्यं तिरस्करोति। उभयमपि सत्यं स्वस्थाने सत्यमेव इति सूचयितुमेव मन्ये महावीरस्य ध्यानमुद्रा प्रतिष्ठितासौ।

अनेकान्तदृष्ट्या सापेक्षमेव सत्यं निरूपयितुं प्रत्यग्रा भवामो वयम्। यत्र दृष्टिकोणस्य निरपेक्षता जायते तत्र मिथ्यात्वमाविर्भवति। अतएव भगवता महावीरेणानेकान्तदेशना कृता। यावन्तो वचनप्रकारा भवन्ति तावन्तो नया भवन्ति। ते सर्वेपि सन्ति सत्यांशग्राहकास्तेषां प्रतिपादकाश्च। महावीरस्य सिद्धान्त आसीत्—कोपि समयो नास्ति मिथ्या यदि स सापेक्षः, नास्ति कोपि समयः सम्यक् यदि स निरपेक्षः। 'अहं यज्जानामि प्रतिपादयामि च तदेव सत्यं—एतत् सर्वतो महदसत्यमस्ति। किं पुनः सत्यमिति प्रश्नो जायते। उत्तरितं महावीरेण—परो यज्जानाति प्रतिपादयति च तत्रापि सत्यांशोऽस्ति, तस्यान्वेषणमस्ति सत्यम्। सत्यं सत्यमेव। तद् ममकृतेऽन्यद्, अन्यच्च परस्मै नेति भवितुमर्हति। तथापि एतज्जायमानं दृश्यते। यत्तत्त्वमहं सत्यं मन्ये तद् अपरः असत्यं मन्यते। यदि अपरः सत्यं मन्यन्ते तद् अहं असत्यं मन्ये। सत्यस्येदं विवादास्पदं रूपं मनुष्यं नयति असत्य-मार्गम्। सत्यशोधकस्य मनसि उन्मज्जति प्रश्न एष—सत्यं किं वास्तविकं उताहो मृगमरीचिका ? यदि तद् मृगमरीचिकामात्रं तत् किमर्थं महान् प्रयत्नस्तस्यानुसन्धाने अन्वेषणे च ? यदि तद् वास्तविकं तत् किं कारणं भेदानुभूतेः ? भगवता महावीरेणास्य विवादास्पदस्य प्रश्नस्य समाधानमेकान्तदृष्ट्या कृतम्। उद्घोषितं भगवता अनन्तधर्मात्मकं सत्यं केवलं ज्ञातुं शक्यं न च प्रतिपादयितुम्। प्रतिपादनं सत्यांशस्यैव भवति। कोपि वक्ता भवतु स सत्यांशमेव वक्ति। कोपि श्रोता भवतु स सत्यांशमेव गृह्णाति। तेन न परस्परं विवादो विधेयः, किन्तु वक्तुरपेक्षा ग्राह्या। असौ अनाग्रहमार्गः सत्यान्वेषणे प्रवर्तमानः सर्वान् विवादान् उपशमं नयति। अनेन पथप्रदर्शनेन सम्प्रदायातीत-दृष्टिकोणस्य महान् शंखनादः कृतोऽस्ति भगवता।

साम्प्रदायिकाग्रहे स्याद्वादे च नास्ति कोपि सम्बन्धः। सम्प्रदायस्य दृष्टिः संस्थाने वेषे च प्रतिबद्धा भवति। व्यावहारिकोऽसौ मार्गः। बाह्यो दृष्टिकोणोऽसौ नास्ति सर्वथा मिथ्या। बाह्यं यदि सत्यमन्वेष्टव्यमस्ति तर्हि तेन सह आन्तरिकमपि सत्यमन्वेष्टव्यम्। तस्यान्वेषणे भवति स्पष्टमिदं यदि अन्तःकरणस्य शुद्धिरस्ति तर्हि किं संस्थानेन, किं वेषेण ? एवं उभयतः प्रवहमानेन दृष्टिकोणेन वास्तविकतायाः स्पर्शः क्रियते।

पृष्टमेकेन जिज्ञासुना—भगवन् ! कोऽस्ति दुःखस्य कर्ता ? उत्तरितं महावीरेण—अस्ति अविद्यावान् पुरुषः दुःखस्य कर्ता। पुनरपि पृष्टं तेन—भगवन् ! श्रूयते जगति चरित्रहीनः पुरुषः दुःखानि चिनोति। किं नेदं सत्यम् ?

व्याकृतं भगवता—अस्ति सत्यमिदम्। तेन सन्देहदोलान्दोलितेन पुनरुक्तं—तत् सत्यमथवा एतत् सत्यम् ?' अभाणि भगवता—द्वयमपि सत्यमिदम्। आचारनिरपेक्षाविद्या न दुःखानामन्तं करोति न च विद्याविहीन आचारः दुःखान्त-कृद् भवति। ज्ञानमाचारमपेक्षते आचारश्च ज्ञानम्। यत्रास्ति निरपेक्षता तत्र नास्ति समस्यायाः समाधानम्।

कुशलश्चिकित्सकः यथा रोगं रोगहेतुं आरोग्यं आरोग्यहेतुं च सम्बुद्ध्य करोति चिकित्सां तथैव दुःखं मोक्तु-कामः दुःखं दुःखहेतुं सुखं सुखहेतुं च सम्बुध्य कर्मबन्धविमोक्षणं कुर्यात्। द्रष्टव्यं सर्वासां समस्यानां समाधानाय यथा तासां मूलं द्रष्टव्यं तथा तासामग्रं द्रष्टव्यम्। यथा तासामग्रं द्रष्टव्यं तथा तासां मूलं द्रष्टव्यम्। केवलं पत्राणां पुष्पाणां निराकरणमिच्छुरन्ते प्रयत्नस्य वैयर्थ्यमनुभवति। मूलस्य निरसनमिच्छुर्यदि उपस्थितमुपेक्षते तदा बहुधा भ्रान्तिं जनयति। तेन अतीतस्य ऊर्वरायामुप्तानि दुःखबीजानि चापि निरीक्षितव्यानि। संप्राप्ता अपि च दुःखाङ्कुरा उन्मूलनीयाः। आत्मनि सत्यपि केवलं देहानुभवो दुःखमूलमस्ति सत्यपि देहे चैतन्यानुभवः अस्ति सुखमूलम्—इति अध्यात्मरहस्यं विज्ञाय दुःखानि अन्तं नेतव्यानि।

इदानीं महान् विवादोऽस्ति। केचिदागृह्णन्ति भौतिकताया विकासेनैव सुखसमृद्धिर्वर्द्धिष्यते। आगृह्णन्ति च केचिद् आध्यात्मिकताया विकासेनैव सा वर्द्धिष्यते। नायमाग्रहः सुखसमृद्धये भवति। अत्र भगवतो महावीरस्य वाणी स्मरणीयास्ति, यथा—'जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ—य अध्यात्मं जानाति स बाह्यं जानाति, यो बाह्यं जानाति, स अध्यात्मं जानाति। इदं समन्वयसूत्रं एतत् सूचयति—अध्यात्म-स्थाने अध्यात्मस्य मूल्यांकनं कार्यं, भौतिकतायाश्च स्थाने भौतिकतायाः द्वयोरपि सापेक्षमूल्यमस्ति अस्ति शरीरमस्माकं इन्द्रियाणि च। अपेक्षन्ते तानि भौतिकपदार्थान्। यदि नापेक्षापूर्तिर्जायते तदानीं अभावस्थितौ न सुलभः स्यात् अग्रिमो विकासः। अस्ति अस्माकं चैतन्यानुभवः। तस्य विकासं विना कथं मानसिकीनां समस्यानां समाधानं भवेत् ? कथं पुनः अन्तःकरणगतानां विकाराणां उपशमः स्यात् ? सर्वत्रापि सापेक्षता अनुभवनीयास्ति, समन्वयस्य हार्दं व्यव-सातव्यमस्ति।

भगवतो महावीरस्य पंचविंशतिशततमे निर्वाणमहोत्सवे सर्वेऽपि भारतीया वयं प्रमुदितमानसाः स्मः। न केवलं भारतीयाः अपितु सम्पूर्णा मनुष्यजातिः प्रमोदमनुभवति। तस्य कारणमिदम्—भगवता सम्पूर्ण-मनुष्यजातेः, समग्रस्य च प्राणिजगतः कष्टानि समस्याश्च समाप्तिं नेतुं अपूर्वं मन्त्रदानं कृतम्। अस्मिन्नवसरे न केवलमस्माभिर्भगवतः स्मृति-करणमेव पर्याप्तं परिबोद्धव्यम् किन्तु तदुपदिष्टः—सम्यग्दृष्टेः, सम्यग्-आचरणस्य, समन्वितः पन्थाः अनुगमनीयः। अस्यानुगमेनैव तस्मै महाश्रमणाय महाब्राह्मणाय एकात्मनि द्व्यात्मने द्वयात्मनि वा एकात्मने भगवते, महावीराय विनीत-श्रद्धाञ्जलि-समर्पणं भविष्यति।

भगवान् महावीर : जीवन और दर्शन

—मुनि श्रीराकेशकुमार

मानव—

महावीर अवतार और देव नहीं, मानव बनकर संसार में आये थे। वे इसी मिट्टी में पले-पुसे और इसी मिट्टी पर उन्होंने अपना लक्ष्य प्राप्त किया। उनके जीवन की कहानी आकाश की उड़ान नहीं है। उनके स्वर कल्पना की लहरियों से नहीं उठे, अनुभूति की कसौटी पर खरे उतर कर हमारे सामने आये। उनकी शारीरिक और मानसिक संवेदनाएँ मानवेतर नहीं थी। उनकी गतिशील मानवता ने उन्हें महामानव बना दिया, जिसकी पृष्ठभूमि में विजय का सन्देश है। वह विजय थी अन्धकार पर प्रकाश की, असत् पर सत् की और मृत्यु पर अमरत्व की।

आदर्श श्रमण—

सम, शम और श्रम की साधना करनेवाले महावीर श्रमण कहलाये। जैन आगम वाङ्मय में 'समणे नायपुत्ते' उनका मुख्य विशेषण रहा है। महावीर एक राजकुमार थे। उनके पास भौतिक सुख-साधनों की कमी नहीं थी पर जीवन की बाहरी दिशा में उन्हें तृप्ति नहीं मिली। संसार में उन्हें बहुत बड़ा काम करना था।

महावीर गृहस्थ जीवन में निर्लिप्तभाव से रहे। कीचड़ में कमल-पत्र के उदाहरण को उन्होंने पूरा चरितार्थ किया। उनका सारा व्यवहार गहरा आदर्श लिये हुए था।

भगवान् महावीर जीवन की कठोर साधना में दृढ़ता से आगे बढ़े। उनका तितिक्षा धर्म बहुत प्रसिद्ध है। शारीरिक और मानसिक सभी परीषहों को उन्होंने समाधि से सहन किया।

अपनी मंजिल पर पहुंचने के लिए उन्होंने घोर तप किया। किन्तु उन्होंने तपस्या का मतलब केवल भूखा रहना ही नहीं समझा था। उनके जीवन में अनेक यौगिक-प्रयोग चलते थे। उनकी हर तपस्या के साथ ध्यान का अभिन्न सम्बन्ध था। उन्होंने भूखे रहने को बाहरी तप बताया व ध्यान और स्वाध्याय को आभ्यन्तर तप।

महावीर ने उस समय के अनेक अनार्य प्रदेशों में विहार किया, जहाँ उग्र परीषहों का सामना करना पड़ा। पर, उन्होंने किसी का सहारा नहीं लिया। स्वावलम्बन के आधार पर वे आगे बढ़े थे।

उन्होंने वाणी की अपेक्षा कर्म से अधिक प्रशिक्षण किया।

अहिंसा मूर्ति—

महावीर ने अपनी साधना में अहिंसा को पहला स्थान दिया। उन्होंने कहा—"हिंसा का मतलब प्राणवध ही नहीं, मन से किसी के प्रति अनिष्ट संकल्प करना भी घोर हिंसा है।" उनका जीवन अहिंसा की प्रयोगशाला था। छोटे-बड़े सभी जीवों को मनसा, वाचा, कर्मणा अभयदान देना उसकी साधना का मुख्य आदर्श था।

भगवान् महावीर की अहिंसा जड़ नहीं थी। वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में उन्होंने अहिंसा के नये-नये प्रयोग किये। उन्होंने कहा—'पापी से नहीं, पाप से घृणा करो।' उनकी मैत्री और बन्धुता की भावना किसी घेरे में बंधी हुई नहीं थी। उन्होंने विरोध से विरोध को नहीं जीता। उनकी शान्ति और सद्भावना से बड़े से बड़े विरोधी भी नतमस्तक हो गये।

अपने किसी भी विचार के प्रचार-प्रसार के लिए महावीर ने राजसत्ता का आश्रय नहीं लिया। बलात्कार व दमन के बल पर होनेवाले परिवर्तन को उन्होंने स्थायी नहीं माना। हृदय-परिवर्तन के अलावा उनके सामने दूसरा कोई विकल्प नहीं था। भगवान् महावीर की अहिंसा के प्रभाव से मनुष्येतर प्राणियों का भी परिवर्तन हो गया। चण्डकौशिक सर्प की घटना उनकी अहिंसा के प्रभाव का एक अद्भुत प्रसंग है।

पुरुषार्थवादी—

हर महापुरुष के साथ तात्कालिक परिस्थितियों का गहरा सम्बन्ध रहता है। भगवान् महावीर के समय का जनमानस रूढ़ियों और अन्धविश्वास की शृंखला से जकड़ा हुआ था। ईश्वरवाद जैसी व देवता की परोक्ष शक्तियों में मनुष्य अपना कर्तृत्व भूल-सा रहा था। हिंसा का नग्न नृत्य उस समय आत्मवाद और पुरुषार्थवाद का सिंहनाद कर महावीर ने निराशा व अकर्मण्यता के गहन गह्वर में डूबे हुए जनमानस को प्रकाश की एक सुनहरी रेखा दी। 'आत्मा में विकास की असीम संभावनाएँ हैं। तुम स्वयं ही तुम्हारे भाग्य विधाता हो।' इन क्रांतिकारी स्वरों से सोये हुए जनमानस में जागृति का नया संचार हुआ। भगवान् महावीर ने नियति, स्वभाव आदि पांचों समवायों का समन्वय किया और जीवन-व्यवहार में मनुष्य को पुरुषार्थवाद के आधार पर आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।

क्रान्त-द्रष्टा—

भगवान् महावीर ने अहिंसा और समता के आदर्श की व्यापक प्रतिष्ठा की। जाति, लिंग व भाषा के आधार पर फैली हुई विषमता का व्यूहचक्र तोड़कर उन्होने मानव-समाज को चिन्तन की सही दिशा दी।

महावीर ने जन्मना जातिवाद के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। जातिव्यवस्था के आधार पर किसी को घृणित व पूज्य मानने के व्यवहार को उन्होंने भयानक अज्ञान कहा। दास प्रथा के खिलाफ भी उन्होंने क्रान्ति की। लिंगभेद के कारण पुरुष का मनमाना शासन चलता था। नारी को केवल वासनापूर्ति का साधन माना जाता था। न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति की ध्वनि चारों ओर सुनाई देती थी। महावीर ने नारी जीवन को ऊँची दृष्टि से देखा व उसका महत्त्व समाज को बतलाया। उन्होंने अपने धर्मसंघ का द्वार नारी और पुरुष दोनों के लिए खुला रखा।

भाषावाद के थोथे अभिमान पर भी महावीर ने कड़ा प्रहार किया तथा जनभाषा में उपदेश दिया।

समन्वयवादी—

विकास का प्रारम्भ विचारों की भूमिका पर होता है। किन्तु मानसिक शान्ति व सामाजिक सह-अस्तित्व के लिए उनमें अनाग्रह का भाव बहुत आवश्यक है। जब उन पर एकान्तवाद व कदाग्रह का आवरण छा जाता है, तब संघर्ष शुरू हो जाता है। विचारों के एकांगी पक्ष को पकड़ने के कारण विश्व के रंगमंच पर आज तक अनगिनत धार्मिक, सामाजिक व राजनैतिक संघर्ष हो चुके हैं।

भगवान् महावीर के समय में बहुत से मतवाद थे। विभिन्न दार्शनिक एकान्तवाद का आश्रय लेकर समाज में अशान्ति का बीज बो रहे थे। मानव जीवन के दैनिक व्यवहार में भी संकीर्णता-पिशाचिनी प्रश्रय पा रही थी। उस स्थिति में महावीर ने समन्वय का महान् प्रकाश दिया। दो विरोधी दिशा में जाते हुए विचार-प्रवाहों को एक सूत्र में बाँधने की एक नई प्रणाली सामने रखी वह प्रणाली अनेकान्तदर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुई। उन्होंने कहा···पदार्थ नित्य ही है, ऐसा मत कहो। भी है, ऐसा कहो। विश्व के मानव की चेतना क्रमशः उनके निकट पहुँचेगी व युग के रथ की गति के साथ उनके जीवन और दर्शन का आलोक भूमण्डल पर आगे बढ़ता जाएगा, ऐसा विश्वास है।

भगवान् महावीर अतीत के नहीं, भविष्य के महापुरुष हैं। उनके संदेश मानवता के लिए प्रकाश-स्तंभ हैं।

न्यायविशारद, न्यायाचार्य, महोपाध्याय, षड्दर्शनवेत्ता

पूज्य श्रीमद् यशोविजयजी महाराज

[संक्षिप्त व्यक्तित्व और कृतित्व]

—मुनि श्रीयशोविजयजी

गुजरात-प्रदेश

हमारे भारतवर्ष के पश्चिमी भाग में गुजरात प्रदेश है। इस भूमि पर ही शत्रुञ्जय, गिरनार, पावागढ़ जैसे अनेक पर्वतीय पवित्र धाम हैं, जो दूर-दूर से लोगों के मन को आकर्षित करते हैं। धार्मिक क्षेत्र में दिग्गजस्वरूप समर्थ विद्वान्, महान् आचार्य और श्रेष्ठ सन्त, तपस्विनी साध्वियाँ तथा राष्ट्रीय अथवा सामाजिक क्षेत्र में सर्वोच्च कोटि के नेता, कार्यकर्ता, साहित्यक्षेत्र में विविध भाषा के विख्यात लेखक, कवि और सर्जक भी गुजरात की भूमि ने उत्पन्न किए हैं। महान् वैयाकरण पाणिनि के संस्कृत-व्याकरण से निर्विवादरूप में अति उच्चकोटि का माने जानेवाले **'सिद्धहेम-शब्दानुशासन'** नामक व्याकरण की अनमोल भेट केवल गुजरात को ही नहीं, अपितु समस्त विश्व को जो प्राप्त हुई है, उसके रचयिता गुजरात की सन्तप्रसू भूमि पर उत्पन्न जैनमुनि कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य जी ही थे।[1] भारत के अठारह प्रदेशों में अहिंसा-धर्म का व्यापक प्रचार करनेवाले गुर्जरेश्वर परमार्हत महाराजा कुमारपाल भी गुजरात की धरती पर उत्पन्न होनेवाले नर-रत्न थे। जिनके आदेश से सेना के लाखों की संख्या में नियुक्त व्यक्ति, हाथी एवं घोड़े भी जहाँ वस्त्र से छना हुआ पानी पीते थे। सिर में पड़ी हुई जूँ तक को जिसके राज्य में मारा नहीं जा सकता था, जिसने धरती से हिंसा-राक्षसी को सर्वथा देशनिकाला दे दिया था, वे महाराजा कुमारपाल पूज्य श्री हेमचन्द्राचार्यजी के ही शिष्य थे। यही कारण है कि हेमचन्द्राचार्यजी एवं कुमारपाल की जोड़ी द्वारा लोकहृदय में बहाई गई अहिंसा, दया, करुणा, प्रेम, कोमलता, सहिष्णुता, समभाव, शान्तिप्रियता, धार्मिकभाव, सन्तप्रेम, उदारता आदि गुणों की धारा इस देश में प्रमुख स्थान रखती है। वस्तुतः अपने गुरुदेव के आदेश से कुमारपाल द्वारा योग्यता और सत्ता के सहारे गुजरात की धरती के प्रत्येक घर से लेकर कण-कण तक फैलाई गई अहिंसा भारत के इतिहास में बेजोड़ है, अद्भुत है और सदा के लिए अमर है।

---

१. सोमप्रभसूरि ने 'शतार्थ-काव्य' की स्वोपज्ञवृत्ति में श्री हेमचन्द्राचार्य जी के बारे में निम्नलिखित पद्य दिया है जो कि उनकी कृतियों का परिचायक है—

क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं छन्दो नवं द्व्याश्रया-
लङ्कारौ प्रथितौ नवौ प्रकटितं श्रीयोगशास्त्रं नवम्।
तर्कः सज्जनितो नवो जिनवरादीनां चरित्रं नवं,
बद्धं येन न केन केन विधिना मोहः कृतो दूरतः॥

जसवन्तकुमार भावी यशोविजयजी,

ऐसी गुजरात की पुण्य भूमि पर उत्तर गुजरात में एक समय गुजरात की राजधानी के प्रसिद्धि-प्राप्त 'पाटण' शहर है, जो कि मन्दिर, सन्त, महात्मा, धर्मात्मा तथा श्रीमन्तों से सुशोभित है। उस पाटण नगर के निकट ही 'धीणोज' गाँव है। इस धीणोज से कुछ दूरी पर 'कनोडुं'[1] नामक गाँव है। आज वह गाँव सामान्य गाँव जैसा है, आज वहाँ संभवतः जैनों के एक-दो घर होंगे किन्तु सोलहवीं शती में वहाँ जैनों की बस्ती अधिक रही होगी। इसी 'कनोडुं' गाँव में 'नारायण' नामक एक जैन व्यापारी रहते थे, जो धर्मिष्ठ थे, उनकी पत्नी का नाम 'सोभागदे' (सौभाग्यदेवी) था। इस पत्नी ने किसी सुयोग्य समय में एक महान् तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। माता-पिता ने उसका नाम 'जसवंत कुमार' रखा। ये जसवंत ही थे हमारे भावी 'यशोविजयजी।'

जन्मकाल

अत्यन्त खेद की बात है कि 'वे किस वर्ष के किस मास में किस दिन उत्पन्न हुए थे' इसका कहीं कोई उल्लेख हमें प्राप्त नहीं होता है। उनके जीवन को व्यक्त करने वाली—'सुजसवेली, ऐतिहासिक वस्त्रपट, हैमधातुपाठ की लिखित पोथी, ऊना के स्तवन का लिखित पत्र तथा उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ'[2]—इन सब सामग्रियों का अध्ययन करने से आपका जन्म सम्भवतः वि० सं० १६४० से १६५० के बीच माना जा सकता है तथा वे सं० १७४३ में स्वर्गवासी हुए थे, इस उल्लेख के आधार पर उनकी आयु सौ वर्ष की रही होगी यह अनुमान किया जा सकता है।

शासन सेवा के लिए समर्पण

सं० १६८८ में 'सुजसवेली' रचना के कथनानुसार पण्डित 'नयविजयी' कुणगेर से चातुर्मास करके कनोडूं पधारे,[3] जसवन्त की माता 'अपने पुत्र का जीवन धार्मिक-संस्कारों से सुवासित बने' इस भावना से प्रतिदिन देवदर्शन तथा गुरुदर्शन के लिए जाती थीं तब जसवन्त को भी साथ ले जाती थीं। देवदर्शन करके नित्य उपाश्रय में गुरु को वन्दना और सुखसाता की पृच्छा करके माङ्गलिक पाठ का श्रवण करतीं और अपने घर गोचरी-भिक्षा का लाभ देने की प्रार्थना करतीं। धीरे-धीरे जसवन्त अन्य समय में उपाश्रय जाता-आता, साधुओं के साथ बैठता, साधु महाराज उसे प्रेम से

---

१. पू. उपाध्यायजी ने स्वरचित किसी भी कृति में अपनी जन्मभूमि, शैशवकाल की निवासभूमि एवं माता-पिता आदि का उल्लेख नहीं किया है किन्तु प्रायः १५० वर्ष पश्चात् उनके बारे में कान्ति विजयजी द्वारा लिखित 'जसवेलडी' अर्थात् 'सुजसवेली' भास से कुछ परिचय प्राप्त होता है।

२. 'सुजसबेलि' (ढाल १, कड़ी १३) के अनुसार उपाध्यायजी की बड़ी दीक्षा का समय वि. सं. १६८८ दिया है, 'ऐतिहासिकवस्त्रपट' में वि. सं. १६६३ का उल्लेख करते हुए यशोविजयजी का उल्लेख किया है 'हैमधातुपाठ' की प्रति वि. सं. १६६५ में लिखित तथा 'उन्नतपुरस्तवन' की वि. सं. १६६८ की प्रति पू. उपाध्यायजी द्वारा लिखित प्राप्त होती है, अतः इन सभी के आधार पर इस समय का अनुमात किया जाता है।

३. 'पत्तनासन्नवर्त्ति-'कुणगिरि'-ग्रामतः समेतानां श्रीनयविजयगुरुवर्याणां बभूव परिचय' इति। 'जम्बूस्वामी रास उद्धरण— भूमिका—जैनस्तोत्र सन्दोह, भाग प्रथम

बुलाते तथा दीक्षा के सम्बन्ध में बालक को ज्ञान हो उस पद्धति से प्रेरणा देते। रत्नपरीक्षक जौहरी जिस प्रकार हीरे को परखता है तथा उसके मूल्य का अनुमान निकालता है, उसी के अनुसार गुरुवर्य नयवियजी ने भी जसवन्त के तेजस्वी मुख, विनय तथा विवेक से पूर्ण व्यवहार, बुद्धिमत्ता, चतुरता, धर्मानुरागिता आदि गुणों को देखकर भविष्य के एक महान् नररत्न की झाँकी पाई। जसवन्त के भविष्य का अङ्कन कर लिया। गुरुदेव ने संघ की उपस्थिति में जसवन्त को जैनशासन के चरणों में समर्पित करने अर्थात् दीक्षा देने की माँग की। जैनशासन को ही सर्वस्व माननेवाली माता ने सोचा कि 'यदि मेरा पुत्र घर में रहेगा तो अधिक से अधिक वह धनाढ्य बनेगा, देश-विदेश में प्रख्यात होगा या कुटुम्ब का भौतिक हित करेगा।' गुरुदेव ने जो कहा है उस पर विचार करती हूँ तो मुझे लगता है कि 'मेरा पुत्र घर में रहेगा तो सामान्य दीपक के समान रहकर घर को प्रकाशित करेगा किन्तु यदि त्यागी होकर ज्ञानी बन गया तो सूर्य के समान हजारों घरों को प्रकाशित करेगा, हजारों आत्माओं को आत्मकल्याण का मार्ग बताएगा। अतः यदि एक घर की अपेक्षा अनेक घरों को मेरा पुत्र प्रकाशित करे, तो इससे बढ़कर मुझे और क्या प्रिय हो सकता है ? मैं कैसी बड़भागी होऊँगी ? मेरी कुक्षि रत्नकुक्षी हो जाएगी।' ऐसे विचारों से माता के हृदय में हर्ष और आनन्द का ज्वार उठा, जैनशासन को अपनाई हुई माता ने उत्साहपूर्वक गुरु और संघ की आज्ञा को शिरोधार्य किया। अपने अतिप्रिय कुमार को एक शुभ चौघड़िये में गुरु श्रीनयविजयजी को समर्पित कर दिया। यह भी एक धन्य क्षण था। इस प्रकार जैन-शासन के भविष्य में होनेवाले जयजयकार का बीजारोपण हुआ।

भागवती दीक्षा

धर्मात्मा सोभागदे ने वैरागी और धर्मसंस्कारी जसवन्त को शासन के चरणों में अर्पित कर दिया। छोटे से कनोडु ग्राम में ऐसे उत्तम बालक को दीक्षा देने का कोई महत्त्व नहीं था, अतः श्रीसंघ ने अनुकूल साधन-सामग्री वाले निकटस्थ पाटण नगर में ही दीक्षा देने का निर्णय लिया। पिता नारायणजी का पाटण शहर के साथ उत्तम सम्बन्ध था। इसलिये हमारे चरित्रनायक पुण्यशाली जसवंतकुमार की भागवती दीक्षा शुभ मुहूर्त में 'अणहिलपुर' के नाम से प्रसिद्ध पाटण शहर में बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुई।

पद्मसिंह की विरक्ति और दीक्षा

अपने भाई को संयम के पथ पर जाते हुए देखकर जसवन्त के भाई **'पद्मसिंह'** का मन भी वैराग्य के रंग में रंग गया था, धर्मात्मा माता-पिता उसमें सहायक थे और पद्मसिंह द्वारा दीक्षा लेने की उत्कट भावना व्यक्त करने पर उसे भी उसी समय दीक्षा दी गई। जैनश्रमण परम्परा के नियमानुसार गृहस्थाश्रम का नाम बदलकर जसवन्त का नाम —**'जसविजय' 'यशोविजय'** और पद्मसिंह का नाम **'पद्मविजय'** रखा गया। इन नामों का समस्त जनता ने जयनादों की प्रचण्ड घोषणा के साथ अभिनन्दन किया। जनता का आनन्द अपार था। चतुर्विध श्रीसंघ ने सुगन्धित अक्षतों द्वारा आशीर्वाद दिये। दोनों पुत्रों के माता-पिता ने भी अपने दोनों पुत्रों को आशीर्वाद देकर उनको बधाई दी। अपनी कोख को प्रकाशित करने वाले दोनों बालकों को चारित्र के वेश में देखकर उनकी आँखें अश्रु से भीग गईं। घर में उत्पन्न प्रकाश आज से जगत् को प्रकाशित करनेवाले पथ पर प्रस्थान करेंगे, इस विचार से दोनों के हृदय आनन्दविभोर हो गए।

संयम साधना और धार्मिक शिक्षा

पहले छोटी दीक्षा दी जाती है, बाद में बड़ी। अतः इस दीक्षा के पश्चात् बड़ी दीक्षा के योग्य तप किया। पूरी योग्यता प्राप्त होने पर उन्हें बड़ी दीक्षा दी गई[1]। तदनन्तर गुरु नयविजयजी विहार करके अहमदाबाद पधारे। वहाँ विविध प्रकार का धार्मिक शिक्षण आरम्भ किया। तीव्र बुद्धिमत्ता के कारण वे तेजी से पढ़ने लगे। पढ़ने में एकाग्रता और उत्तम व्यवहार को देखकर श्रीसंघ के प्रमुख व्यक्तियों ने बालमुनि जसविजय में भविष्य के महान् साधु की अभि-व्यक्ति पाई। बुद्धि की कुशलता, उत्तर देने की विलक्षणता आदि देखकर उनके प्रति बहुमान उत्पन्न हुआ, धारणा शक्ति का अनूठा परिचय मिला। वहाँ के भक्तजनों में 'धनजी सुरा' नामक एक सेठ थे। उन्होंने जसविजयजी से प्रभावित होकर गुरुदेव से प्रार्थना की कि 'यहाँ उत्तम पण्डित नहीं हैं अतः विद्याधाम काशी में यदि इन्हें पढ़ने के लिए ले जाएँ तो ये द्वितीय हेमचन्द्राचार्य जैसे महान् और धुरन्धर विद्वान् बनेंगे।' इतना निवेदन करके धनजी भाई ने इस कार्य के लिये होनेवाले समस्त व्यय का भार उठाने तथा पण्डितों का उचित सत्कार करने का वचन भी दिया।[2]

विद्याधाम काशी में शास्त्राध्ययन

गुरुदेव यशोविजय के साथ उत्तम दिन विहार करके वे परिश्रम-पूर्वक गुजरात से निकलकर दूर सरस्वतीधाम काशी में पहुँचे। वहाँ एक महान् विद्वान् के पास सभी दर्शनों का अध्ययन किया। ग्रहण-शक्ति, तीव्रस्मृति तथा आश्चर्य-पूर्ण कण्ठस्थीकरण शक्ति के कारण व्याकरण, तर्क-न्याय आदि शास्त्रों के अध्ययन के साथ ही वे अन्यान्य शास्त्रों की विविध शाखाओं के पारङ्गत विद्वान् भी बन गये। दर्शन-शास्त्रों का ऐसा आमूल-चूल अध्ययन किया कि वे 'षड्दर्शन-वेत्ता' के रूप में प्रसिद्ध हो गये। उसमें भी नव्यन्याय के तो बेजोड़ विद्वान् बने तथा शास्त्रार्थ और वाद-विवाद करने में उनकी बुद्धि-प्रतिभा ने अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये। वहाँ आपको अध्ययन करानेवाले पण्डितजी को प्रतिदिन एक रूपया दक्षिणा के रूप में दिया जाता था।

सरस्वती-मन्त्र-साधना

काशी में गङ्गातट पर रहकर उपाध्यायजी ने 'ऐङ्कार' मन्त्र द्वारा सरस्वतीमन्त्र का जप करके माता शारदा को प्रसन्न कर वरदान[3] प्राप्त किया था जिसके प्रभाव से पूज्य यशोविजय जी की बुद्धि तर्क, काव्य और भाषा के क्षेत्र

---

१. 'यशोदोहन' में 'इस दीक्षा का समय वि. सं. १६६८ दिया है तथा यह दीक्षा हीरविजयजी के प्रशिष्य एवं विजयसेन सूरि जी के शिष्य विजय देवसूरिजी ने दी थी' ऐसा उल्लेख है। देखो पृ. ७।

२. वहीं इसके लिए दो हजार चाँदी के दीनार व्यय करने का भी उल्लेख है।

३. इस संबंध में वि. सं. १७३९ में स्वरचित 'जम्बूस्वामी रास' में स्वयं उपाध्यायजी ने निम्नलिखित पंक्तियाँ दी हैं—

शारदा सार दया करो, आपी वचन सुरंग।
तू तूटी मुझ ऊपरे, जाप करत उपगंग॥
तर्क काव्यनो तें सदा, दीधो वर अभिराम।
भाषा पण करी कल्पतरु शाखासम परिणाम॥

इसी प्रकार 'महावीर-स्तुति' (पद्य १) तथा 'अज्झत्तमतपरिक्खा' की स्वोपज्ञवृत्ति की प्रशस्ति (पद्य ३) में भी ऐसा वर्णन किया है।

में कल्पवृक्ष की शाखा के समान पल्लवित, पुष्पित एवं फलवती बन गई।

शास्त्रार्थ एवं सम्मानित पदवीलाभ

एक बार काशी के राज-दरबार में एक महासमर्थ दिग्गज विद्वान्—जो अजैन थे—के साथ पू. उपाध्याय जी ने अनेक विद्वज्जन तथा अधिकारी-वर्ग की उपस्थिति में शास्त्रार्थ करके विजय की वरमाला धारण की थी। उनके अगाध पाण्डित्य से मुग्ध होकर काशीनरेश ने उन्हें **'न्यायविशारद'** विरुद से सम्मानित किया था। उस समय जैन संस्कृति के एक ज्योतिर्धर और जैन प्रजा के इस सपूत ने जैनधर्म और गुजरात की पुण्यभूमि का जय-जयकार करवाया तथा जैनशासन का अभूतपूर्व गौरव बढ़ाया।

आगरा में न्यायशास्त्र का विशिष्ट अध्ययन

काशी से विहार करके आप आगरा पधारे और वहाँ चार वर्ष रह कर किसी न्यायाचार्य पण्डित से तलस्पर्शी अभ्यास किया। तर्क के सिद्धान्तों में वे उत्तरोत्तर पारङ्गत होते गये वहाँ से विहार करके गुजरात के अहमदाबाद नगर में पधारे। वहाँ श्रीसंघ ने विजयी बनकर आनेवाले इस दिग्गज-विद्वान् मुनिराज का पूर्ण स्वागत किया।

अवधान प्रयोग तथा सम्मान

उस समय अहमदाबाद में महोब्बतखान नामक सूबा राज्य-कार्य चला रहा था। उसने पूज्य उपाध्याय जी की विद्वत्ता के बारे में सुनकर आपको आमन्त्रित किया। सूबे की प्रार्थना पर आप वहाँ पधारे और १८ अवधान प्रयोग कर दिखाए।[1] सूबा आपकी स्मृतिशक्ति पर मुग्ध हो गया। आपका भव्य सम्मान किया और सर्वत्र जैनशासन के जय-जयनाद द्वारा एक अभूतपूर्व कीर्तिमान स्थापित किया।

उपाध्याय पद-प्राप्ति

वि० सं० १७१८ में श्रीसंघ ने तत्कालीन तपागच्छीय श्रमणसंघ के अग्रणी श्रीदेवसूरिजी से प्रार्थना की कि 'यशोविजयजी महाराज बहुश्रुत विद्वान् हैं और उपाध्याय पद के योग्य हैं। अतः इन्हें यह पद प्रदान करना चाहिए।' इस प्रार्थना को स्वीकृत करके सं० १७१८ में श्रीयशोविजयजी गणी को उपाध्याय पद से विभूषित किया गया। शिष्य सम्पदा की दृष्टि से उपाध्याय जी महाराज के अपने छह शिष्य थे, ऐसी लिखित सूचना प्राप्त होती है।[2]

उपाध्याय जी ने स्वयं लिखा है कि 'न्याय के ग्रन्थों की रचना करने से मुझे **'न्यायाचार्य'** का विरुद विद्वानों

---

१. इसी प्रकार श्री यशोविजयजी ने वि. सं. १६७७ में जैनसंघ के समक्ष आठ बड़े अवधान किए थे, जिसका उल्लेख उनकी हिन्दी रचना **'अध्यात्मगीत'** में मिलता है।

२. इन शिष्यों के नाम—हेमविजय, जितविजय पं. गुणविजयगणि, दयाविजय, मयाविजय, मानविजयगणि आदि प्राप्त होते हैं।

ने प्रदान किया है।[१] इसके अतिरिक्त आपको न्यायविशारद, कवि, लघुहरिभद्र, कूर्चालीशारद तथा तार्किक आदि विरुदों से भी विद्वानों ने अलंकृत किया था।[२]

उपाध्यायजी ने अनेक स्थानों पर विचरण किया था किन्तु प्रमुख-रूप से वे गुजरात और राजस्थान में रहे होंगे ऐसा उनके ग्रन्थों एवं स्तुतियों से ज्ञात होता है।

स्वर्गवास एवं स्मारक

'सुजसवेली' के आधार पर उनका अन्तिम चातुर्मास वड़ौदा शहर के पास डभोई (दर्भावती) गाँव में हुआ और वहीं वे स्वर्गवासी हुए। इस स्वर्गवास का वर्ष सुजसवेलि के कथनानुसार सं० १७४३ था तदनन्तर उनका स्मारक डभोई-में उनके अग्निसंस्कार के स्थान पर बनाया गया और वहाँ उनकी चरण-पादुका स्थापित की गई। पादुकाओं पर १७४५ में प्रतिष्ठा करने का उल्लेख है।

निष्कर्ष रूप परिचय

उपाध्याय जी के जीवन का निष्कर्षरूप परिचय 'यशोदोहन' नामक ग्रन्थ में[3] मैंने दिया है वही परिचय यहाँ भी उद्धृत करता हूँ जिससे उपाध्याय जी के जीवन की कुछ विशिष्ट झाँकी होगी।

"विक्रम की सत्रहवीं शती में उत्पन्न, जैनधर्म के परम प्रभावक, जैनदर्शन के महान् दार्शनिक, जैनतर्क के महान् तार्किक, षड्दर्शनवेत्ता और गुजरात के महान् ज्योतिर्धर, श्रीमद् यशोविजयजी महाराज एक जैन मुनिवर थे। योग्य समय पर अहमदाबाद के जैन श्रीसंघ द्वारा समर्पित उपाध्याय पद के विरुद के कारण वे 'उपाध्याय जी' बने थे। सामान्यतः व्यक्ति 'विशेष' नाम से ही जाना जाता है किन्तु इनके लिए यह कुछ नवीनता की बात थी कि जैनसंघ में आप विशेष्य से नहीं अपितु 'विशेषण' द्वारा मुख्यरूप से जाने जाते थे। "उपाध्यायजी ऐसा कहते हैं, यह तो उपाध्याय जी का वचन है" इस प्रकार उपाध्यायजी शब्द से श्रीमद् यशोविजयजी का ग्रहण होता था। विशेष्य भी विशेषण का पर्यायवाची बन गया था। ऐसी घटना विरल व्यक्तियों के लिए ही होती है। इनके लिए तो यह घटना वस्तुतः गौरवास्पद थी।

इसके अतिरिक्त श्रीउपाध्याय जी के वचनों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही एक और विशिष्ट एवं विरल घटना है। इनकी वाणी, वचन अथवा विचार 'टंकशाली' ऐसे विशेषण से प्रसिद्ध हैं। तथा 'उपाध्यायजी की साख (साक्षी) 'आगमशास्त्र' अर्थात् शास्त्रवचन ही हैं' ऐसी भी प्रसिद्धि है। आधुनिक एक विद्वान् आचार्य ने आपको 'वर्तमान काल के महावीर' के रूप में भी व्यक्त किया था।

---

१. जैसलमेर से लिखित पत्र में आपने लिखा था कि—"न्यायाचार्य विरुद तो भट्टाचार्यई न्यायग्रन्थ रचना करी देखी प्रसन्न हुई दिऊं छई।"

२. तर्कभाषा (प्रशस्ति पद्य ४), तत्त्वविवेक (प्रारम्भ पद्य २) तथा सुजसवेलि में इनका उल्लेख है।

३. देखिए 'यशोदोहन' पृ. ६—१२ में सम्पादकीय निवेदन। यह ग्रन्थ गुजराती भाषा में 'प्रो० हीरालाल रसिकदास कापड़िया' द्वारा लिखित है तथा यशोभारती जैन प्रकाशन समिति, बंबई से प्रकाशित हुआ है।

आज भी श्रीसंघ में किसी भी बात पर विवाद उत्पन्न होता है तो उपाध्यायजी द्वारा रचित शास्त्र अथवा टीका के 'प्रमाण' को अन्तिम प्रमाण माना जाता है। उपाध्यायजी का निर्णय कि मानो सर्वज्ञ का निर्णय। इसीलिए इनके समकालीन मुनिवरों ने आपको 'श्रुतकेवली' ऐसे विशेषण से सम्बोधित किया है। श्रुतकेवली का अर्थ है 'शास्त्रों के सर्वज्ञ' अर्थात् श्रुत के बल में केवली के समान। इसका तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ के समान पदार्थ के स्वरूप का स्पष्ट वर्णन कर सकने वाले।

ऐसे उपाध्याय भगवान् को बाल्यावस्था में (प्रायः आठ वर्ष के निकट) दीक्षित होकर विद्या प्राप्त करने के लिए गुजरात में उच्चकोटि के विद्वानों के अभाव तथा अन्य किसी भी कारण से गुजरात छोड़कर दूर-सुदूर अपने गुरुदेव के साथ काशी के विद्याधाम में जाना पड़ा और वहाँ उन्होंने छहों दर्शनों तथा विद्याज्ञान की विविध शाखा-प्रशाखाओं का आमूलचूल अभ्यास किया तथा उस पर उन्होंने अद्भुत प्रभुत्व प्राप्त किया एवं विद्वानों में **षड्दर्शनवेत्ता'** के रूप में विख्यात हो गए थे।

काशी की राजसभा में एक महान् समर्थ दिग्गज विद्वान्, जो कि अजैन था, उसके साथ अनेक विद्वान् तथा अधिकारी वर्ग की उपस्थिति में प्रचण्ड शास्त्रार्थ करके विजय की वरमाला पहनी थी। पूज्य उपाध्यायजी के अगाध पाण्डित्य से मुग्ध होकर काशीनरेश ने उन्हें 'न्यायविशारद' विरुद से अलंकृत किया था। उस समय जैन-संस्कृति के एक ज्योतिर्धर ने—जैन प्रजा के एक सपूत ने—जैनधर्म और गुजरात की पुण्यभूमि का जय-जयकार कराया था तथा जैन शासन की शान बढ़ाई थी।

ऐसे विविध वाङ्मय के पारङ्गत विद्वान् को देखते हुए आज की दृष्टि से उन्हें दो-चार नहीं, अपितु अनेक विषयों के पी-एच० डी० कहें तो भी अनुचित न होगा।

भाषा ज्ञान एवं ग्रन्थ रचना

भाषा की दृष्टि से देखें तो उपाध्याय जी ने अल्पज्ञ अथवा विशेषज्ञ, बालक अथवा पण्डित, साक्षर अथवा निरक्षर, साधु अथवा संसारी सभी व्यक्तियों के ज्ञानार्जन की सुलभता के लिए जैनधर्म की मूलभूत प्राकृतभाषा में, उस समय की राष्ट्रीय जैसी मानी जानेवाली संस्कृत भाषा में तथा हिन्दी और गुजराती भाषा में विपुल साहित्य का सर्जन किया है। उपाध्यायजी की वाणी सर्वनयसम्मत मानी जाती है अर्थात् वह सभी नयों की अपेक्षा गर्भित है।

विषय की दृष्टि से देख तो आपने आगम, तर्क, न्याय, अनेकान्तवाद, तत्त्वज्ञान, साहित्य, अलंकार, छन्द, योग, अध्यात्म, आचार, चारित्र, उपदेश आदि अनेक विषयों पर मार्मिक तथा महत्त्वपूर्ण पद्धति से लिखा है।

संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो उपाध्यायजी की कृतियों की संख्या 'अनेक' शब्दों से नहीं अपि तु 'सैंकड़ों' शब्दों से बताई जा सके इतनी है। ये कृतियाँ बहुधा आगमिक और तार्किक दोनों प्रकार की हैं। इनमें कुछ पूर्ण तथा कुछ अपूर्ण दोनों प्रकार की हैं तथा कितनी ही कृतियाँ अनुपलब्ध हैं। स्वयं श्वेताम्बर-परम्परा के होते हुए भी दिगम्बराचार्य-कृत ग्रन्थ पर टीका लिखी है। जैन मुनिराज होने पर भी अजैन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिख सके हैं। यह आपके सर्वग्राही पाण्डित्य का प्रखर प्रमाण है।

शैली की दृष्टि से यदि हम देखते हैं तो आपकी कृतियाँ खण्डनात्मक, प्रतिपादनात्मक और समन्वयात्मक

हैं। उपाध्यायजी की कृतियों का पूर्ण योग्यतापूर्वक पूरे परिश्रम के साथ अध्ययन किया जाए, तो जैन आगम अथवा जैनतर्क का सम्पूर्ण ज्ञाता बना जा सकता है। अनेकविध विषयों पर मूल्यवान् अति महत्त्वपूर्ण सैंकड़ों कृतियों के सर्जक इस देश में बहुत कम हुए हैं उनमें उपाध्यायजी का निःशङ्क समावेश होता है। ऐसी विरल शक्ति और पुण्यशीलता किसी-किसी के ही भाग्य में लिखी होती है। यह शक्ति वस्तुतः सद्गुरुकृपा, सरस्वती का वरदान तथा अनवरत स्वाध्याय इस त्रिवेणी सङ्गम की आभारी है।

उपाध्याय जी 'अवधानकार' अर्थात् बुद्धि की धारणा शक्ति के चमत्कारी भी थे।[1] अहमदाबाद के श्रीसंघ के समक्ष और दूसरी बार अहमदाबाद के मुसलमान सूबे की राज्यसभा में आपने अवधान के प्रयोग करके दिखलाये थे। उन्हें देखकर सभी आश्चर्यमुग्ध बन गए थे। मानव की बुद्धि-शक्ति का अद्भुत परिचय देकर जैन-धर्म और जैन साधु का असाधारण गौरव बढ़ाया था। उनकी शिष्य-सम्पत्ति अल्प ही थी। अनेक विषयों के तलस्पर्शी विद्वान् होते हुए भी 'नव्य-न्याय' को ऐसा आत्मसात् किया था कि वे 'नव्यन्याय के अवतार' माने जाते थे। इसी कारण वे 'तार्किक-शिरोमणि' के रूप में विख्यात हो गए थे। जैनसंघ में नव्यन्याय में आप अनन्य विद्वान् थे। जैनसिद्धान्त और उनके त्याग-वैराग्य-प्रधान आचारों को नव्यन्याय के माध्यम से तर्कबद्ध करनेवाले एकमात्र अद्वितीय उपाध्यायजी ही थे। उनका अवसान गुजरात के बड़ौदा शहर से १६ मील दूर स्थित प्राचीन दर्भावती, वर्तमान डभोई शहर में वि० सं० १७४३ में हुआ था। आज उनके देहान्त की भूमि पर एक भव्य स्मारक बनाया गया है जहाँ उनकी वि० सं० १६४५ में प्रतिष्ठा की हुई पादुकाएँ पधराई गई हैं। डभोई इस दृष्टि से सौभाग्यशाली है। इस प्रकार संक्षेप में यहाँ उपाध्याय जी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व को छूनेवाली घटनाओं की यहाँ संक्षेप में सच्ची झाँकी कराइ गई है।"

आपकी साहित्य-सेवा भी बहुमुखी रही है जिसकी विषयक्रमानुसारिणी तालिका इस प्रकार है—

---

[1] इस प्रसंग में आपकी स्मृति-तीव्रता के दो प्रसंग भी बहुचर्चित हैं। जो इस प्रकार हैं—

१. बचपन में जसवन्त कुमार जब अपनी माता के साथ उपाश्रय में साधु महाराज को वन्दन करने जाता था, उस समय उनकी माता ने चातुर्मास में प्रतिदिन 'भक्तामर-स्तोत्र' सुनकर ही भोजन बनाने और खाने का नियम लिया था। एक दिन वर्षा इतनी आई कि रुकने का नाम ही नहीं लेती थी। ऐसी स्थिति में माता सोभागदे ने भोजन नहीं बनाया। मध्याह्न का समय भी बीतता जा रहा था। तब बालक जसवन्त ने माता से पूछा कि आज भोजन क्यों नहीं बनाया जा रहा है तो उत्तर मिला—'वर्षा के न रुकने से उपाश्रय में जाकर भक्तामर-सुनने का नियम पूरा नहीं हो रहा है। अतः रसोई नहीं बनाई गयी।' यह सुन जसवन्त ने कहा—मैं आपके साथ प्रतिदिन वह स्तोत्र सुनता था अतः वह मुझे याद है ऐसा कर यथावत् वह स्तोत्र सुना दिया। इस प्रकार बाल्यावस्था में ही उनकी स्मृति तीव्र थी।

२. एक बार वाराणसी में जब अध्ययन पूर्ति पर था और पू० यशोविजयजी ने वाद में विजय प्राप्त कर ली थी तब अध्यापक महोदय अपने पास पाण्डुलिपि के रूप में सुरक्षित एक न्यायग्रन्थ को पढ़ाने में संकोच करने लगे। वे यह समझते थे कि यदि यह ग्रन्थ भी पढ़ा दिया तो मेरे पास क्या रहेगा? उपाध्याय जी इस रहस्य को समझ गये थे। अतः एक दिन वह ग्रन्थ देखने के लिए विनयपूर्वक माँग लिया और मिलने पर रात्रि में स्वयं तथा अपने अन्य सहपाठी मुनिवर ने उस पूरे ग्रन्थ को कण्ठस्थ करके प्रातः लौटा दिया। कहा जाता है कि उस ग्रन्थ में प्रायः १० हजार श्लोक प्रमाण जितना विषय निबद्ध था। यह भी उनकी धारणा-शक्ति का अपूर्व उदाहरण है। —सम्पादक

न्यायविशारद, न्यायाचार्य, महोपाध्याय

श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय

द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची[1]

संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के उपलब्ध ग्रन्थ

१ अज्जप्पमयपरिक्खा (अध्यात्ममतपरीक्षा) स्वोपज्ञटीका सहित
+२ अध्यात्मसार
३ अध्यात्मोपनिषद्
४ अनेकान्त[मत]व्यवस्था [अपरनाम—जैनतर्क]
+५ अस्पृशद्गतिवाद
[अपरनाम-आध्यात्मिकमत-खण्डन स्वोपज्ञटीका सहित
+६ आत्मख्याति*
+७ आराधकविराधकचतुर्भंगी

---

१. सूची के सम्बन्ध में ज्ञातव्य

प्रस्तुत सूची पूर्व प्रकाशित सभी सूचियों के संशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्धन के पश्चात् यथासम्भव परिपूर्ण रूप में सावधानी पूर्वक व्यवस्थित रूप से प्रकाशित की जा रही है। इसमें बहुत से ग्रन्थ नए भी जोड़े गए हैं।

इसमें ग्रन्थों के अन्तर्गत आए हुए छोटे-बड़े वादों को प्रस्तुत नहीं किया गया है। यहाँ प्रस्तुत ग्रन्थों के नामों में कुछ ग्रन्थों के नाम उनकी हस्तलिखित प्रतियों पर अंकित नामान्तर से भी देखने में आए हैं। अतः उपाध्यायजी महाराज के नाम पर अनुचित ढंग से अंकित कृतियों के नाम यहाँ नहीं दिए गए हैं। कुछ कृतियाँ ऐसी भी हैं जो इन्हीं की हैं अथवा नहीं? इस सम्बन्ध में अभी तक निर्णय नहीं हो पाया है, उनके नाम भी यहाँ सम्मिलित नहीं किए गए हैं। तथा अद्यावधि अज्ञातरूप में स्थित कुछ कृतियाँ अपने ही ज्ञान-भण्डारों के सूची-पत्रों में अन्य रचयिताओं के नाम पर चढ़ी हुई हैं। इसी प्रकार कुछ कृतियाँ ऐसी हैं जिनके आदि और अन्त में उपाध्याय जी के नाम का उल्लेख नहीं होने से वे अनामी के रूप में ही उल्लिखित हैं, उनके बारे में भविष्य में ज्ञात होना सम्भव है।

संकेत चिह्न-बोध

प्रस्तुत सूची में कुछ संकेत चिह्नों का प्रयोग किया गया है, जिनमें * ऐसा पुष्प चिह्न अनूदित कृतियों का सूचक है।

* × पुष्प एवं (क्रास) गुणन-चिह्न ऐसे दोनों प्रकार के चिह्न अनूदित होने के साथ ही अपूर्ण तथा खण्डित कृतियों के लिए प्रयुक्त हैं।

+ ऐसा धन चिह्न स्वयं उपाध्याय जी महाराज के अपने ही हाथ से लिखे गए प्रथमादर्शरूप ग्रन्थों का परिचायक है।

(?) ऐसा प्रश्नवाचक चिह्न "यह कृति उपाध्याय जी द्वारा ही रचित है अथवा नहीं?" इस प्रकार की शंका को अभिव्यक्त करता है।

[स्वोपज्ञटीका सहित]
+८ आर्षभीयचरित्र महाकाव्य* ×
९ उवएसरहस्स (उपदेशरहस्य)
स्वोपज्ञटीका सहित
+१० ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका
स्वोपज्ञटीका सहित
+११ कूवदिठ्ठन्तविशईकरण (कूपदृष्टान्तविशदीकरण)
स्वोपज्ञटीका सहित
१२ गुरुतत्तविणिच्छय (गुरुतत्त्वविनिश्चय)
स्वोपज्ञटीका सहित
१३ जइलक्खणसमुच्चय) (यतिलक्षण-समुच्चय)
१४ जैन तर्कभाषा
१५ ज्ञानबिन्दु
१६ ज्ञानसार
१७ ज्ञानार्णव
स्वोपज्ञटीका सहित
+१८ चक्षुप्राप्यकारितावाद
+१९ तिङन्वयोक्ति* ×
२० देवधर्मपरीक्षा
२१ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका
स्वोपज्ञटीका सहित
२२ धम्मपरिक्खा (धर्मपरीक्षा)
(स्वोपज्ञटीका)
२३ नयप्रदीप
+२४ नयरहस्य
२५ नयोपदेश
स्वोपज्ञटीका सहित
+२६ न्यायखण्डनखाद्य टीका
[स्वकृत 'महावीरस्तव' मूल पर निर्मित]
+२७ न्यायालोक
+२८ निशाभक्तदुष्टत्वविचार-प्रकरण
+२९ परमज्योतिः पञ्चविंशतिका
३० परमात्मपञ्चविंशतिका
३१ प्रतिमाशतक
स्वोपज्ञटीका सहित
३२ प्रतिमास्थापनन्याय
+३३ प्रमेयमाला*+
+३४ भासारहस्स (भाषारहस्य)
स्वोपज्ञटीका सहित
+३५ मार्गपरिशुद्धि
३६ यतिदिनचर्या (?)*
+३७ वादमाला
+३८ वादमाला द्वितीय* ×
+३९ वादमाला तृतीय * ×
+४० विजयप्रभसूरिक्षामणक-विज्ञप्तिपत्र
४१ विजयप्रभसूरिस्वाध्याय
+४२ विजयोल्लासकाव्य ×*
+४३ विषयतावाद
४४ वैराग्यकल्पलता
+४५ वैराग्यरति ×
४६ सामायारीपयरण (सामाचारीप्रकरण)
स्वोपज्ञटीका सहित
४७ सिद्धसहस्रनामकोश* ×
४८ स्तोत्रावली—
—आदिजिनस्तोत्र
—शमीनाभिधपार्श्वनाथस्तोत्र [पद्य सं. ९।
—वाराणसीपार्श्वनाथस्तोत्र [पद्य सं. २१]
—शङ्खेश्वरपार्श्वनाथस्तोत्र [पद्य सं. ३३]
—शङ्खेश्वरपार्श्वनाथस्तोत्र [पद्य सं. ९८]
—गोडीपार्श्वनाथस्तोत्र* [पद्य सं. १०८]
—महावीरप्रभुस्तोत्र [पद्य सं०]
—शङ्खेश्वरपार्श्वनाथस्तोत्र [पद्य सं. ११३]
—वीरस्तव [पद्य सं० १०९]
—समाधिसाम्यद्वात्रिंशिका
—स्तुतिगीति तथा पत्रकाव्य

पूर्वाचार्यकृत संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों पर उपलब्ध टीका तथा भाषा ग्रन्थ

श्वेताम्वर ग्रन्थों पर टीकाएँ

+१ उत्पादादिसिद्धिप्रकरण की टीका ×
+२ कम्मपयडि (कर्मप्रकृति) की बृहत्टीका
३ कम्मपयडि लघुटीका
[प्रारम्भमात्र प्राप्त
+४ तत्त्वार्थसूत्र की टीका
[प्रथमाध्याय मात्र उपलब्ध]
+५ जोगविहाण वीसिया (योगविंशिका की टीका)
+६ वीतरागस्तोत्र-अष्टम प्रकाश की 'स्याद्वाद-रहस्य' नामक तीन टीकाएँ*
[× जघन्य, मध्यम, + उत्कृष्ट]
७ शास्त्रवार्तासमुच्चय की 'स्याद्वादकल्पलता' टीका

८ षोडशक की टीका

९ स्याद्वादमञ्जरी की टीका(?)*

दिगम्बर ग्रन्थों पर टीका

+१ अष्टसाहस्री की टीका

जैनेतर ग्रन्थों पर टीकाएँ

+१ काव्यप्रकाश की टीका* ×

+२ न्यायसिद्धान्तमञ्जरी शब्दखण्ड की टीका

+३ पातञ्जलयोगदर्शन की टीका

अन्यकर्तृक-लभ्य संशोधित ग्रन्थ

१. धर्मसंग्रह [स्वकीय टिप्पणी सहित]

२. उवएसमाला-उपदेशमाला बालावबोध

सम्पादित-ग्रन्थ

द्वादशारनयचक्रोद्धार टीका आलेखनादि

स्वकृत संस्कृत और प्राकृत के अलभ्य ग्रन्थ तथा टीकाएँ

१ अध्यात्मबिन्दु
२ अध्यात्मोपदेश
३ अनेकान्त(वाद)प्रवेश
४ अलङ्कारचूडामणि की टीका [हैमकाव्यानुशासन की स्वोपज्ञ 'अलंकारचूडामणि' टीका पर की गई टीका]
५ आलोकहेतुतावाद
६ छन्दश्चूडामणि की टीका [हैमछन्दोनुशासन की स्वोपज्ञ 'छन्दश्चूडामणि' की टीका पर की गई टीका]
७ ज्ञानसार अवचूर्णि
८ तत्त्वालोकविवरण
९ त्रिसूत्र्यालोकविवरण
१० द्रव्यालोक स्वोपज्ञटीका सहित
११ न्यायबिन्दु (?)
१२ न्यायवादार्थ
१३ प्रमारहस्य
१४ मङ्गलवाद
१५ वादरहस्य
१६ वादार्णव
१७ विधिवाद
१८ वेदान्तनिर्णय
१९ वेदान्तविवेकसर्वस्व
२० शठप्रकरण
२१ सिरिपुज्जलेह (श्रीपूज्यलेख)
२२ सप्तभङ्गीतरङ्गिणी
२३ सिद्धान्ततर्कपरिष्कार

इनके अतिरिक्त [हारिभद्रीय—] १९ विंशिकाओं पर की गई १९ टीकाएँ तथा अन्त में 'रहस्य' शब्द-पद से अलंकृत अनेक प्रकरण ग्रन्थ और अन्य उल्लिखित 'चित्ररूपप्रकाश', 'ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद' आदि छोटी-बड़ी कृतियाँ। इसी प्रकार बहुत सी कृतियाँ अप्राप्य भी हो गई हैं।

गुजराती, हिन्दी और मिश्रभाषा में उपलब्ध कृतियाँ[1]

१ अगियार अंग सज्झाय
२ अगियार गणधर नमस्कार
३ अढार पापस्थानक सज्झाय[2]
*४ अध्यात्ममत परीक्षा बालावबोध
५ अमृतवेलीनी सज्झायो (दो)
×६ आदेशपट्टक
७ आनन्दघन अष्टपदी
८ आठ दृष्टिनी सज्झाय

१. इन गूर्जर कृतियों का अधिकांश भाग 'गूर्जर साहित्य संग्रह' भाग—१, २ में मुद्रित हो चुका है।

२. सज्झाय शब्द मूलतः स्वाध्याय का प्राकृत रूप है।

९ एक सौ आठ बोल संग्रह
×१० कायस्थिति स्तवन
११ चड्या पड्यानी सज्भाय
१२ चौबीसीओ (तीन), [पद्य सं. ३३६]
१३ जस विलास (आध्यात्मिक पद) [पद्य सं० २४२]
+१४ जम्बूस्वामी रास [पद्य सं० ९९४)
१५ जिनप्रतिमा स्थापननी सज्भाय (तीन)
१६ जैसलमेर के दो पत्र
×१७ ज्ञानसार बालावबोध
×१८ तत्त्वार्थाधिगमस्तोत्र, बाला-बोध
×१९ तेर काठिया निबन्ध (?)
२० दिक्पट चोरासी बोल
२१ द्रव्यगुण पर्याय रास स्वोपज्ञ टबार्थ सहित
२२ नवपदपूजा (श्रीपालरास के अन्तर्गत)
२३ नवनिधान स्तवनो
२४ नयरहस्यगर्भित सीमन्धर स्वामी की विनतिरूपतस्तवन, स्तबक सहित [प० सं० १२५]
२५ निश्चयव्यवहारगर्भित शान्तिजिनस्तवन [प० सं० ४८]
२७ नेमराजुल गीत
२८ पंचपरमेष्ठी गीता [प० सं० १३१]
२९ पंचगणधर भास
३० प्रतिक्रमणहेतुगर्भ सज्भाय
३१ पंचनियंठि (पंच निर्ग्रन्थ संग्रह) बालावबोध
३२ पांच कुगुरु सज्भाय
३३ पिस्तालीश आगम सज्भाय
३४ ब्रह्मगीता
३५ मौन एकादशी स्तवन
३६ यतिधर्म बत्रीसी
×३७ विचार बिन्दु [धर्मपरीक्षा का वार्तिक]
३८ विहारमान जिनविंशतिका [प० सं० १२३]
३९ वीरस्तुतिरूप हुंडी का स्तवन स्वोपज्ञ बालावबोध सहित [प० सं० १५०]
४० श्रीपालरास (केवल उत्तरार्ध)
४१ समाधिशतक (तन्त्र)
४२ समुद्र-वहाण संवाद
×४३ संयमश्रेणि विचार सज्भाय स्वोपज्ञ टबार्थ सहित
४४ सम्यक्त्वना सड़सठ बोलनी सज्भाय [प० सं ६५]
४५ सम्यक्त्व चौपाई, अपरनाम षट्स्थानक स्वाध्याय स्वोपज्ञ टीका सहित
४६ साधु-वन्दना रास [प० सं १०८]
४७ साम्यशतक (समताशतक)
४८ स्थापनाचार्यकल्प सज्भाय
४९ सिद्धसहस्रनाम छन्द [प० सं० २१]
५० सिद्धान्तविचारगर्भित सीमन्धरजिन स्तवन स्वोपज्ञ टबार्थ सहित [पद्य० सं० ३५०]
५१ सुगुरु सज्भाय
५२ तर्कसंग्रह बालावबोध

अन्यकर्तृक ग्रन्थों के अनुवाद रूप में
गुर्जर भाषा की अप्राप्य कृतियाँ

१-आनन्दघन बावीशी-बालावबोध तथा
२-अपभ्रंश प्रबन्ध (?)

× यह चिह्न अप्रकाशित कृतियों का सूचक है।

+ यह चिह्न उपलब्ध संस्कृत सूची में अनुल्लिखित कृतियों का सूचक है क्योंकि ये ग्रन्थांश रूप में ही प्राप्त हैं।

जैन मतानुसार अभावप्रमेय-मीमांसा

—साध्वी श्रीनिर्मलाश्रीजी

संसार में प्रत्येक पदार्थ अपने लक्षण से ही ज्ञात होता है। ज्ञाता, घट की सजातीय और विजातीय पदार्थों से व्यावृत्ति करके उसका ज्ञान करता है। यदि घट का ज्ञान करते समय सजातीय और विजातीय पदार्थों की व्यावृत्ति न की जाय, तो घट के निश्चित रूप का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः संसार में सभी पदार्थ सदसदात्मक हैं। उनमें सद् अंश को भाव या विधि कहा जाता है 'विधिसदंश इति' और असद् अंश को प्रतिषेध अर्थात् अभाव कहा जाता है। जैसे 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार' में वादिदेवसूरि ने कहा है कि प्रतिषेधोऽसदंश इति। यदि पदार्थ को सदसदात्मक न माना जाय और केवल सद्रूप ही माना जाय तो कोई भी वस्तु अपने स्वभाव के अनुरूप नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अभावरूप होने से और व्यावृत्तिरूप होने से ही अपने स्वरूप से युक्त कही जाती है। इसी तरह वस्तु को सर्वथा अभावरूप माना जाय तो वस्तु को अपने स्वभाव से रहित मानना चाहिए। अत एव प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से सत्, और पररूप से असत् होने के कारण भाव और अभावरूप है। आचार्य श्री हेमचन्द्र ने भी अपनी 'प्रमाणमीमांसा' में इसी बात का समर्थन किया है —

सर्वमस्ति स्वरूपपर-रूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्व सत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसम्भवः ॥

प्रत्येक वस्तु स्वरूप से विद्यमान है और पर स्वरूप से अविद्यमान है! यदि वस्तु को पर-स्वरूप से भी भावस्वरूप स्वीकार किया जाय तो एक वस्तु के सद्भाव में संपूर्ण वस्तुओं का सद्भाव मानना चाहिये। और यदि वस्तु को स्वरूप से भी अभावरूप माना जाय तो वस्तु को सर्वथा रहित मानना चाहिये, जो कि वस्तुस्वरूप से सर्वथा विपरीत है। अतएव घट को छोड़कर अन्य सब पदार्थ का अभाव होने से घट अनेकरूप है। एक पदार्थ का ज्ञान होने से सब पदार्थों का ज्ञान होता है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों के बिना जाने हम एक पदार्थ का ज्ञान करते समय, उस पदार्थ से सम्पूर्ण पदार्थों की व्यावृत्ति नहीं कर सकते हैं। आगम में भी कहा है कि—

"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ। जो सव्वं जाणइ से एगं जाणइ॥"

जो एक पदार्थ को जानता है वह सबको जानता है, जो सबको जानता है वह एक को भी जानता हैं।

जो वादी वस्तु को पररूप से असत् नहीं मानते, घट को सर्वात्मक मानना चाहिये, क्योंकि जिस तरह घट स्व-रूप से सत् है, यदि उसी तरह पररूप से भी सत् हो तो घट किसी भी रूप से असत् न होने के कारण उस (घट) को सर्वात्मक होना चाहिए किन्तु वह होता नहीं है। अतः पररूप से असत् मानने से ही पदार्थ के निश्चित स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। यदि वस्तु अभावात्मक ही मानी जाय यानी सर्वथा शून्य मानी जाय;

तो बोध और वाक्य का भी अभाव होने से 'अभावात्मक तत्त्व' की स्वयं प्रतीति कैसे होगी ? तथा दूसरे को कैसे समझाया जायेगा ? स्वप्रतिपत्ति का साधन है बोध तथा परप्रतिपत्ति का उपाय है वाक्य । इन दोनों के अभाव में स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का दूषण कैसे हो सकेगा ? इस तरह विचार करने से लोक का प्रत्येक पदार्थ भावा-भावात्मक प्रतीत होता है । इस लिए स्व-पररूप से सद्-असदात्मक सब पदार्थों को स्वीकारना चाहिये, अन्यथा प्रतिनियत रूप व्यवस्था की अनुपपत्ति हो जायेगी । जैसे न्यायकुमुदचन्द्र में आचार्य प्रभाचन्द्र ने कहा है—

स्वपररूपाभ्यां सदसदात्मकाः स्वभावाः प्रतिपत्तव्याः, प्रतिनियतरूपव्यवस्थाऽन्यथानुपपत्तेः ।,

स्व-सत् को ही पर-असत् कहा जाय, तो जो सत् है वह असत् नहीं हो सकता । क्यों कि जहाँ विधि और प्रतिषेध दो विरोधी धर्म हों, वहां ऐक्य नहीं हो सकता । यदि कहा जाय कि जैनमतानुसार भी एक ही जगह विधि और प्रतिषेध माना जाता है तो यह कथन उचित नहीं है क्योंकि जैन वस्तु को जिस स्वभाव से सत् मानते हैं उसी रूप से सत् नहीं मानते हैं । जैनमतानुसार प्रत्येक वस्तु स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सत् है और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असत् है अतः जैनमत के अनुसार विरोध के लिये कोई स्थान नहीं है ।

भाव पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भाव पदार्थ से भिन्न अन्योऽन्याभाव को मानने से काम चल सकता है, अतः पदार्थों को अभावात्मक मानने की आवश्यकता नहीं है—ऐसी शङ्का भी हम नहीं कर सकते हैं क्योंकि यदि पदार्थों को पररूप से अभावात्मक नहीं माना जाय, तो पर आदि के अभाव को घट नहीं कह सकते-अत एव घट को पररूप मानना पड़ेगा । जैसे घटाभाव से भिन्न होने के कारण घट को घट कहते हैं, वैसे ही घट को घटाभाव से भिन्न होने के कारण (उसे भी) घट मानना चाहिये ।

तात्पर्य यह है कि किसी वादी के अनुसार अन्योऽन्याभाव को पदार्थ की स्थिति में कारण माना जाता है । वह (अन्योऽन्याभाव) एक स्वतन्त्र पदार्थ है । उक्त वादी के मतानुसार जहाँ घट का अभाव नहीं रहता वहीं घट का निश्चय होता है परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि पट आदि भी घट के अभावरूप नहीं है, इस लिये पट आदि के घट के अभाव से भिन्न होने पर पटादि में भी घट का ज्ञान होना चाहिये । जैन-सिद्धान्तानुसार घट को घट के अतिरिक्त सभी पदार्थों में अभावरूप स्वीकार किया गया है । अतः घट पटादि के भी अभावस्वरूप होने से घट में पट का ज्ञान नहीं हो सकता । इस लिये स्व-पररूप से सदसदात्मक सब पदार्थों को स्वीकारना चाहिये अन्यथा प्रतिनियतरूप व्यवस्था की अनुपपत्ति हो जाएगी । यही न्यायकुमुदचन्द्र में आचार्य प्रभाचन्द्र ने कहा है ।

यदि कहा जाय कि प्रतिनियतरूपव्यवस्था की अनुपपत्ति नहीं होगी कारण पूर्वकथित इतरेतराभाव से ही तद्व्यवस्था हो जायगी, तो यहाँ प्रश्न उठता है कि वह इतरेतराभाव किस स्वभाव का है ? स्वतन्त्र है कि भाव का धर्म है ? इतरेतराभाव स्वतन्त्र नहीं हो सकता क्योंकि वह खण्डित हो जाता है । तब क्या वह भाव का धर्म है ? भाव पदार्थ का धर्म स्वीकारने पर प्रश्न उठता है कि वह किस भाव का धर्म है ? घट का, भूतल का या उभय का ?

यदि उसे घटरूप भाव पदार्थ का धर्म माना जाय तो भी प्रश्न उठ सकता है कि वह घर स्वरूप का निषेधक है या नहीं ? यदि उसे निषेधक माना जाय तो भी यह प्रश्न हो सकता है कि घट में ही वह निषेधक है या भूतल में ? इतरेतराभाव को घट का निषेधक मानना उचित नहीं है क्योंकि घटरूप धर्मी की असत्ता में वह किसका धर्म होगा ? और 'भूतले घटो नास्ति' यह प्रतीति भी कैसे होगी ? क्योंकि घट में ही उस प्रतीति का प्रसङ्ग है । यदि उसे भूतल में घटस्वरूप का निषेधक माना जाये तो— यह मान्यता उचित और जैन मतानुसार सङ्गत भी है क्योंकि घटभावरूप सद्भूत घटधर्म ने ही भूतल में घटस्वरूप का निषेध किया है ।

यदि इतरेतराभाव को घटस्वरूप का अनिषेधक माना जाय तो भूतल में भी घटस्वरूप का प्रसङ्ग होने से अभावकल्पना व्यर्थ हो जायगी। भूतल का धर्म भी उसे नहीं मान सकते क्योंकि 'घटोऽस्ति' इस अस्तिता प्रतीति के समान 'घटो नास्ति' यह नास्तिता प्रतीति भी घट का ही धर्म है। यद्यपि अभाव आधार का धर्म है और उसका धर्म मानने से ही आधेय (घटादि) के साथ सामानाधिकरण्य (अभेद) मानने पर कोई विरोध नहीं होगा। तथापि उभयधर्मशून्य घटपटादि पदार्थ हो जाने से वे खपुष्पवत् असत् न हो जाएँ इस लिए पदार्थ को सदसदात्मक ही मानना चाहिए। पदार्थ जैसे भाव रूप भी है वैसे ही अभाव रूप भी है।

इस अभावरूप प्रमेय को लेकर (दार्शनिकों में) काफी विचार विमर्श हुआ है, मीमांसक प्रभाकर तो अभाव के सम्पूर्ण द्वेषी हैं, पदार्थ को नहीं मानते हैं, बौद्ध भी अभाव को कल्पित पदार्थ मानते हैं, न्याय वैशेषिक वेदान्ती अभाव को भाव से भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकारते हैं। सांख्य इसे अधिकरणस्वरूप मानते हैं और जैनमतानुसार अभावप्रमेय भाव का ही अभावांश है। अर्थात् अभाव पदार्थ का पर्याय स्वरूप है।

इस अभावरूप प्रमेय के भेद को लेकर भी दार्शनिकों में मत भेद विद्यमान है। वैशेषिक सम्प्रदाय में अभाव को प्रागभावादि भेद से चार प्रकार का माना जाता है। नव्यनैयायिक गंगेश प्रभृति आचार्यों ने अभाव के चार प्रकार ही माने हैं। प्राचीन नैयायिक उदयनाचार्य ने भी स्वरचित लक्षणावली में अभाव के चातुर्विध्य का प्रतिपादन किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी इसी बात का समर्थन किया है। किन्तु जयन्त भट्ट के मतानुसार अभाव द्विविध है जैसे प्रागभाव और ध्वंस। वे अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभाव को स्वतन्त्र अभाव नहीं मानते किन्तु उक्त दोनों अभावों के स्थान में प्रागभाव को ही मानते हैं। जैनमतानुसार भी अभाव चार प्रकार का है जैसे प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभाव।

पदार्थ का पूर्व में अनस्तित्व ही प्रागभाव है अर्थात् जिसका विनाश होने पर कार्य की उत्पत्ति हो वह पदार्थ उस कार्य का प्रागभाव है; जैसे घट मृत्पिण्ड के विनाश के द्वारा उत्पन्न होता है अतः मृत्पिण्ड घट का प्रागभाव है। जैसे वादि देवसूरि ने अपने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार में कहा है कि **"यन्निवृत्तौ कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभावः"** कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति के पहले असत् होता है वह कारणों से उत्पन्न होता है। कार्य का उत्पत्ति के पहले न होना ही प्रागभाव कहलाता है। यह अभाव भावान्तररूप होता है। यह तो ध्रुवसत्य है कि किसी भी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती। द्रव्य तो विश्व में अनादि-अनन्त गिनाये गये हैं। उनकी संख्या तो न कम होती है और न अधिक। उत्पत्ति होती है पर्याय की। द्रव्य अपने द्रव्यरूप से कारण होता है और पर्यायरूप से कार्य। जो पर्याय उत्पन्न होने जा रहा है वह उत्पत्ति के पूर्व में पर्यायरूप में नहीं था अतः उसका जो अभाव है, वही प्रागभाव है। यह प्रागभाव पूर्वपर्यायरूप होता है, अर्थात् 'घड़ा' पर्याय जब तक उत्पन्न नहीं हुआ तब तक वह असत् है और जिस मिट्टी द्रव्य से वह उत्पन्न होनेवाला है उस द्रव्य का घट से पहिले का पर्याय घट का प्रागभाव कहा जाता है अर्थात् वही पर्याय नष्ट होकर घट पर्याय बनता है अतः वह पर्याय 'घटप्रागभाव' है।

इसी तरह अत्यन्त सूक्ष्म काल की दृष्टि से पूर्वपर्याय ही उत्तरपर्याय का प्रागभाव है और सन्तति की दृष्टि से यह प्रागभाव अनादि भी कहा जाता है। पूर्वपर्याय का प्रागभाव तत्पूर्वपर्याय है, तथा तत्पूर्वपर्याय का प्रागभाव उससे भी पूर्व का पर्याय होगा, इस तरह सन्तति की दृष्टि से यह अनादि होता है। यदि कार्य पर्याय का प्रभाव नहीं माना जाता है, तो कार्य पर्याय अनादि हो जायगा और द्रव्य में त्रिकालवर्ती सभी पर्यायों का एक काल में प्रकट सद्भाव मानना होगा, जो कि सर्वथा प्रतीति-विरुद्ध है।

जिसकी उत्पत्ति से कार्य का अवश्य विनाश हो वह उस कार्य का प्रध्वंसाभाव है। जैसे कपाल समुदाय की उत्पत्ति होने से नियमत: घट का विनाश होता है अत: कपाल समुदाय ही घट का प्रध्वंसाभाव है। जैसे वादि देवसूरि ने कहा है कि "**यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभावः**"। द्रव्य का विनाश नहीं होता किन्तु विनाश होता है पर्याय का। अत: कारणपर्याय का नाश कार्यपर्यायरूप होता है। कारण नष्ट होकर कार्यरूप बन जाता है। कोई भी विनाश सर्वथा अभावरूप या तुच्छ न होकर उत्तर पर्यायरूप होता है। घट-पर्याय नष्ट होकर कपाल पर्याय बनता है अत: घटविनाश कपालरूप ही फलित होता है।

तात्पर्य यह है कि पूर्व का नाश उत्तररूप होता है। यदि प्रागभाव को न माना जाय तो कार्यभूत द्रव्य घट-पटादि अनादि हो जायगा, और अनादि पदार्थ का नाश नहीं होता है अत: घट-पटादि की नित्यत्वापत्ति होगी। प्रध्वंसाभाव को न स्वीकारने पर कार्यभूत घट-पटादि अनन्त हो जायगा। जैसे विद्यानन्द स्वामी ने '**अष्टसाहस्री**' में कहा है कि—

> **"कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे।**
> **प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥**

और घट-पटादि अनन्त हो जाने पर सभी पर्यायों का सद्भाव अनुभव में आना चाहिये किन्तु वर्तमान में तो एक ही पर्याय अनुभव में आता है। यह शंका भी नहीं करनी चाहिए कि 'घट-विनाश यदि कपालरूप है तो कपाल का विनाश होने पर यानी घटविनाश का नाश होने पर फिर घड़े को पुनरुज्जीवित हो जाना चाहिये क्योंकि विनाश का विनाश तो सद्भावरूप होता है, चूंकि कारण का उपमर्दन करके तो कार्य उत्पन्न होता है पर कार्य का उपमर्दन करके कारण नहीं। उपादान का उपमर्दन करके उपादेय की उत्पत्ति ही सर्वजनसिद्ध है। —प्रागभाव (पूर्वपर्याय) और प्रध्वंसाभाव (उत्तरपर्याय) में उपादान-उपादेयभाव का नाश करके प्रध्वंस उत्पन्न होता है, पर प्रध्वंसका नाश करके प्रागभाव पुनरुज्जीवित नहीं हो सकता। जो नष्ट हुआ वह नष्ट हुआ। नाश अनन्त है। जो पर्याय गया वह अनन्त काल के लिए गया वह फिर वापस नहीं आ सकता। '**यदतीतमतीतमेव तत्**' यह ध्रुव नियम है। यदि प्रध्वंसाभाव नहीं माना जाता है तो कोई भी पर्याय नष्ट नहीं होगा और सभी पर्याय अनन्त हो जायेंगे। अत: प्रध्वंसाभाव प्रतिनियतपदार्थव्यवस्था के लिये नितान्त आवश्यक है।

अन्य स्वभाव से अपने स्वभाव की व्यावृत्ति को इतरेतराभाव या अन्यापोह कहते हैं। जैसे स्तम्भस्वभाव से कुम्भ स्वभाव की व्यावृत्ति होती है। आचार्य वादि देवसूरि ने भी इसी बात को कहा है कि "**स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभाव** इति। एक पर्याय का दूसरे पर्याय में जो अभाव है वह इतरेतराभाव है। स्वभावान्तर से स्वस्वभाव की व्यावृत्ति को इतरेतराभाव कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ के अपने-अपने स्वभाव निश्चित हैं। एक स्वभाव दूसरे का रूप नहीं होता। यह जो स्वभावों की प्रतिनियतता है, वही इतरेतराभाव है। इसमें एक द्रव्य के पर्यायों का परस्पर जो अभाव हैं, वही इतरेतराभाव फलित होता हैं, जैसे घट का पट में और पटका घट में वर्तमानकालिक अभाव है। कालान्तर में घट के परमाणु मिट्टी, कपास और तन्तु बनकर पटपर्याय को धारण कर सकते हैं। वर्तमानकालीन परस्पर व्यावृत्ति ही अन्योन्याभाव है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव से अन्योन्याभाव का कार्य नहीं चलाया जा सकता, क्योंकि जिसके अभाव में नियम से कार्य की उत्पत्ति हो वह प्रागभाव और जिसके होने पर नियम से कार्य का विनाश हो वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है, पर इतरेतराभाव के अभाव या भाव से कार्योत्पत्ति या विनाश का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो वर्तमान पर्यायों के प्रतिनियत स्वरूप की यह व्यवस्था करता है कि वे

एक दूसरे के रूप नहीं हैं। यदि यह इतरेतराभाव नहीं माना जाता, तो कोई भी प्रतिनियतपर्याय सर्वात्मक हो जायगा अर्थात् सब सर्वात्मक हो जायेंगे।

इतरेतराभाव को नहीं मानने पर वादी (चार्वाक) अभिमत पृथिव्यादि तत्त्व सर्वात्मक हो जायगा। जैसे विद्यानन्द स्वामी ने **"अष्ट साहस्री में"** कहा है कि **"सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।** अतीतादि तीन काल से पदार्थों में तादात्म्यपरिणाम की निवृत्ति को अत्यन्ताभाव कहा जाता है। जैसे चेतन का अचेतन में तादात्म्यभाव का अभाव है। इसी बात को वादि देवसूरि ने कहा है कि "कालत्रयापेक्षिणी हि तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभावः" यदि अत्यन्ताभाव को न स्वीकारा जाय तो अन्य दार्शनिक के अनुसार घट-पटादि में भी तो चैतन्य तत्त्व की आपत्ति आ जायेगी ? जो चार्वाक के लिए अनिष्टकारक है। जैसे विद्यानन्द स्वामी ने अष्टसाहस्री में लिखा है कि—
"अन्यत्र समवायेन व्यपदिश्येत सर्वथा।"

अतः एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का जो त्रैकालिक अभाव है वह अत्यन्ताभाव है। ज्ञान का आत्मा में समवाय है, उसका समवाय कभी भी पुद्गल में नहीं हो सकता, यह अत्यन्ताभाव कहलाता है। इतरेतराभाव वर्तमान कालीन होता है। और एक स्वभाव की दूसरे से व्यावृत्ति करना ही उसका लक्ष्य होता है। यदि अन्यन्ताभाव का लोप कर दिया जाय तो किसी भी द्रव्य का कोई असाधारण स्वरूप नहीं रह जायगा। सर्व द्रव्य सब रूप हो जायेंगे। अत्यन्ताभाव के कारण ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का रूप नहीं ले पाता। द्रव्य चाहे सजातीय हो या विजातीय, उनका अपना प्रतिनियत अखण्ड स्वरूप होता है। एक पदार्थ दूसरे में कभी भी ऐसा विलीन नहीं होता जिससे कि उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाय। इस तरह ये चार अभाव जो कि प्रकारान्तर से भावरूप ही हैं, वस्तु के धर्म हैं। इनका लोप होने पर यानी पदार्थों को सर्वथा भावात्मक माना जाय अर्थात् द्रव्य की तरह पर्याय को भी भावरूप स्वीकार किया जाय तो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावों का लोप हो जाने से पर्याय भी अनादि अनन्त और सर्वसंकररूप हो जायँगे तथा एक द्रव्य दूसरे का द्रव्यरूप होकर प्रतिनियत द्रव्यव्यवस्था को ही समाप्त कर देगा। अभी तक हमने अभाव प्रमेय को लेकर विचार किया अब उनके ग्राहक प्रमाण के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त विचार किया जाता हैं।

अभावरूप प्रमेय के ग्राहक प्रमाण के लिये अनेक प्रकार के मत दार्शनिकों में पाये जाते है। मीमांसक कुमारिल के अनुसार अभाव प्रमेय अनुपलब्धिप्रमाणग्राह्य है। बौद्ध अपने कल्पित अभाव को ग्यारह प्रकार की अनुपलब्धियों द्वारा ग्राह्य मानते हैं। वेदान्तियों के मत में घटाभाव, पटाभावरूप अभावों के साथ इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध संभव नहीं होने से प्रत्यक्ष के द्वारा अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता है, अतः वे अभाव के ग्रहण के लिये अभाव या 'अनुपलब्धि' नामक एक पृथक् प्रमाण मानते हैं। किन्तु नैयायिक अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही मानते हैं। और सांख्य ने भी उसको प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही माना है। परन्तु उसके उपपादन का मार्ग भिन्न है। जैन मतानुसार अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ग्राह्य माना गया है। जैसे 'स्याद्वाद-रत्नाकर' में वादि देवसूरि ने कहा है कि **"अभावप्रमाणं तु प्रत्यक्षादावेवान्तर्भवतीति"**।

प्राचीनाचार्यविरचिताः पूर्वमप्रकाशिताश्च

श्रीमहावीरस्य चित्रकाव्यार्चनाः

[विद्वद्वल्लभश्रीपुण्यविजयजीमहाराजानां प्रसादः]

—डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठी

भगवतो महावीरस्य भक्ति-भावितान्तःकरणशालिभिरनेकैः प्राचीनैराचार्यवर्यैरनेकविधानि स्तुतिकाव्यानि विरचितानि सन्ति। तेषु चित्रकाव्यरूपाणि स्तुतिकाव्यान्यपि सुबहूनि विद्यन्ते । गवेषणाकार्यवशादहमदाबादस्थ-(मोटीपोलनिकटे) लूनसावाड़ास्थले विद्वद्वल्लभ-श्रीपुण्यविजयजी महाराजानां सङ्ग्रहागारस्थग्रन्थानां मया निरीक्षणं कृतं, तत्र हि तैर्मुनिमण्डलमण्डनभूतैः कानिचन सर्वथाऽप्रकाशितानि चित्रकाव्यात्मकानि स्तोत्राणि प्रदर्शितानि। विषयेऽस्मिन् रुचेराधिक्यवशाद् यदा ते प्रतिलिपिकरणायादेष्टुं प्रार्थितास्तदा तैरुक्तम्—

"प्रियवर ! अद्य यावन् मया नानाविधा ग्रन्थाः सङ्गृहीतास्तेषां सम्पादन-प्रकाशन-कर्मसु नैकधा समुपयोगार्थं विद्वांस आगताः परं मम मानसेऽत्रविषये महती चिन्ताऽऽसीद् **यदद्य यावत् चित्रकाव्यसम्पदोऽस्या उपयोगार्थं न कोऽपि समागत** इति । किन्त्वद्य भवानागत इति मम मुमूर्षोः सुखायैव । यथेच्छं साहित्यास्योपयोगं करोतु ।" इति ।

ततः परं कियन्मासान्तरमेव ते महात्मानो दिवङ्गताः । हन्त ! तेभ्य एव प्रसादरूपेण सम्प्राप्ताद् दुर्लभसाहित्याद् श्रीमहावीरस्तुतिरूपाणि कानिचित् चित्रकाव्यान्यत्र पुरस्क्रियन्ते —

१—विविधदलात्मकं कमलबन्धमयं श्रीवीरजिनस्तोत्रम् —

इदं स्तोत्रं कस्मिंश्चिदन्यस्मिन् पत्रे लिखितमभूत् । अस्यां रचनायां पद्यस्य प्रतिचरणं प्रथमाक्षराणां योजनेन **'श्रीसोमप्रभसूरीश-पादाम्भोजिप्रसादतः । श्रीसोमतिलकसूरिरकृत स्तुतिपङ्कजम् ।।** इति पद्यमेकमाविर्भवति । अतोऽस्य कर्ता श्रीसोमतिलकसूरिरस्तीति निश्चीयते । अयं सूरिवरः श्रीसोमप्रभसूरि-पट्टपद्माकरप्रबोधनैकप्रद्योतनतया विख्यात आसीत् । अस्य जन्म वि० सं० १३५५ दीक्षा १३६९ सूरिपदं १३७३ स्वर्गगमनं च १४२४ तमे वर्षेऽभूत् । रचनायां सूरिशब्दस्थित्या रचनाकालोऽस्य स्तोत्रस्य १३७३ तो १४२४ विक्रमाब्दमध्यग एव ।

बृहन्नव्यक्षेत्रसमास-सप्ततिशतस्थानप्रकरण-'यत्राखिल'संज्ञक-चतुर्विंशतिजिनस्तुतिवृत्ति-'जयवृषभ' चतुर्विंशति-जिनस्तवनवृत्ति'श्स्ताशर्मादि'-नवस्तुतीनां च रचनाः सूरिवरस्यास्य वैदुष्यविभूषाः सन्ति । श्वेताम्बरजैन-सम्प्रदाये स्तुतिकर्तृ ङ्सम्राड् श्रीजिनप्रभसूरिवरोऽपि स्वनामाङ्कितानि सप्तशतीमितानि स्तोत्राणि सबहुमानमेतस्मा एव प्राभृतीचकार।

अस्य बन्धस्य रचना-विषये स्वयं स्तोत्रकर्ताऽन्तिमे पद्ये क्रमशः **"चतुरष्ट-षोडश-द्वात्रिंशच्चतुरधिकषष्टि-दलात्मकमिदं कमल**"मिति सूचयति परमाकृतिरस्य नास्ति सुलभा । अतोऽस्य बन्धस्य लक्षणमहमेवं कल्पयामि—

पद्यद्वयान्त्यवर्णं मध्ये न्यस्य चतुर्दले ।
कमले पठनादेकः पद्मबन्धो विधीयते ।।१।।

प्रतिपद्यान्त्यवर्णं तु मध्ये न्यस्याष्टपत्रके ।
कमले पठनादन्यः पद्मबन्धो विधीयते ।।२।।
प्रतिपद्यार्ध-चरणस्यान्तिमाक्षरमध्यगम् ।
पत्रैः षोड्शभिर्युक्तं कमलं सुनवं भवेत् ।।३।।
अष्टमाक्षरमध्यस्थं द्वात्रिंशद्दलराजितम् ।
कमलं रचयेदष्टश्लोकैः स्तोत्रगतैः शुभैः ।।४।।
चतुरधिकषष्टिपत्रं, कमलं सुविधाय तत्र मध्यस्थम् ।
वर्णं चतुर्थमत्र प्रति दलं त्रयस्त्रयो वर्णाः ।।५।।

(अप्रकाशित**'चित्रालङ्कारचन्द्रिका'**याम्)

एतदनुसारमस्य स्तोत्रस्य श्लिष्टाक्षरं रकारं कर्णिकायां विलिख्य पत्रेषु पत्राकृतिरूपेण वा शिष्टा वर्णा लेखनीयाः सूचनानुसारं चाष्टभ्यः श्लोकेभ्यो बन्ध-निर्माणं कर्तव्यमिति ।

स्तोत्रस्य पद्यानीत्थं विद्यन्ते—

उपक्रमः—

श्रीमद्वीर स्तुवे धीर सोऽहं धीर हतोऽध्यरम् । महचं त्वारभ सस्मेर-प्रताप-रसवेदिर ।।१।।
भग्नमार नवाचार सूक्तिसार सवासर । रीतितार समाकार शम्पतार जवाज्जर ।।२।।
पापपूर-महाचार दान्तिप्रचर्चितापर । भोगभारभृतागार जिनदास सुखस्मर ।।३।।
प्रसृत्वर तमोभार साकाररजनीकर । दमवारणसिन्दूर तपश्चरणभासुर ।।४।।
श्रीह्रीधीरमणीदार सोत्साहरससङ्कर । मनस्सरसिजोद्धार तिग्मांशो रतिजित्वर ।।५।।
लसत्सुरसुकोटीर कमलारञ्जिताञ्जर । सूक्तिसार सुधागार रिपुवैररजोहर ।।६।।
रजनीरमणाकार कृपानीरज भास्वर । तपस्तरलताधीर स्तुत्यगीर गुणाकर ।।७।।
तिरस्कारसहापार पण्डासीरभ-भास्कर । कल्याणरचयाजूर जन्तूत्कर शिवङ्कर ।।८।।

उपसंहारः —

एवं हृत्कमले स्वभावविमले यस्त्वां निधायामले,
नानारूपदलैः कवित्वविमलैः सम्पूजयत् पुद्गले ।
श्रीमद्वीर सुधीर विश्वकमलाकोटीरहीर प्रभो,
त्वं तं सिद्धवधूकराग्रकमले लीलामरालं कुरु ।।९।।
चतुरष्ट-षोडश-द्वात्रिंशच्चतुरधिकषष्टिदलं कजितम् ।
श्रीवीरस्तुतिकमलं मदयतु सहृदयजनालिकुलम् ।।१०।। इति ।।

२—नागपाशचित्रगर्भं वीरजिनस्तोत्रम्

इदं स्तोत्रं श्रीमद्-**'इन्द्रसौभाग्यगणिवर'** प्रणीतमस्ति । संग्रहे लिखितं पत्रं (ग्र० ६ संख्याकं) **सप्तदश्याः शत्या** अस्ति । एतदनुसारं कविरयं तस्मिन्नेव काले तस्मात् पूर्वकाले वा सञ्जातः । स्तोत्रमिदं **नागपाशाकृत्यां**

लेखनेन चित्रकाव्यत्वं धारयति । अत्र नव पद्यानि सन्ति। प्रत्येकं पद्यमनुष्टुप्छन्दस्येव निवद्धं परं तत्र प्रथम-चतुर्था-ष्टमवर्णानां पाठेषु द्विवारं चतुर्वारं चाकृतयो भवन्ति । आकृतिपठनक्रियाविषये लक्षणमित्थं भवितुमर्हति—

चतुष्कोणेषु वृत्ताढ्यचतुष्कैर्वलनात्मकः ।
पूर्वादिदिक्षु गोलार्ध-तिर्यग्रेखाद्वयाङ्कितः ॥१॥
मुख-पुच्छशिरोभूतः सन्धावावृत्तिसंयुतः ।
मुखादारभ्य पुच्छान्तं पठनाद् **नागपाशकः** ॥२॥ (चित्रालङ्कार-चन्द्रिकायाम्[1])

एतदनुसारं द्वयो रेखयोर्मध्ये सर्पमुखादारभ्याष्टसु दिक्षु चतुष्कोण-वृत्त-चतुष्क-तिर्यग्रेखायुगलपूर्वकवलनेन नागपाशाकृतिर्भवति मुखादारभ्य पुच्छपर्यन्तं पठनाच्च स्तोत्रं समाप्नोति । मध्ये सन्धिस्थलेषु चागतानां वर्णानां द्वे द्वे चतस्रश्चतस्रश्च वृत्तयो भवन्ति तदा **'नागपाशबन्धो'** भवति ।

तत्र स्तोत्रपद्यानीमानि सन्ति—

श्रीमद्वीरजिनाधीशं, शङ्करं जगदीश्वरम् ।
रम्यच्छवि-कनकाभं, भजध्वं सुरपूजितम् ॥१॥
तं नमामि गुणैः कान्तं, तमस्तोम-रवि प्रभम् ।
भव्यचातक-वीघैक-कमनीय-शशिप्रभम् ॥२॥
भवक्षितिरुहं घात-तरलानेकप-प्रभम् ।
भग्नसंसार-मल्लेशं, शश्वन्नतसुरासुरम् ॥३॥ (युग्मम्)
रमात्रिदश-कोटीर-रत्नै रक्त-पदाम्बुज ।
जय त्वं लोकविपिन-नवीन-घन-सन्निभ ॥४॥
भव-रत्ननिधौ पाप-पतत्सुजन-रक्षकम् ।
कलभव्य-जनव्रात-तर्जिताखिल-दुर्गदम् ॥५॥
दयावान् स जिनोऽमन्दं दद्यादानन्दमाशु वः ।
वर ब्राह्मीरमागार-रमणीयमुखाम्बुजः ॥६॥
जम्भजिन्मदमत्तेभ-भञ्जकेभारिलाञ्छनः ।
नवीन-श्रीकम्ररूप-पवित्रित-सुविष्टपः ॥७॥
परप्रीतिः सदा पाप-पङ्क-शोषे रविप्रभः ।
भवभेदजयस्तम्भ-भविनां देहि सच्छिवम् ॥८॥
वञ्चनारण्यदाहैक-तप्तज्वाला-हुताशनः ।
विशुद्धनागपाशेन संस्तुतो वीरशम्भुराट् ॥९॥[2]

अयं हि नागपाशबन्धः पूर्ववर्तिभिरलङ्कारशास्त्राचार्यैर्नागबन्धनाम्नैव व्यपदिष्टः किञ्च तेषु तेषु नागबन्धेषु

---

१. अयं ग्रन्थ आसां पङ्क्तीनां लेखकेनैव विरचितोऽप्रकाशितश्च विद्यते ।

२. अत्र विशिष्य स्वल्पकृष्णवर्णेन प्रकाशिता वर्णा आवृत्तिभाजः सन्ति ।

प्राय एकेनैव च्छन्दसा बन्धस्यास्य रचना विहिताऽस्ति । अत एवायं बन्धः पूर्वापेक्षया नवीन इति कवेरस्य वैशिष्ट्यं सुधियां कृत आह्लादकमेव ।[1]

३—आतपत्रमयं चित्रकाव्य-स्तोत्रम्

अस्यामेव सप्तदश्यां शत्यां लिखितं द्वितीयमप्रकाशितं चित्रकाव्य-स्तोत्रं **श्रीकक्कसूरेः** शिष्यवर्यं **'श्री धर्म-सुन्दरमुनि'**—विरचितं विद्यते । अस्य बन्धस्य रचना पञ्चदश-पद्यैर्विहिताऽस्ति । यत्रादिमं पद्यमन्तिमं च पद्यं कवेः स्तोत्र-विषयकोपक्रमोपसंहारौ विद्येते । शेषाणि त्रयोदश पद्यानि चामर-शिखर-वस्त्रवलन यष्टि-छत्रोत्तोलन-स्थल-यष्टिगत-मुष्टि ग्रहणस्थलवलनेषु विभक्तानि पठनीयानि सन्ति । पठनप्रकारस्त्वित्थं कल्प्यते—

वलनदशकयुक्ते छत्रवस्त्रे क्रमेण प्रपठत शरसंख्यावन्ति पद्यानि नूनम् ।
चरणयुगलपाठेष्वाद्यमध्यान्त्यवर्णाः, पुनरपि परपद्ये श्लिष्टतां सम्भजन्ते ॥१॥
षष्ठ पद्यं सूत्रमध्ये चतुर्धा वलनात्मके ।
सप्तमं च पटप्रान्ताक्षरैः सम्पठ्यते बुधैः ॥२॥
अष्टमं मध्ययष्टिस्थैरक्षरैर्वाचयेत् सदा ।
नवमं वस्त्रशीर्षे स्याच्छिखराक्षरसंयुतम् ॥३॥
छत्रोत्तोलनसंस्थाने दशमं पद्यमापठेत् ।
एकादशं यष्टिमुष्टौ द्वादशं दक्षचामरे ॥४॥
त्रयोदशं वामसंस्थे चामरे पठनादयम् ।
आतपत्रमयश्चित्रबन्धो विज्ञैर्विधीयते ॥५॥

(—चित्रालङ्कार-चन्द्रिकायाम्)

अनया रीत्या नवीन एवायं चित्रबन्धः कविना विरचित इति वक्तुं पार्यते । प्रस्तुतं स्तोत्रं मूलत इत्थं विद्यते । उपक्रमः —

श्रीवर्द्धमानं ह्यभिनौम्यमानममानदेवैः परिणूयमानम् ।
अहं महं तं सुगुणैरनन्तं पवित्रछत्राकृतिकाव्य-बन्धात् ॥१॥

बन्धान्तर्गतानि पद्यानि—

कर्पूरपूरामलकीर्तिभार रम्भोरुदम्भोरुतमस्तसूर्य ।
शोभाभरोद्भासिशरीरधीर, रङ्गद्गुणश्रेणि-विभासिताश ॥२॥
विनोदमेदःशिरसाभिरामं, ममं ततं देहि मुदा जिनेश ।
दाराश्रकारापदमेव मूर्त्या, त्यागद्रुमत्वं नय मे विनाशी (शिन्) ॥३॥
सतां नमद् भव्यशिरोललाम, महः समूहारणजे भजन्ते ।
गरीयसीं स्वश्रियमाप्नुवन्ति, तिर्यक्त्वमाप्ता अपि चारु वाकम् ॥४॥
रात्तप्रियोऽङ्गीकृतरुग्विकारो, रोदः प्रकाशोऽपि च रुद्रनाथम् ।
नीत्या तुलां ते लभते वराकः, कलाक्षयी चेन्दुरसावशर्मा ॥५॥
रसैर्मनोज्ञां लसदुच्चभावां, वाणीं स्तुवेऽहं तव याममन्द ।
वीतातपासत्तटिनीवनासे, सेव्या सुरैर्या विगतावबाध ॥६॥

---

१. "नागबन्धानां विशिष्टज्ञानाय विलोक्यतां "संस्कृत साहित्य में शब्दालङ्कार" इति लेखकस्यास्य शोधप्रबन्धः । पृ० ३८९-३९१ ।

श्रीसारदादाननिदानमेनं, नमन्ति येरस्थिरवन्दितापाः ।
पारङ्गतं तत्त्वविदो लभन्ते, ते हस्तविन्यस्तपर्विविभूतिम् ॥७॥
श्रीवीर नीरागसदाविशोकं, कलङ्कहीने न विभक्ति-योगम् ।
गताभ्रचक्रोऽपि च यस्य धैर्यं, यशः शशी ते कथमादधाति ॥८॥
सत्केवलश्रीर्नवसिद्धिवध्वोर्द्द ढस्तनानां सहसोपभोगम् ।
श्रीत्रैशलेयाद्भुतपादसेवां, करोति मर्त्यामरसङ्गमङ्गम् ॥९॥
विमुच्य कान्तावदनप्रसङ्गं, गङ्गो जरा-राजितमाशु चारु ।
रुचा शुचिस्वर्णततप्रणागं गतो यदंह्रिद्वितयीमनन्ताम् ॥१०॥
नवीन-हेमाम्बुजपुञ्जकान्ती, नवालिनीरावसुरीसुगेयौ ।
नगारिवन्द्यौ कृतवैरिशान्ती-नन्द्यौ क्रमौ मे शरणं त्वदीयौ ॥११॥
विश्वामराधीश्वरवन्द्यभाववरेण्यमानन्दकरं शरण्यम् ।
विश्वार्तिहं पूर्वगतस्वभावं वन्दे विभुं वीरमहं शुभाय ॥१२॥
कान्तातपत्रत्रितयीत्रिनेत्रभावं वहद्भास्वरभूरि कान्ति ।
भास्वद्भवानीपतिवन्नितान्तं, शस्तं यशः स्तौमि मुदा तवेति ॥१३॥
मदविघूर्णितनेत्रसुधारसोल्लसदनङ्गपरिप्लुतविग्रह ।
लवणमद्भुतदैवतयोषितां स्तुतिपदं जिनभक्तिमहामहा ॥१४॥

उपसंहारः —

इत्थं **'श्रीगुरुकक्कसूरि'**चरणाम्भोजन्म-भृङ्गोपमं,
प्रोन्निद्रामल**'धर्मसुन्दर'**कृतं प्रीत्युल्लसन्मानसात् ।
श्रीमद्ब्रह्मपुराधिनाथजनयश्रीवर्धमानप्रभो —
श्छत्रालङ्कृतसंस्तवं पठति यः स स्यात् पदं सम्पदाम् ॥१५॥

४—हारबन्धगर्भः श्रीवीर-हीर-स्तवः

अयं स्तव एकस्मिन् हारबन्धरूपे पत्रेऽङ्कितः प्राप्तः। अस्य कर्तुर्नाम किमपि न लभ्यते। बन्ध-पद्येष्वपि नामाङ्कनं पुष्पिका च न स्तः । अतोऽत्र विषये किञ्चिदपि कथनं दुःशकमेव। परमेतादृश-हारबन्धानां **प्रचारः** किल पञ्चदश्यां शत्यामासीदिति श्रीकुलमण्डनसूरेः 'पञ्चजिनहारबन्धस्तव'स्य[१] तथोपाध्यायजयसागरस्य 'विज्ञप्ति-त्रिवेणी'स्थ[२] पद्यानामवलोकनादनुमीयते। अतोऽस्य रचयिताऽपि सप्तदशशत्याः कश्चनाचार्योऽस्तीति निश्चप्रचम् ।

---

१. इदं स्तवनं **'गरीयो गुणश्रेण्यरेणं प्रवीणं'** इत्यत आरभ्य **'गर्जदूर्जितगजं न समीहे'** इत्यन्तं त्रयोविंशति पद्यैर्ग्रथित विद्यते । बन्धेऽस्मिन् द्वात्रिंशन्मणयो द्वे अष्टदलकमले, मध्यनायकस्तदुपरि नव पत्रात्मकं पुष्पं, दोरक प्रान्तभागे चत्वार्यावरणानि च सन्ति । एवं बन्धोऽयमतीव विस्तृतः पूर्वतनप्राप्तेदृशबन्धेभ्यश्च नवीनोऽस्ति पद्यानीमानि 'जनर्ल आफ दि यूनिवर्सिटी आफ बाम्बे' इत्यस्य त्रयोदशतमे भागे सितम्बर **१९५४** तमे व १११४ तः ११६ तमपृष्ठं यावत् मुद्रितानि सन्ति ।

२. अस्य चतुर्विंशतिपद्यान्यपि तत्रैव पृ० ११८ तः १२० पर्यन्तं द्रष्टव्यनि ।

अयं हारबन्धो विचित्र एव । अस्मिन् विंशति-मणयः, द्वे चतुर्दलात्मके पुष्पे, मध्ये नायक-फलकं तदुपरि सप्तदलं पुष्पं सर्वत्र मध्यदोरकदोरकग्रन्थिश्चे ति भागाः सन्ति । अस्य पठन-पद्धतिरित्थमस्ति—

दोरकमुखतः प्रतिमणि, दक्षावर्तं भ्रमन् विशेन्मध्ये ।
पुष्पयुगलयोः पाठे, कमलाकृति-पद्धतिर्ज्ञेया ॥१॥
मध्यगनायकपीठे, चतुरस्रं पुरा भ्रमेत् क्रमशः ।
पश्चात्तिर्यग्रेखां मध्यमरेखे च सम्पठेत् पश्चात् ॥२॥
ऊर्ध्वं नायकपुष्पं, मध्यार्णं श्लेषपूर्वकं कृत्वा ।
प्रपठन्नग्रे गच्छेत्, पूर्ववदेव शिष्ट-भागेऽपि ॥३॥
प्रान्ते दोरकयुगलग्रन्थि द्विस्थलयोः क्रमेण पठतः ।
पूर्ति गच्छति बन्धो, हाराख्यो नूतनः सम्यक् ॥४॥

(—चित्रालङ्कारचन्द्रिकायाम्)

अस्य स्तवस्य मूलपाठश्चैवं विद्यते—

श्रीवर्धमानस्मरजित्वरोक्तिः कृतामिव श्रीसति भक्तिभाजि ।
नतामराधीशततिर्मयापि स्तूयेत सानन्दमनिन्द्यकान्ति ॥१॥
लक्ष्मीलीला मन्दिरा कन्दकल्पा श्रेयोवल्ल्यालक्षयन्ती शिवौकः ।
श्रीमन् विश्वाधीश ते ज्ञातसूनो धन्यैराशे श्रीयते शश्वदाज्ञा ॥२॥
नमति यो मतिमान् सकलाङ्गिनां शुभनिदानभवं मम दर्प्पकम् ।
लभति पूर्णसमस्तसमीहितो भवशिवालयनिर्मलशर्म सः ॥३॥
तपःशालि वप्रप्रशस्ताम्बुदापः पदाब्जं सुरङ्गं गतापायजातः ।
गुणव्रातसिंहे गुहाभं प्रमीते गुरुश्रीपदं भङ्गुरानङ्गमीडे ॥४॥
रुषा वर्जितं त्वन्मतं विश्ववन्द्य क्रमाम्भोजरुच्यार्थसार्थप्रभावि ।
जराजन्ममृत्यूच्छिदे यत्नसेव्यं गजारिध्वजप्राप्यभक्तिर्भजेयम् ॥५॥
तिथिव्रणी शुभ्रयशा ललद्बलः पुमानभीतिः स भवेद्गुणोज्ज्वलः ।
करोति यस्ते प्रणुतिं विभोऽनिशं लोकत्रयी कल्र पुलाकिते भुवि ॥६॥
जयोरुसंसारपयोधिपोत तपोनिधेर्बाधित लोभमाय ।
यमाकरस्यारयशोभिशोभी भीशोकमुक् शर्म्मरमापयोज ॥७॥
रतिप्रियस्फातिहरावसार धियः प्रशस्तातिशयास्तकर्म्मन् ।
तिरस्कृतापायधियः सुवर्णभासारसाधीरवसेति कर्म्मन् ॥८॥
तिरस्कृतापायसुवर्णभासां साधीयसे ते कति नो नमन्ति ।
श्रीरग्रबाध्याततविश्वपावी (तनुष्व तन्मे) वरतत्त्वमार्गम् ॥९॥
शोभिन् ही तर्क-पङ्कार्कधीर, तन्याः श्रेयः प्रास्ततन्द्रप्रभाव ।
(...) ॥१०॥

वृथाभूत-मिथ्यात्वदोपावकाशः, शुभोद्योतवृत्तिस्त्रिलोकी विभूषा ।
कुकर्म्मोपतापच्छिदाश क्रनन्द्या, सदा वीतकुत्सः प्रजोद्यद्दिनेशः ॥११॥
लाभाय सिद्धे सुधिये यमस्मयं, ध्यायन्ति हेलाविहिताहितक्षय ।
गजारि-लक्ष्मारिमरीणसम्पदः. स वीतराग (प्रवरो धु)रीणः ॥१२॥
नमन्ति श्रियारं रसास्त्रेयशोग-गयेशाः प्रकामं मनोऽभीष्टये न ।
धराध्यान ये धीधनाधीरचित्ते धरन्ते गताबाध ते नाम-मन्त्रम् ॥१३॥
राज्यं नो शम्भाराजिसश्रीकमीहे नापि श्रीवीराधीश्वरेष्टा शिवश्रीः ।
ज्ञानाकूपारे शाश्वतो नन्दसारे, भूयान्मे साज्ञा भुक्तिरेका त्वयीन ॥१४॥
कूर्दन्ते ह्रीर्यस्य सार्द्धं सुरीभिः सर्वे देवाः कूर्म······सगर्द्धम् ।
नष्टापीयोन्वर्धनामच्छितीश, श्रीदेवार्यो नन्दतादस्तकामः ॥१५॥
तारप्रतापो वरभुक्तिमुक्तिश्रियां प्रदाता भयपूषशम्भुः ।
विभुस्त्वमेको जगतेऽस्तु नीतवीरैधिविद्यागुरु···तरीते ॥१६॥
श्रीवीतनायकमुदारगुणेश के ते,
ये धारयन्ति नवमं स्तवहारमेतम् ।
ते कर्म्म विश्वभयदाक्षयनाथदेहा,
ह्यस्यं महोदयवधूं विबुधा भजन्ते ॥१७॥ इति ॥

एकमेवान्येऽपि केचन चित्रबन्धास्तत्र सुरक्षितासु पाण्डलिपिषु[1] सङ्गृहीताः सन्ति येषां व्यवस्थापनेन चित्रनिर्मापणेन च भगवतो महावीरस्य यशोगानेन सहैव संस्कृत-साहित्ये चित्रकाव्यसम्पदोऽपि समृद्धिः सुतरां विदुषां प्रमोदाय भवेदिति जैन-सम्प्रदाय-परम्परापोषकैस्तत्र यतितव्यम् ।

१—साम्प्रतमिमाः पाण्डुलिपयोऽहमदाबादस्थ-लालभाई दलपतभाई भारतीयसंस्कृति-विद्यामन्दिरे सुरक्षिताः सन्ति ।

तृतीयो भागः

जैन-वाङ्मयानुशीलनम्

आर्हती दृष्टिस्तदीया विमृष्टिश्च

डॉ० मण्डनमिश्र:, प्राचार्य:

संस्कृत-साहित्यं विभिन्नासु चिन्तन-धारासु प्रवहत् सद् मानवसमाजं भूयसा कालेनाप्याययति। अस्मिन् साहित्ये वैदिक-जैन-बौद्धादि-सम्प्रदायानां प्रतिक्षेत्रं परिपूर्णतां प्राप्तं साहित्यं विलसति, निरन्तरं नवनवैरुन्मेषैश्चाहरहस्तत्समेधते। अस्यां चिन्तनधारायामादिकालादेव दार्शनिक्या दृष्टे: प्रामुख्यं व्याप्तमभवत्। सर्वेऽपि सम्प्रदायाचार्या: प्रवर्तका वा दर्शनमेव जीवन-दर्शनं मन्वानास्तस्यामेव दिशि चिन्तनानि प्रास्तुवन्। तानि च चिन्तनानि स्वस्य लोकस्य हितकाम्ययाऽतीव प्रचारं प्रसारं प्राप्तानि। तत्र हि मानवस्य स्वनिकटवर्तिनां पदार्थानां ज्ञानाय प्रयासास्तैश्च सह तस्य क: सम्बन्ध:, को वा तस्य सम्बन्धस्य निरूपणं कुरुते, कानि वैतेषां सम्बन्धज्ञप्ते: साधनानि सन्तीतिप्रश्नानां समाधानचिन्तनस्य या: शाखा: प्रचलितास्ता एव 'दर्शन'नाम्ना व्यवह्रियन्ते।

भारतीयदर्शनस्य प्रमुखरूपेण षट्शाखा: सन्ति, या: क्रमेण न्याय-वैशेषिक-योग-साङ्ख्य-मीमांसा-वेदान्तनामभि: परिगण्यन्ते। किञ्च वेदानां प्रामाण्यमस्वीकुर्वन्त्यश्च तिस्र: शाखा: क्रमश: चार्वाक-बौद्ध-जैननाम्ना सर्वत्र घोष्यन्ते। एतासु शाखासु जैनदर्शनस्य या शाखा विद्यते तस्या विषयेऽत्र किमपि विमर्शयितुकामा: स्म:।

जैनदर्शनस्य सत्ता स्वतन्त्ररूपेण विकासं सम्प्राप्य बहो: प्राचीनात् कालादेव स्वकीयं महत्वं ख्यापयति। सेयं दार्शनिकी शाखा जिनोदिततत्त्वानां वैशद्येनेतरेभ्यो दर्शनेभ्य: किमपि वैशिष्ट्यं धारयन्ती प्रकृतासु वास्तविकीषु समस्यासु स्वकीययैव दृष्ट्या कीदृशमपि पूर्वाग्रहं परित्यज्य विमुक्तेन भावेन विचारयति। विशुद्धायां दार्शनिक्यां दृष्टाविदमत्यावश्यकं यत् सा विचारधाराया: स्थूलं रेखाङ्कनं कस्मादप्यन्यस्मादप्राप्यैव सर्वथा स्पष्टायां शिलापट्टिकायां लेखनं प्रारभेत। एतदनुसारं जैनदर्शनं स्वतन्त्रविचारधाराया भित्तौ स्वीयानां विचाराणां भवनं निर्मीमीते परम्परा-निर्मिताच्च पूर्वाग्रहादात्मानं रक्षति। अतोऽत्रैवं वक्तुं शक्यते यद् जैनदर्शने शब्दप्रमाणं दार्शनिक्या दृष्टेरनुगमनं करोति, अन्येषु दर्शनेषु तु तानि तानि दर्शनान्येव शब्दप्रमाणमनुसरन्ति।

अत्रैवेदपि सूचनीयमस्ति यद् दर्शनान्तरेषु जैनदर्शनं नास्तिकमिति प्रदिपादितमस्ति, तस्य च कारणं वेदानां प्रामाण्यस्वीकाराभाव एव। किन्त्वेतद्विषये 'नास्तिक'शब्दो न युज्यते। यतो हि 'अस्ति नास्ति दिष्टं मति:' (पा० सू० ४।४।३०) इत्यनुसारं नास्ति दिष्टमिति मतिरस्ति यस्य स नास्तिक इत्येवार्थं शब्दोऽयं कथयति, तदनुसारं च परलोकसत्तां स्वीकुर्वाणा आस्तिका अन्ये च नास्तिका इति वक्तुं युज्यते। जैनदर्शनं तद्विषये नास्ति मौनभाक्। अतो नास्ति नास्तिकं जैनदर्शनमित्येव साधीय:। अस्ति कञ्चिद् विषयेषु दर्शनान्तरै: सह साम्यमस्य दर्शनस्य। यथा हि—१—दु:खस्यात्यन्तिकनिवृत्ति: परमसुखप्राप्तिलक्ष्यं वोभयत्र समानम्। २—कठोरतप:साधनाप्रभृतिभि: कायिक-वाचिक-मानसिक-क्रियाणां नियमनपूर्वकमन्त:करणस्य शुद्धि: परमात्मन: साक्षात्कृतिश्चोभयोश्चरमं लक्ष्यम्। एतदर्थमेव जैना आजीवनं सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्राणां सम्प्राप्तये प्रयतन्ते। अतो जैनदर्शनमपि तदेव सोपानमधिरूढमस्ति यस्मिन् दर्शनान्तराणि समधिरूढानि।

जैनसिद्धान्तानामाद्यप्रवर्तका: श्रीऋषभदेवाभिधा: प्रथमतीर्थङ्करा: सन्ति। तेषां परम्परायामन्ये त्रयोविंशतितीर्थङ्करा अप्यभूवन्। ते हि क्रमशो 'अजितनाथ-सम्भवनाथ-अभिनन्दन-सुमतिनाथ-पद्मप्रभु-सुपार्श्वनाथ-चन्द्रप्रभ-सुविधि-

नाथ-शीतलनाथ-श्रेयांसनाथ-वासुपूज्य-विमलनाथ-अनन्तनाथ-धर्मनाथ-शान्तिनाथ-कुन्थुनाथ-अरनाथ-मल्लिनाथ- (मल्ली-देवी)-मुनि सुव्रत-नमिनाथ-नेमिनाथ-पार्श्वनाथ-महावीरादयः सन्ति । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ 'उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढमकेवली पढमतित्थयरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्थे' (२।३०) इत्यादि वर्णयित्वा श्रीऋषभदेवस्य 'अर्हद्' नाम प्रकटितम्, एत एव जैनदृष्ट्या 'आत्मविद्यायाः प्रथमं पुरस्कर्तारोऽभवन् ।[1] श्रीमद्भागवते श्रीमन्तं ऋषभदेवं ब्रह्मविद्यापारगमिति कथयित्वैतेषां सुतशतमात्मविद्याविशारदत्वेन वर्णितम्[2] । एतेषां ज्येष्ठः पुत्रो भरतस्तु महायोगिरूपेण संस्मृतः । एतेषामर्हतामुपासकत्वेन ख्यातानां जैनानां धर्म 'आर्हत-धर्म' इति नाम्ना व्यपदिश्यते स्म । धर्मो दर्शनं च मानवजीवनस्य द्वे अभिन्ने अङ्गे स्तः । यदा मानवश्चिन्तनस्य समुद्रे गाम्भीर्येण निमज्जति तदा दर्शनस्य जन्म भवति, किञ्च यदा तस्य चिन्तनस्य जीवने प्रयोगं विदधाति तदा धर्मस्यावतारणा जायते । अनया दृष्ट्या दर्शनं मानवस्यानुभूतीनां तर्कपूर्णां व्याख्यां विधाय समग्रस्य विश्वस्याधारभूतानां सिद्धान्तानामन्वेषणं करोति । धर्मोऽपि विश्वस्य विश्वस्याध्यात्मिक-मूल्यन्तद् विवेचयितुं प्रयतते किञ्चोभावपि मानवीयज्ञानस्य योग्यतायां यथार्थतायां चरमतत्त्वे च विश्वासं धारयतः । अत एवेदं स्पष्टमस्ति यद् धर्म एव दर्शनं दर्शनमेव धर्मश्चेति ।

आर्हतो धर्म, आर्हतं दर्शनं दृष्टिर्वा तीर्थङ्कराणां व्यवहारेभ्य उपदेशेभ्यश्च मूर्तं रूपं दधार । तत्रापि चरम-तीर्थङ्करत्वेन प्रख्याता वर्धमान-महावीराभिधास्तीर्थङ्कराः 'केवलज्ञान'-प्राप्तये व्रतानां पालनं कुर्वन्तो यानि तपांस्यसाधयन् सर्वज्ञत्वोपलब्ध्यनन्तरं च यानुपदेशान् वितरितवन्तस्त एव धर्म-दर्शन-रूपेण लोकानां कल्याणाय व्यापृतवन्तः । तेषूपदेशेषु मुख्यत्वेन १—साधुभ्य इन्द्रियनिग्रहपूर्वकं कठोरब्रह्मचर्यपालनं संसाराच्च निर्लेपस्थितये समुपदिष्टम् । दिगम्बररूपेण साधवो वसेयुरित्युपदिशद्भिस्तैः प्रतिपादितं यत् 'साधवो वस्त्राणि न परित्यक्ष्यन्ति तावत् तेषां मानसादुत्तमानुत्तमयोर्विचारा नापयास्यन्ति ते निर्लिप्ताश्च न भविष्यन्ति' ।

ततः परं च भगवता महावीरेण 'चित्तशुद्धे'रावश्यकता प्रतिपादिता तदर्थं च सम्यक्चारित्रसम्पादनायो-पदिष्टम् । केवलज्ञानोपलब्धये परिव्राजकतापूर्वकं गृहस्थेभ्यो भिक्षायाचनं ततश्च निर्वहणं समुपदिश्य १—अहिंसा २-असत्यत्याग—३-अस्तेय—४-ब्रह्मचर्य—५-अपरिग्रहव्रतानां पालनाय चोपदिष्टम् । यद्यप्येते नियमाः पतञ्ज-लिना योगशास्त्रेऽपि स्वीकृताः परं व्यापकरूपेणैतेषां परिभाषा यथा जैनसम्प्रदाये प्रवर्तिता परिभाषिता च विद्यते न तथा तत्र ।

एवमेव मोक्षमार्गे प्रवर्धनाय तैर्देशना दत्ता यत् 'जीवात्मनो मोक्षमार्गं प्रत्यग्रेसरत्वाय मिथ्यात्व-सासादनमिश्र--अविरत-सम्यक्त्व-देशविरति-प्रमत्त-अप्रमत्त-अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण- सूक्ष्मसाम्पराय-उपशान्तमोह-क्षीणमोह- संयोगि-केवलि-अयोगिकेवलि-प्रभृतीनां चतुर्दशगुणस्थानानामनुभवपूर्वकं ततः सम्प्राप्तज्ञानस्य साक्षात्कार आवश्यक इति । तदिदं गुणस्थानं मोक्षप्राप्तय ऊर्ध्वगतिशीलस्य जीवस्वरूपस्यैकोऽवस्थाविशेषोऽस्ति । मोक्षमार्गे पुरो वर्धनाय शरीरस्य, वचसो मनसश्च नियन्त्रणं नितान्तमावश्यकं प्रोक्तम् ।

भगवतो महावीरस्य शिष्या गणधरनाम्ना विख्याताः सन्ति । एत एव गणधराः 'सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं' (आवश्यकनिर्युक्ति० १९२) इत्यनुसारं सूत्राणां रचनामकुर्वन् । गणधरैश्चैतेषां रचना स्वीयेन मनसा न कृता, अपि तु न भगवतो महावीरस्योपदेशानुसृत्य विहिताऽस्त्यत एवैतेषां प्रामाण्यं स्वीक्रियते । एतेनेदमपि स्पष्टं भवति यदर्थरूप-शास्त्राणां कर्ता भगवान् महावीरः शब्दरूपशास्त्राणां च कर्तारो गणधराः सन्तीति । जैनपरम्परानुसारं तीर्थङ्करा

---

१. धम्माणं कासवो मुहं,—उत्तराध्ययनसूत्रम्, १६ अ. २५ ।

२. श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः । श्रीमद्भागवते, ११।२।२०॥

नाम भवन्त्वनेके परं तेषामुपदेशेषु साम्यमेव भवति । तस्मादेव नन्दिसूत्रे (सू० ५८) समवायांगसूत्रे च जैनागमानाम-नाद्यनन्तत्वं प्रतिपादयितुं प्रोक्तम्—

इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुविं च भवइ च भविस्सइ य, धुवे निअये सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे' इत्यादि ।

प्राचीने काले एतानि शास्त्राणि 'श्रुत'नाम्ना प्रसिद्धान्यासन् । तदनुसारमेव च 'श्रुतकेवली'-'श्रुतस्थविर'-प्रभृतयोऽप्यत्र भवन्ति स्म ।[1] साम्प्रतं श्रुतस्थाने 'आगम' इति नाम बहुप्रसिद्धम् । एते ह्यागमा पञ्चचत्वारिंशत् संख्यकाः, सन्ति तेषु च अङ्गग्रन्था एकादश, उपाङ्गग्रन्था द्वादश, प्रकीर्णग्रन्था दश, छेदसूत्राणि षट्, मूलग्रन्था-श्चत्वारः, स्वतन्त्रग्रन्थौ च द्वौ । आगमेष्वेतेषु परलोक-ज्योतिष्कदेव-द्वीप-समुद्र-विविधगर्भ-जन्म-परमाणुकम्पन-परमाणु-सांशताप्रभृतिविषयाश्चर्चिताः । अध्यात्मतत्त्वसाधनायाश्च मार्गा आदिष्टाः । मुक्तात्मनो निर्वाणस्य विषये च भूरि वर्णितम् । सामाजिकी व्यवस्था, विद्याभ्यासपद्धतिः, राज्यसंस्थाः तेषां कर्मप्रवृत्तयः, राज्ञां वैभव-विलासाः, विभिन्नाः सामाजिक्यः प्रणाल्यः, युद्धम् आचारप्रणाली, दण्डव्यवस्था, विविधाः कलाः, नगरोद्यानधर्मसभानां वर्णनानि, आहार-प्रक्रियाः, तापसानामध्यवसायाः, व्यापारव्यवसायाः उपासकचर्याश्च बहुधा परामृष्टाः । कथाभिस्तत्त्वचर्चाभिश्च सम्बोध्य सम्बोध्य परमलक्ष्यं निर्वाणं प्रति जनाः सन्ततं प्रेरिताः ।

जैनधर्मस्य लक्ष्यं पूर्णाया वीतरागविज्ञानतायाः प्राप्तिरस्ति । इदं वीतराग-विज्ञानं मङ्गलमयं मङ्गलकरं च विद्यते, अस्यैवालोके मानवोऽर्हत्पदं प्राप्नोति । सेयं वीतरागता सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय्याः समन्वितया साधनया उपलभ्यते । साधना चेयमनेकान्तदृष्टिसाध्या । अस्या दृष्टेरुपलम्भाय तत्त्वज्ञानमावश्यकमिति कृत्वाऽऽगमेषु यत्र तत्र प्रसृतानां तत्त्वज्ञान-विषयाणां सर्वतः प्रथमं सङ्ग्रहः श्रीमदुमास्वाति-मुनिना स्वीये 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे' विहितः । यथा वसुबन्धुः पालि-त्रिपिटकेषु विकीर्णां बौद्धदर्शनसामग्रीं सङ्कलय्य स्वीयेऽभिधर्मकोशाख्यग्रन्थे व्यवस्थापितवान् तथैवा-सावपि वैज्ञानिक्या पद्धत्या सर्वं व्यवस्थाप्य स्वोपज्ञभाष्येण च संयोज्य पुरस्कृतवान् । एवं जैनदर्शने 'आर्हतीं दृष्टिं' संस्कृते स्पष्टयितुं सर्वप्रथम आचार्य उमास्वातिरेवाभूदिति वृत्तकार आचक्षते ।

जैनदर्शनस्य तत्त्वानामाधारो मनुष्यस्य दैनन्दिनोऽनुभवोऽस्ति । अत एव जना एतद् दर्शनं प्रत्यक्षवादि-दर्शनस्य श्रेण्यां परिगणयन्ति । अनुभवस्य विभिन्नतामाश्रित्यास्मिन् दर्शने सर्वविधेषु दर्शनेषु दार्शनिकी सत्यता ऽङ्गीकृता । एतदस्यैव दर्शनस्यौदार्यं यत् सर्वप्रकारकेषु दार्शनिकसिद्धान्तेषु कस्मिंश्चिदंशे सत्यस्यान्वेषणं क्रियते । अतः स्थूलरूपेणैवं वक्तुं पार्यते यद् जैनचिन्तनस्य मूलाधारोऽयमेवास्ति यत् सर्वाणि दर्शनान्यंशतः सत्यान्यंशतश्चासत्यानि सन्ति ।

जैनाचार्यैर्विश्वस्य प्राकृतिकाप्राकृतिकस्वरूपाणां विचारणया सप्तविधानां मूलतत्त्वानामन्वेषणं विहितमस्ति । तानि च तत्त्वानि—१—जीव, २—अजीव, ३—आस्रव, ४—बन्ध, ५—संवर, ६—निर्जरा, ७—मोक्षाभिधानि सन्ति ।

एतेषां तत्त्वानां ज्ञानं जैनमतेऽपि परदर्शनवत् प्रमाणैर्भवति । अतो जैनदर्शनकारा दर्शनज्ञानं प्रत्यक्ष-परोक्ष-रूपप्रमाणयोरन्तर्गतं मन्वते । अस्य ज्ञानस्य द्वौ भेदौ भवतः । यथा—१—निर्विकल्पकं ज्ञानम्, २—सविकल्पकं ज्ञानं च । तत्र हि निर्विकल्पज्ञानस्य चत्वारः प्रकाराः सन्ति—१—चक्षुः, २—अचक्षुः, ३—अवधि ४—केवलाख्याः । सविकल्पकज्ञानस्य च पञ्च प्रकाराः—१—मति, २—श्रुत, ३—अवधि, ४—मनःपर्यय, ५—केवलाख्याः सन्ति ।

१. उमास्वातिमुनिना स्वीये तत्त्वार्थभाष्ये श्रुतस्य पर्याया एवं दर्शिताः—आप्तवचन-आगम-उपदेश-ऐतिह्य-आम्नाय--प्रवचन-जिनवचनमित्यादि । (१।२०)

एवं सविकल्पकज्ञानस्य पञ्च प्रकारकाणि ज्ञानानि 'प्रत्यक्ष'-परोक्ष'-प्रमाणयोर्भेदेन द्वयोः प्रमाणयोरन्तर्गच्छन्ति। उमास्वातेः कथनमस्ति यत्, तद् यथार्थं ज्ञानम्, यद् जीवः कस्यापि साहाय्यं विना स्वयं प्राप्नोति तत् प्रत्यक्षज्ञानमस्ति। एतेनेदं स्पष्टं भवति यत् प्रत्यक्षप्रमाणं स्वतः प्रमाणमस्ति। अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाणे स्वयं कस्यापि साहाय्येन विना, प्रामाण्यमस्ति। अस्मिन् जीवः स्वतन्त्ररूपेण साक्षाद् ज्ञानं प्राप्नोति।

सिद्धसेनदिवाकरश्च स्पष्टमेवाकथयद् यत् प्रमाणं तु तदेव ज्ञानं विद्यते यदात्मानं परांश्च निर्विघ्नं प्रकाशयति। अत एव 'प्रत्यक्ष-परोक्षा'वुभे प्रमाणे स्वपराभासिनी भवतः। कथनेनानेन स्पष्टं भवति यत् प्रत्यक्ष-प्रमाणाय जैना इन्द्रियाणां मनसश्चापेक्षां न स्वीकुर्वन्ति। तस्मादेवेदं सदा यथार्थं ज्ञानमेवोत्पादयति। एतस्मादेव कारणादवधि-मनःपर्यय-केवलानि त्रीण्येव वस्तुतः प्रत्यक्षस्य भेदत्वेन स्वीकृतानि। प्रमाणं कदापि मिथ्या न भवति। यज्ज्ञानं मिथ्या भवति तत्प्रमाणं भवितुं नार्हति।

एवं मुख्यतया जैनदर्शने प्रत्यक्ष-परोक्षाख्य प्रमाणद्वयमेव स्वीकृतम्। केचनान्ये ग्रन्थकाराश्चत्वारि प्रमाणा-न्यपि लिखन्ति, तेषां मते १—प्रत्यक्ष, २—अनुमान, ३—औपम्य, ४—आगमाः प्रमाणानि सन्ति।

प्रमाणद्वयमेतद्धि भेदोपभेदैर्बहुविधं भवति, तत्रैव च—नानाविधानि विभिन्नान्यदर्शनकारैः स्वीकृतानि प्रमाणा-न्यन्तर्भवन्ति। एतैः सह जैनदर्शने तत्त्वानां ज्ञानस्य पुष्टये दृष्टिभेदेन 'नय'स्यावश्यकतां जैनाः प्रकटयन्ति। अतो जैनदर्शने नयस्यापि विशिष्टं स्थानमस्ति। नयस्य ज्ञानाय चैवमुच्यते—

जैनाः प्रत्येकं वस्तुनि अनेकान् 'धर्मान्' मन्वते। तेषु यदा केनाप्येकेन धर्मेण वस्तुनो निश्चयः क्रियते, यथा 'नित्यत्वधर्मेण आत्मादीनि वस्तूनि नित्यानि सन्ति' इति निर्णयः कर्तव्यो भवेत् तदा स निर्णयो नयेन भवति। अत्र केवलमेकांशस्य बोधो भवति, परं यदाऽनेकैर्धर्मैः कस्यापि वस्तुनोऽनेकरूपेण विनिश्चयः क्रियेत तदा स प्रमाणपदवीं समारोहति। अत्रानेकांशानां बोधो भवति। एवं अनेकान्तदृष्ट्या कस्यापि विषयस्य यथार्थं ज्ञानं प्राप्यते।

नयस्य च द्वौ भेदौ स्तः। १—निश्चयनयो २—व्यावहारिकनयश्च। निश्चयनयेन तत्त्वानां वास्तविकं ज्ञानं भवति। तत्त्वानां स्वाभाविका यावन्तो गुणाः सन्ति, तेषामेव स्वरूप-परिचयो निश्चयनयेन भवति। व्यावहारिकनयेन च विषयाणां सांसारिकदृष्ट्या ज्ञानं सम्पद्यते। एतदतिरिच्य जैनमते भिन्न-भिन्नमंशं भिन्नभिन्नया दृष्ट्या परिज्ञातुं बहूनां नयानामुल्लेखो विद्यते, येषु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकस्तथैतयोः प्रभेदाः नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्दादयो भूरिशः सन्ति।

एवं तत्त्वानां यथार्थं ज्ञानं प्राप्तुं तस्य निर्णय एकया दृष्ट्याऽनेकया दृष्ट्या च परमावश्यकोऽस्ति। तस्मादेव प्रमाणस्य नयस्य च ज्ञानं तत्त्वज्ञानायात्यन्तमावश्यकमस्ति। अस्यां स्थितौ यदा कस्यापि तत्त्वस्य विचारः स्यात्तदा तस्यानेकेषां धर्माणां विचारोऽपि कर्तव्य एव। तदैव तस्य वस्तुनो वास्तविकः स्वरूप-परिचयो लब्धुं शक्यते। अतो जैनानां मते शङ्कराचार्यस्य मतवत् 'सद्' न नित्यम्; बौद्धानामिवोत्पाद-विनाशाभ्यां युक्तं प्रतिक्षणं विनाश्यपि नास्ति; किञ्च साङ्ख्यानामिव चेतनपुरुषस्य रूपे कूटस्थं तथाऽचेतनायाः प्रकृते रूपे परिणाम्यपि नास्ति, न्याय-वैशेषिकानामिव परमाणुरूपे नित्यं तथा कार्यरूपेऽनित्यं वा नास्ति। इमे भावा एवात्र स्याद्वादस्यानेकान्तवादस्य वा जन्मदातारः।

यथार्थज्ञानायान्यवस्तूनां सम्भावना अपि परीक्षितव्या भवन्ति। एवैव वार्ता जैनमते 'स्यात्'पदेन स्वीकृताः तदर्थं च सप्तानां भङ्गानां सप्तधा सम्भावनानां वा विचारः कृतः। तेषु तासु वा सप्तविध-सम्भावनासु चानन्तधर्म-शालिनो वस्तुनोऽन्याः सम्भावना अन्तर्भवन्ति। अनया दृष्ट्या सप्तभङ्गा एते भवन्ति—

१—स्यात् अस्ति द्रव्यम् ।
२—स्यात् नास्ति द्रव्यम् ।
३—स्यात् अस्ति नास्ति च द्रव्यम् ।
४—स्यात् अवक्तव्यं द्रव्यम् ।
५—स्यात् अस्ति च अवक्तव्यं द्रव्यम् ।
६—स्यात् नास्ति च अवक्तव्यं द्रव्यम् ।
७—स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं द्रव्यम् ।

एतासु सर्वास्वस्थासु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावस्वरूपाणामाधारेण भिन्न-भिन्नानामवस्थानां सम्भावनाः कर्तुं शक्यन्ते तथा वस्तुनः पूर्णपरिचयस्य चेष्टा साधयितुं शक्यते । इदमेव स्याद्वादस्यानेकान्तवादस्य वोद्देश्यम् ।

आर्हत्यां दृष्टौ विचारोऽयमपूर्व एवास्ति । अन्येषां दर्शनानामिव जैनदर्शनमपि मुख्यरूपेणाचारविचारेभ्य एवोत्पन्नम् । अत्राचार-विचारसम्बन्धि साहित्यमपि पर्याप्तं विकसितं विद्यते । तत्र भगवतः श्रीमहावीरस्योपदेशाः प्राधान्येन व्यापृताः सन्ति । एतदप्यत्र वक्तुं युज्यते यदागमानां माध्यमेन तत्सर्वमपि विशदमस्ति सङ्कलितमत्र यस्मिन् विश्वस्य सर्वासां समस्यानां सरलं समाधानं निहितं विद्यते । यद्यप्युत्तरकालिकैराचार्यैः सम्प्रदायवलाद् वहुत्र केषाञ्चिद् विषयाणामालोचनमपि प्रस्तुतं किन्तु परस्परं प्रत्यालोचनाभिस्तद्दुरूहतरमेव सम्पन्नम् । वास्तविकता च दूरे गता । तथापि व्यष्टि-समष्टि-समन्वयरूपैरध्ययनं कुर्वाणेभ्यो दृष्टिरियं ज्ञानवृष्टिकरी स्यादेवेत्यलं पल्लवितेन ।

अनेकान्तसमादरः

आचार्य आनन्द झा

सप्तभङ्गीमाश्रितः स्याद्वाद एव जैनदार्शनिकैरनेकान्तवादनाम्नाऽप्यभिधीयत इति सुविदितचरं दर्शनजगत्परिचयवताम् । जैनदर्शनसर्वस्वभूतस्यास्यानेकान्तवादस्य समादरः प्रायः सर्वैरेवान्यैरपि दार्शनिकैः क्रियते तत्तत्स्थल इत्यस्ति जैनदर्शनमेरुदण्डायमानस्यास्य वैशिष्ट्यमनपलपम् ।

तथाहि—दर्शनसोपानश्रेणीषु प्राथम्यमुपादधानाश्चार्वाका आपरमाण्वन्तं सर्वत्र चैतन्यमभ्युपगच्छन्तोऽपि जडत्वाजडत्वयोरुभयोर्विकल्पेन जायमानस्यापामरसाधारणस्य लोकव्यवहारस्य सिद्धये सर्वव्यापकस्य ज्ञानापरपर्यायस्य चैतन्यस्य क्वचित् स्पष्टत्वं क्वचिच्चास्पष्टत्वमभ्युपगच्छन्त्येव । यतो ह्यन्यथा, प्रस्तरादिषु 'जडा एते" इत्येवं जायमानस्य जडत्वव्यवहारस्य प्राणिषु सर्वेषु "चेतना एते" इत्येवं जायमानस्य चेतनत्वव्यवहारस्य सम्पादनं नार्हेद्भवितुम् । सति चैवमेतत् सिद्धं यत् सर्वव्यापकेऽपि चैतन्ये विकल्पेन स्पष्टत्वास्पष्टत्वयोरुभयोरापातदृष्ट्या विरुद्धत्वेन प्रतीयमानयोरस्तित्वमवगच्छन्ति चार्वाका अपि स्थलविशेष इति तेऽपि दत्तसमादरा जैनदर्शनसर्वस्वभूतायानेकान्तवादाय ।

बौद्धा अप्येवं प्रत्यक्षानुमानयोरुभयोर्विकल्पेन भावाभावख्यापकतया प्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तो विलोकयितुं शक्यन्त एव स्थलविशेषे धृतानेकान्तसमादराः । अयम्भावः—बौद्धसिद्धान्ते प्रत्यक्षं प्रति विषयस्यापेक्षिततया भावात्मकस्य विषयस्य सत्त्वेन भावप्रत्यक्षस्थले भवितुमर्हति प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यम् । परन्त्वभावज्ञानस्थले अभावे व्यापकस्य सत्त्वस्याभावेन तद्वद्याप्यस्य विषयत्वस्याप्यभावाद् विषयाभावेन न भवितुमर्हति प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमिति अभावनिर्णयः प्रतियोग्यनुपलब्धिहेतुना धूमेन हेतुना वह्निनिर्णय इव जायते । सति चैवं क्वचित्प्रत्यक्षस्य प्रामाण्येऽपि क्वचिदन्यत्र न प्रामाण्यम्, क्वचिच्चानुमानस्य प्रामाण्येऽपि क्वचिदन्यत्र न तस्य प्रामाण्यमिति स्वीकारेण विधीयत एवानेकान्तवादसमादर इति साधु शक्यते वक्तुम् ।

वस्तुवादिभिर्दार्शनिकैर्वैशेषिकैरपि स्थलविशेषे क्रियमाणोऽनेकान्तसमादरः स्वीकर्तव्य एव । यतो हि पर-अपर--परापर-भेदेन सामान्यत्रैविध्यमभ्युपगच्छद्भिस्तैर्हि अधिक-न्यूनवृत्तित्व-रूपयोः परत्वापरत्वयोः सापेक्षत्वं समभ्युपगम्यत एव । अयम्भावः—द्रव्यगुणकर्मसु त्रिष्वपि वर्तमाना सत्ता जातिः परा, घटपटादिमात्रवृत्तिघटत्वपटत्वादिजातिरपरा, द्रव्यत्वगुणत्वादिका जातिस्तु सत्ताजात्यपेक्षयाऽल्पस्थानवृत्तित्वादपरा, घटत्वरूपत्वाद्यपेक्षयाऽधिकस्थानवृत्तित्वाच्चापरेति परापरेति स्वीक्रियते वैशेषिकैः । सति चैवं सामान्यस्य न परत्वमैकान्तिकं न वाऽपरत्वमैकान्तिकमिति वैशेषिकैः स्वीकारेण जायत एव तत्राप्यनेकान्तवादादरः सुस्पष्टः ।

एवं कथाशास्त्रिभिर्नैयायिकैरक्षपादपदपातिभिः क्रियतेऽनेकान्तसमादरः प्रमाणप्रमेयभावाभ्युपगमस्थले । यतो हि प्रमाणस्यापि प्रमीयमाणताकाले प्रमेयत्वम् । प्रमेयस्य सतोऽपि च तस्य प्रमेयान्तरप्रमासाधनताकाले प्रमाणत्वं भवतीति स्वीक्रियत एवं हि तैरपि प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवदिति सूत्रानुसारम् ।

अयम्भावः —हीरकतोलनाय निर्मिता काचन स्वर्णतुला कदाचिल्लौहतुलया शक्यत एव तोलयितुम् । सति चैवं तत्र लौहतुलातोलितायां हीरकतोलिकायां स्वर्णतुलायां नन्वेकस्यां सापेक्षतया प्रमाणत्वमपि प्रमेयत्वमपि चेति तत्र कथञ्चित् प्रमाणतायां कथञ्चिच्च प्रमेयतायामपि स्वीकृतायां जायत एव तत्रानेकान्तवादसमादर इति ।

तथैव कर्ममीमांसकैरपि वैदिक-विज्ञानिभिर्विधीयमानोऽनेकान्तसमादरः शक्यते सुस्पष्टतया द्रष्टुं याज्ञिक-साधनविकल्पाभ्युपगमस्थले । अयम्भावः—"यवैर्यजेत व्रीहिभिर्वा यजेते"ति वैदिकविधि-विचारावसरे कदाचिद्यवानां पुरोडाशादि प्रकृतितया यागसाधनत्वं कदाचिच्च व्रीहीणां तथात्वेन भागसाधनत्वमिति स्वीक्रियते कर्ममीमांसकैः । तथा "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति", "नातिरात्रैः षोडशिनं गृह्णाती "ति वैदिकविधिविचारावसरे विधिवाक्ययोस्तयोरुभयोः प्रामाण्याविशेषाद् उत्सर्गापवादाभ्युपगमासम्भवाच्च परस्परविपरीततया प्रतीयमानयोरपि षोडशिग्रहणाग्रहणयोरेकत्रैव यागे खल्वेककर्त्तृकत्वमिति मीमांसासिद्धान्तः । अतः सुस्पष्ट एव स्थलविशेषे कर्ममीमांसासिद्धान्तेऽपि नन्वनेकान्तत्व-समादर इति ।

ब्रह्ममीमांसकानां वेदान्तिनां तु गतिरियं सर्वाधिकं सुस्पष्टा । यतो हि दृश्यमानस्य प्रपञ्चस्य समग्रस्यास्य त्रिकालाबाध्यतया परमार्थसत्तां ब्रह्मापेक्ष्यासत्यत्वं प्रातिभासिकरज्जु-सर्पशुक्तिरजतादिकमपेक्ष्य च सत्यत्वं प्रतिपाद्यते तैः । अयम्भावः —शाङ्कराद्वैतवेदान्तसिद्धान्ते पारमार्थिकी व्यावहारिकी प्रातिभासिकी चेति त्रिविधा तावदभ्युपगम्यते सत्ता । यत्र प्रथमा ब्रह्मणि, द्वितीया व्यावहारिके जगति, तृतीया च रज्जुसर्पशुक्तिरजतादाविति व्यावहारिके जगति परामर्थसद्ब्रह्मापेक्षयाऽसत्त्वस्य शुक्तिरजताद्यपेक्षया चाधिकसत्त्वस्याभ्युपगमेन सत्तायां सापेक्षत्वाभ्युपगमात् लब्धा-वसरो जायते तावदनेकान्तवादः ।

नैतावदेव, प्रपञ्चे स्वाश्रयत्वेनाभिमतनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपस्य मिथ्यात्वस्य समन्वयाधिष्ठानभूते ब्रह्मणि पारमार्थिकत्वेन जगन्नास्तीति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावोऽपि भवत्यनिवार्यतया मन्तव्य-स्तेषाम् । सति चैवं पटवत्यपि भूतले घटत्वेन पटो नास्तीत्याद्यभावस्याप्यभ्युपगमेन एकत्रैवाधिकरणे स्वगतधर्मपुरस्कारेण स्वस्य परगतधर्मपुरस्कारेण स्वात्यन्ताभावस्यापि च सत्ताभ्युपगमात् सर्वथा दुरपलपोऽनेकान्तवाद-समादरस्तन्मत इत्यलमधिकेनेदानीम् ।

अनेकान्तवाद् का शास्त्रीय स्वरूप

डॉ० चक्रधर बिजल्वान

ज्ञान के साधनों के विश्लेषण के लिए प्रमाणमीमांसा नामक एक स्वतन्त्र शास्त्र है, इसी को न्याय, न्यायशास्त्र, आन्वीक्षिकी आदि नामों से भी पुकारा जाता है। भारतीय न्याय की मुख्यतः तीन धाराएँ हैं—वैदिक, जैन तथा बौद्ध। भारतीय ज्ञान-विज्ञान की परम्पराओं का आधार प्रायः वेद माना जाता है और इस दृष्टि से न्याय भी अपवाद की कोटि में नहीं आता। हाँ इतना अवश्य है कि आधार कोई भी रहा हो या माना जाता हो प्रत्येक शास्त्र के प्रवर्तन में उसके अपने आचार्यों का असाधारण महत्त्व है। इस दृष्टि से उपर्युक्त तीन परम्पराओं के आदि बिन्दु हैं—अक्षपाद गौतम, महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध। अक्षपाद गौतम ने तो स्वयं ही अपनी पूर्ववर्ती न्यायपरम्परा से सामग्री का संचय करके न्यायसूत्र की रचना की, पर जैन और बौद्ध न्याय को महावीर स्वामी तथा महात्मा बुद्ध ने नहीं, अपितु उनके अनुयायी तार्किकों ने एक विशिष्ट रूप दिया। यह तो स्पष्ट ही है कि किसी भी शास्त्र में एक से अधिक धाराओं या परम्पराओं का प्रचलन उत्तरवर्ती आचार्यों के मतभेद के आधार पर होता है। पर विचार-विमर्श के अन्तर्गत प्रत्येक धारा में कुछ ऐसे भी तत्त्व अनायास ही आ जाते हैं जो वैमत्य के नहीं, अपितु नवोन्मेष के प्रतीक हुआ करते हैं। यही कारण है कि मूल सूत्रों या ग्रन्थों के भाष्य, टीकाएँ, प्रटीकाएँ आदि भी सम्बन्धित शास्त्र के सम्बन्ध में पूर्व परम्पराओं की नवीन या सरल व्याख्या के साथ-साथ नवीन-तथ्यों का भी उद्घाटन करती हैं। यही बात किसी शास्त्र की विभिन्न धाराओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जैन न्याय में अन्य दो धाराओं की तुलना में जो नवीन उद्भावनाएँ की गई हैं, उनमें से अनेकान्तवाद बहुत महत्त्वपूर्ण है।

ज्ञान बहुत बड़े अंश तक व्यक्तिनिष्ठ होता है। अतः मूलतः वस्तुनिष्ठ होने के बावजूद उसमें ऐकान्तिक विश्वस्तता सम्भव नहीं है। अर्थात् यह सम्भव नहीं है कि जिस वस्तु को 'क' जिस रूप में देखता हो, 'ख' भी उसको उसी रूप में देखे। ज्ञान में रूपभेद, उपयोगिताभेद, इन्द्रियशक्तिभेद आदि के अतिरिक्त व्यक्तिनिष्ठता और वस्तु-निष्ठता के अनुपात में भी अन्तर होता है। यह बात भावात्मक और अभावात्मक दोनों ही पक्षों पर लागू होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो ज्ञाता में कर्तृत्व के साथ व्यक्तिनिष्ठता भी रहती है। ज्ञेय की वस्तुनिष्ठता कर्तृत्व के साथ संलग्न व्यक्तिनिष्ठता के स्पर्श से बच नहीं सकती। ज्ञान की आत्मवत्ता में ज्ञाता की व्यक्तिनिष्ठता और ज्ञेय की वस्तुनिष्ठता समाहित रहती है। अतः कोई भी ज्ञान ऐकान्तिक नहीं है। यही वह संकल्पना है, जिस पर जैन दर्शन का अनेकान्तवाद मूलतः आश्रित है।

जैन नैयायिकों के दृष्टिकोण के आधार पर अनेकान्तवाद का विश्लेषण करने से पहले जैन न्याय परम्परा का विहंगावलोकन कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

जैन दार्शनिक परम्परा

ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह माना जाता है कि भगवान पार्श्वनाथ जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर थे। उनसे २५० वर्ष बाद ५९९ ई० पू० में भगवान् महावीर का जन्म हुआ। महावीर ने ३०वें वर्ष में प्रव्रज्या ली और

तत्पश्चात् १२ वर्ष तक कठोर तप कर **केवलज्ञान** प्राप्त किया । उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम थे, वे ही प्रथम गणधर भी कहलाते हैं। कहा जाता है कि इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर के उपदेशों को बारह अंगों में निबद्ध कर बारहवें अंग में ३६३ दृष्टियों का विश्लेषण किया था, किन्तु वह अब उपलब्ध नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने जैनदर्शन के कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का नवीन ढंग से विश्लेषण किया। ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता के सिद्धान्त का प्रवर्तन भी सर्वप्रथम उन्होंने ही किया। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में नियमसार और प्रवचनसार पर्याप्त प्रसिद्ध हुए। जैनपरम्परा के जिन अन्य आचार्यों ने प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान किया उनके नाम व प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं :—

उमास्वाति—(तत्त्वार्थाधिगम सूत्र), सिद्धसेन दिवाकर (न्यायावतार, सन्मतितर्कसूत्र), जिनभद्र (विशेषावश्यक भाष्य), सिद्धसेन गणि (तत्त्वार्थ टीका), समन्तभद्र (गन्धहस्तिमहाभाष्य; आप्तमीमांसा), अकलंक (अष्टशती, न्यायविनिश्चय) विद्यानन्द (अष्टसाहस्त्री), माणिक्यनन्दि (परीक्षामुखसूत्र), प्रभाचन्द्र (प्रमेयकमलमार्तण्ड), कल्याणचन्द्र (प्रमाणवार्तिकटीका), देवसूरि (प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार), हेमचन्द्र (प्रमाणमीमांसा), हरिभद्र सूरि, [षड्दर्शनसमुच्चय), गुणरत्न (षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति), तथा यशोविजय गणि (न्यायप्रदीप, तर्कभाषा, न्यायरहस्य, न्यायखण्डखाद्य)।

अनेकान्तवाद ज्ञानमीमांसा की ही नहीं अपितु तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से भी विवेचनीय है। संक्षेपतः यह एक दृष्टिकोण है जिसके अनुसार जैनदर्शन का समग्र विचारचक्र चलता है। जैसे मध्यमप्रतिपदा बौद्धदर्शन और धर्म की मूल आधारभित्ति है, उसी प्रकार अनेकान्तवाद जैनदर्शन का आधारस्तम्भ है।

अनेकान्तवाद का तार्किक स्वरूप

जैन न्याय को ध्यान में रखने पर अनेकान्तवाद को अनुमान प्रमाण सबंधी परामर्श की एक विशेष विधा भी माना जा सकता है। इस रूप में इसको सप्तभङ्ग नय, सप्तभङ्गिनय या सप्तभङ्गी नय कहते हैं। जैन तार्किकों के अनुसार किसी वस्तु के सभी पहलुओं का ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता। अपूर्ण जीवों का ज्ञान एकाङ्गी होता है। सत्य के केवल एक पक्ष का ज्ञान नय कहलाता है।[1] अपने ही ज्ञान को एकमात्र सत्य मानने से तत्त्व या परमार्थ की रक्षा नहीं हो सकती। अतः जैन दार्शनिकों के मतानुसार जीवों का ज्ञान सापेक्ष होता है। सापेक्ष का आशय है कि व्यक्ति अपने ज्ञान को केवल एक अंग, अंश या सीमा में सही समझे और दूसरों के ज्ञान की सत्यता की सम्भावना से भी इन्कार न करे। इस प्रकार की सापेक्षता का सूचक शब्द है **'स्यात्'**। जब हम यह कहते हैं कि 'स्यात् अस्ति घटः' तो इसका अर्थ यह है कि किसी एक पक्ष, देश, काल आदि को ध्यान में रख कर हम घट की सत्ता मानते हैं।

जैन दार्शनिकों के अनुसार वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—दुर्नय, नय और प्रमाणवाक्य। संभावित नास्तित्व के होते हुए भी यदि यह कहा जाय कि 'घटः अस्ति एव' तो यह दुर्नय कहलायेगा, क्योंकि इसमें अस्ति अंश पर जोर दिया गया है। इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि 'घटः अस्ति' तो यह नय है,[2] क्योंकि इसमें नास्तित्व को छिपाया नहीं गया है। यदि 'स्यात् अस्ति घटः' यह कहा जाय तो यह प्रमाणवाक्य माना जायगा। आचार्य समतभद्र का कथन है कि स्याद्वादनय संस्कृत ज्ञान को ही क्रमभाविज्ञान माना जाता है[3]। समन्तभद्र के बाद न्यायावतार नामक ग्रन्थ में भी स्याद्वाद श्रुत को सम्पूर्ण अर्थों का निश्चय करानेवाला

१. एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः, न्यायावतार, २९।
२. नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्य अर्थस्य अंशतः तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविषयो नयः, देवसूरि।
३. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्। क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥ आप्तमीमांसा १०१।

कहा गया है। स्याद्वाद और केवलज्ञान में इस दृष्टि से तो साम्य है कि दोनों ही समस्त तत्त्वों का प्रकाशन करते हैं, किन्तु इस दृष्टि से अन्तर भी है कि केवल ज्ञान में पदार्थों का प्रत्यक्ष दर्शन होता है और स्याद्वाद की विधा परोक्ष पर आश्रित है[1]। आचार्य अकलंक ने श्रुत के दो उपयोग बताये हैं—स्याद्वाद और नय। सम्पूर्ण वस्तु के अभिधान को स्याद्वाद कहते हैं, और वस्तु के एकदेशकथन को नय कहा जाता है[2]।

जैन तर्कभाषाकार यशोविजय ने 'नय' का संक्षेप में बोधगम्य विश्लेषण किया है। उनके मत में 'नय' न तो प्रमाण है और न अप्रमाण, ठीक वैसे ही जैसे कि समुद्र का एक देश (अंश) न तो समुद्र है न असमुद्र ही[3]।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि नय प्रमाण और अप्रमाण कुछ भी नहीं हैं, तथापि प्रमाण द्वारा प्रमेय के ग्रहण में वह प्रमाण का सहायक तो है ही। नयों के तीन विभाग किये जा सकते हैं—ज्ञाननय, अर्थनय और संग्रहनय। ज्ञाननय विचारात्मक या कल्पनात्मक होता है। अर्थनय वस्तु के मौलिक सत्त्व की मर्यादा को बाँधकर काल्पनिक अभेद तक पहुँच जाता है। संग्रहनय जब दो द्रव्यों में सादृश्यमूलक अभेद को विषय मानकर आगे बढ़ता है तो उसकी वस्तु-मूलकता का ह्रास हो जाता है। कतिपय जैनाचार्यों ने नय के इन भेदों को महत्त्व न देकर सुनय और दुर्नय नाम से नयके दो भेद किये हैं। उनके मतानुसार जो नय अपने अभिप्राय को प्रमुखता देकर भी अन्य नयों के अभिप्राय का निषेध नहीं करता, वह सुनय है और जो नयान्तर का निषेध करता है, वह दुर्नय है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

जैन दार्शनिक वस्तु को अनेकान्तात्मक मानते हैं। 'अन्त' का अभिप्राय है अंश या धर्म। प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते हैं। न तो वस्तु सब प्रकार से सत् होती है और न असत्; न सर्वथा नित्य और न सर्वथा अनित्य। सभी प्रकार की ऐकान्तिकता के विपरीत जैन दार्शनिकों के मत में वस्तु कथंचित् असत्, कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य होती है। इस प्रकार वस्तु के अनेकान्तपरक कथन का नाम स्याद्वाद है, तथा संबंधित वस्तु के एक धर्म के सापेक्ष कथन का नाम नय है। समन्तभद्र के मत में सर्वथा एकान्त को त्याग कर सात भङ्गों या नयों की अपेक्षा से स्व-भाव की अपेक्षा सत् और पर-भाव की अपेक्षा असत् आदि के रूप में जो कथन किया जाता है, वह स्याद्वाद कहलाता है[4]।

'स्यात्' शब्द से अनेकान्तात्मक अर्थ की अभिव्यक्ति कैसे होती है, इस संबंध में तत्त्वार्थवार्तिककार का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'स्यात्' शब्द क्रियावाचक भी होता है, किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में 'स्यात्' शब्द निपात के रूप में प्रयुक्त हुआ है[5]। निपात के रूप में भी स्यात् शब्द के अनेक अर्थ हैं। उनमें से यहाँ अपेक्षावश अनेकान्तात्मक अर्थ

---

१. स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यतस्त्वन्यतमं भवेत्॥

२. उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा॥ लघीयस्त्रय, ६२।

३. प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिणस्तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषा नयाः। प्रमाणैकदेशत्वात् तेषां ततो भेदः, यथा हि समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाणं न वाऽप्रमाणमिति, नयपरिच्छेदः।

४. (क) स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृतचिद्विधिः। सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः। आप्तमीमांसा॥
(ख) अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः।

५. स च तिङन्तप्रतिरूपको निपातः। तस्यानेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु सम्भवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो गृह्यते। तत्त्वार्थवार्तिक। पृ० २५३

का ग्रहण होता है। जहाँ तक यह प्रश्न है कि साधारणतया लोग बातचीत में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नहीं करते, अकलंक के मतानुसार वक्ता यदि कुशल हो तो स्यात् का प्रयोग किये बिना भी स्यादर्थ की प्रतीति स्वयं हो जाती है[1]।

'स्यात्' शब्द का अर्थ 'शायद' 'कदाचित्' या 'संभव' नहीं है। स्यात् का अर्थ है— एक सुनिश्चित दृष्टिकोण से किसी वस्तु के किसी एक धर्म का वर्णन करते हुए भी उसके अन्य धर्मों का अस्तित्व स्वीकार करना। संक्षेप में स्यात् शब्द अनेकान्तता का द्योतक है। वह अपने निकट वाचक शब्द की अपेक्षा करता है। 'स्यात्' के द्वारा द्योतनीय अर्थ के कथन के लिए उसके साथ अन्य शब्दों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु कतिपय आचार्यों के मत में 'स्याद्' शब्द द्योतक भी है और वाचक भी। वाक्य के साथ जुड़ने पर वह संबद्ध अर्थ का सूचन भी करता है और निपात होने के कारण अनेकान्तता का द्योतन भी[2]।

अनेकान्तता और सर्वधर्मात्मकता में अन्तर है। 'चेतन' में अनेक धर्म हैं, पर सर्वधर्म नहीं, क्योंकि वह जड़ के धर्म से रहित है। जैनाचार्य वस्तुस्थिति से भिन्न कल्पना को असत् मानने के साथ-साथ यह भी कहते हैं कि वस्तु के एक धर्म के दर्शन में ही उसके समग्र रूप को भी देखने का अभिमान करना अनुचित नहीं है।

अनेकान्तवाद और सप्तभङ्गी नय

अनेकान्तवाद को सप्तभंगी नय भी कहते हैं। तत्त्वार्थराजवार्तिककार के अनुरूप विभिन्न प्रश्नों के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान से अविरुद्ध विधि और निषेध की कल्पना सप्तभंगी नय कहलाती है। अष्टसाहस्री के अनुसार विधि और प्रतिषेध पर आधारित कल्पनामूलक भंग इस प्रकार हैं :—

१. विधि कल्पना—स्यात् अस्ति एव
२. प्रतिषेध कल्पना—स्यात् नास्ति एव
३. क्रमशः विधि-प्रतिषेध कल्पना—स्यात् अस्ति नास्ति च
४. युगपद् विधिप्रतिषेधकल्पना—स्यात् अवक्तव्यः
५. विधिकल्पना और युगपद् कल्पना—स्यादस्ति चावक्तव्यः
३. प्रतिषेधकल्पना और युगपद्प्रतिषेधकल्पना—स्यान्नास्ति चावक्तव्यः
७. क्रम और युगपद् विधिप्रतिषेधकल्पना—स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः

यशोविजय के मतानुसार सप्तभङ्गी सात प्रकार के प्रश्नों और सात प्रकार के उत्तरों पर निर्भर है[3]। जैन दर्शन के सभी पक्षों पर नय का प्रभाव है।

एकान्तवादी दर्शन वस्तुओं का एकपक्षीय रूप ग्रहण करते हैं। यानी वे अपने मत को निश्चयात्मक मानते हैं। सांख्य सत्कार्यवाद को मानने के कारण पदार्थों की सर्वदा सत्ता ही स्वीकार करता है। असत्कार्यवाद के

---

१. सोऽप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः। लघीयस्त्रय, ६३॥
२. क्वचित्प्रयुज्यमानः स्याच्छब्दस्तद्विशेषणतया प्रकृतार्थतामनवयवेन सूचयति। अष्टसाहस्री, पृ० २८६
३. इयं च सप्तभङ्गी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविधधर्माणां सम्भवात् सप्तविधसंशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासामूल सप्तविधप्रश्नानुरोधादुपपद्यते। जैनतर्कभाषा (सप्तभङ्गी स्वरूपचर्चा)।
४. नत्थि नएहिं विहूणं सुत्थं अत्थो य जिण मए किंचि, विशेषावश्यक भाष्य।

अनुयायी नैयायिक उत्पत्ति के पूर्व पदार्थ का अभाव, उत्पत्ति होने पर भाव तथा नाश होने पर फिर अभाव मानते हैं। यानी नैयायिक काल के भेद से सत्ता या असत्ता मानते हैं, जैन दार्शनिकों की तरह साथ-साथ नहीं। अद्वैत-वेदान्ती पदार्थों को अनिर्वचनीय मानते हैं। शून्यवादी बौद्ध पदार्थों की सर्वदा असत्ता ही स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत जैनों का यह कथन है कि अस्तित्व या नास्तित्व ही वस्तु का स्वभाव नहीं है। 'घटः अस्ति' इस वाक्य में घटः (वस्तु का अस्तित्व) और अस्ति (प्रत्यक्ष अस्तित्व) इन दोनों का एकसाथ प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि इस तरह तो ये पर्यायवाची हो जाएँगे, यदि 'घटः नास्ति' ऐसा कहा जाय तो भी ठीक नहीं, क्योंकि यह तो वदतो व्याघात हो जाएगा[1]।

अनेकान्तवाद आलोचना की कसौटी पर

अनेकान्तवाद का खण्डन भी विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से किया है। रामानुजाचार्य के अनुसार पारमार्थिक दशा में वस्तु का केवल एक ही धर्म सत्ता या असत्ता स्थिर किया जा सकता है। देश और काल के भेद के बिना एक ही वस्तु में कई कल्पों का मानना सम्भव नहीं हैं। यदि द्रव्य के रूप में सता मानें और उसकी विभिन्न अवस्थाओं को असत्ता तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि काल के भेद से वस्तु का सत् और असत् होना तो स्वाभाविक ही है। एक विचारणीय पहलू यह भी है कि सप्तभंगीनय स्वयं एकान्त है या अनेकान्त ? यदि यह एकान्त है तो अनेकान्तवाद का खण्डन होता है और यदि अनेकान्त है तो इसमें भी विकल्प सम्भव है[2]।

अनेकान्तवाद का व्यावहारिक महत्त्व

अनेकान्तवाद की व्यावहारिक उपयोगिता भी कम नहीं है। इसको अपनाने से व्यक्ति के विचारों व व्यवहार में सहिष्णुता आ सकती है। यदि कोई वादी यह समझने लगे कि प्रतिवादी जो कुछ कह रहा है, उसमें भी सचाई हो सकती है तो संसार के बहुत से झंझट मिट सकते हैं। वस्तु को एक व्यक्ति जिस मात्रा या अंश में देखता है, वस्तु उतनी ही नहीं है। उसमें स्वयं ही ऐसे अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है, जो अनन्तधर्मात्मक हैं। विरोधी दृष्टिकोणों पर भी निष्पक्षता से विचार किया जाय तो उनमें भी तत्त्व मिल सकता है। इस प्रकार मानस अहिंसा या मानस-शुद्धि के लिए अनेकान्तवाद एक बहुत उपयोगी विचारात्मक उपकरण है।

यद्यपि अनेकान्तवाद और स्याद्वाद पर्यायावाची-से हैं, पर स्याद्वाद का मुख्य सम्बन्ध भाषा से है और अनेकान्तवाद का विचार से। बोलते समय वक्ता को यह ध्यान रखना चाहिए कि शब्द अभिव्यक्ति के सर्वांगपूर्ण साधन नहीं हैं। अपूर्णता के निदर्शन के लिए ही स्यात् का प्रयोग किया जाता है। इस संदर्भ में आचार्य कुमारिल भट्ट का यह कथन भी मननीय है कि भाषा में दोषों का अभाव दो प्रकार से हो सकता है। एक तो इस प्रकार से कि वक्ता गुणवान् हो और दूसरे इस प्रकार कि वक्ता हो ही नहीं।[3] अनेकान्तवाद इन दोनों विकल्पों में से प्रथम को महत्त्व देता है। अतः तार्किक दृष्टि से भले ही अन्य दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद को अव्यवहार्य माना हो, किन्तु आर्हती दृष्टि से तो इसका विचारात्मक और भाषापरक महत्त्व अक्षुण्ण ही रहेगा।

---

१. घटोऽस्तीति न वक्तव्यं सन्नेव हि यतो घटः। नास्तीत्यपि न वक्तव्यं विरोधात्सदसत्त्वयोः, स० द० स०।

२. सप्तभङ्गिनयः स्वयमेकान्तोऽनेकान्तो वा। आद्ये सर्वमनेकान्तमिति प्रतिज्ञाव्याघातः। द्वितीये विवक्षितार्थासिद्धिः। अनेकान्तत्वेनासाधकत्वात्। स० द० सं० (रामानुजदर्शन)

३. शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रहीन इति स्थितम्। तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसम्भवात्। यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥
श्लोकवार्तिक, ६२,६३ ॥

भगवान् महावीर स्वामी की अमर देन

नयवाद

भगवती मुनि "निर्मल"

मानव का स्वस्थ एवं व्यापक दृष्टिकोण ही उसे सत्य की ओर लेजाता है। सत्य विशाल, व्यापक, अतिविस्तृत, अनन्त और अखण्ड होता है परन्तु सामान्यतः मानव का परिमित ज्ञान उसको सम्पूर्ण रूप में ज्ञात नहीं कर सकता, जान नहीं सकता। खण्ड रूप में अथवा अनेक अंशों में ही वह वस्तु का परिबोध कर सकता है। सत्य के परिज्ञान के लिए किंवा ज्ञानसत्य को जीवन में उतारने के लिए व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता ही नहीं, अनिवार्यता भी है। व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठि-जीवन विकास की यह क्रमपद्धति या अनुक्रमणिका है। जैन दर्शन की सत्योन्मुखी अनेकान्त दृष्टि, जैनधर्म का सर्वसहिष्णु अहिंसा-सिद्धान्त और जैनपरम्परा का चिरागत समन्वयवाद ये तीनों मिलकर एक ही कार्य करते हैं, और वह है कि व्यष्टि अपनी शुभ सीमा में कैद न हो जाए। समष्टि व्यक्ति के विकास मार्ग में चट्टान बनकर उसके विकास को अवरुद्ध न करे बल्कि एक दूसरे से अन्योन्यरूपेण समझौता करके दोनों परमेष्ठि के रूप में परिणत हो जाएँ, आत्मा से परमात्मा रूप परम-ज्योति बन जाएँ। इस शुभंकर एवं सर्वहितकर विशाल दृष्टिकोण को जीवन में ढालने से पूर्व वस्तुतत्त्व के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। चेतन-अचेतनमय इस जगत् की प्रत्येक वस्तु सत् है, शाश्वत है, अनन्त है। प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणधर्मों का अखण्ड पिण्ड है। वह कभी नहीं रही, यह नहीं कहा जा सकता। वह कभी नहीं रहेगी, यह नहीं कहा जा सकता। वह नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता। कहा यह जायेगा कि वह थी, है और रहेगी।

वृत्त, वर्तमान और वर्तिष्यमाण इन तीनों कालों में कभी भी उसका अभाव नहीं होता। वस्तु सत् है, शाश्वत है, नित्य है, परन्तु कूटस्थ नित्य नहीं, परिणामी नित्य है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण पूर्वपर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होता है।

अस्तु, द्रव्य दृष्टि से वस्तु नित्य है। विगम और उत्पाद की दृष्टि से अर्थात् पर्याय की दृष्टि से परिणामी-प्रतिक्षण बदलनेवाली भी है। कनक के कंगन को तोड़कर उसका मुकुट या हार बनवा डाला। हुआ क्या, आकृति बदल गई परन्तु उसका कनकत्व नहीं बदला वह तो ज्यों का त्यों है। जैसा पहले था वैसा अब भी है। सिद्धान्त यह रहा कि—

द्रव्यं नित्यम् आकृतिः पुनरनित्या।

प्रमाण और नय—

अनन्तधर्मात्मक वस्तु का ज्ञान दो प्रकार से होता है।

'प्रमाणनयैरधिगमः'

प्रमाण से और नय से। अनन्त धर्मात्मक वस्तु तत्त्व के समग्र धर्मों को अथवा उसके अनेक धर्मों को ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण होता है और उस वस्तु के किसी एक ही धर्म को ग्रहण करनेवाला ज्ञान नय कहा जाता

है जैसे 'अयं घटः' यह ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि इसमें घट के रूप, रस, स्पर्श और गन्ध तथा कनिष्ठ-ज्येष्ठ आदि समग्र धर्मों का परिबोध हो जाता है, परन्तु जब यह कहा जाता है कि 'रूपवान् घटः' तब केवल घट के अनन्त धर्मों में से रूप का ही परिज्ञान होता है, उनके अन्य धर्म रस, स्पर्श और गन्ध आदि का नहीं। अनन्त-धर्मात्मक वस्तु के परिज्ञान में अंशकल्पना यही वस्तुतः नय है। अतः अंशी के किसी एक अंश का ज्ञाननय और अनेक अंशों का ज्ञान प्रमाण होता है।

नयवादः—

नयवाद "वस्तुतः जैनदर्शन की अपनी एक विशिष्ट और व्यापक विचार-पद्धति है।" जैनदर्शन प्रत्येक वस्तु का विश्लेषण नय से करता है। जैन दर्शन में एक भी सूत्र और अर्थ ऐसा नहीं है जो नय से शून्य हो। विशेषावश्यक भाष्य में इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

नत्थि नए हि विहूणं सुत्थं अत्थो य जिण मए किंचि। जैन दार्शनिकों के समकक्ष एक प्रश्न उपस्थित था कि नय क्या है; नय प्रमाण है अथवा अप्रमाण ? यदि वह प्रमाण है तो प्रमाण से भिन्न क्यों ? और यदि वह अप्रमाण है तो वह मिथ्या ज्ञान होगा। मिथ्याज्ञान के लिए विचारजगत् में क्या स्थान होता है ? जैनदार्शनिकों ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है कि सप्तभंगी के तीसरे भंग से इस समस्या का समाधान होता है। तीसरा भंग है—कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न। जैसे कि—शाखा-प्रशाखाएँ वृक्ष से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। अर्थात् शाखाओं को वृक्ष नहीं कह सकते न अवृक्ष, अर्थात् वृक्षभिन्न भी नहीं कह सकते। प्रमाण यदि अंग है तो नय उपांग है। प्रमाण यदि समुद्र है तो नय तरंग-निकर। प्रमाण यदि सूर्य है तो नय रश्मिजाल। प्रमाण यदि वृक्ष है तो नय शाखा-प्रशाखा। प्रमाण हाथ है तो नय अंगुली। प्रमाण यदि जुलाहे का ताना है तो नय बाना। प्रमाण यदि व्यापक है तो नय व्याप्य। प्रमाण नय में समाविष्ट नहीं है बल्कि यह कहना समीचीन होगा कि नय ही प्रमाण में समाविष्ट है। प्रमाण का सम्बन्ध पाँच प्रकार के ज्ञान से है, जब कि नय का सम्बन्ध केवल श्रुतज्ञान से ही है, अन्य से नहीं। अर्थात् पाँचों ज्ञानों को प्रमाण कहते हैं और नय श्रुतज्ञानरूप प्रमाण का अंशविशेष है, अतः नय प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नहीं है। अभिन्न भी नहीं है, क्योंकि प्रमाण का अर्थ है—जिस ज्ञान के द्वारा वस्तु-तत्त्व का निश्चय किया जाय अर्थात् सर्वांशग्राही बोध हो उसको प्रमाण कहते हैं। नय का अर्थ है—जिस ज्ञान के द्वारा अनन्त धर्मों में से किसी एक विवक्षित धर्म का निश्चय किया जाय अर्थात् अनेक दृष्टिकोण से परिष्कृत वस्तुतत्त्व के एकांशग्राही ज्ञान को ही नय कहते हैं। अतः नय प्रमाण से सर्वथा अभिन्न भी नहीं है। प्रमाण नय का वाचक भी नहीं है उसी प्रकार नय भी प्रमाण का वाचक नहीं है। जैसे समुद्र के पर्यायवाची नाम और हैं तथा तरंगों के पर्यायवाची नाम और हैं। तरंगें समुद्र से भिन्न नहीं हैं और समुद्र भी तरंगों से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार अभिन्न भी नहीं कह सकते। चूंकि समुद्र के तथा तरंगों के नाम भिन्न-भिन्न हैं। इससे फलितार्थ यह निकला कि समुद्र और तरंगें अभिन्न नहीं हैं समुद्र और तरंग के उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता कि प्रमाण और नय का क्या परस्पर सम्बन्ध है ?

न समुद्रोऽसमुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते।
नाऽप्रमाणं प्रमाणं वा प्रमाणांशस्तथा नयः ॥ (नयोपदेश)

नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण है, अपितु प्रमाण का एक अंश है। जैसे कि तरंग न समुद्र है न असमुद्र, अपितु समुद्र का एक अंश है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि नय अनन्तधर्मात्मक वस्तु के

किसी एक अंश को ग्रहण करता है तो वह मिथ्याज्ञान ही होगा फिर उसे वस्तु का यथार्थ बोध कैसे होगा ? इसका समाधान होगा कि नय अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक अंश को ही ग्रहण करता है यह सत्य है परन्तु इतने मात्र से वह मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता । एक अंश का ज्ञान यदि वस्तु के अन्य अंशों का निषेध कहा जाए तभी वह मिथ्याज्ञान होगा, किन्तु जो अंशज्ञान अपने से व्यतिरिक्त अंशों का निषेधक न होकर केवल अपने दृष्टिकोण को ही व्यक्त करता है तो वह मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता । हाँ, जो नय अपने स्वीकृत-कथित अंश को व्यक्त करते हुए प्रतिपादन करते समय यदि अपने से भिन्न दृष्टिकोण का निषेध करते हैं तो वे निस्सन्देह नयाभास अथवा दुर्नय कहे जाएँगे । परस्पर-निरपेक्षनय दुर्नय है तो सापेक्ष सुनय ।

नयों की संख्या:—

यद्यपि नय अनन्त हैं क्योंकि वस्तु के धर्म अनन्त हैं फिर भी नयों के मूल में दो भेद हैं द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और भेदगामिनी दृष्टि को पर्यायार्थिक नय । नयों में नैगमादि तीन द्रव्यार्थिक हैं और ऋजुसूत्रादि चार पर्यायार्थिक नय । शाब्दिक, आर्थिक, वास्तविक, व्यावहारिक, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के अभिप्राय से आचार्यों ने नय के मूलतः सात भेद किये हैं । यथा—

सत्त मूलनया पण्णत्ता तंजहा नेगमे संगहे, व्यवहारे उज्जुसुत्ते सद्दे समभिरूढे एवंभूते ।।

ठाणांग सूत्र ७ सू० ५५२

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवम्भूत । अनुयोगद्वार सूत्र में भी ये उपर्युक्त नाम सन्निहित हैं—

से किं तं नयप्पमाणे—सत्तविहे पण्णत्ते तं जहा णेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरूढे, एवंभूए ।।

नैगमो मन्यते वस्तु तदेतदुभयात्मकम् । निर्विशेषं न सामान्यं विशेषोऽपि न तद् विना ।। (नयकर्णिका)

नैगमनय वस्तु को उभयात्मक अर्थात् सामान्य विशेषरूप मानता है । क्योंकि विशेष के विना सामान्य और सामान्य के विना विशेष किसी भी तरह घटित नहीं हो सकते ।

नैगम नय का स्वरूप—

अनेक प्रकार के सामान्य एवं विशेष ग्राहक ज्ञान के द्वारा जिस वस्तु तत्त्व का निश्चय किया जाये उसे नैगमनय कहते हैं । वैशेषिक दर्शन के अनुसार यदि सामान्य और विशेष का स्वरूप माना जाये तो अविशुद्ध नैगम-नय के अन्तर्भूत हो सकता है, क्योंकि वैशेषिक दर्शनकार ने सामान्य और विशेष को भिन्न-भिन्न पदार्थ माना है और तदनुसार उनके लक्षण भी भिन्न-भिन्न दिये हैं अथवा लोकार्थ-निबोध को निगम कहते हैं उसमें जो कुशल हो, उसे नैगम कहते हैं ।

लोगत्थनिबोहा वा निगमा तेसु कुशलौभवोयं नैगमो ।।

अथवा जिसके द्वारा गमन किया जाये उसे गम कहते हैं जिसके अनेक मार्ग हों उसे नैकगम कहते हैं । निरुक्त विधि से नैक शब्द का ककार लुप्त हो जाने से नैगम शब्द बना है ।

जे नेगगमो अनेकवहो णेगमो तेन गम्यतेऽनेनेति नैगमः, पन्थास्त एव गमाः पन्थानो यस्यासौ नैगमः ।।

(विशेषावश्यक भाष्य)

हत्थे की लकड़ी के संकलन से कहीं जाते हुए यदि किसी को कोई पूछे कि आप कहां जा रहे हैं ? तब वह

प्रत्युत्तर में कहता है कि कुल्हाड़ी लेने जा रहा हूँ । वास्तव में तो वह कुल्हाड़ी के लिए हत्थे की लकड़ी लेने ही जा रह है तव भी वह ऊपर जैसा ही उत्तर देता है व प्रश्नकर्त्ता भी उसके प्रत्युत्तर के अर्थ को समझ लेता है। यह एक तरह की लोकरूढ़ि है। अथवा किसी ने कहा 'नैकं गच्छतीति निगमः निगमो विकल्पस्तत्र भवो नैगमः लोकरूढि के अनुसार जिसके अनेक मार्ग हों, उसे नैगम कहते हैं। प्रधानरूपेण नैगम के तीन भेद हैं—

१-महासामान्य, २-सामान्य, और ३-विशेष ।

परसत्ता को महासामान्य कहते हैं, अपरसत्ता को सामान्य कहते हैं और जो नित्य द्रव्यों में रहनेवाले हैं तथा व्यावर्तक हैं वे विशेष कहलाते हैं। दूसरी शैली से भी उसके तीन भेद होते हैं। जैसे कि—१-अविशुद्ध नैगम २-विशुद्ध-विशुद्ध नैगम और ३-विशुद्ध नैगम। इन तीनों को समझने के लिए एक उदाहरण देते हैं। कोई व्यक्ति चादर बनाने के लिए वाजार से रुई खरीद रहा है। वहीं पर किसी नवागन्तुक ने पूछा—क्या ले रहा है ?

उसने प्रत्युत्तर में कहा कि चादर ले रहा हूँ ? वहीं अन्य आगन्तुक व्यक्ति उस रुई को पींज रहा है तो उससे पूछा—क्या बना रहा है ?

उसने उत्तर उत्तर दिया कि मैं चादर बना रहा हूं। यदि व्यक्ति तकली या चर्खे से सूत कात रहा है और उससे किसी ने पूछ लिया कि 'क्या वना रहे हो ?' तव भी प्रत्युत्तर मिला कि मैं चादर बना रहा हूं।

खड्डी में तानने वाले से पूछा कि क्या वना रहे हो ? उत्तर मिला कि—मैं चादर बना रहा हूं अर्थात् चादर बनाने के दृढसंकल्प से लेकर रुई खरीदने तक अविशुद्धनैगम कहलाता है सूत कातना आदि क्रिया विशुद्ध नैगम कहलाती है। ताना तानते हुए उसने जो उत्तर दिया वह विशुद्ध नैगम होगा। जब अतीत काल में वर्तमान का आरोप किया जाए उसे भूतनैगम कहते हैं। जैसे आज दीपावली को भगवान् महावीर स्वामी का निर्वाण हुआ। जब भाविकाल में भूतकाल की तरह कथन किया जाये तव उसे भाविनैगम कहते है। जैसे भवसिद्धिक जीव सिद्ध ही हैं क्योंकि भगवती सूत्र के अठारहवें शतक में भगवान् ने कहा है कि—भवसिद्धिक जीव एक या अनेक चरम हैं अतः जो चरम हैं वे अर्हत् ही हैं वे सिद्धि ही हैं, अतः सिद्धित्व परिणाम अचरम है।

जब कारण को कार्य रूप में परिणत करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है तब कार्य पूरा करने में भले ही विलम्ब हो परन्तु वह कार्य पूर्ण ही कहा जाता है। इस प्रकार के नय को वर्तमान-नैगम नय कहते हैं। जैसे भृगुपुरोहित के दोनों पुत्रों ने दीक्षा का दृढ़ संकल्प तो कर लिया था परन्तु अभी तक दीक्षा ग्रहण नहीं की थी फिर भी पुरोहित ने उन्हें मुनि कहा है—

अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं। तवस्स वाघायकरं वयासी।
वयं वेयाविओ वयंति, जहा न होइ असुयाण लोगो ।।

(उत्तरा० १४।८)

इसी प्रकार दीक्षा लेने के पहले ही नमिराज को राजर्षि कहा है। ये उदाहरण वर्तमान-नैगम-नय के हैं,

अथवा जो विचार लौकिकरूढि अथवा लौकिकसंस्कार के कारण पैदा होता है उसे नैगम कहते हैं। अर्थात् लोकरूढियों से पड़े हुए संस्कारों के कारण जो विचार उत्पन्न होते हैं वे सभी नैगमनय के अन्तर्गत आजाते हैं। देश, काल एवं लोकस्वभाव-सम्वधी भेदों की विविधता के कारण लोकरूढियाँ तथा तज्जन्य संस्कार भी अनेक तरह के होते हैं। कहने का फलितार्थ यह हुआ कि जो नय एक-गम अर्थात् एक विकल्परूप ही नहीं हो किन्तु जो अनेक विकल्प, अनेकमान, अनुमान और प्रमाण द्वारा वस्तु स्वरूप को समझता हो, पदार्थ को सामान्य, विशे:

तथा उभयात्मक मानता हो, तीनों काल की वात को स्वीकार करता हो, किसी वस्तु में अंशमात्र गुण होने पर भी उसे पूर्ण वस्तु मानता हो, चारों निक्षेपों को अंगीकार करता हो; किसी वस्तु में किसी एक पर्याय के होने की योग्यता मात्र देखकर वर्तमान में उस पर्याय के अभाव में भी उस वस्तु को उस पर्याय से युक्त करता हो, उसे नैगम-नय कहते हैं। नैगम नय का विषय सब से अधिक विशाल है। क्योंकि वह सामान्य और विशेष दोनों का ही लोक-रूढि के अनुसार कभी तो गौणरूप से और कभी मुख्यरूप से अवलम्बन करता है। जैसे गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, जाति और जातिमान्, क्रिया और कारक आदि उपक्रमों में भेद-अभेद की विवक्षा करना ही नैगम-नय का विषय है।

नैगमनयाभासः—धर्मद्वयादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाऽऽभासः।

(प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।११)

यदि एकान्त भेद को ही ग्रहण करें और अभेद की बिलकुल नास्ति ही कर दें या अभेद को ही मान्यता की कोटि में रखें और भेद की पूर्णतया उपेक्षा करें तो इसी का नाम नैगमाभास है। वस्तुतः नैगमाभास नय नहीं है। वल्कि दुर्नय अर्थात् मिथ्यात्वपोषक है, अतः यह सिद्धान्त की कोटि में नहीं आता। जैसे कि न्याय तथा वैशेषिक दर्शनकारों ने सामान्य तथा विशेष इन दोनों पदार्थों तथा द्रव्य, गुण और कर्म से भी उक्त दोनों पदार्थों को अत्यन्त भिन्न माना है। यही दुर्नय है।

संग्रहनयः—

अवरे परमविरोहे सव्वं अत्थियितिसुद्धसंगहणो।
होइ तमेव असुद्धो इग जाइ विसेसगहणेण॥

(लघुनयचक्र)

विभिन्न वस्तुओं में तद्गत विशेष गुण-धर्मों के कारण अत्यन्त विरोध होने पर भी वस्तुगत सामान्य सत्ता के कारण सभी को अस्तिरूप से ग्रहण करनेवाला विचार शुद्ध संग्रहनय है और उन वस्तुओं में अवान्तर समानताओं के आधार पर एक अलग जातिविशेष का ग्रहण करनेवाला विचार अशुद्ध संग्रहनय है।

सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः।

(प्रमाणनयतत्त्वालोक)

विशेषों की अपेक्षा न करके वस्तु को सामान्यतया जानने को संग्रहनय कहते है। अस्तित्व धर्म को न छोड़कर सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में उपस्थित हैं इसलिए सम्पूर्ण पदार्थों का सामान्य रूप से ज्ञान करने को संग्रहनय करते हैं। वेदान्ती और सांख्य केवल संग्रहनय को स्वीकार करते हैं।

संग्रहनय की विविध परिभाषाएँ—

अर्थानां सर्वैकदेशसंग्रहणं संग्रहः।

(तत्त्वार्थभाष्य १-३५)

पदार्थों के सामान्य और विशेष दोनों धर्मों को संगृहीत करके एक सामान्य को स्वीकार करना ही संग्रह-नय है। इस नय की दृष्टि में सभी पदार्थ परस्पर अभिन्न हैं क्योंकि सामान्य धर्म सभी में विद्यमान है। सामान्य का विषय आकाश की तरह सर्वव्यापी है।

सामान्यरूपतया सर्वं संगृण्हातीति संग्रहः।

जो दृष्टि या श्रुतज्ञान सामान्यरूप से समस्त द्रव्यों का संग्रह करता है वह संग्रहनय है। इसका विषय नैगम से कुछ संकुचित है। नैगमनय का विषय सामान्य और विशेष दोनों ही है, किन्तु संग्रह का विषय केवल सामान्य ही है।

सर्वेऽपि भेदाः सामान्यरूपतया संगृह्यन्तेऽमुनेति संग्रहः।

जिस ज्ञान के द्वारा सभी भेद तथा उपभेदों का संग्रह किया जाये, वह संग्रहनय कहलाता है।

सामान्यमात्रग्राही परमार्थसंग्रहः।

सामान्यमात्रग्राही जो ज्ञान है वह संग्रहनय है और जो समस्त विशेषों से रहित है वही सामान्य है।

संग्रहणं सामान्यरूपतया सर्ववस्तूनामाक्रोडनं संग्रहः।

जो वाक्य सामान्यरूप से सभी वस्तुओं का अभेद-रूप से संग्रह करे वह संग्रहनय है। जैसे कि मनुष्य-जाति में संज्ञी मनुष्य तथा असंज्ञी मनुष्य, तथा असंज्ञी मनुष्य, अपर्याप्त और पर्याप्त मनुष्य, छहों संघयणवाले मनुष्य, छहों संस्थावाले मनुष्य तथा अखिल वर्णों का अन्तर्भाव हो जाता है। या जो एकीभाव करके पिण्डीभूत-विशेष राशि को ग्रहण करे उसे संग्रहनय कहते हैं। संगृहीत का अर्थ है परसंग्रह, पिण्डित का अर्थ है अपरसंग्रह अथवा संगृहीत का अर्थ है महासामान्य व पिण्डित का अर्थ है सामान्य-विशेष। सत्ता, परसंग्रह, महासामान्य ये सर्व-सामान्य में संग्रह नामान्तर हैं, जैसे कि—द्रव्यत्व, अस्तित्व, प्रमेयत्व आदि धर्म सभी द्रव्यों में समानरूप से विद्यमान हैं। पिण्डित, अवान्तरसामान्य, अपरसंग्रह आदि ये सर्व विशेष संग्रह के नामान्तर हैं। जैसे कि—जीवत्व, पुद्गलत्व आदि धर्म स्वस्वजाति में अविरोधी भाव से रह रहे हैं, पर जाति की अपेक्षा उपर्युक्त धर्म-विशेष हैं क्योंकि ये धर्म अन्य द्रव्यों में नहीं पाए जाते हैं अतः इसे विशेष संग्रहनय कहते हैं। स्वजाति के विरोध के विना समस्त पदार्थों का एकत्व में संग्रह करना ही संग्रहनय कहलाता है।

व्यवहारनय—

लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः।

(तत्त्वार्थाधिगम भाष्य १।३५)

लोकव्यवहार के अनुसार उपचरित अर्थ को बतानेवाले विस्तृत अर्थ को व्यवहार कहते हैं। जितनी वस्तु लोक में प्रसिद्ध हैं, अथवा लोक व्यवहार में आती हैं उन्हीं को मानना और अदृष्ट अव्यवहार्य वस्तुओं की कल्पना न करने को व्यवहारनय कहते हैं।

वुच्चइ विणिच्छि अत्थं ववहारो सव्वदव्वेसु।

(अनुयोगद्वारसूत्र)

संग्रहनय से जाना हुआ अनादिनिधनरूप सामान्य व्यवहारनय का विषय नहीं हो सकता। क्योंकि इस सामान्य का सर्वसाधारण को अनुभव नहीं होगा। इसी प्रकार क्षण-क्षण में बदलने वाले परमाणु-विशेष भी व्यवहारनय के विषय नहीं हो सकते, क्योंकि परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ हमारे प्रत्यक्षादि प्रमाण के बाह्यविषय होने से हमारी प्रवृत्ति के विषय नहीं है। अत एव व्यवहारनय की अपेक्षा कुछ समय तक रहने वाली, स्थूलपर्याय को धारण करनेवाली और जलधारण आदि क्रियाओं के करने में समर्थ घटादि वस्तु ही पारमार्थिक और प्रमाण से सिद्ध हैं, क्योंकि इनके मानने में कोई लोकविरोध नहीं आता। इसलिए घट का ज्ञान करते समय घट के पूर्वो-त्तरकाल के पर्यायों का विचार करना व्यर्थ है। फलितार्थ यह हुआ कि संग्रहनय से जानी हुई सत्ता को प्रत्येक पदार्थ में भिन्न-भिन्न रूप से मानकर व्यवहार करने को व्यवहारनय कहते हैं। कहा भी है—

व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तु व्यवस्थिताम् ।
तथैव दृश्यमानत्वाद् व्यापारयति देहिनः ।।

चार्वक लोग व्यवहारवादी हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि संग्रहनय से जाने हुए पदार्थों में योग्य रीति से विभाग करने को व्यवहारनय कहते हैं ? जैसे जो सत् है वह द्रव्य या पर्याय है यद्यपि संग्रहनय की अपेक्षा द्रव्य और पर्याय को सत् से अभिन्न माना गया है। द्रव्य और पर्याय के एकान्तभेद प्रतिपादन को व्यवहाराभास कहते हैं । जैसे—

यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः । यथा चार्वाकदर्शनम् ।
(प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।२५।२६)

चार्वाक लोग द्रव्य के पर्यायादि को न मान कर केवल भूतचतुष्टय को मानते हैं अतः उन्हें व्यवहारा-भास कहा गया है। यह व्यवहारनय उपचार-बहुल और लौकिकदृष्टि को लेकर चलता है ।

जं संगहेण गहियं भेयइ अत्थं असुद्ध-सुद्धं वा ।
सो ववहारो दुविहो असुद्ध-सुद्धत्थ भेयकरो ।।
(लघुनयचक्र)

संग्रहनय से ग्रहण की गई समस्त द्रव्यों की एक जाति में विधिवत् भेद करनेवाला शुद्धार्थ-भेदक व्यवहार-नय है । यथा—द्रव्य के दो भेद हैं जीव-और अजीव तथा उन अवान्तर जातियों में भी उपभेद करनेवाला अशुद्धार्थ-भेदक व्यवहारनय है । यथा जीव के दो भेद हैं—संसारी और मुक्त ।

ऋजुसूत्रनय—

स्वानुकूलं वर्तमानं ऋजुसूत्रो हि भाषते ।
तत्र क्षणिकपर्यायं सूक्ष्मः स्थूलो नरादिकम् ।।
(द्रव्यानुयोगतर्कणा)

अपने अनुकूल एवं केवल वर्तमान सम्बन्ध-विषय को ही ऋजुसूत्र-नय ग्रहण करता है । उसमें भी सूक्ष्म-ऋजुसूत्र क्षणिकपर्याय को और स्थूल ऋजुसूत्र मनुष्य आदि पर्याय को ग्रहण करता है ।

प्रत्युत्पन्न-ग्राह्याध्यवसायविशेष ऋजुसूत्रः ।
(नयसार)

वर्तमान क्षण में होनेवाले पर्याय को मुख्यरूप से ग्रहण करनेवाले अध्यवसायविशेष को ऋजुसूत्र-नय कहते हैं । जैसे—इस समय में सुख का पर्याय है, यहाँ वर्तमान क्षण स्थायी सुखपर्याय को प्रधान मानकर अधिक करणभूत आत्मा को गौणरूप से स्वीकार करता है। आत्मा के अनन्त पर्यायों में से वर्तमान क्षण में किसी एक पर्याय को दृष्टि में रखकर पर्यायी को गौणता प्रदान करना ही इस नय का मुख्य विषय है ।

भेद अथवा पर्याय की विवक्षा से जो कथन है वह ऋजुसूत्र का विषय है । जिस प्रकार संग्रह का विषय अभेद है उसी प्रकार ऋजुसूत्र का विषय भेद अथवा पर्याय है यह नय भूत और भविष्य की कथञ्चित् उपेक्षा करके केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है । यह नय दो विभागों में विभक्त है जैसे सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय और स्थूल ऋजुसूत्रनय । जो समय मात्र का वर्तमान पर्याय है उसे पहला भेद ग्रहण करता है जैसे दीप की शिखा क्षणिक है, शब्द क्षणिक है इत्यादि उदाहरण प्रथम भेदके अन्तर्गत आते हैं । जो असंख्यात समयों के वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है वह

दूसरा भेद है, यह वर्तमान आयु पर्यन्त रहता है। इसका क्षेत्र जघन्य क्षुल्लकभव (२५६ आवलिकाओं का एक खुड़ागभव होता है) उत्कृष्ट ३३ सागरोपम का होता है। द्रव्य को सर्वथा निषेध करने को ऋजुसूत्रनयाभास कहते हैं। जैसे बौद्ध लोग। बौद्ध लोग क्षण-क्षण में नाश होनेवाले पर्यायों को ही वास्तविक मान कर पर्यायों के आश्रित द्रव्यों का निषेध करते हैं। अतः उसका मत ऋजुसूत्र नयाभास है।

शब्दनय—

कालादिभेदेन ध्वनेरर्थ-भेदं प्रतिपाद्यमानः शब्दः।

(प्रमाणनयतत्त्वालोकः ७।३२)

काल आदि के भेद से शब्दों में अर्थभेद के प्रतिपादन करनेवाले नय को शब्दनय कहते हैं। रूढि से सम्पूर्ण शब्दों के एक अर्थ में प्रयुक्त होने को शब्दनय कहते हैं। जैसे शक्र, पुरन्दर, इन्द्र आदि एक अर्थ के द्योतक हैं। जैसे शब्द अर्थ से अभिन्न हैं, वैसे ही उसे एक और अनेक भी मानना चाहिए। इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि पर्याय-वाची शब्द कभी भिन्न अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते, क्योंकि इनसे एक ही अर्थ का ज्ञान होता है अतः इन्द्र आदि पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ है। जिस अभिप्राय से अर्थ कहा जाये उसे शब्द कहते हैं, अतः सम्पूर्ण पर्याय-वाची शब्दों से एक ही अर्थ का ज्ञान होता है। "तटः तटी तटम्"—इन परस्पर विरुद्ध लिंगवाले शब्दों से पदार्थों के भेद का ज्ञान होता है। इसी प्रकार संख्या एकत्वादि, काल अतीतादि, कारक-कर्त्ता आदि और पुरुष-प्रथम पुरुष आदि के भेद से शब्द और अर्थ में भेद समझना चाहिए। परस्पर विरोधी लिंग, संख्यादि के भेद से वस्तु में भेद मानने को शब्दनय कहते हैं।

विरोधलिङ्गसंख्यादिभेदाद् भिन्नस्वभावताम्।
तस्यैव मन्यमानोऽयं शब्दः प्रत्यवतिष्ठते,॥

(संग्रहश्लोक)

वैयाकरण शब्दनय आदि का अनुकरण करते हैं। कालादि के भेद से शब्द और अर्थ को सर्वथा अलग मानने को शब्दाभास कहते हैं। जैसे सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु रहेगा आदि। भिन्न-भिन्न काल के शब्द भिन्न-भिन्न काल के होने से भिन्न-भिन्न अर्थों का ही प्रतिपादन करते हैं जैसे अन्य भिन्न काल के शब्द।

समभिरूढ नय—

जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय समभिरोहए जम्हा।
सण्णं तरत्थ विमुहो तओ तओ समभिरूढोति॥

(विशेषावश्यकभाष्य)

शब्दनय ने जहां एकार्थवाची कुट, घट, कलश, कुम्भ आदि अनेक शब्द स्वीकार किये है वहाँ समभिरूढ की मान्यता है कि जो जिस वाच्य का वाचक है उसका पर्यायवाची वाचक समस्त वाङ्मय में नहीं मिलेगा। जैसे घट जिस वाच्य का वाचक है उसके कुम्भ, कलश आदि अन्य पर्यायवाची वाचक नहीं हो सकते। भिन्न-भिन्न शब्दों के अर्थ भी भिन्न-भिन्न होते हैं। एक नहीं। जैसे घटनात् घट इति विशिष्टचेष्टावान् वाच्यार्थ को घट कहते है। कुट कौटिल्ये 'कुटनात् कौटिल्य-योगात् कुटः' यह व्युत्पत्ति कुट शब्द की है। उभ-उम्भ पूरणे 'कुम्भनात् कुत्सित-पूरणात् कुम्भः' यह व्युत्पति कुम्भ शब्द की है इस प्रकार घट, कुट, कुम्भ इन तीनों का शब्दभेद की तरह अर्थ-भेद भी हैं। एक शब्द में अनेक शब्दों की प्रवृत्ति नहीं होती।

एकसंज्ञा-समभिरोहणात् समभिरूढः।

अथवा

पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थसमभिरोहणं समभिरूढः।

जो पर्यायवाचक शब्दों से निरुक्तिभेद में अर्थभेद को स्वीकार करता है वह समभिरूढ नय है। शब्दभेद से अर्थभेद को मानना ही प्रस्तुत नय का लक्ष्य है।

'सत्स्वर्थेष्वसंक्रमः समभिरूढः' अर्थात् सत् अर्थों में संक्रम न होना ही समभिरूढ नय है। **असंक्रम-गवेषणपरोऽध्यवसायविशेषसमभिरूढनयः** (नयप्रदीप)। जो विचार शब्द की व्युत्पत्ति में आधार पर अर्थभेद की कल्पना करता है वह समभिरूढ नय है।

सम्यक् प्रकारेण पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन अर्थमभिरोहणं समभिरूढः।

जो पर्याय जिस अर्थ के योग्य हो उस पर्याय को उसी अर्थ में अलग-अलग स्वीकार करना तथा शब्द के अर्थ की व्युत्पत्ति में लक्ष्य रखना यह समभिरूढनय का ध्येय है। जैसे जिस पदार्थ या वस्तु में घट शब्द की ध्वनि होती है उसे ही घट कहेंगे, खाली को नहीं। प्रस्तुत नय एक शब्द से अनेक वस्तुओं के वाच्य को नहीं मानता है अर्थात् कहनेवाले के शब्द का जो अर्थ और अभिप्राय होता है उसे तो वस्तु मानता है और शेष को अवस्तु। क्षणस्थायी वस्तु को भिन्न-भिन्न संज्ञाओं के भेद से भिन्न-भिन्न मानना समभिरूढनय है पर्यायशब्दों में निरुक्त के भेद से भिन्न अर्थ को कहना समभिरूढ नय है। पर्यायवाची शब्द को सर्वथा भिन्न मानना समभिरूढ नयाभास है।

पर्यायध्वनिनामाभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः।

(प्रमाणनयतत्त्वालोक)

जैसे करि, कुरंग और तुरंग शब्द परस्पर भिन्न हैं वैसे ही इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दों को सर्वथा भिन्न मानना समभिरूढ नयाभास है।

एवम्भूतनय—

एवम्भूतस्तु सर्वत्र व्यञ्जनार्थविशेषणम्।
राजचिह्नै यथा राजा नान्यथा राजशब्दभाक्॥

(नयोपदेश।)

जिस काल में जो क्रिया हो रही है उस काल में उस क्रिया से सम्बद्ध विशेषण किंवा विशेष्य नाम का व्यवहार करनेवाला विचार एवंभूतनय कहलाता है। जिस समय व्युत्पत्ति के निमित्तरूप अर्थ का व्यवहार होता है, उसी समय अर्थ में शब्द का अर्थात् जिस क्षण में शब्द की व्युत्पत्ति का निमित्तकारण सम्पूर्णरूप से विद्यमान हो, उसी समय उस शब्द का प्रयोग करना उचित है। यह एवम्भूतनय की मान्यता है। वस्तु अमुक क्रिया करने के समय ही अमुक नाम से कही जा सकती है। वह सदा एक शब्द की वाच्य नहीं हो सकती उसे एव-म्भूतनय कहते हैं।

वंजन अत्थ तदुभयं एवं भूओ विसेसेइ॥

(अनुयोगद्वारसूत्र)

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस समय पदार्थों में जो क्रियाएँ होती हों उस समय उस क्रिया के अनुरूप शब्दों के अर्थ का प्रतिपादन करने को एवम्भूतनय कहते हैं। जैसे परमैश्वर्य का अनुभव करनेवाला इन्द्र समर्थ होने के समय शक्र तथा नगरों के नाश करने के समय पुरन्दर होता है। पदार्थ में अमुक क्रिया होने के समय को छोड़कर दूसरे समय उस पदार्थ को उसी शब्द से नहीं कहना एवम्भूतनयाभास है। जैसे जल लाने की क्रिया का अभाव होने से पट को घट नहीं कहा जा सकता, वैसे ही जल लाने आदि की क्रिया के अतिरिक्त समय घट को घट नहीं कहना एवम्भूत-नयाभास है। प्रमाण इन्द्रिय और मन सबसे हो सकता है किन्तु नय मन से ही हो सकता है क्योंकि अंशों का ग्रहण मानसिक अभिप्राय से हो सकता है। जब हम अंशों की कल्पना करने लग जाते हैं तब वह ज्ञाननय कहलाता है।

तत्रानिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः।

(प्रमेयकमलमार्तण्ड, ६।१)

अन्य वादी परस्पर पक्ष और प्रतिपक्षभाव रखने के कारण एक दूसरे से ईर्ष्या रखते हैं परन्तु सम्पूर्ण नयों को एकसमान देखनेवाले शास्त्रों में पक्षपात नहीं है। महावीर का सिद्धान्त ईर्ष्या से रहित है क्योंकि इसमें नैगमादि सम्पूर्ण नयों को समानभाव से देखते हैं।

जैनन्याय में अनुमानाभास

श्री बलिराम शुक्ल

'मानाधीना मेयसिद्धिः'[१] अथवा 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' इस नियम के अनुसार प्रत्येक भारतीयदर्शन को तत्त्वमीमांसा के पूर्व प्रमाणमीमांसा करनी पड़ी। आस्तिक हो या नास्तिक, सभी दर्शनों ने प्रमाणों की परिभाषा, संख्या, स्वरूप और प्रक्रिया के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक विवेचन किया है। भारतीय प्रमाण-मीमांसकों में जैनों का भी प्रमुख स्थान है। जैनों ने तत्त्वमीमांसा के साथ-साथ प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में भी प्रचुर कार्य किया है।

जैनतार्किकों ने प्रमाण के भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष दो स्वीकार किये हैं।[२] प्रत्यक्ष प्रमाण में मति, श्रुति, अवधि, केवलज्ञान और मनःपर्याय का समावेश किया है तथा परोक्ष में अनुमान और आगम का। अनुमान की परिभाषा करते हुए जैन तार्किक कहते हैं कि जहाँ साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान होता है, वह विज्ञान अनुमान है[३] जैसे पर्वत में धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान या नदीवृद्धि को देखकर भूतवृष्टि का अनुमान या रूप को देखकर रसका अनुमान इत्यादि। अनुमान की संख्या के विषय में जैन तार्किकों का नैयायिक से तथा बौद्धों से मतभेद है। आचार्य अकलंक ने नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन भेदों को अस्वीकार किया है।[४] अनुमान के कई ऐसे उदाहरण हैं जो इन तीन के अन्तर्गत समाविष्ट नहीं हो सकते हैं। जैसे अयमात्मा प्रमाणतोऽपलब्धेः तथा खरविषाण अथवा गगनकुसुम नहीं है क्योंकि उपलब्ध नहीं है। इन अनुमानों की व्याप्ति अन्यथानुपपन्नत्वरूप है इसलिए इन्हें भी शुद्ध अनुमान मानना ही होगा परन्तु इनका पूर्वकथित अनुमान के प्रकारों में समावेश संभव नहीं है। उसी प्रकार वैशेषिकों के द्वारा प्रतिपादित संयोगी, समवायी आदि अनुमानों में भी इनका समावेश नहीं हो सकता है। पूर्वोक्त उपलब्धि तथा अनुपलब्धि न तो किसी का कारण है और न किसी का कार्य, अतः न इसे कारणहेतुक अनुमान कह सकते हैं और न कार्यहेतुक अनुमान। इसलिए जैन तार्किकों का विचार है कि अनुमान में साधन का स्वरूप अन्यथानुपपन्नत्व मात्र होने से तथा उसका ग्रहण स्व और पर के द्वारा होने से अनुमान के दो ही प्रकार हो सकते हैं स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान[५]।

स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के तीन अंग बतलाये गये हैं—पक्ष, साध्य और हेतु। अनुमान की यथार्थता के लिए पक्ष की प्रसिद्धि आवश्यक है। पक्ष प्रत्यक्षसिद्ध होता है। कहीं विकल्पसिद्ध और कहीं प्रमाण विकल्पसिद्ध होता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर धर्मों की प्रत्यक्षसिद्धता ही अनुमान के लिए पर्याप्त मानते हैं।[६] पक्षसाध्य और हेतु के जो लक्षण स्वीकार किये गये हैं वे यदि घटित नहीं होते हैं या वे अहेतु में घटित होते हों तो अनुमान में निर्दुष्टता नहीं रहती है और फिर वह अनुमान, अनुमान न रहकर अनुमानाभास बन जाता है।

---

१. सांख्यकारिका-ईश्वरकृष्ण।

२. तद् द्वेधा प्रत्यक्षेतरभेदात्, न्यायरत्नमाला पृ० ४३।

३. तदेतत्साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं स्वार्थाभिनिबोधलक्षणं विशिष्टमतिज्ञानम् प्र० प०—विद्यानन्द।

४. न्यायविनिश्चय—अकलङ्क।

५. न्यायविनिश्चय।

६. न्यायावतार।

अनुमानाभास का सर्वप्रथम विवेचन जैनन्यायपरम्परा में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने किया है। आचार्य सिद्धसेन ने तीन प्रकार के आभास या दोष अनुमान में स्वीकार किये हैं। पक्षाभास, हेत्वाभास तथा दृष्टान्ताभास[1]। आचार्य माणिक्यनन्दि ने अनुमानाभास के चार भेद प्रदर्शित किये हैं[2] पक्षाभास, हेत्वाभास, दृष्टान्ताभास और बाल-प्रयोगाभास। अकलंक ने अनुमानाभास के दो ही भेद स्वीकार किये हैं। उनका विचार है कि अनुमान के दो ही भेद अवयवप्रतिज्ञा और हेतु व्युत्पन्नजनों के लिए पर्याप्त हैं। तीसरा उदाहरण सामान्य जनों के लिए अथवा किसी विशेष स्थल में आवश्यक होता है अतः दृष्टान्ताभास नामक दोष अनावश्यक है।

अकलंक और माणिक्यनन्दि दोनों ही ने पक्षाभास के तीन प्रकार बतलाये हैं अनिष्ट, सिद्ध, और बाधित। माणिक्यनन्दि के अनुसार बाधित के पाँच भेद हैं[3]।

पक्षाभास—

अनिष्ट पक्षाभास वहाँ है जहाँ जो सिद्धान्त किसी शास्त्र या सम्प्रदाय में अमान्य हो उसे सिद्ध किया जाय, जैसे "मीमांसक के मत में शब्द नित्य है" यह कथन अनिष्ट पक्षाभास है क्योंकि मीमांसक के लिए शब्द को अनित्य कहना इष्ट नहीं है। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं।[४] नैयायिक इस प्रकार के दोष को अपसिद्धान्त[५] नामक निग्रहस्थान में समाविष्ट करते हैं'।

सिद्ध जैनतार्किकों के अनुसार पक्ष इष्ट, अबाधित तथा असिद्ध होना चाहिए। इसके विपरीत होने पर पक्ष का लक्षण घटित नहीं होता है। फलस्वरूप पक्षाभास नामक दोष उपस्थित हो जाता है। पक्ष के तीन स्वरूप होने से पक्षाभास के तीन प्रकार बन जाते हैं। इससे विपरीत अनिष्ट तथा असिद्ध लक्षण से विपरीत जो पक्ष होगा वह सिद्ध पक्षाभास कहलायेगा। उदाहरण के लिए "शब्द श्रावणप्रत्यक्ष का विषय है" इस अनुमान में पक्ष शब्द में श्रावणत्व सर्वसिद्ध है उसका साधन करना व्यर्थ है। ज्ञातव्य है कि गौतमानुयायी यहाँ सिद्धसाधन दोष मानते हैं।[४]

बाधित पक्षाभास के स्वरूप को जैन दर्शनिकों ने इस प्रकार उपस्थित किया है—

१—**प्रत्यक्षबाधित**[६]—अग्नि अनुष्ण है क्योंकि वह जल के समान द्रव्य है। इस अनुमान में अग्नि की अनुष्णता प्रत्यक्ष से बाधित है। अग्नि उष्ण होता है यह सर्वप्रसिद्ध है। अतः इस अनुमान में अग्नि पक्ष न होकर पक्षाभास है। गौतमीय न्याय में इसे पक्षाभास न कहकर हेत्वाभास ही कहा जाता है। जिस प्रकार 'ह्रदो वह्निमान्' में वह्न्यभाव ह्रद बाध होता है उसी प्रकार यहाँ पर भी 'अनुष्णत्वाभाववान्, अग्नि बाध है।

२—**अनुमानबाधित**[७]—शब्द अपरिणामी है क्योंकि वह घट के समान कृतक अर्थात् कार्य है, इस अनुमान में पक्ष 'शब्द' की अपरिणमनशीलता अनुमान के द्वारा असिद्ध है। यहाँ पर इस प्रकार का अनुमान हो सकता

१. न्यायावतार—सिद्धसेन।
२. न्यायरत्नमाला।
३. परीक्षामुखसूत्र (न्यायरत्नमाला)
४. सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः, न्या० सू० (५-२-२३)
५. प्रमेयरत्नमाला-अनन्तवीर्य।
६. न्यायरत्नमाला।
७. वही०।

है कि शब्द परिणामी है, क्योंकि वह घट के समान कार्य है। इस प्रकार यहाँ पक्षबाधित हो जाने से यह बाधित पक्षाभास है।

३—लोकबाधित[1]—जैसे मनुष्य के सिर का कपाल पवित्र है, क्योंकि वह शंख आदि के समान प्राणी का अंग है। ज्ञातव्य है कि प्राणी का शरीर होते हुए भी शंख को पवित्र माना जाता है। इस अनुमान में पक्ष कपाल की शुचिता लोकबाधित है। लोक में शास्त्रव्यवस्था अथवा लोक व्यवहार के अनुसार कोई वस्तु शुचि या अशुचि होती है, प्राणी का अंग होना शुचिता का नियमक नहीं है इसलिए पूर्वोक्त पक्ष आगमबाधित पक्षाभास कहलाता है। मानव के सिर का कपाल, शास्त्र और लोकव्यवहार से अशुचि सिद्ध है।

४—स्ववचनबाधित[2]—"मेरी माता वन्ध्या है क्योंकि दूसरी स्त्री के समान ही स्त्री है" इस अनुमान में पक्ष स्ववचनबाधित है। एक ओर अनुमानकर्ता कहता है कि मेरी माता और दूसरी ओर वन्ध्या। जो माता है वह कथमपि वन्ध्या नहीं हो सकती है। अपने वचन से ही इस पक्ष का विस्मरण हो जाता है, इसलिए यह पक्ष स्ववचनबाधित होने से पक्षाभास है।

गौतमीय न्याय में पक्षाभास नामक कोई दोष नहीं है[3]। अनुमान दोष के रूप में उन्होंने केवल हेत्वाभास तथा वाद के दोष के रूप में छल, जाति, निग्रहस्थानों को स्वीकार किया है। जहाँ तक पक्षाभास का प्रश्न है वहाँ बाधित हेत्वाभास और बाधित पक्षाभास में हम कोई अन्तर नहीं पाते हैं। 'यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः' इस परिभाषा के अनुसार पूर्वोक्त सभी बाधित पक्षाभासों का बाधित हेत्वाभासों में समावेश हो जाता है। इस प्रकार यह नामान्तर मात्र रह जाता है।

हेत्वाभास—आचार्य सिद्धसेन[4] ने हेत्वाभास के तीन भेद स्वीकार किये हैं असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। हेतु का लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व होने से उसमें दोष तीन प्रकार से होता है। यदि अन्यथानुपपन्नत्व का ग्रहण न हो तो असिद्ध हेत्वाभास होगा और यदि अन्यथानुपपन्नत्व के विषय में सन्देह होगा तो सन्दिग्ध, और भ्रम या विपर्यास होगा तो विशुद्ध हेत्वाभास कहा जायगा। इस प्रकार से तीन हेत्वाभास होते हैं।

आचार्य अकलंक का मत है कि हेत्वाभास एक ही है अकिंचित्कर। ज्ञातव्य है कि जैनमत में हेतु का एक ही रूप है। जैन तार्किक **पञ्चरूपोपन्नता** को अनावश्यक मानते हैं इसलिए हेत्वाभास भी एक ही है विशुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध उसी के अवान्तरभेद हैं[5]।

असिद्ध—जो हेतु पक्ष में नहीं रहता अथवा जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति न हो, वह असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि वह शब्द के समान चाक्षुष है। इस अनुमान में चाक्षुष होना शब्द में असिद्ध है शब्द चक्षु से ज्ञात होनेवाला पदार्थ नहीं है वह श्रवणेन्द्रिय का विषय है इसलिए शब्द में चाक्षुषत्व का अभाव है यह असिद्धहेत्वाभास है।

ज्ञातव्य है कि गौतमीय नैयायिक पूर्वोक्त हेतु को स्वरूपासिद्ध मानते हैं। उनका मत है "पक्षे हेत्वभावः स्वरूपासिद्धिः[6] यहाँ पक्ष शब्द में हेतु चाक्षुषत्व का अभाव है। नैयायिकों ने असिद्ध के स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध

---

१. न्यायरत्नमाला।
२. न्यायरत्नमाला—अनन्तवीर्य।
३. न्यायमञ्जरी—जयन्त भट्ट।
४. न्यायावतार।
५. न्यायविनिश्चय।
६: विसंग्रह (पदकृत्य)।

और व्याप्यत्वासिद्ध ये तीन भेद स्वीकार किये हैं[१] ।

४—विरुद्ध[२]—जो हेतु साध्याभाव के आश्रय में पाया जाय अथवा जिसकी साध्याभाव के साथ व्याप्ति हो वह हेतु विरुद्ध-हेत्वाभास कहलाता है । जैसे सभी पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि "सत् हैं" इस अनुमान में सत्त्व हेतु अक्षणिक 'नित्य' आकाशादि पदार्थों में भी रहता है अतः यह विरुद्ध हेत्वाभास है ।

परीक्षामुखसूत्र में विरुद्ध हेत्वाभास के स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् । इस अनुमान में हेतु कृतकत्व अपरिणामित्वाभाव के विरोधी परिणामित्व का व्याप्त होने से यह विरुद्ध हेत्वाभास है । कुछ तार्किकों ने विरुद्ध के ८ भेद स्वीकार किये हैं परन्तु उनका अन्तर्भाव उसी में हो जाता है इसलिए पृथक्रूप से उनका विवेचन अनावश्यक हैं ।

सन्दिग्ध[३] —जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में रहे वह सन्दिग्ध अर्थात् अनैकान्तिक हेत्वाभास है । जैसे वह सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वक्ता है । इस अनुमान में वक्तृता हेतु का असर्वज्ञ की तरह सर्वज्ञ में भी सन्देह है अतः यह सन्दिग्ध हेत्वाभास है ।

परीक्षामुखसूत्र में अनेकान्तिक हेत्वाभास के दो भेद प्रदर्शित किये गये हैं[४] । विपक्ष में निश्चितवृत्ति तथा शंकितवृत्ति । निश्चितवृत्ति अनैकान्तिक का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं "अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्" इस अनुमान में प्रमेयत्व हेतु विपक्ष आकाश में निश्चितवृत्ति होने से यहाँ निश्चितवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।

शकितवृत्ति का उदाहरण पूर्वोक्त सन्दिग्ध हेत्वाभास का उदाहरण ही है "यह सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वक्ता है" यहाँ पर सर्वज्ञता के साथ वक्तृता का कोई विरोध नहीं है अतः विपक्ष सर्वज्ञ में वक्तृता का सन्देह है । कोई पुरुष सर्वज्ञ और वक्ता दोनों ही हो सकता है इनमें कोई विरोध नहीं है ।

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास[५]—जिस हेतु का साध्य सिद्ध हो अथवा जो हेतु अन्यथानुपपन्न से रहित हो, वह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है । जैसे शब्द श्रावणप्रत्यक्ष है, क्योंकि शब्द है । यहाँ हेतु सिद्ध श्रावणत्व का ही साधक होने से वह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है । अथवा 'अग्नि अनुष्ण है, क्योंकि वह द्रव्य है' इस अनुमान में प्रयुक्त हेतु साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ है । तात्पर्य यह है कि जो प्रत्यक्ष या अन्य किसी प्रमाण से सिद्ध हो उसका साधक हेतु न होकर अकिञ्चित्कर हेत्वाभास बन जाता है ।

गौतमानुयायी नैयायिक जहाँ साध्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध रहता है वहाँ सिद्ध-साधन दोष मानते हैं और साध्य जहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होता है अर्थात् जहाँ साध्याभाव प्रमाणान्तर से निश्चित होता है वहाँ बाधित हेत्वाभास मानते हैं ।

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के विषय में परीक्षामुखसूत्रकार[६] का विचार हैं कि अकिञ्चित्कर दोष हेतु के लक्षण का विचार करते समय ही है वादकाल में नहीं है। वाद-विवाद में इसका समावेश पक्षाभास में ही

---

१. तर्कसंग्रह—अन्नं भट्ट ।
२. विपक्षेन्यथाविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः—परीक्षामुखसूत्र
३. स च द्विविधो विपक्षे निश्चितवृत्तिः शङ्कितवृत्तिश्चेति । —प्रमेयरत्नमाला
४. सिद्धप्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः—परीक्षामुखसूत्र
५. यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः—तर्कसंग्रह
६. लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नपर्यायस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्—प्र० र०

हो जाता है। शास्त्रार्थ में विद्वान् कभी भी इस प्रकार के निरर्थक हेतु का प्रयोग नहीं करते हैं। यदि कोई विद्वान् इसका प्रयोग करे तो उसकी उक्त की तरह उपेक्षा की जायगी अथवा उसको सिद्ध या बाधित हेत्वाभास के रूप में दिखलाया जायगा। जैन तार्किक प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभासों का भी अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में समावेश करते हैं। अकिञ्चित्कर को पक्षाभास में समाविष्ट करने का फल यह होता है कि सभी पक्षाभासों का समावेश नैयायिकों के प्रकरणसम और बाधित में हो जाता है। जहां तक बाधित पक्षाभास का विचार है उसका अन्तर्भाव निश्चितरूप से कालात्ययापदिष्ट में होता है।

जैन तार्किकों ने आचार्य धर्मकीर्ति द्वारा प्रतिपादित अज्ञातसाधनाभास को असिद्ध का ही एक प्रकार माना है, उनका विचार है कि अज्ञात साधन असिद्ध साधन ही है अतः यह असिद्ध में ही समाविष्ट हो जाता है। दिङ्नाग के विरुद्धाव्यभिचारी हेत्वाभास को उन्होंने विरुद्ध ही माना है, जो विरुद्ध का अव्यभिचारी होगा वह विपक्ष वृत्ति होने से विरुद्ध ही होगा।

दृष्टान्ताभास—आचार्य माणिक्यनन्दि[1] ने दृष्टान्ताभासों का निरूपण करते हुए उन्हें दो भागों में विभक्त किया है। दृष्टान्त अन्वय और व्यतिरेक के भेद से दो प्रकार का होता है। इसलिए दृष्टान्ताभास भी दो प्रकार के होने चाहिए गौतमीय नैयायिक भी साधर्म्यदृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त—मानते हैं।

परीक्षामुखसूत्र में अन्वय दृष्टान्ताभास के ३ भेद प्रदर्शित किये गये हैं[2]—असिद्ध साध्य, असिद्ध साधन और असिद्धोभय। इन्हें ही क्रमशः साध्यविकल, साधनविकल, और उभयविकल कहा जाता है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने एक ही सूत्र में दृष्टान्ताभासों को उपस्थित किया है। शब्द अपौरुषेय है क्योंकि वह अमूर्त है जैसे इन्द्रियसुख, घट और परमाणु। इस अनुमान में दृष्टान्त इन्द्रियसुख असिद्ध साध्य या साध्यविकल दृष्टान्ताभास है। इन्द्रियसुख में साधन अमूर्तत्व तो है परन्तु साध्य अपौरुषेयत्व नहीं हैं वह पौरुषेय है। द्वितीय दृष्टान्त परमाणु साधन विकल दृष्टान्ताभास है। परमाणु में अमूर्तता नहीं हैं परमाणु जैनमत में मूर्त पदार्थ है। तृतीय दृष्टान्त उभय (साधन और साध्य) रहित होने से असिद्धोभय या साध्यसाधनोभयविकल दृष्टान्ताभास है घट में न तो अपौरुषेयत्व है और न मूर्तत्व है। घट पौरुषेय अर्थात् पुरुषप्रयत्नसाध्य एवं मूर्त पदार्थ है।

आचार्य विपरीतान्वय प्रदर्शन को भी एक प्रकार का दृष्टान्ताभास मानते हैं[3] उन्होंने इसे विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास की संज्ञा प्रदान की है। अनुमान के प्रसङ्ग में साध्यव्याप्तहेतु का दृष्टान्त में प्रदर्शन करना पड़ता है यदि इसके स्थान में विपरीतप्रदर्शन अर्थात् हेतुव्याप्त साध्य को दृष्टान्त में दिखलाया जाय तो वह विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास होता है। उदाहरण के लिए "जो अग्निमान् है वह धूमवान् है" अथवा जो अपौरुषेय है, वह अमूर्त है इस प्रकार से व्याप्तिप्रदर्शन विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास को प्रस्तुत करता है, इस विपरीत व्याप्तिप्रदर्शन को दृष्टान्ताभास का द्योतक इसलिए मानना पड़ता है कि विद्युत् अपौरुषेय होते हुए भी अमूर्त नहीं है इसलिए जो अपौरुषेय है वह अमूर्त है यह कथन उचित नहीं है।

माणिक्यनन्दि के अनुसार व्यतिरेक दृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं—असिद्धसाध्यव्यतिरेक, असिद्ध-साधन व्यतिरेक और असिद्धोभय व्यतिरेक। इनके उदाहरण क्रमशः परमाणु, इन्द्रियसुख और आकाश हैं।

---

१. परीक्षामुखसूत्र

२. दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः,—परीक्षामुखसूत्र

३. विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम्—प्रमेयरत्नमाला

पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास के अतिरिक्त परीक्षामुखसूत्रकार ने चतुर्विध बालप्रयोगाभासों का भी वर्णन किया है । द्वि-अवयवप्रयोगाभास, त्रि-अवयवप्रयोगाभास, चतुरवयवप्रयोगाभास, विपरीतावयवप्रयोगाभास ।

द्वि-अवयव प्रयोगाभास[1]—परार्थानुमान में पञ्चावयवों का प्रयोग आवश्यक होता है उनमें से किसी १ अथवा २ अथवा ३ अवयवों का प्रयोग किया जाय तो परार्थानुमान नहीं होता है इसलिए इस प्रकार के प्रयोग को प्रयोगाभास की संज्ञा प्रदान की गई है । यदि परार्थानुमान में दो ही अवयवों का प्रयोग किया जाता है तो उसे 'द्वि-अवयव प्रयोगाभास' कहा जाता हैं जैसे अग्निमात्र में प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण इन ३ ही अवयवों का प्रयोग किया गया है अतएव यह बालप्रयोगाभास है।

त्रि-अवयव प्रयोगाभास[2]—"अग्निमान् देशो धूमवत्त्वात् यथा महानसम्" इस अनुमानवाक्य में पञ्चावयवों के स्थानपर ३ ही अवयवों का प्रयोग किया है इसलिए इसे भी बालप्रयोगाभास ही कहते हैं ।

चतुरवयव प्रयोगाभास[3]—पूर्वोक्तानुमान में ही ५ अवयवों के प्रयोग के स्थान पर "धूमवांश्चायम्" इस उभयनय का प्रयोग करके परार्थानुमान कराने का प्रयत्न किया जाय तो यह भी बालप्रयोगाभास होता है ।

विपरीतावयव प्रयोगाभास[4]—आचार्य माणिक्यनन्दि का मत है कि अवयवों का प्रयोग क्रम से करना चाहिये । पहले प्रतिज्ञा फिर हेतु आदि आदि । किन्तु इस क्रम से विपरीत अवयवों का प्रयोग करने पर अव्युत्पन्न बालक आदि को वस्तु का यथार्थबोध नहीं होता है इसलिए यह बालप्रयोगाभास कहलाता है ।

१. प्रमेयरत्नमाला ।
२. वही ।
३. वही ।

किं जैनदर्शनं नास्तिकम् ?

डा० सुदर्शनलालजैनः

जैनदर्शनमास्तिकं नास्तिकं वेति विचारोऽत्र प्रस्तूयते। तत्र "नास्तिको वेदनिन्दकः" (२.११) इत्याचार्य-मनुना प्रणीतं मनुस्मृतिवाक्यमनुसृत्य केचन वेदपक्षपातिनस्साम्प्रदायिका आस्तिकनास्तिकदर्शनभेदेन भारतीयदर्शन-परम्परां द्विधा विभाजयन्ति। तत्रास्तिक-नास्तिकदर्शनयोः परिगणितानि दर्शनानीमानि।

(क) **आस्तिकदर्शनम्**—वेदान्तदर्शनम् (उत्तरमीमांसा वा), मीमांसादर्शनम् (पूर्वमीमांसा वा), सांख्यदर्शनम्, योगदर्शनम्, न्यायदर्शनम्, वैशेषिकदर्शनञ्च।

(ख) **नास्तिकदर्शनम्**—जैनदर्शनम्, बौद्धदर्शनम्, चार्वाकदर्शनञ्च। वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचार-माध्यमिकाभिधानानि बौद्धदर्शनस्य चत्वारि प्रस्थानानि संयोज्य षड् नास्तिकदर्शनान्यपि भवन्ति।

विभागोऽयं साम्प्रदायिकः। स च युक्त्या न सङ्गच्छते। यथा हि—

(१) **अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः** (अ० ४.४.६०) इति पाणिनीयसूत्रं हृदि निधाय 'अस्ति परलोकविषयिणी मतिर्यस्य स आस्तिकः, नास्ति परलोकविषयिणी मतिर्यस्य स नास्तिकः' इति व्याख्यानुसारेण जैनदर्शन कथमपि नास्तिकं भवितुमर्हति न। तत् न केवलं स्वर्गनरकादिरूप परलोकं स्वीकरोति अपितु, तत्सिद्धयर्थं पुष्कलप्रमाणा-न्यप्युपस्थापयति। बौद्धदर्शनमपि परलोकस्वीकरणान्न नास्तिकम्। अनया दिशा केवलं चार्वाकदर्शनमेव नास्तिकदर्शन-कुक्षौ समायाति।

(२) 'आत्मनो नित्यत्वाभावे कथ स्वर्गनरकादिरूपा परलोकव्यवस्था सम्भवेत्' इति चेन्न जैनदर्शनं नास्तिकम् यतो हि जैनदर्शने द्रव्यात्मना (द्रव्यार्थिकनयापेक्षया निश्चयनयापेक्षया वा) नित्यत्वमेव स्वीकृतमात्मनः। उक्तञ्च कुन्दकुन्दाचार्येण पञ्चास्तिकायग्रन्थे—

> **मणुसत्तणेण णट्ठो देही देवो हवेदि इदरो वा।**
> **उभयत्थ जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो ॥१७॥**
> **सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो।**
> **उप्पण्णो य विणट्ठो देवो मणुसुत्ति पज्जाओ ॥१८॥**

एवं मनुष्यादिपर्यायेषु जीवभावो न नश्यति, न चान्यरूपेण जायते। उत्पादव्ययभावौ मनुष्यादिपर्यायेषु भवतः। अपेक्षाभेदेन कथञ्चिदनित्यत्वमपि स्वीकृतमन्यथा बन्धमोक्षादिव्यवस्था न सम्भवेत्। इयं व्यवस्था सर्वैरास्ति-कदर्शनैरपि स्वीकरणीया स्वीकृता च प्रकारभेदेन। इत्थं जैनदर्शनमास्तिकमिति न कापि विप्रतिपत्तिः।

(३) 'ईश्वरं जगतः कर्तारं पालकं संहारकञ्चेति त्रिधा यस्स्वीकरोति स आस्तिकस्तद्भिन्नो नास्तिकः'—अनेन प्रकारेण यद्यास्तिकनास्तिकयोर्विभागो भवेत्तर्हि सांख्यदर्शनं मीमांसादर्शनञ्च नास्तिकतामापद्येतामीश्वरस्यानङ्गी-

कारात्। किञ्च, ईश्वरं स्वीकुर्वतामपि मतैक्यं नास्ति। यथा योगदर्शने क्लेशादिमुक्तः पुरुषविशेषरूप ईश्वरस्स्वीकृतः। वेदान्तमते परमब्रह्मणो विवर्तरूपात्मकोऽभ्युपगतः। नैयायिकमते असौ सृष्टिकर्त्ता मतः। नास्तिकदर्शनेषु जैनाचार्या अर्हन्तं (तीर्थङ्करम्=कर्मविप्रमुक्तं पुरुषविशेषं), बौद्धाश्च भगवन्तं बुद्धम् ईश्वररूपेण अहर्निशं पूजयन्ति। इत्थञ्च न जैनदर्शनं नास्तिकम्। यदि चेत् सृष्टिकर्तुरीश्वरस्यानङ्गीकरणाज्जैनदर्शनं नास्तिकं तर्हि मीमांसकाः सांख्याश्च कथं नाम न नास्तिका भवेयुः। वस्तुतो वेदान्तमतेऽपि शुद्धब्रह्मतत्त्वं सृष्ट्यादिक्रियां न करोति।

(४) 'ये वेदं प्रमाणत्वेनाङ्गीकुर्वन्ति ते आस्तिकास्तदन्ये सर्वे नास्तिकाः' इत्यास्तिकनास्तिकयोः परिभाषाऽपि नाव्यभिचारिणी। यतो हि शङ्कराचार्यप्रभृतिभिस्सांख्यानां वैशेषिकप्रभृतीनाञ्च मतानि वेदबाह्यत्वेन खण्डितानि, सा चेयं वेदबाह्येश्वरकल्पनाऽनेकप्रकारा। केचित्सांख्ययोगव्यपाश्रयाः कल्पयन्ति। प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इतरेतरविलक्षणाः प्रधानपुरुषेश्वर इति। तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित्कथञ्चित् स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति (वेदान्तदर्शनम् २.२.३७.)। जैनदर्शनस्य खण्डनं कुर्वद्भिः कैश्चिदपि विद्वद्भिर्जैनदर्शनं नास्तिकदर्शनमिति नोक्तम्, यथा भाष्यरत्नप्रभाटीकायाम् (२-२-३७)—**'कर्मफलं सपरिकराभिज्ञसपरिकराभिज्ञदातृकं कर्मफलत्वात् सेवाफलवदिति गौतमा दिगम्बराश्च'** इत्यभिहितम्। न चात्र नास्तिकसंज्ञया दिगम्बराणां जैनानामुल्लेखः। एवं रीत्या सांख्यादयो नास्तिकतामापद्येरन्। परमेतावतापि न ते नास्तिका अपितु आस्तिका एव कथ्यन्ते इति महच्चित्रम्। एवञ्च जैनदर्शनस्यास्तिकत्वे कः खलु प्रद्वेष आस्तिकाभिमानिनामिति न विद्मः।

(५) किञ्च, यदि वेदप्रामाण्यवादिन आस्तिकास्तर्हि कथं वेदप्रामाण्यवादिनः परस्परं विवदन्ते? यथा—केचन विधिवादिनः, अन्ये भावनावादिनः, अपरे विनियोगवादिनः। तथा च परस्परभिन्नं द्वैताद्वैतरूपं तत्त्वं स्वीकुर्वन्तः कथं ते वेदप्रामाण्यवादिनः? अत्र तु साम्प्रदायिकाग्रह एव कारणं न किञ्चित्तात्त्विकम्। किञ्च, यत्र विरोधो नास्ति तत्र जैना अपि वेदं प्रमाणत्वेन स्वीकुर्वन्ति। यत्र तु विरोधो दृश्यते तत्र ते (अनेकान्तवादिनो जैनाः) प्रकारान्तरेण (नयभेदेन) समन्वयदृष्ट्या व्याख्यान्ति। अतो हेमचन्द्राचार्येण कथितम्—

भव-बीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमतस्मै॥

इयमेव प्रवृत्तिः स्वीकृताऽऽस्तिकदर्शनेष्वपि विलोक्यते। अतः कथं नाम जैनदर्शनं नास्तिकमिति?

(६) किञ्च, यदि 'नास्तिको वेदनिन्दकः' इत्येव नास्तिकस्य लक्षणं स्वीकुर्याम तथापि जैनदर्शनस्यास्तिकत्वमेव समायाति न नास्तिकत्वम्। यतो हि—वेदस्य प्रमुखरूपेणायमुद्घोषः **'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'** तन्मूलभूतवैदिकं विषयमङ्गीकृत्य जैनदर्शनं स्वमतं प्रावर्तिष्ट। अतएव जैन-दर्शने अहिंसायाः प्राधान्यं सर्वत्रैव विलोक्यते। किं बहुना, संसारस्य प्रतिकणं जीवमवगम्य जैनमहात्मानो महता प्रबन्धेन अवन्ति अतः वेदे प्रतिपादितस्य अहिंसारूपस्य प्रधानविषयस्य सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूपेण परिपोषकं प्रचारकञ्च जैनदर्शनमेव इति सिद्ध्यति तस्यास्तिकत्वम्। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इत्याभाणकस्य त्वन्यः कश्चनान्तर्भूत आधारः स चोपेक्ष्यते। धर्मसूत्र-श्रीमद्भागवत-महाभारत-गीता-प्रभृतिवैदिकाभिमतग्रन्थेष्वपि हिंसाप्रधानवैदिकयज्ञादीनां निन्दा विहिता। उक्तं भागवतपुराणे'—

कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते॥११.२१.२७॥
हिंसा-विहाराह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः॥ ११.२१.३०॥

उक्तञ्च 'महाभारते' कृष्णमुखेन युधिष्ठिरं प्रति—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ॥

किञ्च 'योगवाशिष्ठे' रामो जैनयतेः स्थितिं कांक्षति—

नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मनः ।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

एवमेव भर्तृहरिरपि 'वैराग्यशतके' निवेदयति—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥३.८९॥

अपि च उदयनाचार्येण 'न्यायकुसुमाञ्जलौ' 'निरावरणदिगम्बर' इत्यनेन जैनदर्शनस्यास्तिकत्वमेव समर्थितम् । किं बहुना—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

एवमेव मानतुङ्गाचार्येण 'भक्तामरस्तोत्रे' अभिहितम्—

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

एतावता सिद्धं भवति यद् पूर्वस्मिन् काले जैनदर्शनं न नास्तिकम् । परं परवर्तिनि काले साम्प्रदायिकाग्रहात् अस्य गणना नास्तिककोटौ कृता । जीव-परलोक-पुण्य-पापाद्यस्तित्ववादिनां बौद्धनैयायिकसांख्यजैनवैशेषिकजैमिनीयानां संक्षेपेण कीर्तनं कृत्वा आचार्यो हरिभद्रसूरिः 'षड्दर्शनसमुच्चय'ग्रन्थे उपसंहरन्नाह—

एवमास्तिकवादानां कृतं संक्षेपकीर्तनम् ॥७७॥
नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह ।
न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः ॥७८॥

धर्माधर्मौ न विद्येते, पुण्यपापयोः फलं न स्तः, जीवः, तस्य अस्तित्वं संसारात् निवृत्तिश्च नास्ति इत्येवंवादिनो लोकायता नास्तिका इति सर्वं षड्दर्शनसमुच्चयस्य (कारिका ७-९-८०) तर्करहस्यदीपिकायां श्रीगुणरत्नसूरिणा उद्घाटितम् 'प्रथमं नास्तिकस्वरूपमुच्यते । कापालिका भस्मोद्धूलनपरा योगिनो ब्राह्मणाद्यन्त्यजाताश्च केचन नास्तिका भवन्ति । ते च पुण्यपापादिकं न मन्यन्ते.........लोकायता नास्तिका एवम् इत्थं वदन्ति ।' बौद्धदर्शनेऽपि नागार्जुनकृतरत्नावल्यां धार्मिकाधार्मिकभेदमनुसृत्य आस्तिकनास्तिकयोर्विभागो दृश्यते—

नास्तिको दुर्गतिं याति सुगतिं याति चास्तिकः ।
यथाभूतपरिज्ञानान्मोक्षमद्वयनिःसृतः ॥५७॥

(७) अपि च, जैनदर्शनस्य शिरोमौलिभूतो विषयो अनेकान्तवाद एव इति न तिरोहितं शेमुषीजुषाम् । स च अनेकान्तवादो वेदे बहुधा प्रपञ्चित इति परिशीलनेन प्रतिभाति । तत् किञ्चित् प्रदर्श्यते । यथा नासदीयसूक्ते—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत् ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं च नास ॥१०.१२९.१-२॥

अथ च

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः (ईशा० ५) । किञ्च, **अणोरणीयान् महतो महीयान्** (कठो० १.२-२०) इत्यादिभिः प्रचुरैर्मन्त्रैरनेकान्तवाद एव प्रपञ्चितो वर्तते । स एव अनेकान्तवादो जैनदर्शनस्य प्राणभूतं तत्वम् । एतेनापि न जैनदर्शनस्य वेदबाह्यत्वमपितु वेदाभ्यन्तरत्वमेव इति सिद्धं जैनदर्शनस्यास्तिकत्वम् ।

(८) अपि च, 'नास्तिको वेदनिन्दकः' इत्यत्र यदि 'वेद'पदस्य (ज्ञानार्थकविद्धातोर्निष्पन्नत्वात्) 'ज्ञानम्' अर्थः स्वीक्रियेत तर्हि का हानिः । एवं च **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** (ऐतरेय० ५.४ तथा आत्मप्रबोधोपनिषद् ?) **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** । **'प्रज्ञानेनैवमाप्नुयात्'** (कठो० १२.२४) **'सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्'** (ऐत० ५.३) इत्यादीनामुपनिषद्मन्त्राणां सिद्धिर्भवेत् । जैनदर्शनेऽपि प्रत्येकमात्मा अनन्तज्ञानस्वरूपः स्वीकृतः । मोक्षमार्गप्रसङ्गे च **'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'** (तत्त्वार्थसूत्र० १.१) इत्यत्र मध्ये सम्यग्ज्ञानस्योल्लेखः कृतः । तेन च प्रकटितं यद् ज्ञानं विना चारित्रं निष्फलम् । वेदा ज्ञानपुञ्ज इत्यत्रापि नास्ति विरोधः । पुनः कथं जैनदर्शनस्य नास्तिकत्वम् ?

उपसंहारः—

एतावता सर्वैः सन्दर्भैः सिद्धं भवति यद् जैनदर्शनमास्तिकमेव, न नास्तिकम् । अतो निश्चीयते यदयमास्तिकनास्तिकयोर्विभागः केवलं साम्प्रदायिक एव, न तात्त्विकः । तथा च परलोकादिकं स्वीकुर्वतां जैनानां 'अहिंसा परमो धर्म', इति वेदप्रतिपादितधर्मविषयिण्या बुद्धेः सद्भावाच्च ते कथं नाम नास्तिकाः ? वस्तुतस्तु **'धर्मविषयिणी बुद्धिर्यस्य स आस्तिकस्तद्विपरीतश्च नास्तिक'** इति विभागस्तु यौक्तिकः । इत्थञ्च जैनदर्शनं परममास्तिकदर्शनमेवेत्यलम् ।

भ० महावीर का आगम एवं प्रामाण्य-परम्परा

पं० वर्धमानपा० शास्त्री

भगवान् महावीर की उपस्थिति में दिव्य ध्वनि के द्वारा महावीर शासन का प्रकाश हुआ। गणधर के अभाव में दिव्य ध्वनि निःसृत नहीं हुई। उसका कारण यही है कि समर्थ पात्र के बिना अर्थ का अनर्थ हो सकता है। दुरूह अर्थ को स्पष्ट कर बतलानेवाले सुयोग्य पात्र की तीर्थंकरों के समक्ष आवश्यकता है। जैनागम में प्रामाणिकता इसलिए है कि वह परम्परा से तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित है। प्रतिपादन करनेवाले वक्ता सर्वज्ञ थे, सर्वज्ञ के द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन से वह तत्त्व प्रतिपादित होने के कारण उसमें प्रामाणिकता है। वक्ता के प्रामाण्य से आगम में प्रामाण्य है। इस विषय को महर्षि 'पूज्यपाद' ने बहुत सुन्दररूप से प्रतिपादित किया है।

त्रयो वक्तारः, सर्वज्ञतीर्थङ्करः, इतरो वा श्रुतकेवली, आरातीयश्च, तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्य केवली ज्ञानविभूतिविशेषेण, अर्थतः आगमः उद्दिष्टः, तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात् प्रक्षीणदोषत्वाच्च, प्रामाण्यम्, तस्य साक्षात् शिष्यैः बुद्ध्यतिशयर्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिः अनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणं तत्प्रमाणं, तत्प्रामाण्यात्, आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोष-असंक्षिप्त-आयुः-मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम् तत्प्रमाणं अर्थतः तदेवेदमिति। क्षीरार्णवजलं घटे गृहीतमिव। ('सर्वार्थसिद्धि')

तीन प्रकार के वक्ता होते हैं, सर्वज्ञ तीर्थंकर, उनके शिष्य श्रुतकेवली एवं आरातीय आचार्य, उनमें सर्वज्ञ तीर्थंकर ने 'केवलज्ञान' के द्वारा प्रत्यक्ष देखकर तत्त्वों का प्रतिपादन किया, वह प्रमाणस्वरूप में है। इसी प्रकार उनके साक्षात् शिष्य श्रुतकेवलियों के द्वारा स्मृति में रख कर जो ग्रन्थ निर्माण किया गया वह भी प्रमाण है। साथ में श्रौत-स्मार्त परम्परा में एवंयुगीन आचार्यों के द्वारा जो तत्त्व-निरूपण किया है वह भी प्रमाणभूत है। क्षीर समुद्र के जल को घट में ग्रहण करने के समान।

अविच्छिन्न तीर्थ

भगवान् महावीर जिस दिन निर्वाण पद को प्राप्त हुए उसी दिन श्री गौतम गणधर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। जब गौतम गणधर को निर्वाण की प्राप्ति हुई, तब सुधर्मा स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। जब सुधर्मा स्वामी मुक्त हुए तब जम्बू स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। ये अन्तिम केवली कहलाते हैं। अनुबद्ध केवलियों में ये अन्तिम हैं। इनके बाद कोई केवली नहीं हुआ। इन केवलियों का समय ६२ वर्ष तक रहा।

चारण ऋद्धिधारक मुनियों में अन्तिम मुनि सुपार्श्वचन्द्र हुए हैं। प्रज्ञाश्रमणों में अन्तिम मुनि 'वज्रयश' और अवधिज्ञान धारक मुनियों में अन्तिम मुनि 'श्री' नामक हुए हैं। मुकुटबद्ध राजाओं में 'जिन' दीक्षा लेकर आत्मकल्याण करनेवाले मुनियों में अन्तिम साधक सम्राट् चन्द्रगुप्त हुआ।

भगवान् महावीर के मुक्त होनेपर ११ अंग व १४ पूर्व शास्त्रों के वेत्ता श्रुतकेवली पांच हुए। नन्दि, नन्दि-मित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु। इनका समय ४०० वर्षों का है। भद्रबाहु ही अन्तिम श्रुतकेवली हैं।

इसके बाद विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयवर्म, नागवर्म, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंग त्र एवं सुधर्म इस प्रकार ११ यति ११ अंग ० पूर्वों के धारी हुए हैं। इसका समय १८३ वर्षों का है।

तदनन्तर नक्षत्र, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंस ये पांच आचार्य ११ अंग के धारक हुए हैं। इनका समय कुल २२० वर्षों का है।

तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोवाहु, लोहार्य ये चार मुनि आचारांग के पूर्णवेत्ता बाकी के अंगपूर्वों के आंशिक ज्ञान को धारण करते थे। इनका काल ११८ वर्षों का है। इस प्रकार श्रुतज्ञान की परम्परा भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद ६८३ वर्षों तक बराबर चलती रही।

श्रौत-स्मार्त-परम्परा

भगवान् महावीर ने जो दिव्य ध्वनि से तत्त्वप्रतिपादन किया उसे श्रुतकेवली गणधर ने ग्रहण किया, भगवान् महावीर ने उन्हें श्रुत कराया, गणधर ने उसे स्मृति में रखकर अपने प्रत्यक्ष शिष्यों को श्रुत कराया, उन्होंने स्मृति में रखकर अपने शिष्यों को श्रुत कराया, इसी का नाम श्रुति वा स्मृति है। इस प्रकार अन्यून व अनतिरिक्त के रूप में वह श्रुतज्ञान की परम्परा श्रौत व स्मार्त के रूप में बराबर चली आ रही है। इसलिए प्रामाण्य है। इस प्रकार की परम्परा आचार्य धरसेन तक बराबर चलती रही। आचार्य धरसेन अंगशास्त्र के कुछ भाग के ज्ञाता थे, उन्होंने सोचा कि अब काल-दोष से आयु, बुद्धि, बल, क्षयोपशम आदि का ह्रास होता जाता है। श्रुति-स्मृति की परम्परा से श्रुतज्ञान का संरक्षण कठिन है, क्योंकि विस्मरण शक्ति की वृद्धि होती जा रही है। इसलिए स्वयं को प्राप्त अंगज्ञान को लिपिबद्ध करने की आवश्यकता है। उन्होंने दो शिष्यों को बुला कर अपने सूत्रज्ञान को उन्हें अवगत कराया, उन्होंने उसका विस्तार कर 'षट्खंडागम' के नाम से लिपिबद्ध किया। तब से आगमों को श्रुति-स्मृति के आधार से लिपिबद्ध करने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, अतः वह प्रामाण्य है।

आरातीय आचार्य

उसी को आधार बनाकर आरातीय प्रज्ञातिशय के धारक अनेक आचार्यों ने विविध विभागों में ग्रन्थ-रचना की। मुख्यतः उनका विभाग, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग—इस प्रकार चार प्रकार से किया गया है। इन्हीं को जैनाचार्यों ने ४ वेद के रूप में स्वीकार किया है। वेद का अर्थ ज्ञान है, ज्ञान के भी ४ विभाग होने से चतुर्वेद रूप में उसे विभक्त किया है। ये चारों ही वेद प्रमाण स्वरूप हैं। अंग 'पूर्व' शास्त्रों के द्वारा निकले हुए होने से प्रमाण स्वरूप हैं। स्वमताभिनिवेश, स्वार्थवासना एवं स्वकपोल-कल्पना के लिए अवकाश न होने से वे प्रमाण स्वरूप हैं। बड़े-बड़े आचार्य जो सिद्धान्त के पारगामी थे, उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्पष्टतया बतलाया है कि 'इदि जिणेहिं णिद्दिट्ठं' इस प्रकार जैन तीर्थकरों ने बतलाया है, अर्थात् वह स्वकपोल कल्पना नहीं है। जहां उनकी बुद्धि की न्यूनता का अनुभव हुआ, विस्मृति का आविष्कार हुआ, वहाँ उन्होंने स्पष्ट प्रामाणिकता के साथ स्वीकार किया है कि 'अहं ण जाणामि'—मैं इस विषय को नहीं जानता हूँ, अर्थात् ग्रन्थ में निरूपण-उन्होंने प्रामाणिकता को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयास किया है अतएव प्रमाण स्वरूप हैं।

आरातीय प्रमुख आचार्य

जैनाचार्यों ने ग्रन्थ-निर्माण में प्रामाणिकता का अवलम्बन जिस प्रकार किया उसी प्रकार विविध विषयों के ग्रन्थ की भी उन्होंने रचना की। उन ग्रन्थकारों के सम्बन्ध में यहाँ संक्षेप में कतिपय उल्लेख करना अप्रस्तुत नहीं होगा। इन आचार्यों ने बहुत बड़ी योग्यता के साथ ग्रन्थ-निर्माण का महत् कार्य कर आज के लोगों पर अपरिमित उपकार किया है। अगर इनकी ग्रन्थसम्पत्ति नहीं होती तो आज के लोग बिलकुल अन्धे ही होते, आंखों के होते हुए भी वे अन्धे कहलाते।

आचार्य कुन्दकुन्द

संस्कृत-प्राकृत सैद्धान्तिक युग में आचार्य कुन्दकुन्द नाम खासकर लिया जा सकता है। आपकी जन्मभूमि तमिल प्रान्त का कोंडकुन्द ग्राम है। इसी कारण आपका नाम कुन्दकुन्द पड़ा। आपने प्राकृत में समयसार, प्रवचन सार, (अष्ट) पाहुड, रयणसार आदि ग्रन्थों की रचना कर मुमुक्षुओं को व्यवहार व निश्चय की दृष्टि दी है। आध्यात्मिक जगत् आपके उपकारों से उऋण नहीं हो सकता है। आज भी मंगलपाठ में 'मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो' कहकर आचार्य कुन्दकुन्द के प्रति आदर व्यक्त किया जाता है। आपने विशेषतः आध्यात्मिक ग्रन्थों का निर्माण किया। द्रव्यानुयोग एवं चरणानुयोग पर विशेष बल दिया जो आत्मकल्याण के लिए आवश्यक है।

आचार्य उमास्वामी

आपने जैनसमाज के लिए मान्य 'तत्त्वार्थ सूत्र' ग्रन्थ की रचना की है। यह सूत्र ग्रन्थ क्या है ? गागर में सागर भर दिया है। दशाध्यायपरिच्छिन्न इस सूत्र ग्रन्थ में आचार्य ने जैनसिद्धान्त के सर्व तत्वों का सूत्ररूप में वि चन किया है। उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने इसी सूत्रग्रन्थ को आधार बना कर इस पर अनेक टीकाएँ लिखी हैं। 'पूज्यपाद' की सर्वार्थसिद्धि 'अकलंक' का राजवार्तिक, 'विद्यानन्दि' का श्लोकवार्तिक, 'भास्कर नन्दि' की तत्त्वार्थ वृत्ति, 'श्रुतसागर' की तत्त्वबोधिनी आदि इस ग्रन्थ की महत्ता को सूचित करते हैं। आचार्य उमास्वामी श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों संप्रदायों के आदरणीय हैं। ऐतिहासिक विद्वानों के मत से उमास्वामी का समय प्रथम शतक का उत्तरार्ध व दूसरे शतक का प्रारम्भिक भाग है।

आचार्य समन्तभद्र

इस परम्परा में आचार्य समन्तभद्र बहुत प्रभावक आचार्य हुए हैं। आपका जन्म उरगपुर और कर्मस्थान मणुवक हव्वी है। अध्ययनादि से विशेष ज्ञानार्जन किया। जैनसिद्धान्त में आचार्य श्री को असीम श्रद्धा थी। आपका मूलस्थान गरेसप्पा माना जाता है जहाँ आज भी अनेक अवशेष पाये जाते हैं।

मुनिदीक्षा लेने के बाद आचार्य पर बड़ी आपत्ति आई। भस्मक रोग ने उन्हें घेर लिया, भस्मक रोग में कितना भी खायें हजम हो जाय, पुनः खाने की इच्छा हो। जैन मुनि को यह रोग हो जाय तो सल्लेखना के सिवाय दूसरा कोई चारा नहीं है। क्योंकि उसके मूल गुणों में एकभुक्ति भी एक मूल गुण है। उन्होंने अपने गुरु के पास पहुँचकर "सल्लेखना मरण" के नियम की याचना की। गुरु बड़े दिव्य ज्ञानी थे, इस शिष्य के द्वारा धर्म की महती प्रभावना होने वाली है, अतः सल्लेखना देना उचित नहीं है, यह समझकर शिष्य समन्तभद्र को आज्ञा दी कि रोग से मुक्त होने तक चारित्र को गौण करो क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा है कि:—

दंसणभट्टा भट्टा
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥

सम्यग्दर्शन से जो भ्रष्ट होते हैं वे वास्तविक भ्रष्ट हैं। उनके लिए निर्वाण पद की प्राप्ति नहीं होती है। चारित्र से भ्रष्ट होने पर पुनः प्रायश्चित्त किया जा सकता है। चारित्र का पालन किया जा सकता है। परन्तु मूलतः तत्त्वश्रद्धान से ही भ्रष्ट होने पर दीर्घ संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

अतः तुम चारित्र को गौण कर रोगमुक्ति को प्राप्त करो। समन्तभद्र ने छद्म-संन्यासी के वेष को धारण कर अनेक देशों में विहार किया, अन्ततः काशी नगर में पहुँचे। वहां सोमनाथ देवालय में शिवजी को भोग लगाकर अपने भस्मक रोग को दूर किया। फलतः राजा शिवकोटि ने अपने ४००० अनुयायियों के साथ जैनदीक्षा ली। तद-नन्तर शिवकोटि ने जैन मुनिदीक्षा लेकर मुनिधर्म प्रतिपादक ग्रन्थ की रचना की।

समन्तभद्र आचार्य ने भी उस प्रसंग में 'स्वयम्भूस्तोत्र' की रचना कर अभूतपूर्व चमत्कार को व्यक्त किया था।

आचार्य समन्तभद्र न्याय, दर्शन, तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार, काव्य, कोष आदि में निष्णात विद्वान् थे, एवं प्राकृत, संस्कृत व कन्नड, तमिल आदि भाषाओं में प्रवीण विद्वान् थे। उनकी तर्कणा-शक्ति अद्वितीय थी। वाद करने का सामर्थ्य अप्रतिहत था। मालव, कांची, पाटलीपुत्र, सिंधु, पंजाब, आदि देशों में वाद कर प्रतिवादिभयंकरता उन्होंने सिद्ध की थी। उनके द्वारा विरचित कतिपय ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

उनमें ग्रन्थो में आप्त मीमांसा, स्वयंभूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, रत्नकरंडक, जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृत, आदि प्रमुख हैं। आप्तमीमांसा गन्धहस्ति महाभाष्य का मंगलाचरण कहलाता है। गन्धहस्ति महाभाष्य तत्त्वार्थसूत्र पर ८४ हजार श्लोक परिमित टीका है, उस ग्रन्थ का उल्लेख अन्य ग्रन्थों में पाया जाता है, परन्तु दुर्भाग्य से वह मूल ग्रन्थ अनुपलब्ध है। स्वामी जी ने वैद्यक ग्रन्थ की भी रचना की है। आपकी विद्वत्ता अगाध थी, जैन-जैनेतर आपकी योग्यता का लोहा मानते थे। आपका समय साधारणतः तीसरा शतमान माना जाता है।

आचार्य पूज्यपाद

आचार्य पूज्यपाद बहुत प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य हुए हैं। आप न्याय, व्याकरण, सिद्धान्त, ज्यौतिष, वैद्यक आदि में निष्णात विद्वान् थे। आपका जन्म कर्नाटक के कोल्लेगल्ल ग्राम में एक गरीब ब्राह्मण कुटुंब में हुआ। आपने बाल्यकाल में भी अपूर्व पाण्डित्य को पाकर जिनदीक्षा ग्रहण की एवं अपने तपःपूत समय के अतिरिक्त समय में ग्रन्थरचना का पवित्र कार्य आपने किया। आपके द्वारा लिखित 'तत्त्वार्थसूत्र' पर सर्वार्थसिद्धि टीका प्रसिद्ध है। इसी प्रकार प्रसिद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ इष्टोपदेश, समाधिशतक, समाधितन्त्र, जैनेन्द्र व्याकरण आदि ग्रन्थों की रचना की है। आपने 'कल्याणकारक' नाम के वैद्यक ग्रन्थ की रचना भी की है। परन्तु वह ग्रन्थ समग्ररूप से प्राप्त नहीं होता है। कुछ फुटकर प्रकरण यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। कर्नाटक व केरल में श्रीपूज्यपादोदितं, पूज्यपादभाषितं आदि वचनों का प्रयोगकर अनेक श्लोक वैद्य लोग कहते हैं।

इसके अलावा अनेक भक्तियों की भी आपने रचना की है। पूज्यपाद के अनन्तर के आचार्यों ने बहुत आदर के साथ आपका नाम लिया है। भक्ति साहित्य के साथ छंदःशास्त्र की भी आपने रचना की है। अपने युग के प्रभावक व तपोनिधि थे पूज्यपाद। आपका समय पाँचवाँ शतक माना जाता है।

आचार्य अकलंकदेव

आचार्य अकलंक अपने समय के प्रभावशाली विद्वान् थे। उन्होंने सर्व-विषयों में प्रवीणता प्राप्त की थी। मान्यखेट के राजा शुभतुंग के दो पुत्र थे अकलंक व निष्कलंक। एक बार माता-पिता ने अष्टाह्निका में आठ दिन ब्रह्मचर्य व्रत को लिया तो पुत्रों ने भी विनोद से ब्रह्मचर्य व्रत को ग्रहण किया। तदनन्तर यौवनावस्था में विवाह की तय्यारी की तो उन्होंने अपने ब्रह्मचर्य के नियम को पुनः दोहराया। इस प्रकार वे आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत में रहे। वे बालब्रह्मचारी थे। अकलंक एकपाठी थे एवं निष्कलंक द्विपाठी थे।

अकलंक के समय बौद्धधर्म का विशेष प्रभाव था। इसलिए उन्होंने बौद्धदर्शन का अभ्यास करने के लिए वेष पलटकर बौद्ध गुरुकुल में प्रवेश लिया। बहुत दिनों के बाद यह रहस्य छिपा नहीं रहा, जैनधर्म के स्याद्वाद का पाठ कराते हुए बौद्ध गुरु अटक गये, विचार के लिए बाहर गये। अकलंक ने तब तक शुद्ध पाठ बनाकर रखा था। गुरु को सन्देह हुआ। तदनन्तर छद्मवेषधारी अकलंक व निष्कलंक का पता लगाने के लिए प्रयास किया गया। कई उपायों से बचने का उन्होंने प्रयत्न किया। अन्ततः निष्कलंक की हत्या इसी प्रकरण में हो गई। अकलंक बच कर निकले।

अपने प्रतिभाशाली पांडित्य से बौद्धों के साथ विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थ किये। एक बार छल से बौद्ध विद्वान् शास्त्रार्थ कर रहे थे। १७दिन के शास्त्रार्थ में उनकी आराध्य देवी ही बोल रही थी। अकलंक चिन्तित हुए, कूष्मांडिनी ने साक्षात्कार कर उपाय बतलाया। तारादेवी की स्थापना एक घट पर की गई थी, अकलंक ने लात मारकर भगा दी। उनकी विजय हुई। बौद्ध गुरु इसमें अपमानित तथा राजा के द्वारा दंडित हुए। अनेक देशों में विहारकर अकलंक देव ने जैनधर्म की महत्ता व्यक्त की एवं विजय-पताका फहराई।

अकलंकदेव ने निम्नलिखित ग्रन्थों को जन्म दिया :—

(१) लघीयस्त्रय, (२) न्यायविनिश्चय, (३) सिद्धिविनिश्चय, (४) अष्टशती, (५) प्रमाणसंग्रह, (६) तत्त्वार्थराजवार्तिक, (.) स्वरूपसम्बोधन, तथा (८) अकलंकस्तोत्र।

इन ग्रन्थों में उन्होंने अपनी पांडित्यपूर्ण विद्वत्ता के द्वारा न्याय, तर्क, व्याकरण की कसौटी पर विषय को कसा है एवं स्वमत-मंडन किया है। उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने अकलंक देव की बड़ी प्रशंसा की है।

आपने अपने भाई का बलिदान देकर धर्म की अपूर्व सेवा की है। आपका समय ७वां शतक माना जाता है।

आचार्य वीरसेन

अकलंक के बाद जैन आगम के आकाश में आचार्य वीरसेन चमकते हुए सितारे सिद्ध हुए हैं। आप भी हर विषय में निष्णात विद्वान् थे। विशेषतः सिद्धान्त विषय में उनका प्रावीण्य अद्वितीय था। उनका बुद्धिचातुर्य-क्षयोपशम अधिक होने से उन्हें लोग सर्वज्ञ व 'प्रतिवादिभयङ्कर' के नाम से कहते थे। उनके गुरु एलाचार्य को प्रतिदिन एक जैन बनाने का नियम था। आचार्य वीरसेन ने सिद्धान्त ग्रन्थ श्रीषट्खण्डागम पर धवला, जयधवला टीका लिख कर तत्त्वज्ञान एव कषायप्राभृत के अपूर्व नैपुण्य को व्यक्त किया है। आपकी विशद टीका नहीं होती तो आज सिद्धान्त की जटिल गुत्थियाँ नहीं सुलझ सकती थीं। आपके द्वारा रचित क्षेत्रगणित सम्बन्धी 'सिद्ध-भूपद्धति टीका' नामक ग्रन्थ भी था। आपका समय ७वें शतमान का अन्त व आठवें शतमान का प्रारम्भ माना जाता है।

आचार्य जिनसेन

पुन्नाट संघ के आचार्य जिनसेन का जन्म पुन्नट ग्राम में हुआ। आप लोहाचार्य की परम्परा में कीर्तिषेण के शिष्य थे। आपने हरिवंशपुराण की रचना की थी। इससे पहिले रामायण को प्रतिपादन करने वाला रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण था, हरिवंशपुराण की रचना शकवर्ष ७०५ में पूर्ण हुई है। इस ग्रन्थ में विभिन्न शब्दों के द्वारा १२००० श्लोकों का अस्तित्व है। इसमें २२वें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ का विस्तृत वर्णन है। साथ में अन्य तीर्थंकरों का संक्षिप्त वर्णन, नारायण, बलभद्र, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती आदि का वर्णन है। कौरव पाण्डवों का विस्तृत कथन है। इसके अलावा इस ग्रन्थ में तीन लोक का विस्तृत विवेचन, जीवादि सप्त तत्त्वों का वर्णन, अविच्छिन्न आचार्य-परम्परा आदि का कथन बहुत ही सुन्दर रूप से उपलब्ध होता है, अतः यह परमादरणीय है।

भगवज्जिनसेन

आप आचार्य वीरसेन के शिष्य थे। आचार्य वीरसेन के द्वारा अवशिष्ट सिद्धान्त ग्रन्थ की टीका आपने पूर्ण की थी। राजा अमोघवर्ष जिनसेन आचार्य का परम भक्त था। वह जिनसेन स्वामी के चरणकमल में प्रतिदिन वन्दना करने से ही अपने को कृतकृत्य समझता था। वह भी समस्त राज्य का त्याग कर जिनमुनि बना था। उसने 'प्रश्नोत्तररत्नभाषा' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। भगवज्जिनसेनाचार्य ने अपने पूर्वपुराण कृति में

सर्व विषयों का सर्वांगपूर्ण प्रतिपादन किया है। साहित्य, व्याकरण, छंद, अलंकार सिद्धान्त को उसमें ओतप्रोत किया है। अगर जिनसेनाचार्य नहीं होते एवं साहित्य जगत् से उनके ग्रन्थ को निकाल दिया जाय तो वह शून्य रहेगा—यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इनकी दूसरी कृति 'पार्श्वाभ्युदय काव्य' है जो कि महाकवि कालिदास के मेघदूत की समस्या-पूर्ति है। आपका समय शक वर्ष ८वाँ शतमान माना जाता है।

आचार्य गुणभद्र

ये आचार्य जिनसेन के प्रधान शिष्य हैं। आचार्य जिनसेन ने अपने आयुष्य का अन्त जान कर परीक्षा के द्वारा गुणभद्र को प्राप्त किया था। गुरु के अवशिष्ट कार्य को शिष्य गुणभद्र ने पूर्ण किया। आपके द्वारा रचित उत्तर-पुराण, जिनसेन के पूर्वपुराण के समान ही महत्त्वपूर्ण है, इसमें २३ तीर्थंकरों का पुण्यचरित्र पदलालित्य एवं रसास्वादन से परिपूर्ण है।

गुणभद्र ने अपने 'उत्तरपुराण' की रचना वंकापुरशांतिनाथ जिनालय में पूर्ण की थी, वंकापुर कर्नाटक प्रान्त में है।

आचार्य गुणभद्र विक्रमीय ९वें शतमान में थे और उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। योगशास्त्र व अध्यात्मशास्त्र में भी वे परिपूर्ण विद्वान् थे। आचार्य गुणभद्र ने गुरुवचन की पूर्ति के लिए १६००० श्लोकों की रचना कर गुरु के ग्रन्थ को पूर्ण किया था। इसके अलावा आत्मानुशासन, जिनदत्तचरित, त्रैवर्णिकाचार आदि ग्रन्थों की रचना भी उनकी लेखनी से हुई है। आपकी प्रतिभा अवर्णनीय थी।

आचार्य विद्यानन्दि

इसी शतमान के एक प्रसिद्ध तार्किक आचार्य विद्यानन्दि का हम उल्लेख कर सकते हैं। आप मूलतः ब्राह्मण थे। किसी जैनसूत्र के श्रवण से आप को जैनशासन पर श्रद्धा उत्पन्न हुई। तदनन्तर जिनदीक्षा लेकर विद्यानन्दि के नाम से प्रसिद्ध हुए। आप सिद्धान्त व दर्शनशास्त्र के महापण्डित थे। आपने जैनधर्म के तत्त्वों को एवं ईश्वरवाद को निर्दोष सिद्ध करने के लिए अपने जीवन में अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थों की रचना की है। भगवान् अकलंक के द्वारा लिखित देवागम वृत्ति अष्टशती पर आपने अष्टसहस्री नामक व्याख्यान लिखा है जो कि आज न्यायसंसार में अजोड़ कृति मानी जाती है। इसी प्रकार आपने युक्त्यनुशासन, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, तत्वार्थश्लोक-वार्तिकालंकार एवं सत्यशासनपरीक्षा आदि ग्रन्थों की रचना की है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार आपकी अनुपम कृति है। तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक के बाद इतनी विस्तृत श्लोक व भाषामय टीका अनुपलब्ध है। इस वार्तिक में आपने दार्शनिक पद्धति से तत्त्वविवेचन किया है। सर्वजिज्ञासुओं की इससे तृप्ति हो जाती है। कदाचित् सत्यशासन परीक्षा विद्यानन्दि महर्षि की अन्तिम रचना हो सकती है। आपने न्यायसंसार के प्रति अप्रतिम उपकार किया है। इसमें कोई शक नहीं है।

आचार्य मल्लिषेण

आचार्य मल्लिषेण 'उभयभाषा कविचक्रवर्ती' थे। कर्नाटक के प्रसिद्ध मुष्ठगुन्द में रहकर इन्होंने ग्रन्थ की रचना की थी। वे अनेक विषयों में निष्णात विद्वान् थे। मन्त्रशास्त्र में भी प्रवीण थे। आपने त्रिषष्टिशलाकापुरुषों की रचना महापुराण के नाम से की थी। साथ में भैरवपद्मावतीकल्प, ज्वालामालिनीकल्प, विद्यानुवाद आदि अनेक मंत्र-शास्त्रों को भी जन्म दिया था। नागकुमारचरित्र भी आपकी कृति है। आचार्य ने अपनी गुरुपरम्परा में एक नरेन्द्रसेन का उल्लेख किया है। नरेन्द्रसेन के नाम से एक प्रतिष्ठापाठ भी रचित है। शायद ये ही नरेन्द्रसेन मल्लिषेण की गुरु-परम्परा में हों। आचार्य मल्लिषेण अनेक विषयों के प्रकांड विद्वान् थे।

आचार्य वादिराज

प्रतिभा व कीर्ति से सम्पन्न आचार्य वादिराज बहुत ही तार्किक व सैद्धान्तिक विद्वान् थे। आपने एकीभावस्तोत्र, पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित, काकुस्थचरित, न्यायविनिश्चयविवरण, प्रमाण निर्णय आदि ग्रन्थों की रचना कर अपने विशद पांडित्य को सिद्ध किया है। सर्व ग्रन्थ अनुपम हैं। न्यायविनिश्चयविवरण आचार्य अकलंक के द्वारा विरचित न्यायग्रन्थ की टीका है जिसमें विस्तार के साथ जैनागमोक्त प्रत्यक्ष, अनुमान आदि का सुन्दर विवेचन है। इसी प्रकार प्रमाणनिर्णय में आचार्य ने प्रमाणों का अच्छी तरह विश्लेषण कर प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के रूप में निर्णय किया है। आपका पांडित्य आगाध है। आपकी रचना-शैली मनमोहक है।

आचार्य वादीभसिंह

आपने अनेक भाषाओं में पांडित्य को प्राप्त किया था। आप पुष्पसेन के शिष्य थे। आपने 'क्षत्रचूडामणि' व 'गद्यचिन्तामणि' काव्य की रचना की है। दोनों ग्रन्थों का प्रमेय एक ही है। तथापि रचना-शैली विभिन्न है एवं विद्वत्तापूर्ण है। क्षत्रचूडामणि में प्रतिश्लोक में एक नीति के द्वारा विषय का पोषण किया गया है। गद्यचिन्तामणि लच्छेदार संस्कृत का गद्य काव्य है। इन दोनों ग्रन्थों के परिशीलन से आचार्य की विद्वत्ता सहज समझ में आ जाती है।

आचार्य सोमदेव

आचार्य सोमदेव साहित्य के ही नहीं, सिद्धान्त व तर्क के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने यशस्तिलक-चम्पू में अपने सिद्धान्त, तर्क, न्याय व आयुर्वेद आदि परिज्ञानों का स्पष्ट परिचय दिया है। आपने उक्त महत् चम्पू काव्य को विक्रम सं० १०२६ में पूर्ण किया था। उस समय कृष्णराजदेव का सामन्त चालुक्य अरिकेसरी के ज्येष्ठ पुत्र की राजधानी गंगाधारा में राज्य करता था, वहीं इस चम्पू की पूर्णता हुई। उन्हें स्याद्वादाचलसिंह, वादिपंचानन आदि उपाधियाँ प्राप्त थीं, इसी से इनकी विद्वत्ता प्रकट होती है।

उन्होंने 'नीतिवाक्यामृत' नामक नीतिसम्बन्धी ग्रन्थ की रचना की है, जिसे पढ़ने के बाद संस्कृत-साहित्य में राजनीतिविषयक प्रतिपादन किस प्रकार है, इसका सहज ज्ञान हो सकता है। ग्रन्थ सूत्ररूप में है अतः थोड़े शब्दों में विशाल अर्थ का प्रतिपादन आचार्य ने किया है। पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित सर्वनीतिविषयक नियमों का अध्ययन कर आचार्य ने इस ग्रन्थ में नीतिविषयक निरूपण किया है।

आचार्य के द्वारा रचित उभय ग्रन्थों की प्रतिपादन पद्धति को देखने पर उनके हृदय का वैशाल्य, अगाध पांडित्य, गुणगरिमा एवं विविध विषयों का प्रावीण्य स्पष्ट उठकर दिखता है। ये अपने युग के असाधारण विद्वान् थे।

अन्य उद्भट आचार्य

इसी प्रकार आचार्य माणिक्यनंदि का परीक्षामुखसूत्र, प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमलमार्तण्ड, शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव, आचार्यसुभाषितरत्नसंदोह, धर्मपरीक्षा, पंचसंग्रह, उपासकाचार आदि ग्रन्थ, आचार्य अमृतचन्द्र का समयसार टीका ग्रन्थ, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, तत्त्वार्थसार, प्रवचनसारटीका, एवं महापण्डित आशाधरविरचित सागारधर्मामृत, अनगारधर्मामृत, जिनयज्ञकल्प, प्रमेयरत्नाकर, भरतेश्वराभ्युदय, ज्ञानदीपिका, राजीमती विप्रलंभ, अध्यात्मरहस्य, क्रियाकलाप, त्रिषष्टिस्मृति नित्यमहोद्योत आदि ग्रन्थों के अलावा अनेक टीका ग्रन्थों की रचना भी की है। इसी प्रकार आचार्य वीरनन्दि का चन्द्रप्रभचरित्र भी उल्लेखनीय ग्रन्थ है।

इस प्रकार उपर्युक्त आचार्यों ने श्रुति व स्मृति को ध्यान में रखने पर अपनी गुरु-परम्परा के आधार से प्राप्त ज्ञान का प्रमाणिकता से उपयोग कर ग्रन्थ निबद्ध किये। उनके ग्रन्थों में परस्पर विरोधकथन, स्वकपोलकल्पना-

निर्मितकथन, स्वार्थप्रेरित कथन, कलुपकथन, संक्लेश क्षोभ निर्मापक कथन आदि न होने में उनमें पूर्णतया प्रामाण्य है। उसका सम्बन्ध सर्वज्ञ तीर्थंकर के कथन से होने से एवं उसी का अंशरूप ग्रहण होने से उसमें अप्रामाणिकता का कोई अंश नहीं है। अतः प्रमाणस्वरूप है।

इसी प्रकार संस्कृत साहित्य के समृद्ध करने के लिए जिस प्रकार जैन आचार्यों ने प्रयत्न किया है, उसी प्रकार मराठी, तमिल, तेलुगु व कन्नड साहित्य को भी समृद्ध करने का जैनाचार्य व जैन-कवियों ने प्रयत्न किया है। यह बात उक्त भाषा के साहित्यों का सूक्ष्मतया अवलोकन करने से ज्ञात होती है। किंवहुना, उन भाषाओं के साहित्य के सृजन का प्रारम्भ ही जैन साहित्यकारों ने किया, यह कहें तो अतिशयोक्ति बिल्कुल हो नहीं सकती है।

कर्नाटक साहित्य की परम्परा

कर्नाटक साहित्य की प्राचीन परम्परा है। अनेक ऐतिहासिक विद्वान् कहते हैं कि भगवान् वृषभदेव के द्वारा पुत्री ब्राह्मी के हथेली पर लिखित ब्राह्मी लिपि कर्नाटक लिपिका प्राचीन रूप है। इसलिए इस साहित्य को बहुत प्राचीन परम्परा प्राप्त है

महाकवि पंप—इस महाकवि के द्वारा इस साहित्य का विशिष्ट विकास हुआ है या प्रारम्भ का महत्त्वपूर्ण साहित्य इसी का प्राप्त होता है। इसके पूर्वज जैनेतर ब्राह्मण थे, अभिराम देव, जो पंप महाकवि का पिता था, ने जैनधर्म की दीक्षा ली थी। पंप ने एक लौकिक और दूसरा धार्मिक, ऐसे दो काव्यों की रचना की। लौकिक काव्य 'विक्रमार्जुन विजय' था और धार्मिककाव्य था आदिपुराण। भगज्जिनसेनाचार्य के पूर्वपुराण का आधार लेकर पंप ने इस काव्य की रचना की थी।

कर्नाटक साहित्य का यह आद्यकवि कहलाता है। अपने समय के शासक अरिकेसरी के प्रति इसकी अगाध श्रद्धा थी। कर्नाटक साहित्य में इसका साहित्य बेजोड़ कहलाता है। इसे कवितागुणार्णव, सुकविजन मनोमानसोत्तंस-हंस, संसार सारै-सरस्वतीमणिहार वगैरह उपाधियाँ प्राप्त थीं; इसकी महत्ता इसी से प्रकट है। यह महाकवि वि० स० के १०वें शतमान में हुआ है।

कवि पोन्न—करीव इसी के आस-पास पोन्न नामक महाकवि हुआ है। उसने शानिनाथपुराण, भुवनैक रामाभ्युदय, गत प्रत्यागतवाद और जिनाक्षरमाला—इस प्रकार चार काव्यों का रचना की। इनमें आदि व अन्तिम दो ग्रन्थ तो प्रकाशित हुए हैं, दो ग्रन्थ अभी अनुपलब्ध हैं। यह उभयभाषाकविचक्रवर्ती कहलाता था। इसके काव्य का अवलोकन करने से यह महान् प्रौढ़कवि था यह निस्संदेह सिद्ध हो जाता है। पोन्न के शान्तिनाथपुराण की प्रतियां उपलब्ध न होने से दामचिन्तामणि अतिमब्वे ने १००० प्रतिताड़ पत्र पर लिखवाकर वितरण किया, इससे कवि की महत्ता ज्ञात होती है।

कवि रन्न—इसी शतमान में रन्न नाम का कवि हुआ, इसने गदायुद्ध, व अजितपुराण की रचना की थी। यह भी उभयभाषा में निपुण होने के कारण उभयभाषाचक्रवर्ती कहलाता था। इसके काव्य का परिशीलन करने से यह महाकवि वस्तु-विवेचन के संबन्धी सूक्ष्मतलस्पर्शी ज्ञान का धनी था यह सिद्ध होता है।

कर्नाटक साहित्य में पंप, पोन्न व रन्न ये तीन कवि रत्नत्रय कहलाते हैं।

इसी परम्परा में यशोधर चरित्र के रचयिता जन्न काव्य के प्रणेता वीरमार्तण्ड चामुंडराय अनेक ग्रन्थों के रचयिता ज्योतिर्विद् श्रीधराचार्य, तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार दिवाकरनन्दी, पंपरामायण के रचयिता कविनागचन्द्र कवयित्री कंति, गणितज्ञ राजादित्य, गोवैद्यविशारद कीर्तिवर्मा, न्यायवेत्ता ब्रह्मशिव नेमिनाथ पुराणत्वकर्त्ता कर्ण-

कर्णपार्य, छंद व कोष के ज्ञाता नागवर्म, नेमिचन्द्र, अग्गव, बोप्पण, बंधुवर्म, गुणवर्म आदि कवियों को भी विस्मृत नहीं कर सकते हैं जिन्होंने अपनी कृतियों के द्वारा कर्नाटक साहित्य के क्षेत्र को समृद्ध किया है।

इसी प्रकार सांगत्ययुग के निर्माता महाकवि रत्नाकर का साहित्य भी उपेक्षणीय नहीं हैं। भरतेशवैभव आज भारत के गौरवग्रन्थों में है। करीव १० हजार श्लोक परिमित भोग-योग से परिप्लावित ग्रंथरत्न की रचना इस महाकवि ने सांगत्य छंद में की है। इसी प्रकार शतकत्रय, अध्यात्मगीत आदि अनेक काव्यों का निर्माण भी इन्होंने किया है। यह सांगत्ययुग का सृष्टिकर्ता कहलाता है। इसके बाद अनेक ग्रंथकर्त्ताओं ने इस छंद का मुक्त उपयोग किया है।

इस प्रकार परस्पर अविरोधरूप से महावीरशासन में विभिन्न भाषाओं के ग्रन्थकारों ने ग्रन्थरचना कर लोकहित का कार्य प्रशस्त किया है। भ० तीर्थंकर सर्वज्ञ वाणी का परम्परा से संबन्ध होने के कारण अर्वाचीन आचार्य एवं महाकवियों के द्वारा विरचित ग्रन्थों में प्रामाण्य है। इसलिए यह सत्य ही कहा है कि **'वक्तरि प्रामाण्या-दागमप्रामाण्यम्'** ।

श्रमण साहित्य में वर्णित विविध सम्प्रदाय

डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

प्राचीन साहित्य में साहित्यकार स्वपालित दर्शन को उपस्थित करने के साथ ही इतर दर्शनों का खण्डन किया करता था। श्रमण (जैन-बौद्ध) साहित्य में यह खण्डन-मण्डन-परम्परा भली-भाँति उपलब्ध होती है। यहाँ हम भगवान् महावीर और महात्मा बुद्धकालीन ऐसे ही सम्प्रदायों का उल्लेख कर रहे हैं, जिनकी परम्परा लगभग छिन्न-भिन्न हो चुकी है।

पालि साहित्य[1] में महात्मा बुद्ध के समकालीन छः तीर्थंकरों का उल्लेख आता है—पूरणकस्सप, मक्खलि गोसाल, अजितकेसकम्बलि, पकुध कच्चायन, सञ्जयवेलट्ठिपुत्त तथा निगण्ठनातपुत्त (महावीर)। इनके अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे शास्ता थे जो अपने सिद्धान्तों को समाज में प्रचलित कर रहे थे। ब्रह्मजालसुत्त के ६२ दार्शनिक मत इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। इन्हें वहाँ गंभीर और दुर्ज्ञेय कहा गया है।

१. आदि सम्बन्धी १८ मत (पुब्बान्तानुदिट्ठि अठारसहि वत्थूहि)

(i)	सस्सतवाद—	४	
(ii)	एकच्चसस्सतवाद—	४	
(iii)	अन्तानन्तवाद—	४	= १८
(iv)	अमराविक्खेपवाद—	४	
(v)	अधिच्चसमुप्पन्नवाद—	२	

२. अन्त सम्बन्धी ४४ मत (अपरन्तानुदिट्ठी चतुचत्तारी वत्थूहि)

१.	उद्धमाघातनिका सञ्ञीवादा—	१६	
२.	उद्धमाघातनिका असञ्ञीवादा—	८	
३.	उद्धमाघातनिका नेवसञ्ञीनासञ्ञीवादा—	८	४४ + १८ = ६२
४.	उच्छेदवाद—	७	
५.	दिट्ठधम्मनिब्बानवाद—	५	

इन बासठ मिथ्यादृष्टियों में आत्मा, लोक, पुनर्जन्म जैसे प्रश्नों पर विशेष रूप से विचार किया गया है। किसी निश्चित स्थितिज्ञान तक न पहुँचने पर अमराविक्खेपवाद, नेवसञ्ञीनासञ्ञीवाद, उच्छेदवाद आदि जैसे सिद्धान्तों की स्थापना की गई। प्राकृत साहित्य में संभवतः इन्हीं मतों को ३६३ भेदों में विभाजित किया गया है—क्रियावाद के १८०, अक्रियावाद के ८४, अज्ञानवाद के ६७ और विनयवाद के ३२। बारहवें अंग दृष्टिवाद में भी जैनेतर मतों का वर्णन रहा होगा। संभव है, इन मतों के मूलतः दो भेद रहे हैं—क्रियावाद और अक्रियावाद। तटस्थ वृत्ति ने इसके बाद अज्ञानवाद को और उसके उपरान्त विनयवाद को जन्म दिया होगा।

१. **क्रियावाद**—इस दर्शन के अनुसार जीव का अस्तित्व है और वह अपने पुण्य-पाप रूप कर्मों के फल का भोक्ता है। इन कर्मों की निर्जरा कर उसके मत में जीव निर्वाण प्राप्त कर लेता है। कहीं-कहीं क्रिया का अर्थ

---

१. दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त।

चरित्र भी किया गया है। तदनुसार व्यक्ति को क्रिया ही फलदायी होती है, ज्ञान नहीं। क्योंकि वह ज्ञान से संतुष्ट नही होता। अतः एकान्तरूप से जीवादि पदार्थों को स्वीकारनेवाला मत क्रियावाद है। उसके १८० भेद हैं। जीव, अजीव, बन्ध, आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ स्वतः और परतः के भेद से दो प्रकार के हैं। वे नित्य और अनित्य भी रहते हैं। पुनः ये सभी भेद काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा के भेद से ५ प्रकार के हैं। इस प्रकार ९×२×२×५=१८० भेद हुए।

क्रियावाद की दृष्टि में ज्ञान-रहित क्रिया से किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। इसलिए "पढ़मं नाणं तओ दया" कहा गया है[1]। 'अहं सु विज्जाचरण पमोक्खम्' का भी यही संदर्भ है।[2] इसी प्रसंग में सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक एवं बौद्धों को क्रियावादी कहा गया है। जैनदर्शन भी क्रियावादी है। उसके अनुसार काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ, कर्म आदि समस्त पदार्थों को पृथक्-पृथक् मानना मिथ्या है। उनके सम्मिलित स्वरूप को ही यहाँ स्वीकार किया गया है।[3]

२. **अक्रियावाद**—क्रियावाद के विपरीत अक्रियावाद में आत्मा, पुण्य, पाप आदि कर्मों का कोई स्थान नहीं। लोकायतिक और बौद्धों को इस दृष्टि से अक्रियावादी कहा जा सकता है। पालि साहित्य में निगण्ठनातपुत्त को क्रियावादी कहा गया है जबकि बुद्ध ने स्वयं को क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों माना है। क्रियावादी इसलिए कि वे जीवों को सत्कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं और अक्रियावादी इसलिए कि वे असत्कर्म को त्यागने का उपदेश देते हैं। सूत्रकृताङ्ग में भी बुद्ध को एक स्थान पर क्रियावादी और दूसरे स्थान पर अक्रियावादी कहा गया है। आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करने के कारण उसे यहां सम्मिलित किया गया है। अन्यथा वह क्रियावादी ही है।

अक्रियावाद के ८४ भेद हैं। जीवादि सप्त पदार्थ और उनके स्व-पर के भेद से दो भेद हैं। वे सभी भेद पुनः काल, यदृच्छा आदि के भेद से छः प्रकार के हैं। इस प्रकार ७×२×६=८४ हुए।[4] आत्मा के अक्रिय होने पर अक्रियावाद में कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष आयेंगे। समस्त वस्तु जगत् भी सर्व वस्तुस्वरूप हो जायगा।[5]

३. **अज्ञानवाद**—इसके अनुसार श्रमण ब्राह्मणों के मत परस्पर विरुद्ध हैं, अतः असत्य के अधिक निकट हैं। इसलिए अज्ञान को ही श्रेष्ठ माना जाना चाहिए। और फिर संसार में कोई अतिशयज्ञानी नहीं जिसे सर्वज्ञ कहा जा सके। ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के पूर्ण स्वरूप को एक साथ जान भी नहीं सकता। अज्ञानता होने से चित्त-विशुद्धि अधिक बनी रह सकती है। अज्ञानवादी जिस अज्ञान को कल्याण का कारण मानते हैं, वह ६७ प्रकार का है—सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, असद् वक्तव्य, और सदसदवक्तव्य। इन प्रकारों से जीवादिक नौ पदार्थ नहीं जाने जा सकते। अजीवादि पदार्थों में भी प्रत्येक के सात विकल्प होते हैं। अतः ९×७=६३ मत हुए। इनमें चार भेद और मिलाये जाते हैं—(i,iii) भाव की उत्पत्ति सत्, असत्, सद-सद्, से होती है, यह कौन जानता है और उस जानने से फल भी क्या है।[6]

---

१. सूत्रकृतांग, निर्युक्ति १.१२.११९
२. वही, १.१२.११
३. वही, १.१.१२ : निर्युक्ति, १२१, वृत्ति पृ० २१०-१.
४. सूत्रकृतांग, १.१.१२. वृ० पृ० २०८.१; निर्युक्ति ११९-१२१; ६.२७. वृत्ति पृ० १५२.
५. वही, १.१२, नि०१२१, वृत्ति पृ० २१०.१.
६. वही, १.१२.२. की वृत्ति।

दीघनिकाय के अनुसार अज्ञानवाद का प्रस्थापक सञ्जयवेलट्ठिपुत्त है। वे हर दार्शनिक समस्या के प्रति अज्ञानता और अनिश्चितता व्यक्त करते हैं। शीलांक सञ्जय का नाम ही भूल गये। उन्होंने उपर्युक्त सिद्धान्त जिन आचार्यों से सम्बद्ध माने हैं वे शत-प्रतिशत सही नहीं लगते। उदाहरणार्थ उन्होंने मक्खलि गोसाल का सम्बन्ध अज्ञानवाद, नियतिवाद और विनयवाद से जोड़ा है जबकि सञ्जयवेलट्ठिपुत्त से अपरिचितता व्यक्त की है। वस्तुतः अज्ञातवाद संजयवेलट्ठिपुत्त का सिद्धान्त है और नियतिवाद मक्खलि गोसाल का। पालि साहित्य में इसे अधिक स्पष्ट किया गया है। भगवतीसूत्र में भी गोशालक को नियतिवाद का प्रवक्ता माना गया है। सूत्रकृतांग में अज्ञानवाद को पासवद्धा, मिच्छादिट्ठी, अणारिया जैसे विशेषणों से अभिहित किया है। भ० महावीर के धर्म को स्वीकारने वालों में सञ्जय का नाम आता है। संभव है, वे संजयवेलट्ठिपुत्त ही हों।

४. **विनयवाद**—विनयवादी विनय से ही मुक्ति मानते हैं। समस्त प्राणियों के प्रति वे आदरभाव व्यक्त करते हैं। किसी की निन्दा नहीं करते। विनयवाद के ३२ भेद हैं—देवता, राजा, यति, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता और पिता, इन आठ व्यक्तियों का मन, वचन, काय और दान के द्वारा विनय करना अभीष्ट है। अतः ८×४=३२ भेद हुए। पालि साहित्य से पता चलता है कि यह बात लोकप्रिय रही होगी।[1] महात्मा बुद्ध भी स्वयं को 'वेनयिको समणो गोतम' कहते हैं। सूत्रकृतांग में वही विनय कल्याणकारी बताया है जो सम्यग्दर्शन से युक्त हो।

उपर्युक्त चारों मतों के पुरस्कर्त्ताओं के विषय में पर्याप्त मतभेद है। अकलंक[2] ने इस सन्दर्भ में कुछ नाम गिनाये हैं। उनके अनुसार कौत्कल, काणेविद्धि, कौशिक, हरिस्मश्रु, मांछपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड, अश्वलायन आदि आचार्य क्रियावादी हैं। मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूमि, वाद्वलि, माठर, मौद्गलायन आदि आचार्य अक्रियावादी परम्परा के हैं। साकल्य, वल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्र, नारायण, कठ, माध्यन्दिन, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, अम्बष्ठि, कृदौविकायन, वसु, जैमिनि आदि आचार्य अज्ञानवादी हैं। वसिष्ठ, पाराशर जतुकर्णी, वाल्मीकि, रोमहर्षणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थूण आदि वैनयिक आचार्य हैं। इन मतों का निरूपण दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग में हुआ है। चूंकि यह अंग उपलब्ध नहीं है, अतः इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी यह द्रष्टव्य है कि उक्त आचार्यों में अधिकांश आचार्य पौराणिक हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति के तीसवें शतक में इन चारों वादों की अपेक्षा से समस्त जीवों का विचार किया गया है।

नियतिवाद

नियतिवाद का प्रस्थापक मक्खलिपुत्त गोशालक को माना जाता है। यही आजीविक सम्प्रदाय का प्रवर्तक है। पालि साहित्य में मक्खलि शब्द मिलता है, पर प्राकृत साहित्य में 'मंखलिपुत्र' शब्द का उल्लेख आता है। मंख का अर्थ है—हाथ में चित्रपट लेकर उनके द्वारा लोगों को उपदेश देकर आजीविका चलाने वाला भिक्षुक। व्याख्याप्रज्ञप्ति के पन्द्रहवें शतक के उल्लेख से ऐसा लगता है कि यह मंख परम्परा भ० महावीर से पूर्व भी प्रचलित थी। मंखलि महावीर का शिष्य भी बना और बाद में संघ से पृथक् भी हुआ। उसके शात, कलंद, कर्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवेश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन इन छः शिष्यों (दिशाचरों) का भी उल्लेख मिलता है। ये शिष्य महावीर के पथभ्रष्ट शिष्य थे। इस लिए मक्खलि को और इन शिष्यों को चूर्णिकार ने पासत्थ कहा है। पासत्थ शब्द पथभ्रष्ट

---

१. अंगुत्तरनिकाय, भाग ३, पृ० २६५.

२. तत्त्वार्थवार्तिक, १ २०.१२, पृ० ७४.

भिक्षुओं के लिए ही अधिक प्रयुक्त हुआ है[१] ।

इस मत के अनुसार सत्त्वों के क्लेश और शुद्धि का कोई हेतु-प्रत्यय नहीं । वे निर्बल, निर्वीर्य, भाग्य और संयोग से छः जातियों में उत्पन्न होते हैं और सुख-दुःख भोगते हैं । वहाँ शील, व्रत, तप, ब्रह्मचर्य आदि का कोई स्थान नहीं । सुख-दुःख द्रोण से तुले हुए हैं । जैसे सूत की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर आवागमन में पड़ कर दुःखों का अन्त करेंगे ।[२] प्राकृत साहित्य में भी नियतिवाद इसी रूप में वर्णित है । वहाँ कहा गया है कि नियतिवाद के अनुसार बाह्य कारणों से उत्पन्न सुख-दुःख स्वयंकृत अथवा परकृत नहीं । इसके पीछे काल, ईश्वर, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ भी कारण नहीं । उसके पीछे मात्र एक कारण नियति है । महान् प्रयत्न करने पर भी अभाव्य वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती और भाव्य वस्तु का विनाश नहीं होता ।

शीलांक ने अजीविक, अज्ञानवादी और वैनयिक के सिद्धान्तों को मिश्रित कर दिया है और इन तीनों का प्रस्थापक गोशालक को मान लिया है । यह निश्चित ही भ्रामक है । पर इससे यह अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि अज्ञानवाद और विनयवाद अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके और शीलांक के समय तक के अजीविक सम्प्रदाय के अंग बन गये । गोशालक का त्रैराशिक सिद्धान्त प्रसिद्ध ही है । उसे भी शीलांक ने अस्पष्ट ही रहने दिया ।

तज्जीवतच्छरीरवाद

सूत्रकृतांग में प्रथमतः चार्वाक और तज्जीवतच्छरीरवादियों के मत को पृथक्-पृथक् बताया गया है और बाद में दोनों को एक कर दिया है । तज्जीवतच्छरीरवादी वह है जो शरीर और जीव को माने । भूतवादी चार्वाक और तज्जीवतच्छरीरवादी में अन्तर यह है कि भूतवादी के अनुसार पांच भूत ही शरीर रूप में परिणत होकर सब क्रियाएँ करते हैं परन्तु तज्जीवतच्छरीरवादी के मत में शरीररूप में परिणत उन पांच भूतों से चैतन्य शक्ति की उत्पत्ति होती है । शरीर के नष्ट होने पर उसका भी विनाश हो जाता है । कर्मफलभोक्ता परलोकगामी आत्मा जैसे पदार्थ का शरीर से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं । इस दृष्टि से यहाँ पुण्य-पाप कर्मों का भी कोई अस्तित्व नहीं ।[३] राजप्रश्नीय में केशी और प्रदेश के बीच जीव और आत्मा के सन्दर्भ में जो विवाद हुआ, उसमें प्रदेशी तज्जीवतच्छरीरवादी दिखाई देता है ।

पालि साहित्य में तज्जीवतच्छरीरवाद को उच्छेदवाद के भेदों में देखा जा सकता है । सम्भव है चार्वाक-सम्प्रदाय में कुछ मतमतान्तर रहे हों और तज्जीवतच्छरीरवाद उनमें से एक रहा हो । शीलांक ने भी इन दोनों को कहीं-कहीं अपृथक् माना है ।

आत्मषष्ठवाद—सूत्रकृतांग में इसे सांख्य तथा वैशेषिक दर्शन से सम्बद्ध माना जाता है । पंचमहाभूत के बाद आत्मा को छठा पदार्थ मान लेने के कारण वे आत्मषष्ठवादी कहे गये हैं[४] ।

आत्माद्वैतवाद

शीलांक आत्माद्वैतवाद एवं एकान्तात्माद्वैतवाद दोनों शब्दों को समानार्थक मानते हैं । इसके अनुसार जैसे एक ही पृथ्वीसमूह विविधरूपों में लक्षित होता है, उसी प्रकार एक आत्मस्वरूप यह समस्त जगत् नाना रूपों से देखा जाता है । उसकी दृष्टि में एक ही ज्ञानपिण्ड आत्मा पृथ्वी आदि भूतों के आकार में अनेक प्रकार का देखा जाता

---

१. सूत्रकृतांग, ३.४.६, वृत्ति पृ० ६८; ११.११३, वृ० पृ० १६६ इत्यादि

२. दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त

३. सूत्रकृतांग, १.१.११. वृत्ति पृ० २०.२

४. वही, १.१.१६ वृत्ति, पृ० २४

है परन्तु इस भेद के कारण आत्मा के उस स्वरूप में कोई भेद नहीं होता। चेतन-अचेतनरूप समस्त पदार्थ एक ही आत्मा है।[१] आत्मद्वैतवाद में न प्रमाण है न प्रमेय, न प्रतिपाद्य है न प्रतिपादक, न हेतु है, न दृष्टान्त और न उनका आभास। समस्त जगत् आत्मा से अभिन्न होने के कारण एक हो जाता है। इस स्थिति में पिता, पुत्र, मित्र आदि का भेद नहीं रहता, सुखादिक नहीं रहते। अतः आत्मद्वैतवाद निर्दोष नहीं।

स्वभाववाद

स्वभाववाद के अनुसार जगत् की विचित्रता का मूल कारण स्वभाव है। कण्टक की तीक्ष्णता, मयूर की विचित्रता और मुर्गे का रंग यह सब स्वभाव से ही होता है।[२] बुद्धचरित[३] और शास्त्रवार्त्तासमुच्चय[४] में भी स्वभाववाद की यही व्याख्या की गई है। शीलांक ने इसे तज्जीवतच्छरीरवाद से सम्बद्ध किया है और यह कारण दिया है कि चूंकि पंच महाभूतों से आत्मा पृथक् नहीं है इसलिए जगत् की विचित्रता में स्वभाववाद कारणरूप माना जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त अव्याकृतवाद, कालवाद, यदृच्छावाद, पुरुषवाद, पुरुषार्थवाद, ईश्वरवाद, दैववाद आदि जैसे अनेक वादों के उल्लेख मिलते हैं जिन्हें लोक-निर्माण के कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन में भी इन सभी को कारण माना गया है परन्तु उनके समन्वित रूप को, न कि पृथक्-पृथक् रूप को।

नहि कालादिहितो केवलए हितो जायए किंचि।
इह मुग्गरंधणा इवि ता सव्वे समुदिया हेऊ॥[५]

इसके साथ ही जैनदर्शन में कर्म को भी संसार के इस वैचित्र्य का कारण बताया गया है। उसको सुख-दुःख का कारण भी माना गया है। कर्म मूर्त है क्योंकि सुखादि से सम्बद्ध होने के कारण व्यक्ति तदनुकूल अनुभव करता है। मूर्त कर्म द्वारा अमूर्त आत्मा का उपघात अथवा उपकार उसी प्रकार होता है जिस प्रकार मदिरा आदि मूर्त वस्तुओं द्वारा विज्ञानादि अमूर्त वस्तुओं का। लोक द्रव्यमय है। द्रव्य-उत्पाद व्यय-ध्रौव्यात्मक है। उसका नूतन पर्यायों में परिणमन, पूर्व पर्यायों का विनाश तथा मूल अंश की स्थिति रहती है। इसमें ईश्वर को परिचालक मानने की आवश्यकता ही नहीं।

आरण्यक

आरण्यक अरण्य में ही रहना अपना धर्म समझते थे। वे कन्दमूल फलाहारी, वृक्षमूलवासी, ग्रामान्तकवासी तथा सर्वसावद्यानुष्ठान से अनिवृत रहते थे और केन्द्रीय जीवों के घात से प्रायः वे अपना निर्वाह करते थे। तापस आदि ऐसे ही होते थे। वे द्रव्यतः अनेक व्रतों का आचरण करने पर भावतः उनसे शून्य रहते। इसके पालक प्रायः ब्राह्मण रहा करते थे। अतः वे अपने आपको अहन्तव्य मानते थे। उनका मत था—**शूद्रं व्यापाद्य प्राणायामं जपेत्, किञ्चिद्द दद्यात्।**[६] पालि साहित्य में भी आरण्यकों और परिव्राजकों के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं।

---

१. वही, १.१.९. वृत्ति पृ० १९
२. वही, चूर्णि, पृ० ३८, दीपिका, पृ० ५
३. बुद्धचरित ५
४. शास्त्रवार्तासमुच्चय, १६९-१७२
५. सूत्रकृतांग, २.५.१५ वृत्ति
६. सूत्र० २.२.२८-२९

अन्य सम्प्रदाय

उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त श्रमण-साहित्य में और भी अनेक प्रकार के सम्प्रदायों के उल्लेख मिलते हैं। प्रश्नव्याकरण में असत्यभापक के रूप में सम्प्रदायों का विभाजन इस प्रकार किया है—

१. नास्तिकवादी अथवा वामलोकवादी—चार्वाक
२. पंचस्कन्धवादी—बौद्ध
३. मनोजीववादी
४. वायुजीववादी
५. अण्डे से जगत् की उत्पत्ति माननेवाले
६. लोक को स्वयम्भूकृत माननेवाले
७. संसार को प्रजापतिनिर्मित माननेवाले
८. सारे संसार को विष्णुमय माननेवाले
९. आत्मा को एक, अकर्ता. वेदक, नित्य, निष्क्रिय, निर्गुण और निर्लिप्त माननेवाले
१०. जगत् को यादृच्छिक माननेवाले
११. स्वभाववादी
१२. देववादी
१३. नियतिवादी
१४. ईश्वरवादी

नायाधम्मकहाओ के नंदीफल नामक पन्द्रहवें अध्ययन में एक संघ के साथ विविध मतवालों के प्रवास का उल्लेख है, उन मतवालों के नाम ये हैं—

१. चटक—त्रिदण्डी अथवा कछनीधारी—कौपीनधारी तापस
२. चीरिक—चीथड़ों से निर्मित वस्त्रधारी
३. चर्मखण्डिक—चर्मवस्त्र अथवा चर्मोपकरण रखनेवाले।
४. भिच्छुंड—भिक्षुक अथवा बौद्धभिक्षुक
५. पंडुरग—शिवभक्त—भस्म लगाने वाले
६. गौतम—साथ में बैल रखनेवाले भिक्षुक
७. गोव्रती—गोव्रत रखनेवाले
८. गृहिधर्मी—गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ माननेवाले
९. धर्मचिन्तक—धर्मशास्त्र का अध्ययन करनेवाले
१०. अविरुद्ध—विनयवादी
११. वृद्ध—संन्यास में विश्वास रखनेवाले
१२. श्रावक—धर्मश्रोता
१३. रक्तपट—रक्तवस्त्रधारी परिव्राजक[1]

---

१. औपपातिक, ३८वाँ सूत्र भी देखिये।

श्रमण साहित्य में परमतों का उल्लेख अनेक नामों से हुआ है—जैसे एगे पवयमाणा, अन्ययूथिकाः, पासत्था, दिशाचरा, अन्यतीर्थिकाः, मिथ्यादृष्टि, वाला आदि। इसलिए उनका सही विवरण मिलना कठिन हो जाता है। सूत्रकृतांग के कुशील अध्ययन में चूर्णिकार ने कुछ असंयमी सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। उनमें प्रमुख हैं—गौतम, गोव्रतिक, रंडदेवता, वारिभद्रक, अग्निहोमवादी तथा जलशौचवादी। ऋषिभाषित[1] ग्रन्थ में कुछ अर्हद्रूप ऋषियों का उल्लेख है। उनमें से कुछ ये हैं—असित, देवल, अंगिरस (भारद्वाज), महाकाश्यप, मंखलिपुत्त, याज्ञवल्क्य, बाहुक, माथुरायण, सोरियायण, वरिसव कण्ह, आरियायण, गाथापतिपुत्रतरुण, रामपुत्र, हरिगिरि, मातंग, वायु, पिंग ब्राह्मण-परिव्राजक, अरुण महासाल, तारायण, सातिपुत्र (बुद्ध), द्वैपायन, सोम, यम, वरुण, वैश्रमण।

औपपत्तिकसूत्र में गंगातटवासी वानप्रस्थों का उल्लेख मिलता है—

१. होत्तिय (अग्निहोम करनेवाले)
२. पोत्तिय—वस्त्रधारी
३. कोत्तिय—भूशायी
४. जण्णई—याज्ञिक
५. सड्ढई—श्रद्धाशील
६. थालई—सारा सामान लेकर चलनेवाले।
७. हुवडड्ढ—कुण्डी लेकर चलनेवाले।
८. दंतुक्खलिय—दांतों से चबाकर खानेवाले।
९. उम्मज्जक, सम्मज्जक और निमज्जक—स्नान करनेवाले।
१०. संपक्खाल—शरीर पर मिट्टी लगाकर स्नान करनेवाले।
११. दक्खिणकूलग—गंगा के दक्षिण तट पर रहनेवाले।
१२. उत्तरकूलग—गंगा के उत्तर तट पर रहनेवाले।
१३. संखधमक—शंख बजाकर भोजन करनेवाले।
१४. कूलधमक—किनारे पर खड़े होकर आवाज करके भोजन करनेवाले
१५. मियलुद्धय—पशुभक्षण करनेवाले।
१६. हत्थितावस—हाथी को मारकर एक वर्ष तक उसे खानेवाले।
१७. उड्डंडक—दण्ड को ऊपर कर चलनेवाले।
१८. दिसापोक्खी—दिशा सिञ्चन करनेवाले।
१९. वक्कपोसी—वल्कल पहननेवाले।
२०. अंबुवासी—जलवासी।
२१. विलवासी—विल में रहनेवाले।
२२. वेलवासी—समुद्र के किनारे रहनेवाले।
२३. रुक्खमूलिआ—वृक्ष के नीचे रहनेवाले।
२४-५. अंबुभक्खी (जलभक्षी) वायुभक्षी और सेवालभक्षी।

इसी सूत्र में प्रव्रजित श्रमण का अलग से उल्लेख किया गया है। संखा (सांख्य), जोई (योगी), कविल

---

१. अध्ययन २९ व ३१

(कपिल), भिउच्च (भृगु ऋषि के अनुयायी), हंस (वनवासी पर भिक्षार्थ ग्रामभ्रमण करनेवाले), परमहंस (नदी तटवासी तथा वस्त्रादि छोड़कर प्राण त्याग करनेवाले), वहु उदय (गांव में एक रात और नगर में पाँच रात रहने वाले), कुडिव्वय (गृहवासी तथा रागादि त्यागी) तथा कण्हपरिव्वायग (कृष्ण परिव्राजक) उनमें प्रमुख हैं। ब्राह्मण परिव्राजकों में कण्डु, करकंडु, अंवड, परासर, कण्हदीवायण, देवगुप्त और णारय तथा क्षत्रिय परिव्राजकों में सेलई, ससिहार, णग्गई, भग्गई, विदेह रायाराय, प्रमुख हैं। ये परिव्राजक वेद-वेदांग में निष्णात, स्नानादि में विश्वास करनेवाले, सादे ढंग से रहनेवाले तथा अनर्थ दण्ड से विरत रहनेवाले थे।

औपपातिक सूत्र में ही आजीविक श्रमणों के सात प्रकार वताये गये हैं—दुघरंतरिया (दो घर छोड़कर भिक्षा लेनेवाले)। तिघरंतरिया, सत्तघरंतरिया, उप्पलवेंटिया (कमल के डंठल खाकर रहनेवाले)। घरसमुदाणिय (प्रत्येक घर से भिक्षा लेनेवाले), विज्जुअंतरिया (विद्युत्पात के समय भिक्षा न लेनेवाले) तथा उट्टियसमण (किसी वडे मिट्टी के वर्तन में वैठकर तप करने वाले)। इनके अतिरिक्त अुक्कोसिय, परपरिवाइय, तथा भूइकम्मिय श्रमण भी थे। सात निह्नवों का भी यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है—वहुरय, (प्रवर्तक महावली), जीवपर्ससय (प्रवर्तक-तिष्यगुप्त), अव्वत्तिय (प्रवर्तक-आषाढ़ाचार्य)। सामुच्छेइय (संस्थापक-अश्वमित्र), दोकिरिया (प्रवर्तक-गंगाचार्य)। तेरासिय (रोहिगुप्तासंस्थापक) तथा अवद्धिय (संस्थापक माहिल) ये मूलतः किसी न किसी सम्प्रदाय से सम्वद्ध आचार्य थे। आगम साहित्य में श्रमणों के पाँच भेद भी दिये गये हैं—निग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक और अजीविक। इनमें से आज निग्रन्थ और शाक्य ही शेष रहे हैं।

इस प्रकार पालि, प्राकृत और संस्कृत साहित्य में षड्दर्शनों के अतिरिक्त प्राचीनकाल में विशेषतः महावीर के काल में अनेक वादों का विवरण मिलता है। परन्तु उनका मूल सैद्धान्तिक साहित्य उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः अधिकांश उक्त वादों का कोई विशेष साहित्य था भी नहीं, अन्यथा उनका उल्लेख अवश्य मिलता। इसलिए प्रतीत होता है कि ये वाद अधिक प्रभावक सिद्ध नहीं रहे होंगे। तथा यह भी संभव है कि उनका जीवनकाल अधिक नहीं रहा होगा। आवश्यकता यह है कि इस विषय पर गंभीर शोध की जाय और उनके समूचे सिद्धान्त विविध साहित्य से एकत्रित कर भारतीय संस्कृति में उनके स्थान का निर्धारण किया जाय। मानव के लिए उनकी कहाँ तक उपयोगिता है, इसका भी मूल्यांकन किया जाना अपेक्षित है।

जैनव्याकरणोपज्ञं "कारः प्रत्ययो न कृत् किन्तु तद्धित" इति

—डॉ० हर्षनाथमिश्रः

संस्कृतवाङ्मये चिरादुपलब्धानामकारोकारैकारादिशब्दानां सिद्धचै वैयाकरणैर्विहितः प्रयत्नो द्विधा विभक्तुं शक्यते। केचनेदृशं शब्दं कारप्रत्ययं विधाय साधयितुमिच्छन्ति। ईदृशेषु वैयाकरणेषु प्रायः कात्यायन आदिमो मुख्यतमश्च। 'वर्णात्कार' इति वार्तिक सर्वप्रथमं निर्माय पाणिनिना प्रत्ययविधानद्वाराऽकृतसाधनोपायस्येदृशस्य शब्दस्य साधनोपायः कात्यायनेनैव प्रदर्शितः। इतरे वैयाकरणा घञन्तकारशब्देन सह समासं विधायैवैतादृशानां शब्दानां सिद्धि-सम्भवात् कस्यापि नूतनस्योपायस्यावश्यकतामननुभूय सूत्रादिनिर्माणं न कुर्वन्ति। ये च कारं प्रत्ययं स्वीकुर्वन्ति, तेषामपि वर्तते दलद्वयम्। तत्र कात्यायनकैयटभट्टोजिनागेशादय एतं कृत्प्रत्ययं स्वीकुर्वन्ति। परे सन्ति जैनवैयाकरणा आचार्यहेमचन्द्रप्रमुखाः, येऽस्य तद्धितत्वमङ्गीकुर्वन्ति। परम्परातः कृत्प्रत्ययरूपेण ख्यातस्य तद्धितत्वस्वीकृतिः क्रान्ति-रेवास्ति। बहूनां दोषाणां निराकरणोपायात्मिकेयं तद्धितत्वस्वीकृतिः प्रशस्यते वैयाकरणैः।

कारघटिता अकारादयः शब्दा ऐतरेयब्राह्मणे सर्वप्रथममुपलभ्यन्ते।[1] वाजसनेय-प्रातिशाख्ये ओङ्काराथकारा-दयः शब्दा दृश्यन्ते। ऋक्प्रातिशाख्ये आथर्वणे प्रातिशाख्ये चोङ्कारः शब्दः प्रयुक्तो दृश्यते। एतादृशस्य प्रसिद्धप्रयोगस्य साधनायाकृतप्रयत्नविशेषत्वाज् ज्ञायते पाणिनिर्घञन्तकारशब्देन सह समासेनेदृशः शब्दस्य साधनेच्छुरिति।

"वर्णात्कारः"[3] इति वार्तिकं निर्मायाकारादिशब्दसाधनाय कारप्रत्ययो विहितः सर्वप्रथमं कात्यायनेन। कैयटेनास्य वार्तिकस्यार्थः तथा निर्दिष्टो यथा दोषो नापद्येत। वर्णशब्दात्[4] कारप्रत्ययो नात्राभिमतः, तथासति वर्णकार इत्यत्रातिव्याप्तिः, अकार इत्यादावव्याप्तिश्चापद्येताम्। 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इत्यस्मात्पुरोवर्ति वार्तिकम्। अतो निर्देश इत्यनुवर्तनान्निर्देश इत्येवेदं वार्तिकं प्रवर्तते। तस्य निर्देश इत्यस्य व्याख्यानादर्थविशेषं कुर्वता कैयटादिना प्रोक्तम् :—वर्णादित्यस्य न वर्णशब्दादित्यर्थः न वा वर्णादुच्चार्यमाणादित्यर्थः किन्तु वर्णानु[2] करणात् कारप्रत्ययो भवतीति वार्तिकार्थः। यदि वर्णादुच्चार्यमाणादित्यर्थः क्रियते तदाऽकार इत्यत्र कारप्रत्यय-सम्भवेऽपि ककार इत्यादौ कारप्रत्ययो न स्यात् 'क' इत्यस्य सखण्डध्वनित्वेन वर्णत्वाभावात्, अखण्डध्वने[5] रकारादेरेव वर्णत्वात्। क इत्यत्र वर्णसंघातस्यैवोच्चार्यमाणत्वात्। अनुकार्यं त्विह वर्णमात्रम् अकारस्योच्चारणार्थत्वात्। न चैवं समुच्चयार्थश्चकारः" एवकारोऽन्यनिवृत्त्यर्थ इत्यादिप्रयोगाः कथं सिद्धचन्तीति वाच्यम् उच्चैस्तरां वा वषट्कारः इत्यत्र वषट्कार इति निर्देशात्, "सर्वे चकाराः[6] प्रत्याख्यायन्ते इति भाष्यप्रयोगाद्, 'रोगाख्यायां[7] ण्वुल् बहुलम्' इत्यत्र

१· तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त—अकार उकारो मकार इति। तानेकधा समभरत्। तदेतदोमिति, ऐ० ब्रा० १५/७

२· ओङ्कारं वेदेषु। अथकारं भाष्येषु। वा० प्रा० १/ १८-१९।

३. पा० सू० ३-३-१०८/३ वा०।

४. ३।३।१०८ सू० प्रदीपः।

५. १।२।३५

६. १।३।७३ महाभाष्यम्।

७. ३।३।१०८ पा०

वहुलवचनात्तस्य सूत्रस्य च वार्तिकत्वेन वर्णात्कार इत्यस्योपादानात् क्वचित् संघातादपि भवतीति ज्ञापनात् । 'अस्य[1] च्वौ' इत्यादौ वर्णानुकरणे सत्यपि कारप्रत्ययाभावो वहुलग्रहणप्रतापादेव सिद्धचति । अइउण् इत्यादौ कारप्रत्यया-भावोऽपि वाहुलकादेव[2] । कारप्रत्ययस्य ककारस्येत्संज्ञा प्रयोजनाभावादेव न जायते । कारप्रत्ययोऽयं नार्धधातुकत्वं भजते, धातोरविहितत्वात् आर्धधातुकं शेष[3] इत्यत्र तिङ्शिद्भ्योऽन्यो धातोरिति विहितः प्रत्यय आर्धधातुकसंज्ञः स्यादिति स्वीकारात् । तेनेडागमादिदोषो न जायते । सर्वमिदं प्रदीपे स्पष्टम् ।

चन्द्राचार्यस्तु वर्णात्कार इतीदृशं सूत्रं न करोति । स धातोः स्वरूपनिर्देशार्थकं प्रत्ययत्रयं स्वीकरोति । कात्यायनेन "इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे" इति वार्तिकं कुर्वता प्रत्ययद्वयमेव स्वीकृतम् । किन्तु प्रत्ययद्वये स्वीकृते धातु-स्वरूपवोधनायोपलभ्यमानानि सर्वाणि रूपाणि न सिद्धचन्ति, तथाहि 'इन्धि[4] भवतिभ्याञ्च' इत्यत्र यदि इन्धीत्यत्र इक् प्रत्ययः स्वीक्रियते तदात्रानुषङ्गलोप आपद्येत । 'श्रन्थि[5] ग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनां लिटः कित्वं वे'ति वार्तिकेऽप्युपधान-कारस्य लोपापत्तिः । किञ्च 'वचिस्वपियजादीनां किती'त्यादौ कित्त्वात् सम्प्रसारणपत्तिः अत इक्प्रत्ययादतिरिक्त इप्रत्ययोऽपि धातुस्वरूपवोधाय चन्द्राचार्येण स्वीकृतः[6] । सरस्वतीकण्ठाभरणकारेण भोजराजेनापि प्रत्ययत्रयं स्वीकृत्य चन्द्राचार्योऽनुगतः[7] । किन्तु वर्णस्वरूपवोधनाय कारप्रत्यय इक्प्रत्ययश्च न स्वीकृतौ चन्द्रेण । तेन इ-कि-श्तिपः स्वरूपे इति सूत्रस्य वृत्तौ[8] कारशब्देन समासं विधाय अकारचीत्कारादिशब्दानां साधनाय संकेतो दत्तः, रेफ-शब्दस्तु औणादिकत्वेन स्वीकृतः । चान्द्रव्याकरणपरामर्शाङ्गीकर्तारो जैनवैयाकरणा अपि धातुस्वरूपवोधाय पूर्वोक्तं कृत्प्रत्ययत्रयमूचुः[9] । किन्तु तैरकारादिशब्दसाधनाय कारशब्देन सह तत्तद्वर्णानां वर्णसंघातानां वा समास इति चन्द्राचा-र्यपरामर्शमस्वीकृत्य कारः प्रत्ययत्वेन स्वीकृतः परन्तु तेषामयं कारप्रत्ययो न कृत्प्रत्ययः यथा किल कात्यायनस्य साम्प्रतमुपलब्धवार्तिकपाठाज् ज्ञायते परन्तु तद्धितप्रत्ययः । कैयटभट्टोजिनागेशादयो यां समस्यां सरलेन पथा न समादधुः जैनवैयाकरणास्तां हेलया निराचक्रुः । कारस्य प्रत्ययत्वं कैयटेन स्वीचक्रे । घञन्तकारशब्देन समास-विधानेन नेष्टसिद्धिः, अकारकरणमित्यादि प्रयोगाणां शिष्टकृतानामनन्वितत्वप्रसङ्गात् । करणं कारः अस्य कार अकार इत्येवं विगृह्य साधितेऽकारशब्देऽकरणकरणमित्यर्थस्य तत्र प्रतीतस्यानन्वितत्वं स्पष्टमेव । कारप्रत्ययस्य कृत्प्र-त्ययमध्यपाठात् धात्वविहितत्वेऽपि कृत्संज्ञा । यदचपि[10] कृदतिङ् इति 'कृत्संज्ञा धातोर्विहितस्य तिङ्भिन्नस्य प्रत्य-यस्य क्रियते तथापि 'रोगाख्यायां ण्वुल् वहुलम्" इति कृत्प्रत्ययविधायकसूत्रस्य वार्तिकत्वात् वर्णात् कार इति विहितस्य कारप्रत्ययस्यापि कृत्त्वमिति कैयटाशयः । कारस्य कृत्प्रत्ययस्वीकारस्य फलमकारादिशब्दस्य कृत्तद्धितसमासाश्चेति प्रातिप-दिकत्वात् अकारः एवकार इत्यादौ स्वाद्युत्पत्तिः । कृत्प्रत्ययस्वीकारे लशक्वतद्धिते[11] इति प्राप्ताया इत्संज्ञाया फलाभा-

---

१. ७।४।३२

२. १-३।३।१०८ पा० ।

३. अइउण् सूत्रस्य लघुशब्देन्दुशेखरः ।

४. ३।४।११४ सि० कौ० ।

५. १।२।६ सि० कौ० स्वादि० प्र० ।

६. इ-कि-श्तिपः स्वरूपे । चा० १।३।७६

७. इ-किश्तिपः स्वरूपे । स० क० १।४।१८१

८. कथमकारः ककार इत्यादि ? कारशब्देन समासः, यथा एवङ्कारः, ओङ्कारः, चीत्कारः, शीत्कारः, हुङ्कारः, वषट्कारः, स्वाहाकार इत्यादि । औणादिको रेफः अर्थात् रातेरिफः उ० २।८८ रेफ अक्षरम् इति ।

९. इ-कि-श्तिपः स्वरूपार्थे । कृदन्त प्र० ६।१३ आचार्यमलयगिरिशब्दानुशासनम् ।

१०. ३।१।९३

११. १.३.८.

वाद् वारणं क्रियते इडागमस्य च वारणाय धातोरविहितत्वादस्य प्रत्ययस्यार्धधातुकत्वाभावः स्वीक्रियते । भट्टोजि[१]-दीक्षित-नागे[२]शादयोऽ-पि कारप्रत्ययस्य कृत्प्रत्ययं स्वीकृत्य कृदतिङ् इति सूत्रार्थं तिरस्कृत्योत्सूत्रमचकथन् ।

जैनवैयाकरणास्तु कारं प्रत्ययं तत्रापि च तद्धितं स्त्रीकुर्वन्ति । तत्र जैनेन्द्रव्याकरणे सूत्रमुपलभ्यते वर्णात् कारः ४।२।५६ । शाकटायनव्याकरणेऽपि दृश्यते वर्णात् कारः ३।४।१२६ इत्येव सूत्रम् । तत्र चिन्तामणिवृत्तौ लिख्यते बहुलमित्येव (कारप्रत्ययविधानम्) तेन नून् पे इत्यादौ न भवति । एवकार इत्यादौ च भवति ।

आचार्यहेमचन्द्रकृतशब्दानुशासने सर्वप्रथममस्माभिः सर्वकारप्रत्यय-घटितशब्दसंग्राहकं सूत्रमुपलभ्यते 'वर्णाव्ययात् स्वरूपे कारः' ७।२।१५६ । अस्य सूत्रस्य बृहद्वृत्तौ लघुन्यासे हैमप्रकाशे कारप्रत्ययाश्रिता बहवः प्रश्नाः समाहिताः । तत्र बृहद्वृत्तिः—वर्णेभ्योऽव्ययेभ्यश्च स्वरूपार्थवृत्तिभ्यः स्वार्थे कारप्रत्ययो भवतीति सूत्रार्थं प्रस्तौति । कारप्रत्ययोऽयं तेन स्वार्थिकतद्धितप्रत्ययेषु परिगणितः । तमनुसरता मुनिश्रीचौथमल्लजीमहानुभावेन कालुकौमुद्यां स्वार्थिकतद्धितप्रकरणे 'वर्णाव्ययात्स्वरूपे कारः' ७।४।६६ इति सूत्रं प्रणीतम् । वस्तुतः अ-प्रभृतिवर्णात् एवादि प्रभृत्यव्ययाच्च विहितत्वादस्य प्रत्ययस्य तद्धितत्वं न्याय्यम् । न्याय्यस्य तद्धितत्वस्य स्वीकारात् प्रत्यादिककार-स्येत्संज्ञाप्रसक्तिरपि न भवति, 'लशक्वतद्धिते' इत्यत्रातद्धित इत्युक्तेः, आर्धधातुकत्वसम्भावनाया अपि निरस्तत्वा-दिडागमादिदोषोऽपि न सम्भवति । इत्थं कारप्रत्ययस्य तद्धितत्वोद्भावना जैनवैयाकरणानां प्रतिभाविलासं प्रकटी-करोति, बहूनां समस्यानां समाधानात्संस्कृतव्याकरणनिकायस्य च महत उपकाराय कल्पते । बृहद्वृत्तौ अकारादीनि उदाहरणानि वर्णस्य दत्तानि । अव्ययस्योदाहरणानि यथा ओङ्कारः स्वाहाकारः वषट्कारः हन्तकारः नमस्कारः, इतिकारः सीत्कारः सूत्कार इत्यादीनि प्राप्यन्ते । बृहद्वृत्तिकारेण प्रोक्तम् कारशब्देन समासं स्वीकृत्य पूर्वोक्तानि कारप्रत्ययोदाहरणानि निष्पादयितुं न शक्यन्ते ओङ्कारमुच्चारयति, वषट्कारमभिधत्ते हुंकारं करोतीत्यादिप्रयोगाणा-मसङ्गत्यापत्तेरिति । लघुन्यासकारेण बृहद्वृत्ति व्याचक्षाणेन लिखितम् "यद्यत्र-'कृ' इत्यस्य कार इति निष्पद्यते तदा ओमितिकरणस्य किमुच्चारणमिति च संगच्छते । हैमप्रकाशकारेण वर्णशब्दस्य कारप्रत्ययस्य च प्रयोगे योऽर्थभेदः सोऽपि सूत्ररूपेणोपन्यस्तः "उक्ते वर्णे सवर्णोऽपि ग्राह्यः कारे च केवलः" इति वाक्यं लिखता ।

अयं भावः—यद्यपि कारप्रत्ययः स्वरूपार्थवृत्तिभ्यो वर्णेभ्यः स्वार्थे विधीयते तथापि तयोः प्रयोगे महदर्थ-पार्थक्यमनुभूयते[३] । अवर्णपदेन ह्रस्वदीर्घप्लुताः सर्वा अ-जातिर्गृह्यते, किन्तु अकारपदेन ह्रस्व अ एव गृह्यते । अथ च कारप्रत्ययः ह्रस्वात् दीर्घात् प्लुताच्च शक्यते कर्तुम्, अतएव अकारः आकार इकार ईकार आङ्कार इति प्रयुज्यते किन्तु दीर्घात् स्वरात् वर्णशब्दप्रयोगो न क्रियते । अतएव ईवर्ण इत्यादयः प्रयोगाः न क्रियन्ते । ककार इत्यत्र क घटकाकारमुच्चारणार्थकं मत्वा वर्णाद्विधीयमानः कारप्रत्ययः शक्यते विधातुं किन्तु कवर्ण इति न शक्यते वक्तुमनभिधानात् केति संघातस्य सखण्डध्वनित्वेन वर्णत्वाभावाच्च । कथमेतद्वैलक्षण्यमिति चेत् प्रयोगस्वभावादिति गृहाण । प्रयोगप्राप्तवैलक्षण्यादेव विद्वान् इति शब्दः यमर्थमभिधत्ते नं तं विदम् शब्दोऽभिधातुं शक्नोति । हैमशब्दानु-शासने "वर्णाव्ययात् स्वरूपे कारः" इत्यत्र स्वरूप इत्युच्यते तेन अः विष्णुः इः कामः कः ब्रह्मा, खम् आकाशम्, ओम् ब्रह्म, वषडिन्द्राय, स्वाहाऽग्नये, स्वधा पितृभ्य इत्यर्थपरतायां न भवति । सूत्रे च प्रायोऽनुवृत्तेरन्यत्रापि भवति । तेन मन एव मनस्कारः अहमेवाहङ्कार इत्यादि सिद्धयति ।

---

१. कारप्रत्ययस्य धातोरविहितत्वेऽपि धात्वधिकारस्थत्वात् कृत्संज्ञा । म० ३।३।१०८

२. कृत्संज्ञेति बाहुलकादित्यन्ये उद्योते । ३।३।१०८ ।

३. १।३।८

रस्य कृते रेफ इत्युच्यते। तत्र तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये दृश्यते वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्या। अकार व्यवेतं व्यञ्जनानाम्। एफस्तु[1] रस्य। वाजसनेयप्रातिशाख्ये प्रोक्तम् निर्देश इतिना कारेण च अ-व्यवहितेन व्यञ्जनस्य। स्वरैरपि।[2] र[3]एफेन च। इत्थं पूर्वोक्तप्रातिशाख्याभ्यां रादेफप्रत्ययः रेफशब्दसाधनाय स्वीकृतो दृश्यते। कात्यायनेन 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे, वर्णात्कारः रादिफ' इति वार्तिकत्रयं रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलमित्यत्र कृत्प्रत्ययविधायकसूत्रे स्वीकृत्य कृत् इफ प्रत्ययः स्वीकृतः। वस्तुतस्तु वर्णाद् विहितत्वाद् रघटकाकारस्य रादित्यत्रोच्चारणार्थत्वादेफप्रत्ययस्वीकार एव श्रेयान् तत्र गुणाकरणजन्यं प्रक्रियालाघवमपि। अत एवोच्यते हेमचन्द्राचार्येण रादेफ[1] इति सूत्रं तद्धितप्रकरणे कृतम्। रशब्दादेफप्रत्ययो वा भवति इति सूत्रार्थः। तेन रकार इत्यपि सिद्धचति, सूत्रस्य विकल्पत्वात्। कालुकौमुद्यामपि 'रादेफो वा' (७।४।१००) इति सूत्रं दृश्यते। तेन जैनवैयाकरणानां मतेन रेफरकारोभयशब्दयोः शिष्टप्रयुक्तयोः साधुत्वं सारल्येनावगम्यते। एतेन "रकारादीनि नामानि शृण्वतो मम पार्वति" इत्यादौ दृष्टस्य रकारेतिप्रयोगस्यार्षत्वकल्पनमनावश्यकम्। तत्त्वबोधिनीकारेणापि[4] "वा स्वरूपविधिना कारप्रत्ययस्य इफप्रत्ययेन वैकल्पिकबाध एव स्वीकृतः। इत्थं तन्मतेन इफ प्रत्ययः कृत्प्रत्यय इति सिद्धचति। रनाम्नो जातस्याप्यस्य कृत्त्वादि सम्पादनायासः कारप्रत्ययवत् करणीयो भवतीति गौरवं कृदतिङ्ङिति सूत्राक्षराननुगुणञ्च भवतीति विचार्यं सुधीभिः।

इत्थं कारप्रत्ययस्यैफप्रत्ययस्य च तद्धितत्वोद्भावना जैनवैयाकरणानां महानुपकारः कृतज्ञै रङ्गीक्रियते।

इति शम्।

---

१. १/१६ २. ३६-३८ ३. १/७६-४०

४. ७।२।१५७ हैमशब्दानुशासनम्। सि० कौ० तत्त्वबो० ६५५ पृ०।

शाकटायन-शब्दानुशासनम्

डॉ० तीर्थराजस्त्रिपाठी

स्वस्ति श्रीसकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान् । महाश्रमणसंघाधिपतिर्यः शाकटायनः ।।
एकः शब्दाम्बुधिं बुद्धिमन्दरेण प्रमथ्य यः । सयशश्रीः समुद्दध्रे विश्वं व्याकरणामृतम् ।।
(यक्षवर्मप्रणीता-चिन्तामणि-टीका)

शाकटायन-शब्दानुशासनविवरणात्प्रागित्यप्यवधेयं यत्कोऽयं शाकटायनः कतमञ्चालञ्चकार कुलं जनपदादि-कञ्चेति ? अत्र विषये महामुनिना पतञ्जलिना उणादयो बहुल (३।३।१) मिति सूत्रे महाभाष्ये प्रत्यपादि यच्छकट एव शाकटायनाचार्यस्य पितृचरणो न चेतरो हि कश्चिद् भवितुमर्हतीति । तच्च 'शकटस्यापत्यं पुमान् शाकटायनः' इति विग्रहेण निष्पादयितुं शक्यते ।

भगवता पतञ्जलिनाऽपि शकटशब्दो नडादिगणे निर्दिष्टः[१] । परन्तु नैकैर्वैयाकरणैः स्वीक्रियते यत्तस्य पिताम-हेनैव शकटाभिधानेन भाव्यं न च तत्पितृचरणेनेति श्रीमीमांसकः[२] ।

भगवता वोपदेवेन तु स्वविरचिते 'कविकल्पद्रुम'नाम्नि ग्रन्थे शाकटायनोऽप्यष्टसंख्याकेषु वैयाकरणेषु सादरं सप्रश्रयञ्च स्मृतः । तद्यथा—

"इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ।।"[३]

अत्र शाकटायनेत्यनेन पदेनार्वाचीनः कश्चिज्जैनशाकटायनः प्राच्यो वा कश्चिद्वैदिकः शाकटायन इति न स्पष्टतरं प्रतीतिं यातीति श्रीमीमांसकादयः । किञ्च 'श्रीतत्त्वविधि'— नाम्नि वैष्णवग्रन्थेऽपि शाकटायनोऽष्टसंख्याकेषु शाब्दिकेषु सादरं स्मृत इति तत्रैव श्रीमीमांसकेनोपपादितम् । तद्यथा—

"ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम् ।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम् ।।"[४]

तदेवं शाकटायनः पूर्वपाणिनेः समुद्भूतेषु शाब्दिकेषु मूर्धन्यपदं लेभे इति नात्र संशयावकाशलेशोऽपि । पाणि-नीयाष्टकेऽपि शाकटायनस्त्रिधा निर्दिष्टः ।[५] वाजसनेयप्रातिशाख्ये, ऋक्प्रातिशाख्ये चैषां नैकशो निर्देशो जायते । किञ्च

---

१. द्र० 'नडादिभ्यः फक्' (४।१।९९)
२. द्र०—'संस्क० व्याकरण शास्त्र का इति०' इति ग्र० प्र० भा० १६० तमे पृ० ।
३. द्र० श्रीयुधि० मीमां० विर०' संस्कृत व्याक० शास्त्र का इति०' इति ग्रन्थे प्र० भा० ६४ तमे पृ० ।
४. द्र० श्रीमीमां० विर० 'सं० व्याक० शास्त्र का इति०' ग्रन्थे प्र० भा० ६५ तमे पृ० ।
५. 'लङः शाकटायनस्यैव' (३।४।१११), 'व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' (८।३।१८) 'त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य' (८।४।५०) ।

भगवता यास्काचार्येणाऽपि यत्र तत्र निरुक्ते शाकटायनमतमुपन्यस्तम्।[1] महाभाष्यकारेण पतञ्जलिनाऽपि शाकटायनस्य व्याकरणशास्त्रप्रणेतृत्वं स्फुटमेवोरीकृतम्[2]।

एष ह्याचार्यः ख्रिष्टाब्दात्सहस्राब्देभ्यः पूर्वं तन्निर्देष्टा पाणिनिश्च सप्तमख्रैस्ताब्दस्येतस्तो जनिं लेभे इति श्रीवेलवल्करमहाभागेनोपपादितम्[3]। यास्काचार्येण शाकटायनो नामनिर्देशपुरस्सरं स्मृत इति सपद्येव व्युदपादि। यास्काचार्यस्तु नूनमेव वैक्रमाब्दाद् विगतेभ्यस्त्रिसहस्राब्देभ्यः पूर्वमलञ्चकार भूमण्डलमिदमिति। शाकटायनश्चेत्-काण्वस्य शिष्यो वा काण्वशाखायाः प्रवर्तयिता वा मन्ये तर्हि ध्रुवमेवास्य कालक्रमो वैक्रमाब्देभ्य एकत्रिंशदब्देभ्यः पूर्वं क्वचिन्निश्चेतुं सुशकमिति श्रीमीमांसकस्याशयः[4]।

शाकटायनस्तु पूर्वपाणिनिरिति निश्चप्रचम्, परन्तु यत्प्रणीतं शाकटायनव्याकरणमद्यत्वे समुपलभ्यते, तस्य प्रामाणिकं नाम पाल्यकीर्तिरिति तत्प्रणीतं व्याकरणञ्च "शब्दानुशासनमिति नाम्ना विज्ञायते बुधैः। शाकटायनमिव पाल्यकीर्तिरपि शाब्दिकेषु सङ्कीर्तितत्वाच्छाकटायनेति नाम्ना तच्छब्दानुशासनञ्च "शाकटायन-शब्दानुशासने"ति नाम्ना प्रसृतिङ्गतम्।[5] जैनाचार्येण वादिराजसूरिणा स्वग्रथिते पार्श्वनाथचरितेति नाम्नि काव्यग्रन्थे शाकटायनस्यापरनाम्ना विश्रुतस्य पाल्यकीर्तेर्जैनधर्मानुगामित्वमपि स्फुटमेव ध्वनितम्। अपरञ्च तेन तत्रैव ग्रन्थे पाल्यकीर्तिस्त्वित्थं स्मृतः—

"कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान्॥"

अत्रावधेयं यच्छाकटायनेनामोघवृत्तिनाम्न्येका वैदुष्योपगूढा स्वोपज्ञा टीका व्यरचीति शाकटायनशब्दा-नुशासनोहापोहेनेनावगम्यते। एतन्नाम्नी हि टीका 'श्रीवीरममृतं ज्योति'रित्यनेन मङ्गलाचरणेन प्रारब्धेति गम्यते। किञ्च वादिराजसूरिणा मङ्गलाचरणस्थं श्रीतिपदमभिलक्ष्य प्रत्यपादि यत्पाल्यकीर्तिर्व्याकरणारम्भणेनैव जनाः शाब्दिकाः प्रतिपद्यन्ते। श्रीमता शुभचन्द्रेण स्वनिर्मितायां 'पार्श्वनाथचरित-पञ्जिकायाम्' मङ्गलाचरणस्थः श्लोकोऽधो-ऽङ्कितेन विधिना व्याख्यायि—

"तस्य पाल्यकीर्तेः महौजसः श्रीपदश्रवणम्। श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायनसूत्राणि तेषां श्रवणं आकर्णनम्[6]।"

इत्यनेन स्फुटमेव ध्वन्यते यत्पञ्जिकाकारेण शुभचन्द्रेण पाल्यकीर्तिरेव शाकटायनसूत्रनिर्मातेत्यनुमतः।

श्रीमताऽभयचन्द्रेणापि शाकटायन-प्रक्रिया-सङ्ग्रहस्य मङ्गलाचरणं भगवान् जिनेश्वरः 'पाल्यकीर्ति-मुनीन्द्रे'ति

---

१. द्र०—निरुक्ते १।१२ तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।'

२. द्र०—'उणादयो बहुल (३।३।१) मिति सूत्रे महा०—'व्याकरणे शकटस्य च तोकम्' अपि च 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) इति सूत्रे महा० 'वैयाकरणानां शाकटायनानाम्'।

३. द्र० श्रीपादकृष्णवेलवल्करप्रणीतम्—'सिस्टम्स् आफ संस्कृत ग्रामर' इत्याख्यं पुस्तकम्।

४. द्र० 'संस्कृत व्याक० शास्त्र का इति०' इति ग्रन्थे प्र० भा० १६४ तमे पृ०।

५. द्र० पण्डित अम्बालाल प्रे० शाह विर० 'जैन साहि० का बृहद् इति०' इति नाम्नि ग्रन्थे 'पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसीतः प्रका० १६ तमे पृ०।

६. द्र०—श्रीनाथूराम प्रेमि-विर० 'जैन साहित्य और इतिहासे'ति नाम्नि ग्रन्थे यशोधर मोदी, विद्याधर मोदी, मुम्बईतः प्रका०' १५६ तमे पृ०।

विशेषणद्वयेनोट्टङ्कितः । 'जिनेश्वरे'ति पदस्य च श्लिष्टत्वादेकस्मिन्नर्थे जिनेश्वरो द्वितीये च वैयाकरणेषु लब्धकीर्तित्वात् पाल्यकीर्तिरेव शिरसा नुतः । शाकटायन-प्रक्रियाप्रणयनकाले अभयचन्द्रः प्रामाणिकं ग्रन्थकर्त्तारं परित्यज्यान्यं कंस्विस्तूयादिति न सम्भाव्यते । अनेनापि शाकटायनस्य वास्तवं नाम पाल्यकीर्तिरेवेति निश्चेतुं सुशकम्[1] ।

किञ्च यथा किल कविषु महाकवेः कविकुलगुरोः कालिदासस्योत्कर्षातिशयत्वात् तत्कालान्तरोद्भूताः कविकुलशिरोमणयः कालिदासेत्यभिधानेनैव सङ्कीर्तितास्तथैव वैयाकरणेषु मूर्धाभिषिक्तत्वात्पाल्यकीर्तिरेव शकटायनेतिनाम्ना दिग्दिगन्तरेषु पप्रथे ।

पाल्यकीर्तिरचनाः —

वैयाकरणमूर्धन्यस्य पाल्यकीर्तेः शाकटायनस्य वाऽन्यत्वे केवलास्तिस्र एव रचना दृग्गोचरी भवन्ति, ताश्चाधो विव्रियन्ते—

१. शब्दानुशासनात्मको मौलः सूत्रपाठः ।
२. अमोघवृत्तिः ।
३. स्त्रीमुक्ति—केवलिभुक्तिप्रकरणम् ।

अतिरिच्यैता गीर्वाणवाण्याः प्रख्याततमेन साहित्यमीमांसकेन राजशेखरेण स्वविहितायां 'काव्य-मीमांसायाम्' पाल्यकीर्तेः शाकटायनस्य वा मतमुपन्यस्यता प्रत्यपादि—

"यथातथा वाऽस्तु वस्तुनो रूपं वक्तृप्रकृतिविशेषायत्ता तु रसवत्ता तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते, इति पाल्यकीर्तिः ।"[2]

इत्यनेन विवरणेन सुतरामेव ध्वन्यते यत्पाल्यकीर्तेः शाकटानस्य वा कश्चित् साहित्यविषयको ग्रन्थो नूनमेवासीत् परमद्यत्वे नोपलभ्यते ।

शाकटायन-शब्दानुशासनात्मको मौलः सूत्रपाठः—

शब्दानुशासनात्मकेऽत्र व्याकरणे नावलोक्यते प्रकरणानुसारी विभागः । पाणिनिरिव वैधानक्रममनुसृत्य सूत्राण्यत्र ग्रथितानि । प्रक्रिया-क्रममनुसृत्यैव शब्दानुशासनमिदं ग्रथितुमध्यवसितमत एव क्लिष्टताविप्रकीर्णतादयो दोषबाहुल्येनात्र दृग्गोचरीक्रियन्ते । शाकटायन-प्रत्याहारैः पाणिनीय-प्रत्याहारसाम्येऽपि क्वचिद् भिन्नत्वमप्यत्राक्षिलक्षीक्रियते । यथा खलु 'ऋ लृ क्' इत्यस्य स्थाने' 'ऋ क्' एव शाकटायन-शब्दानुशासने पाठोऽवलोक्यते, ऋलृवर्णयोरभेदाभावात् । 'हयवरट्लण्'त्यतो परस्परं सम्मेल्यैकमेव सूत्रं शाकटायनशब्दानुशासने समवलोक्यते । अपरञ्चोपान्त्य-'सूत्रे' शषसरित्यत्र जिह्वामूलीयोपध्मानीयावपि समावेशितौ । सूत्राणि सर्वथैवात्र विरुद्धानि दृश्यन्ते ।

शाकटायन-शब्दानुशासने कातन्त्र-व्याकरणस्य भूयानेव प्रभावोऽत्रावलोक्यते । किञ्च शाकटायन-शब्दानुशासनमध्यायचतुष्टयेषु षोडशेति संख्याकेषु च पादेषु विभक्तमवलोक्यते ।

यक्षवर्मणा शाकटायन-शब्दानुशासनमधिकृत्य ग्रथितायां 'चिन्तामणी'त्याख्यायां टीकायां व्याकरणस्यास्य वैशिष्ट्यं निरूपयता प्रत्यपादि—

---

१. "यल्लकीर्तिर्यथा रूढः पुरा व्याकरणे कृती ।
तथाभिमानदानेषु प्रसिद्धः पल्लपण्डितः ।" द्र० तत्रैव ग्रन्थे १५६ तमे पृ० ।

२. द्र०—श्रीनाथूराम प्रेमिकृते "जैन साहित्य और इति०" इति नाम्नि ग्रन्थे १५६ तमे पृ० ।

'इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक् ।
संख्यानं नोपसंख्याने यस्य शब्दानुशासने ॥
इन्द्र-चन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणम् ।
तदिहास्ति समस्तं च यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥[1]

अयमाशयो यच्छाकटायन-व्याकरणे इष्टयो नेष्टाः । सूत्रवार्तिकादिभिर्यन्न संसाध्यते, भाष्यकारप्रयोगैश्च यत्खलु संसाध्यते, सेष्टीति संज्ञिता बुधैः । अपरञ्च 'सूत्रेणासङ्गृहीतं लक्ष्यं येन संगृह्यते तदुपलक्षणमिष्ट्युपसंख्यानग्रहणमिति पदमञ्जरी ।[2]

किञ्चोपसंख्यानमप्यत्र नोपसंख्यानम् । इन्द्र-चन्द्रादि-वैयाकरणैर्यच्छब्दलक्षणं प्रत्यपादि तत्समस्तमिह निगदितमवलोक्यते । 'यन्नेहास्ति न तत्क्वचिदि'त्यपि भगवता यक्षवर्मणा शाकटायन-व्याकरणमधिकृत्य ग्रथितायां चिन्तामणी'त्याख्यायां टीकायां न्यदर्शि । इदमप्यवितथमेव यत्पाल्यकीर्तिना शाकटायनेन वा पूर्ववर्तिवैयाकरणानां त्रुटयोऽप्यत्र यथावसरं निरवसिताः ।

२. **अमोघवृत्तिः**—इयं हि शाकटायनस्य पाल्यकीर्तेर्वा स्वोपज्ञा वृत्तिर्या खलु शाकटायनशब्दानुशासनमधिकृत्यैव स्वग्रथितेत्यूरीकरोति शाकटायनः । एषैव हि सूत्रकारस्य सुविशदा टीका या किल राष्ट्रकूटेश्वरममोघवर्षमभिलक्ष्यामोघवृत्तीति नाम्ना विद्वत्सु प्रथितेति । नृपोऽमोघवर्षस्तु ८७१ तमे वैक्रमाब्दे सिंहासनमध्यतिष्ठत् ।[3] तस्यैवेतस्तो वैक्रम्या नवम्यां शत्यां वा वृत्तिरेषा प्रणिबद्धेति ।

इतिवृत्तमुखेन सुविज्ञायते यद्विवङ्गतेन डा० के० बी० पाठकमहाभागेन सुष्ठुतया वृत्तिरेषा समपादि । वृत्तेरस्या आदावेव वृत्तिकारेण शाकटायनेन पाल्यकीर्तिना वा वृत्तेरस्या वैशिष्ट्यमधिकृत्य प्रत्यपादि—

श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नत्वादिं सर्ववेधसाम् ।
शब्दानुशासनस्येयममोघा वृत्तिरुच्यते ॥

अविघ्नेनेष्टप्रसिद्ध्यर्थं मङ्गलमारभ्यते—

नमः श्रीवर्द्धमानाय प्रबुद्धाशेषवस्तवे ।
येन शब्दार्थसम्बन्धाः सार्वेण सुनिरूपिताः ॥"[4]

ततश्च स्वशब्दानुशासनगतो मङ्गलार्थः श्लोको व्याख्यात्रा शाकटायनेन पाल्यकीर्तिना वा 'अमोघवृत्तौ' न्यबन्धि "शब्दो वाचकः अर्थो वाच्यः तयोः सम्बन्धो योग्यता अथवा शब्दः आगमः अर्थः प्रयोजनम् । अभ्युदयो निःश्रेयसं च तयोः । सम्बन्ध उपायोपेयभावः ते येन सर्वसत्वहितेन सत्ता तत्त्वतः प्रज्ञापितः तस्मै परमार्हंत्यमहिम्ना विराजमानाय भगवते वर्द्धमानाय षडपि द्रव्याणि अशेषाणि अनन्तपर्यायरूपाणि साकल्येन साक्षात्कुर्वते नमः कुर्वे इत्युपस्कारः । एवं कृतमङ्गलरक्षाविधानः परिपूर्णमल्पग्रन्थं लघूपातं शब्दानुशासनशास्त्रमिदं महाश्रमणसंघाधिपतिर्भगवानाचार्यः शाकटायनः प्रारभते । शब्दार्थज्ञानपूर्वकं च सन्मार्गानुष्ठानम् । अ इ उ ण् । ऋक् । ए ओ ङ् । हल् ॥ १३ ॥ इति

१. द्र०—पं० अम्बालाल प्रे० शाह विर० 'जैन साहि० का बृ० इति०' इति ग्र० ५ भागे लाक्षणिक—साहि० १६ तमे पृ० ।
२. द्र०—'इष्ट्युपसंख्यानवती'ति वृत्तिस्थवाक्यव्याख्यानावसरे १ अ० १ पा० पदमञ्जर्यां मङ्गलाचरणे पञ्चमे पृ०,
३. द्र० पं० अम्बालाल प्रे० शाह विर० 'जैन साहि० का बृहद् इति' इति ग्रन्थे १६ तमे पृ० ।
४. द्र० श्रीनाथूराम प्रेमिविर० 'जैन साहि० और इति०' इति नाम्नि ग्रन्थे १६२ तमे पृ० ।

वर्णसमाम्नाय: क्रमानुबन्धोपादनः प्रत्याहारान् शास्त्रस्य लाघवार्थः । सामान्याश्रयणाद्दीर्घप्लुतानुनासिकानां ग्रहणम्'[1] अमोघवृत्तिः ।

तदेवं 'शब्दानुशासनस्येयममोघवृत्तिरुच्यते' इत्यनेन विवरणेनाध्यवसीयते यदमोघवृत्तिः स्वोपज्ञा शाकटायनप्रणिबद्धा चेति । किञ्च 'शब्दो वाचकः अर्थो वाच्यः तयोः सम्बन्धो योग्यता अथवा तयोः सम्बधः उपायोपेयभावः' इत्यनेनोपरितनेन विवरणेनापि तेषां शब्दार्थसम्बन्धे तद्द्वारा शब्दानुशासने च प्रावीण्यं स्फुटमेवावगम्यते । 'अ इ उ ण् । ऋ क् । ऐ ओ ङ् । हलि'त्येतैश्चतुर्भिर्वर्णसमाम्नायसूत्रैस्तेषु दीर्घप्लुतानुनासिकादीनां समावेशात्पाणिनीयशब्दानुशासनवैषम्याच्च स्वपाण्डित्यमेवोद्घोषितं शाकटायनेन पाल्यकीर्तिना वेति ।

३. स्त्रीमुक्ति—केवलिभुक्तिप्रकरणम्—इति वृत्तिवृद्धिः शाकटायनो दिगम्बर-श्वेताम्बरयोरतिरिच्य यापनीययति-ग्रामाग्रणीरेवानुमतः[2] । किञ्च यापनीयसम्प्रदायानुयानुयायिनो नारीणां तस्मिन्नेव भवे मोक्षमामनन्ति, केवलीनाञ्चाशनमेव मन्यन्ते । एतस्मिन्नेव विषये शाकटायनकृतः—'स्त्रीमुक्ति—केवलिभुक्तिप्रकरण'नामा लघीयानेव ग्रन्थः समुपलभ्यते, यश्चाधुना प्रकाश्यतां गतः । अत्र ग्रन्थे स्त्रीमुक्तिमधिकृत्य ५५ कारिकाः, केवलिभुक्तिञ्चाधिकृत्य ३४ कारिका दृग्गोचरीभवन्ति ।

ग्रन्थादस्मात्कश्चनांशोऽत्र प्रस्तूयते—

प्रारम्भः—प्रणिपत्य भुक्तिमुक्तिप्रदममलं धर्ममर्हतो दिशतः ।
वक्ष्ये स्त्रीनिर्वाणं केवलिभुक्तिं च संक्षेपात् ।।१।।

अस्ति स्त्रीनिर्माणं पुंवद्यदविकलहेतुकं स्त्रीषु ।
न विरुद्धयते हि रत्नत्रयसम्पत्तिर्वृत्तेर्हेतुः ।।२।।

अन्तः—विग्रहगतिमापन्नाद्यागमनवचनं सर्वमेतस्मिन् ।
मुक्तिं ब्रवीति तस्माद् द्रष्टव्या केवलिनि भुक्तिः ।।३२।।

नानाभोगाहारो निरन्तरः सोऽविशेषतो नाभूत् । (१)
युक्त्या भेदेनावगतिस्थितिपुष्टिक्षुच्छमास्तेन ।।३३।।

इति स्त्रीनिर्वाण—केवलिभुक्तिप्रकरणं भगवदाचार्यशाकटायनकृदन्तपादानामिति ।[3]

अपरञ्चात्रावधेयं यच्छाकटायन-शब्दानुशासनमधिकृत्याद्यावध्यधोऽङ्किताः केवलाः सप्त टीकाः समुपलभ्यन्ते, ताश्चात्र निबध्यन्ते—

१. अमोघवृत्तिः, २. शाकटायनन्यासः, ३. चिन्तामणिटीका, ४. मणिप्रकाशिका, ५. प्रक्रियासंग्रहः, ६. शाकटायनटीका, ७. रूपसिद्धिश्चेति ।

१. **अमोघवृत्तिः**—शाकटायनप्रणीतां वृत्तिमिमामधिकृत्यानुपदमेव विशदय्य प्रत्यपादि '

---

१. द्र० तत्रैव श्रीप्रेमिवि० इतिहासग्रन्थे १६१ तमे पृ० ।

२. 'शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणीः स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तावादौ भगवतः स्तुतिमेवाह ।' द्र० 'जैन साहि० और इति०' इति ग्रन्थे १५७ तमे पृ० ।

३. द्र० नाथूराम प्रेमि-विर०—'जैन साहि० और इतिहास' इति ग्रन्थे १५८ तमे पृ० मुम्बईतः प्रकाशिते ।

२. **शाकटायन-न्यासः**—अमोघवृत्तिमधिकृत्य श्रीप्रभाचन्द्रप्रणीते 'शाकटायन-न्यासे'[1]ति नाम्नि ग्रन्थे द्वावेवाध्यायौ प्राप्येते।

३. **चिन्तामणिटीका** (लघीयसी वृत्तिः)—ग्रन्थकर्ता यज्ञवर्मणा अमोघवृत्तिमेव संक्षिप्य 'चिन्तामणिटीके'ति नाम्नी लघीयसी वृत्तिर्न्यबन्धीति गम्यते।

४. **मणिप्रकाशिका**—अत्र ग्रन्थस्थितेन मणीत्यनेन चिन्तामणीत्यर्थो गम्यते। अतोहि 'मणिप्रकाशिकाख्ये' ति टीका भगवता जिनसेनेन न्यबन्धीति गम्यते।

५. **प्रक्रिया-संग्रहः**—श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितप्रणीतां सिद्धान्तकौमुदीमिव श्रीअभयचन्द्रकृतः प्रक्रिया-सङ्ग्रहोऽपि प्रक्रियाटीकैवेति बोद्धव्यम्

६. **शाकटायनटीका**—'वादिपर्वतवज्र'-भावसेन-त्रैविद्यदेवकृतेयं 'शाकटायनटीके'ति बोद्धव्यम्। ग्रन्थकारस्यास्य 'विश्वतत्त्वप्रकाशे'ति नाम्ना ग्रन्थोऽपि समुपलभ्यते।

७. **रूपसिद्धिः**—लघुकौमुदीवल्लघीयसी टीकेयं द्रविड़सङ्घीयेन मुनिना दयापालेन[2] न्यबन्धीति गम्यते। टीकेयं प्राकाश्यतां नीतेत्यवधेयम्।

तदेवं शाकटायन-शब्दानुशासनमधिकृत्य तेनैव प्रणीताममोघवृत्तिमधिकृत्य श्रीयक्षवर्मग्रथितायाश्चिन्तामणिटीकाया आद्योपान्ताध्ययनेनाध्यवसीयते यन्महाश्रमणसङ्घाधिपतिः सकलज्ञानसाम्राज्येश्वरः श्रीशाकटायनः पाल्यकीर्तिर्वा स्वबुद्धिमन्दरेण शब्दाम्बुधिं प्रमथ्य विश्वं व्याकरणामृत समुद्दध्रे[3]। अत्र च तत्प्रणीतस्य शाकटायन-शब्दानुशासनस्य तद्व्याकरणञ्चाधिकृत्य प्रणीतानां सप्त ग्रन्थानां पर्यालोचनात्मकमध्ययनं मया शाब्दिकानां जिज्ञासूनाञ्च पुरः सम्प्रस्तुतम्। शाकटायन-शब्दानुशासनञ्च प्रति भगवान् पाणिनिरपि बद्धादर एवेत्यलम्।

---

१. "सूत्राणाञ्च विवृतिर्विख्यातं च यथामतिः।
ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति (१) क्रियते नामनामतः॥" द्र०—'जैन साहि० और इति०' इति ग्रन्थे टिप्पणभागे १६० तमे पृ०।

२. 'हितैषिणां यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धाहितरूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धस्सताम्मूर्द्धनि यः प्रभावैः॥"
द्र० श्री नाथूरामप्रेमिकृते 'जैन साहि० और इतिहास' इति नाम्नि ग्रन्थे १६० तमे पृ० टिप्पणभागे।

१. "एकः शब्दाम्बुधिं बुद्धिमन्दरेण प्रमथ्य यः।
सयशः श्रीः समुद्दध्रे विश्वं व्याकरणामृतम्।"
द्र० यक्षवर्मप्रणीता 'चिन्तामणिटीका'। अपि च 'जैन साहि० और इतिहा०' इति नाम्नि ग्रन्थे १६२ तमे पृ०।

संस्कृते जैनसाहित्यम् : विहगावलोकनम्

प्रो० श्रीरञ्जनसूरिदेवः

संस्कृतभाषायां परिनिबद्धस्य जैनसाहित्यस्य प्राचुर्यं वरीवर्त्तीति । संस्कृते हि धर्मदर्शनातिरिक्तं काव्य-कोश-छन्दोऽलङ्कार-ज्यौतिषायुर्वेदमुद्राशास्त्रप्रभृतिविषयानाश्रित्य विपुलग्रन्थाः रचिताः । गृद्धपिच्छाचार्येण हि खृष्टाब्दस्य प्रथमशताब्द्यां 'तत्त्वार्थसूत्रं' विनिर्मितम् । सूत्रशैल्यां निबद्धोऽयं ग्रन्थः जैनदार्शनिकग्रन्थेषु सर्वप्रथमं स्थानमलङ्करोति । नातिदीर्घेऽस्मिन् (दशाध्यायपरिमिते) आद्ये जैनदर्शनग्रन्थे सातिशयनिपुणतया सम्पूर्णं जैनतत्त्वज्ञानं विनिवेशितमस्ति । जैनसिद्धान्तसागरे प्रविविक्षूणां कृते प्रस्थानत्रयीसमोऽयं ग्रन्थ इति सुनिश्चितम् ।

गृद्धपिच्छानन्तरं संस्कृतभाषाया द्वितीयो जैनदार्शनिकः समन्तभद्र इति । अस्य कालः खलु खृष्टाब्दस्य द्वितीयं शतकम् । अयं हि 'स्वयम्भूस्तोत्र-स्तुतिविद्या-देवागमस्तोत्र-युक्त्यनुशासन-रत्नकरण्डश्रावकाचार-जीवसिद्धि-तत्त्वानुशासन-प्रमाणपदार्थ-कर्मप्राभृतटीका-गन्धहस्तिभाष्या'दिकान् महद्वैशिष्ट्योपेतान् ग्रन्थानररचत् ।

समन्तभद्रानन्तरं सिद्धसेनाचार्यो हि दार्शनिकपदे प्रतिष्ठितः । अनेन हि 'द्वात्रिंशतिका' विरचिता । अस्मिन् ग्रन्थे काव्यमनोहरं दर्शनतत्त्वं समुपलभ्यते । अतः परं संस्कृतजैनाचार्येषु देवनन्दिपूज्यपादमहोदयस्य भूयसी प्रतिष्ठा वर्त्तते । अयं खलु युगपदेव कविर्वैयाकरणो दार्शनिकश्चाप्यासीत् । अस्य समयः विक्रमाब्दस्य पञ्चमतशतकस्योत्तरार्द्धम् । 'जैनेन्द्रव्याकरण-सर्वार्थसिद्धिसमाधितन्त्र-इष्टोपदेशा' तिरिक्तं 'दशभक्ति'रित्याख्यो ग्रन्थोऽपि ह्यनेन रचितः ।

पात्रकेसरि-मानतुङ्गौ सप्तमशतकस्याचार्यौ स्तः । मानतुङ्गस्य सुप्रसिद्धं 'भक्तामरस्तोत्र'काव्यं सर्वविदितमस्ति । तीर्थङ्कर-चक्रवर्त्ति-नारायण-प्रतिनारायणप्रभृतिमहापुरुषाणां चरितानां काव्यरूपेण निबन्धनस्य परम्परा सप्तमशतकात्प्रारब्धा । रविषेण-जयसिंहनन्दिप्रभृतयस्तद्विधा एव कवयः सन्ति । ये खलु रामायणशैलीमाश्रित्य स्वं स्वं प्रबन्धं चक्रुः । विमलसूरेः प्राकृतनिबद्धा 'रामकथा' रविषेणेन संस्कृतभाषायां ललितछन्दःसु प्रतिनिबद्धा । जयसिंहनन्दिनः 'वराङ्गचरितं' काव्यं महाकाव्यरूपेण प्रतिष्ठितमस्ति । वराङ्गचरितमहाकाव्यमष्टमशतकस्य संस्कृतेः समाजस्य चाध्ययनदृष्ट्या निरतिशयं महत्त्वपूर्णम् ।

वीरसेनाचार्यो ह्यष्टमशतकस्य महती विभूतिः । अनेन हि 'षट्खण्डागमस्य' द्वासप्ततिसहस्रश्लोकप्रमाणा 'धवला' टीका संस्कृत-प्राकृतमिश्रितायां मणिप्रवालभाषायां विनिर्मिता । अपरञ्च, 'कषायप्राभृत'ग्रन्थस्यापि विंशतिसहस्रप्रमाणा 'जयधवला' टीकाप्यनेनाचार्येण विलिखिता । भाषाया विषयवैविध्यस्य च दृष्ट्या ह्युभयोः टीकाग्रन्थयोः सातिशयं महत्त्वं विद्यते । महाभारत इव एतट्टीकाद्वयेऽपि गणितज्यौतिष-भूगोल-समाजशास्त्र-राजनीतिशास्त्र प्रभृतयोऽनेकानेकविषया विनिबद्धाः ।

काव्यक्षेत्रे कवेर्धनञ्जयस्य परमा ख्यातिरस्ति । अयं हि सन्धानात्मकं काव्यं संस्कृतकोशञ्च रचयामास । अस्य समयोऽष्टमशतकोऽनुमितः । जैनन्यायसंवर्द्धकस्य महाद्भुतप्रतिभाशालिनोऽकलङ्कदेवनाम्नो दर्शनिकस्य समयोऽपि अष्टमशतकमेवास्ति । अनेन हि 'लघीयस्त्रयवृत्ति-न्यायविनिश्चय-सिद्धिविनिश्चय-प्रमाणसंग्रह-तत्त्वार्थराजवार्तिक अष्टशती'प्रभृतयो ग्रन्था लिखिताः । अकलङ्कदेवेन स्वकीये काले ह्यास्तिक-दर्शनानां बौद्धदर्शनस्य च सिद्धान्तानां तर्कपूर्णा मीमांसा प्रस्तुतीकृता । जैनन्यायक्षेत्रेऽकलङ्कदेवस्य स्थानं धर्मकीर्त्ति-कुमारिलसदृशमेवेति निश्चितम् ।

अष्टमशतकस्यैवैको विशिष्टो दार्शनिको हरिभद्रोऽप्यविस्मरणीयः। श्रूयते, ह्यनेन चत्वारिंशदधिकचतुर्दश-सहस्रग्रन्था विरचिताः। परन्तु, तेषु सम्प्रति पञ्चाशत्पष्टिपरिमिता ग्रन्था एव समुपलभ्यन्ते। अस्य खलु 'अनेकान्त-जयपताका','षड्दर्शनसमुच्चय' इत्युभौ ग्रन्थौ दर्शनजगति मौलिमुकुटायमानौ वर्त्तेते। हरिभद्रो हि प्राकृतस्यापि पार-गामी विद्वान् कथालेखकश्चासीत्। विद्वत्कवेरस्य प्राकृतनिबद्धा कथाकृतिः 'समराइच्चकहा' (समरादित्यकथा) गद्यसौन्दर्यदृष्टचा बाणभट्टस्य कादम्बर्याः समानान्तरत्वं भजते।

नवमशतके जिनसेनप्रथमद्वितीयौ गुणभद्र-विद्यानन्द-वप्पभट्टिवादीभसिंहप्रभृतयश्चापि ख्यातनामानः संस्कृतकवय आसन्। द्वितीयो जिनसेनो हि एकतो महापुराणेत्याख्यं महाकाव्यं विरचय्य पुराणक्षेत्रे क्रोशशिलां स्थापयामास, अन्यतश्च 'पार्श्वाभ्युदय' इत्यभिधेयमत्युत्तमं काव्यं रचयित्वा न केवलं मेघदूतस्यापि तु दूतकाव्यमात्रस्य शृङ्गारपरम्परां शान्तरसपरम्परायां पर्यवर्त्तयत्।

विद्यानन्दो हि नवमशतकस्यैव महान् दार्शनिकः। पण्डितप्रवरस्यास्याष्टसाहस्रीं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकं च सर्वे दार्शनिका जानन्ति। मामकीना सुदृढा धारणेयं यत् समन्तभद्राकलङ्कविद्यानन्दिनस्त्रयोऽपि चैतादृशा दार्शनिकाः सन्ति, यैः खलु जैनदर्शनक्षेत्रे परमाद्भुतमद्वितीयञ्च कार्यं कृतम्। हरिभद्रस्य समरादित्यकथावद् वादीभसिंहस्य संस्कृतनिबद्धा 'गद्यचिन्तामणि'रपि स्वकीयगद्यवैभवेन बाणभट्टकृतां कादम्बरीं स्मारयति। एवमेव दशमशतके हरिषेण-बालचन्द्र-वीरनन्दि-हरिचन्द्रप्रमुखा अनेके संस्कृतमहाकवयोऽप्यभूवन्।

एकादशशतकस्य महाकविना वादिराजेन विरचितं 'पार्श्वनाथचरितं' महाकाव्यं 'यशोधरचरितं' खण्डकाव्य-ञ्च नूनमेव काव्यमहोदधेरद्वितीयं रत्नमिव प्रतीयेते। अस्मिन्नेव शतके कविसोमदेवो 'यशस्तिलकचम्पू' काव्यं 'नीति-वाक्यामृत'ञ्च रचयित्वा जैनसाहित्यं शाश्वते पदे प्रतिष्ठापितवान्। नीतिवाक्यामृतस्य कौटिल्यमहोदयस्यार्थशास्त्रेण समकक्षता न्यायसङ्गता। शतकेऽस्मिन् हि महाकविना महासेनेन 'प्रद्युम्नचरितं' महाकाव्यं विरचितम्, अथ च कवि-धर्मपालो हि 'तिलकमञ्जरी'व्याख्यामनुपमगद्यरचनां चकार।

द्वादशे शतके सूरीत्युपाह्वस्य हेमचन्द्राचार्यस्य नाम महत्त्वमतिशेते। अस्य खलु 'हैमशब्दानुशासनं' समस्त-भाषाप्रवृत्तीनामनुशासने पूर्णतया क्षमः। त्रयोदशशतकेऽप्यनेके संस्कृतकवयोऽभूवन्। तेष्वाचार्यहस्तिमल्लस्य जैननाटक-कारस्य प्रमुखं स्थानं वरीवर्ति। चतुर्दशशतके जिनप्रभ-मानतुङ्ग-द्वितीय-मेरुतुङ्गप्रमुखाः कवय आविर्बभूवुः। पञ्चदश-षोडशशतके संस्कृत-काव्य विकासस्य कृते स्वर्णयुगरूपेण प्रतिष्ठिते। सप्तदशशतके वादिचन्द्र-मेघ-विजय-राजमल्ला-स्त्रयो हि एवंविधा महाकवयोऽभूवन् ये खलु सरलसंस्कृतशैलीमाश्रित्य मनोहराणि काव्यान्यरचन्।

अलङ्कारसाहित्ये वाग्भटकवेः 'काव्यालङ्कार'स्य हेमचन्द्रस्य च 'काव्यानुशासन'स्य प्रमुखं स्थानमस्ति। कोशस्य क्षेत्रे धनञ्जयस्य 'नाममाला' हेमचन्द्रस्य च 'अभिधानचिन्तामणि'र्विशिष्टं स्थानमधिकुरुतः। ज्योतिष-साहित्ये भद्रबाहुभट्टारकस्य 'निमित्तशास्त्रे'त्याख्यग्रन्थो महत्त्वपूर्णोऽस्ति। गणितक्षेत्रे महावीरस्य 'गणितसार-सङ्ग्रह'स्य सातिशयं वैशिष्टचमस्ति।

इदमित्थम्, संस्कृतभाषायां जैनमनीषिभिर्विविधविषयकं साहित्यं प्रणीतमिति जैनसाहित्यसागरो ह्यपरम्पारः इत्यलं विस्तरेण।

संस्कृत-नाट्य-विधा में जैन नाटककारों का योगदान

—बापूलाल आंजना

प्रस्तुत निबन्ध में संस्कृत-नाट्यविधा में जैन नाटककारों के योगदान की चर्चा की गई है। संस्कृत वाङ्मय की अन्य विधाओं के समान इस विधा को भी जैन नाटककारों ने कृतियों से भरा-पूरा किया है। नाट्याचार्य रामचन्द्र देवचन्द्र, रामभद्रमुनि, मेघप्रभाचार्य, बालचन्द्रसूरि, जयसिंहसूरि, नयचन्द्र, हस्तिमल्ल, ब्रह्मसूरि, नेमिनाथ, यशःपाल और यशश्चन्द्र आदि जैनकवियों ने दो दर्जन से भी ऊपर नाटकों की रचना की है। इन नाटककारों व इनके नाटकों का अतिसंक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

१. रामचन्द्र

रामचन्द्र सुप्रसिद्ध, जैनाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। ये जयसिंह सिद्धराज तथा उनके उत्तराधिकारी कुमारपाल की सभा के विद्वानों में अन्यतम थे। ये प्रतिभाशाली कवि, नाट्य-रचयिता तथा नाटयशास्त्र के अन्यतम विद्वान् थे।

ये शतप्रबन्ध कर्त्ता के रूप से जैनग्रन्थों में बहुशः प्रशंसित हैं। अब तक उनके ४७ ग्रन्थ मिले हैं। इनके ११ रूपकों में से ६ प्राप्य हैं—(१) नलविलास, (२) सत्यहरिश्चन्द्र, (३) कौमुदीमित्रानन्द, (४) निर्भयभीमव्यायोग, (५) रघुविलास तथा (६) मल्लिकामकरन्द। शेष रूपक नहीं मिलते।[1] उपलब्ध नाटकों का परिचय इस प्रकार है—

(१) **नलविलास**[2]—यह सात अंकों का नाटक है। इसमें नल व दमयन्ती के प्रेम तथा विवाह की कथा निबद्ध की गई है। यद्यपि इस नाटक के लेखक जैनमुनि हैं तथापि यह नाटक भारत की सनातन साँस्कृतिक पृष्ठ-भूमि पर आलिखित है। इसमें जैन-संस्कृति गौणरूप से निदर्शनीय है। महाभारतीय नलकथा को लेखक ने पर्याप्त परिवर्तित कर दिया है। अनावश्यक विवरणों से नाटक का कलेवर बहुत बढ़ गया है। उपदेश देने की प्रवृत्ति कवि की इतनी अधिक है कि अनेक स्थलों पर यह नाटक भर्तृहरिशतक व पञ्चतन्त्र की भांति लोकव्यवहार का परिचय कराता है। रामचन्द्र का इस नाटक में एक उद्देश्य है सामाजिक अन्धविश्वासों और उनके प्रवर्तकों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कराना। कापालिकों की घृणित चरितावली का विस्तार इसी दृष्टि से किया गया है। वेश्या की भरपूर निन्दा तीसरे अंक में की गई है।

(२) **निर्भयभीम**[3]—यह व्यायोगकोटि का रूपक है। इसकी कथा महाभारत से ली गई है। वन में भीम अपना वन्यवेश देखकर कौरवों को जला डालने के लिए समुत्सुक है। तभी एक पुरुष आकर समीप के ऊँचे पर्वत पर बक राक्षस के रहने की सूचना देता है जिसके लिए समीपस्थ नगर के लोग एक-एक मनुष्य भेजते हैं। उन्हें

---

१. रोहिणीमृगाङ्क-प्रकरण, राघवाभ्युदय और यादवाभ्युदय नाटक नहीं मिलते हैं। इनके कतिपय पद्य रामचन्द्र के नाट्यदर्पण में उद्धृत हैं—रामजी उपाध्याय, मध्यकालीन संस्कृत नाटक पृ० १५७।

२. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा से प्रकाशित।

३. यशोविजय ग्रन्थमाला १९ में वाराणसी से प्रकाशित।

वह वध्य शिला पर मारकर खाता है। भीम अन्य राक्षसों सहित वक का संहार करते हैं। भीत ब्राह्मण-परिवार अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

इस व्यायोग पर भास के मध्यम व्यायोग और नागानन्द का स्पष्ट प्रभाव है। इस में कवि ने विदेशी आक्रमणकारियों से जर्जरित देश की रक्षा के लिए भारतीय वीरों को प्रोत्साहित किया है।

(३) सत्यहरिश्चन्द्र[१]—छः अंकों के इस नाटक में रामचन्द्र ने हरिश्चन्द्र के चरित के लौकिक आदर्श को प्रस्तुत किया है। इसका कथानक पौराणिक युग से चरित्र-निर्माण तथा लोकानुरञ्जन के लिए सदैव घर-घर में प्रतिष्ठित रहा है। इसकी मूल कथा-धारा तो प्रायः सर्वत्र एक-सी है किन्तु शास्त्रीयवृत्त कवियों ने अपने मन से कल्पित कर लिए हैं। रामचन्द्र की कथा कई दृष्टियों से प्रभावोत्पादक व नाटकीय तत्त्वों से युक्त है। कथा के नायक में देवता व ऋषियों का इस स्तर पर रुचि लेना संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र विरला-सा है।

इसमें पात्रों का वैविध्य उल्लेखनीय है। मानव, देव, ऋषि, विद्याधर, पिशाच आदि देवकोटि के पात्र हैं और मानवकोटि में वज्रहृदय ब्राह्मण, हरिश्चन्द्र राजा से लेकर कालदण्ड निषादपति और लंबस्तनी वेश्यामाता हैं। सभी के चारित्रिक सूत्र का संचालन निपुणता से किया गया है।

(४) रघुविलास—आठ अंकों के रघुविलास में राम-वनगमन से रावणवध तक की रामकथा का आकलन किया गया है। रघुविलास की इस कथा में कवि कई स्थलों पर नई-नई योजनाओं को लेकर चला है। इस कथा में एक विशिष्ट तत्त्व सर्वाधिक समुन्नत दिखाई देता है, जो परवर्ती युग में विशेषरूप से छायानाटकों में अपनाया गया है। मायापात्रों की इतने बड़े पैमाने पर कल्पना अन्यत्र विरल ही है। कोई व्यक्ति दूसरे का रूप धारण कर ले—यह तो एक बात हुई, किन्तु कोई विशुद्ध नकली पात्र ही दूसरे पात्र की छाया के रूप में प्रस्तुत करना जितना सौष्ठवपूर्ण इस नाटक में है, उतना अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता।

(५) यादवाभ्युदय—यह नाटक उपलब्ध नहीं होता। इसके ८ उद्धरण नाट्यदर्पण में मिलते हैं। इसमें कृष्ण द्वारा कंस, जरासन्ध आदि के वध की कथा है और अन्त में कृष्ण के अभिषेक का वर्णन है।

(६) राघवाभ्युदय—रामचन्द्र का यह नाटक भी अब तक नहीं प्राप्त हो सका है। इसके कतिपय अंश नाट्यदर्पण में प्राप्त होते हैं। इसकी कथा का आरम्भ सीता-स्वयंवर से होता है। राम के कथानक को लेकर कवि ने दो नाटक लिखे हैं, इससे प्रतीत होता है कि रामचन्द्र को राम का चरित अतिशय प्रिय था।

(७) कौमुदीमित्रानन्द[२]—दस अंकों के इस प्रकरण में मित्रानंद नायक है और नायिका कौमुदी। नायक जिनसेन नामक वनिये का पुत्र है और नायिका का पिता कुलपति है।[3]

यह रामचन्द्र की प्रारम्भिक रचना प्रतीत होती है। इसमें प्रकरण-विषयक नाट्यशास्त्रीय नियमों का पालन नहीं हुआ है। जैनकथासाहित्य की इतिवृत्तात्मक सरणि पर चलते हुए कवि ने संवादों का सहारा लेकर इसे प्रकरण बनाने की चेष्टा की है। इस प्रकरण के विषय में कीथ[४] की सम्मति है कि "यह कृति सर्वथा नीरस है,

१. निर्णयसागर प्रेस, बंबई से प्रकाशित।

१. इसका प्रकाशन जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर से हुआ है। भारतीय विद्याभवन बंबई से उपलब्ध।

२. कथानक के लिए द्रष्टव्य, रामजी उपाध्याय विरचित मध्यकालीन संस्कृत नाटक पृ० १८३ से १८५ तक।

३. कीथकृत संस्कृत ड्रामा का उदयभानुसिंह कृत हिन्दी अनुवाद पृ० २७४।

है, हां इसकी एकमात्र रोचकता विस्मयकारी घटनाओं की योजना में है जो सामाजिकों में अद्भुत रस का उद्रेक करती है।"

(८) मल्लिकामकरंद[1]—इस प्रकरण में केवल छः अंक हैं। यह भवभूति के मालतीमाधव के अनुरूप विरचित है।

(९) वनमाला[2]—यह नाटिका है। यह अभी अप्राप्य है। राजा नल इसमें नायक हैं और दमयन्ती उसकी विवाहिता पत्नी। अब महादेवी पद पर अधिष्ठित हैं। नल का किसी अन्य कन्या से प्रेम चल रहा है। जैसाकि निम्नलिखित श्लोक से प्रतीत होता है—राजा (दमयन्तीं प्रति)

दृष्टिः कथं जरठपाटलपाटलेयं
कम्पः किमेष पदमोष्ठदले बबन्ध।
नारङ्गरङ्गहरणप्रवणः प्रियेऽस्य
वक्त्रस्य कुंकुममृतेऽरुणिमा कुतोऽयम्॥

(१०) रोहिणीमृगाङ्क—रामचन्द्र का यह रूपक भी अभी तक अनुपलब्ध है। इसके दो अवतरण नाट्य-दर्पण में प्राप्त होते हैं। वह प्रकरण है। रोहिणी इसमें नायिका है और मृगाङ्क नायक।

२. देवचन्द्र : चन्द्रप्रभाविजयप्रकरणः[3]

चन्द्रप्रभाविजयप्रकरण के रचयिता देवचन्द्र हेमचन्द्र के शिष्य थे। इसमें आठ अंक है। इसका प्रथम अभिनय अजितनाथ के वसन्तोत्सव के अवसर पर हुआ था। इसके अन्त में प्रशस्ति में कुमारपाल की अर्णोराज की विजय का उल्लेख है। इसकी रचना ११५० ई० के लगभग हुई।[4]

३. रामभद्रमुनि : प्रबुद्धरौहिणेय[5]

जयप्रभसूरि के शिष्य रामभद्रमुनि कृत प्रबुद्धरौहिणेय छः अंकों का प्रकरण है। विन्तरनित्ज कवि का आविर्भाव ११८५ ई० मानते हैं। प्रस्तुत नाटक में डाकू रौहिणेय के कान में महावीर की वाणी पड़ने से उसका अज्ञान दूर हो जाता है और वह महावीर के चरणों की सेवा करने का विनिश्चिय करता है।

प्रबुद्ध रौहिणेय का कथानक संस्कृत नाटयसाहित्य में अनूठा ही है। डाकू को प्रकरण का नायक बनाया गया है। नाटक में क्रूर घटनाओं का बाहुल्य है। लेखक जैन है किन्तु उसने पूरे कथानक में कहीं भी जैनधर्म का प्रचार करने का बोझिल कार्यक्रम नहीं अपनाया है। गौणरूप से जैनधर्म के प्रचार को रखे जाने से नाटक की कलात्मकता अक्षुण्ण रह सकी है। डाकूक्षेत्र में सद्वृत्तपरायण सन्तों के आने-जाने से बहुत से डाकुओं की मनोवृत्ति में परिवर्तन हो सकता है। प्रबुद्ध रौहिणेय उसका पूर्वरूप प्रस्तुत करता है।

---

१. मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ० १८६-१८७।
२. यह विवरण नाट्यदर्पण में दिए उद्धरणों के आधार पर दिया गया है।
३. कृष्णमाचार्य कृत हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ६४४ इसकी प्रति जैसलमेर के भाण्डार में है।
४. मध्यकालीन संस्कृतनाटक पृ० १५६।
५. जैन आत्मानंद सभा, भावनगर से प्रकाशित।

४. मेघप्रभाचार्य : धर्माभ्युदय[1]

मेघप्रभाचार्य ने धर्माभ्युदय नामक एकांकी की रचना की है। इसका प्रथम अभिनय पार्श्वनाथ जिनेन्द्र मंदिर में यात्रा उत्सव के उपलक्ष्य में हुआ था। इसका नायक दान, रण व तप में अग्रणी दशार्णभद्र राजा था। प्रस्तुत कृति में नायक के जिनदीक्षा लेने का वर्णन है। नाटक के अन्त में इन्द्र की आज्ञानुसार राजा के पुत्र का अभिषेक किया जाता है।

यह संस्कृत के गिने चुने श्रीगदित कोटि के उपरूपकों में से है। इसमें धर्म-प्रचार का कार्य सौष्ठवपूर्वक व्यञ्जना से किया गया है। यथा—

जिनराज किंवदन्ती वन्दितुमुत्कण्ठिता नतिरुपास्तिः।
सद्धर्मवचःश्रवणं पुण्यैर्गुरुतरैर्भवति ॥१८॥

इस एकांकी रूपक में पाँच दृश्य हैं।

५. बालचन्द्रसूरि : करुणावज्रायुध[2]

करुणावज्रायुध रूपक के रचयिता बालचन्द्र सूरि गुजरात के सुप्रसिद्ध महामंत्री और साहित्यकार वस्तुपाल या वसन्तपाल के समकालीन थे। इसकी रचना तेरहवीं शती में १२४० ई० के पहले मानी जाती है। प्रस्तुत नाटक में वज्रायुद्ध नामक राजा की जैनधर्म के प्रति अनुपम निष्ठा का निदर्शन हुआ है। वह एक श्येन से कबूतर की रक्षा के लिए कबूतर के बराबर अपने शरीर का मांस देता है, पर पूरा न होता देख स्वयं को तराजू के पलड़े में रख देता हैं। देवगण प्रकट होकर राजा की अतिशय प्रशंसा करते हैं। इसमें जैनधर्म को ही एकमात्र सद्धर्म बताया गया हैं, जिससे स्वर्ग, अपवर्ग और समृद्धि सब प्राप्य हैं। और भी—

एकं जैनं विना धर्ममन्ये धर्माः कुधीमताम्।
संवृता एव शोभन्ते पटच्चरपटा इव ॥ ४० ॥

करुणावज्रायुध में धर्मप्रचार प्रधान उद्देश्य है—वह भी वैदिक धर्म की निन्दापूर्वक। इसमें पात्र वैचित्र्य हैं—कबूतर व श्येन आदि का उड़ना, संस्कृत बोलना आदि। इस युग के अन्य कवियों ने भी पशु-पक्षियों को पात्र बनाया है, जो अस्वाभाविक लगता है।[3]

६. जयसिंह सूरिः हम्मीरमदमर्दन

जयसिंहसूरि कृत हम्मीरमदमर्दन ५ अंकों का वीररसात्मक नाटक है। जयसिंह भड़ोच के मुनिसुव्रतमन्दिर के आचार्य थे। उस समय गुजरात में धोल्का (धवलपुर) के राजा वीरधवल थे और उसके मन्त्री वस्तुपाल और तेजपाल थे। एक बार तेजपाल आचार्य सुव्रत के मन्दिर में दर्शनार्थ गए। मुनिवर की इच्छानुसार उन्होंने बड़ा दान उस मन्दिर के लिए दिया। मुनिवर ने प्रसन्न होकर उस मंत्रीद्वय की प्रशस्ति लिखी और हम्मीरमदमर्दन नाटक उनके स्वामी राजा वीरधवल के साथ मंत्रीबंधु की उदार कीर्ति को काव्यात्मक प्रतिष्ठा देने के लिए लिखा।

---

१. भावनगर से प्रकाशित।

२. भावनगर से प्रकाशित, अभयजैन ग्रंथालय, बीकानेर में उपलब्ध।

३. मध्यकालीन संस्कृत नाटक पृ० २७७-२७९।

यह कृति अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो यह ऐतिहासिक है, दूसरा इसमें दिए गए सामाजिक व राजनैतिक वर्णन यथार्थ हैं। मुद्राराक्षस की भांति इसमें झूठे संवाद, कपटवेश धारण, गुप्तचरों का जाल, मंत्री व मंत्रणा का सातिशय माहत्म्य, राजाओं का संघ बनाना व राजाओं को शत्रु राजा द्वारा झूठे समाचार देकर अलग कर देना आदि कई समान तत्त्व मिलते हैं। इसमें कवि ने युवकों को राष्ट्र रक्षा का संदेश दिया है—

> **त्रस्तेषु तेषु सुभटेषु विभौ च भग्ने,**
> **भग्नासु कीर्तिषु निरीक्ष्य जनं भयार्तम्।**
> **यो मित्रबान्धववधूजनवारितोऽपि,**
> **वल्गत्यरीन प्रति रसेन स एव वीरः ॥[1] ३.१५**

७. नयचन्द्र : रम्भामञ्जरी

हम्मीरमहाकाव्य व अन्य अनेक जैनग्रंथों के रचयिता नयचन्द्र (तेरहवीं व चौदहवीं शती का संधिकाल) ने रंभामंजरी सट्टक की रचना की है। ये पहले विष्णु के उपासक थे बाद में जैन हो गए थे। रम्भामंजरी का प्रथम अभिनय काशी में विश्वनाथ की यात्रा के अवसर पर हुआ था। इसमें राजा जयचन्द्र और रम्भा के प्रणय व विवाह का वर्णन है। जयचन्द्र ने इसे कर्पूरमञ्जरी के आदर्श पर रचा है।[2] इसमें रंगमंच पर ही मदन-विनोदक्रीडा के दृश्य भी प्रस्तुत किए गए है। देवी रंग में नीचे लिखी स्थिति में कामशय्या पर दिखाई गई है—

सम-रत-रस-प्रसरमुदितसर्वाङ्गलतां देवीं—इत्यादि। ऐसा लगता है इस युग में रंगमंचीय मर्यादाएं भग्न हो चली थीं। एक जैन मुनि द्वारा शृङ्गार संबंधी अभिनयात्मक मर्यादाओं को तोड़ना विचित्र-सा लगता है। प्रस्तुत रूपक में संस्कृत-प्राकृत का सामञ्जस्य देखते ही बनता है।[3]

८. हस्तिमल्ल का नाट्यसाहित्यः—हस्तिमल्ल ने संस्कृत नाट्यविधा को खूब पुष्ट किया। इनके चार रूपक-विक्रान्तकौरव, मैथिलीकल्याण, अञ्जनापवनञ्जय व सुभद्रा हैं। संभवतः उन्होंने ४ और रूपक लिखे थे—उदयनराज, भरतराज, अर्जुनराज और मेघेश्वर।[4] उनके असली नाम का पता नहीं चलता। यह नाम उन्हें एक मत्त हाथी को वश में करने के उपलक्ष्य में पाण्ड्य नरेश के द्वारा प्राप्त हुआ था—

> **श्रीवत्सगोत्रजनभूषणगोपभट्टप्रेमैकधामतनुजो भुवि हस्तियुद्धात्।**
> **नानाकलाम्बुनिधिपाण्ड्यमहेश्वरेण श्लोकैः शतैस्सदसि सत्कृतवान् बभूव ॥[5]**

हस्तिमल्ल ने पाण्ड्यराजा का कई जगह उल्लेख किया है। वे उनके कृपापात्र थे। पाण्ड्यमहीश्वर अपने भुजबल से कर्नाटक प्रदेश पर शासन कर रहे थे।[6] उनकी रचनाओं का काल १३वीं शती का उत्तरार्ध या १४वीं का पूर्वार्द्ध माना गया है।[7]

---

१. हम्मीरमदमर्दन का प्रकाशन गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज से हुआ है। द्र०—मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ० २८०-२८५ और कीथकृत संस्कृत नाटक (हिन्दी अनुवाद), पृ० २६२-२६४।

२. डा० पी० पीटर्सन और रामचन्द्र दीनानाथ द्वारा संपादित तथा निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से १८८९ ई० में प्रकाशित। द्र० प्राकृत साहित्य का इतिहास ले० जगदीश जैन पृ० ६३३-३५।

३. मध्यकालीन संस्कृत नाटक ३३६-३८।

४. वही, पृ० २२५।

५. विक्रान्तकौरव, १ ४० 'सुभद्रा' के अनुसार यह घटना सख्यपुर की है।

६. अञ्जनापवनञ्जय की भूमिका पृ० ६६ (वासुदेव पटवर्धन संपादित)।

७. आर० नरसिंहाचार्य ने हस्तिमल्ल का समय ई० सन् १२९० अर्थात् १३४७ वि० सं० माना है।

(१) **विक्रान्तकौरव**—सूत्रधार के शब्दों में इस नाटक में श्रृंगार व वीर प्रधान रस हैं, कथावस्तु गंभीर तथा अद्‌भुत है—

> **श्रृङ्गारवीरसारस्य गम्भीरचरिताद्भुतम् ।**
> **महाकविसमावद्धं रूपकं रूप्यतामिति ॥ १.४**

इसमें काशीनरेश अकम्पन की कन्या सुलोचना के स्वयंवर का वर्णन है। सुलोचना कुरुराज जयकुमार का वरण करती है। बाद में अर्ककीर्ति व कुरुराज जयकुमार के युद्ध का वर्णन है। जयकुमार अर्ककीर्ति को परास्त कर देता है। तब सुलोचना व जयकुमार का विवाह धूमधाम से होता है।

इस नाटक के संबंध में डा० रामजी उपाध्याय का मत उल्लेखनीय है—

"ऐसा लगता है कि हस्तिमल्ल को नाटक के नाट्योचित तत्त्वों की चिन्ता नहीं थी। इस विषय पर कवि यदि चम्पूकाव्य या महाकाव्य लिखता तो अधिक सफल होता। इसमें वर्णनों की भरमार है और उनके संभार में आख्यान तत्त्व तिरोहित-सा है। आख्यानतत्त्व का रंगमंच पर अभिनय स्वल्प है। प्रायः पात्र दृष्ट घटनाओं को सुनाते है।"[1]

(२) **मैथिलीकल्याण**—पाँच अंकों के मैथिलीकल्याण में सीता व राम के विवाह की कथा है।

(३) **अञ्जनापवनञ्जय**—सात अंकों के इस नाटक में दिव्यपात्रों के कार्यलाप हैं। इसमें अञ्जना स्वयंवर में पवनञ्जय का वरण करती है। कुछ समय बाद अञ्जना ने हनुमत् को जन्म दिया। पवनञ्जय का आदित्यपुर में अभिषेक किया गया।

इसकी कथावस्तु विमलसूरि के पउमचरिउ से ली गई है। संस्कृत में ऐसे नाटक कम ही हैं जिनमें माता-पिता को इतना महत्त्व दिया गया है। इस नाटक में कौटुम्बिकता विशेष रूप से है।

(४) **सुभद्रा**—चार अंकों की इस नाटिका में विद्याधर राजा नमि की भगिनी और कच्छराज की कन्या सुभद्रा का तीर्थंकर वृषभ के पुत्र भरत से विवाह की कथा निबद्ध की गई है।

हस्तिमल्ल के सभी रूपकों में स्वयंवर विवाह की प्रधान चर्चा है। ऐसा प्रतीत होता है कवि स्वयंवर का पक्षपाती था। नायक व नायिका का प्रथम दृष्टि में प्रणयसूत्र में आबद्ध हो जाना उनके सभी नाटकों में दिखाया गया है। नाट्यकला की दृष्टि से भले ही इनकी कृतियों का महत्त्व नहीं है, किन्तु इनमें हस्तिमल्ल की उच्चकोटि की काव्य-प्रतिमा प्रभाणित होती है।[2]

६. ब्रह्मसूरि : ज्योतिःप्रभाकल्याण

ब्रह्मसूरि ने १४वीं व १५वीं शती के संधिकाल में ज्योतिःप्रभाकल्याण (विवाह) नाटक की रचना की थी। ब्रह्मसूरि नाट्याचार्य हस्तिमल्ल के वंशज हैं। इसका प्रथम अभिनय शान्तिनाथ के जन्मोत्सव पर हुआ था। इसमें शान्तिनाथ के पूर्वभवसंबंधी अमिततेज विद्याधर और ज्योतिःप्रभा का कथानक है। गुणभद्र का उत्तरपुराण इसकी कथावस्तु का आधार है। इनकी कृति विद्यानाथ के प्रतापरुद्रकल्याण से प्रभावित है।

नाटक में जैन जीवनदर्शन की कहीं-कहीं झलक प्रस्तुत की गई है—

---

१. मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ० ३२७।

२. वही, ३३१-३३।

कायक्लान्तिः कामकेलौ कलास्वभ्यसनश्रमः ।
सांसारिकं सुखं सर्वं मिश्रमेवावभासते ।। १.१४

इस युग में जैन विचारधारा में एक परिवर्तन आया। पहले तक तो जैन संस्कृति में गृहस्थाश्रम के प्रति उदासीनता और उपेक्षा का भाव था, इस युग में मनुस्मृति की आश्रम-व्यवस्था मानो स्वीकार कर ली गई। कवि का कहना है—

धर्मोऽर्थः कामो मोक्ष इति पुरुषार्थचतुष्टय-क्रमवेदी किमपि न त्यजति। आधारो गृहाश्रमी सर्वाश्रमिणामाहारादिदानविधानात्। चेदनगाराणां कथं कायस्थितिः ?

१०. शमामृत : नेमिनाथ[1]

शमामृत के कर्त्ता का नाम नेमिनाथ है। मुनि धर्मविजय के अनुसार इसका रचनाकाल १५वीं शताब्दी है। इसमें नेमिनाथ की विरक्ति की कथा है। नेमिनाथ का विवाह उग्रसेन की कन्या राजीमती से होने वाला था। नेमिनाथ देखते है कि विवाहोत्सव में भोजन वनने के लिए मारे जाने वाले असंख्य पशु रो रहे हैं। पशुओं के रुदन को सुनकर नेमिनाथ ने सारथि से कहा—रथ लौटाओ।

पशूनां रुधिरैः सिक्तो यो धत्ते दुर्गतेः फलम् ।
विवाहविषवृक्षेण कार्यं मे नामुनाधुना ।।

वे उग्र तपस्या के लिए चले गए। नायक जिन-दीक्षा लेता है शृङ्गार का वातावरण करुण में परिवर्तित हो जाता है।

११. यशः पालः मोहराजपराजय[2]—

जैन कवियों ने भी कृष्णमिश्र का अनुसरण करके प्रतीक-नाटक को धर्मप्रचार का उपयोगी साधन समझा। यशःपालदेव की 'मोहराजपराजय' ऐसी ही रचना है। इसकी रचना ११७४-११७७ ई० के वीच हुई, जब गुजरात के कवि का आश्रयदाता अजयदेव चक्रवर्ती शासक था। इसका प्रथम अभिनय कुमारविहार में महावीर-यात्रा के महोत्सव पर हुआ था। इसकी कथावस्तु का सार लेखक ने इस प्रकार दिया है—

पद्मासद्म कुमारपालनृपतिर्जज्ञे स चन्द्रान्वयी
जैनं धर्ममवाप्य पापशमनं श्रीहेमचन्द्राद् गुरोः ।
निर्वीराधनमुज्झता विदधता द्यूतादिनिर्वासनं
येनैकेन भटेन मोहनृपतिर्जिग्ये जगत्कण्टकः ।। (१.४)

अर्थात् राजा कुमारपाल ने जैनधर्म के श्री हेमचन्द्र से पापशमन करनेवाले जैनधर्म की दीक्षा ली। उन्होंने अपने राज्य से द्यूत आदि का निर्वासन कर दिया और जगत्कंटक मोह नामक राजा पर विजय प्राप्त की थी। ५ अंकों के इस नाटक में कुमारपाल, हेमचन्द्र का विदूषक तो मनुष्यपात्र है, शेष पुण्यकेतु, विवेक, कृपासुन्दरी व्यवसायसागर, ज्ञानदर्पण, सदाचार, जनमनोवृत्ति, मोहराज, धर्मचिन्ता सदागम, रज, काम, शांति, नीतिमंजरी आदि कितने ही पात्र शोभन व अशोभन (सत् व असत्) गुणों के प्रतीक हैं। गुणों की दृष्टि से इस नाटक का

---

१. मुनिधर्मविजय द्वारा संपादित व भावनगर से प्रकाशित।
२. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज (ग्रंथाक०८) से प्रकाशित, बड़ौदा, १९३०।

बहुत महत्त्व हैं। यह ऐतिहासिक दृष्टि से उपादेय है।[1] कुमारपाल के समय में जैनधर्म प्रचार के भी लिए जो व्यवस्था की गई थी उसका प्रकृष्ट वर्णन इसमें प्राप्त होता है। ऐसी रचनाओं का प्रधान उद्देश्य चरित्र-निर्माण होता है और इनके द्वारा लोकदृष्टि में आध्यात्मिक मञ्जुलता का समावेश कराया जाता है—यश.पाल को इसमें पूरी सफलता मिली है। विन्टरनित्स ने भी इस नाटक की भूरि-भूरि प्रशंसा की है कि यह कृति तत्क.लीन समाज व राजनीतिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालती है।

यशश्चन्द्र : मुद्रितकुमुदचन्द्र[2]

धनदेव के पौत्र तथा पद्मचन्द्र के पुत्र यशश्चन्द्र की रचना मुद्रितकुमुदचन्द्र एक प्रकरण है। यह विख्यात शास्त्रार्थ को अवलम्बन करके लिखा गया है जो ११२४ ई० में श्वेताम्बर मुनि देवसूरि व दिगम्बरमुनि कुमुदचन्द्र के बीच हुआ था। इसमें कुमुदचन्द्र का मुख मुद्रण हो गया। इसलिए इसका नाम सार्थक है।

ऊपर जैन नाटककारों और उनकी कृतियों का अतिसंक्षिप्त परिचय दिया गया है। संस्कृतसाहित्य की इस महत्त्वपूर्ण विधा को जैन लेखकों ने अपने योगदान से भरा-पूरा किया है। कई जैनमुनियों ने जैन होते हुए भी महाभारत, रामायण, नलकथा व अन्य पौराणिक कथाओं को अपने नाटक की कथावस्तु बनाकर इस देश की सनातन सांस्कृतिक मर्यादाओं को अभिसिंचित किया है, उन्हें अमर बनाया है। रामचन्द्र के नलविलास, सत्यहरिश्चन्द्र, निर्भय-भीमव्यायोग, रघुविलास, वनमाला और हस्तिमल्ल का मैथिलीकल्याण आदि रूपक इसी प्रकार के हैं। कुछ नाटककारों ने अपनी कृतियों में समसामयिक कथानक को अपनाया है। इस प्रकार की कृतियों में जयसिंह सूरि का हम्मीरमदमर्दन, यशश्चन्द्र का मुद्रितकुमुदचन्द्र व यश:पाल का मोहराजपराजय,[3] ऐसे ही नाटक हैं। ये कृतियां तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक व धार्मिक जीवन का विशद चित्रण प्रस्तुत करती हैं। कुछ नाटककारों ने जैन-कथा साहित्य की इतिवृत्तात्मक सरणि पर या जैनपुराणों के कथानकों पर अपने नाटकों को रचा है। रामचन्द्र का कौमुदीमित्रानंद, रामभद्रमुनि का प्रबुद्धरोहिणेय, मेघप्रभाचार्य का धर्माभ्युदय, बालचन्द्रसूरि का करुणावज्रायुद्ध, हस्तिमल्ल का अञ्जनापवनञ्जय व सुभद्रानाटिका, ब्रह्मसूरि का ज्योति:प्रभकल्याण और नेमिनाथ का शमामृत इसी कोटि के रूपक हैं। इन रूपकों में कहीं मुख्यरूप से तो कहीं गौणरूप से जैनधर्म के प्रचार का काम अपनाया गया है। कतिपय जैन नाटकों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह भी है कि इनमें पशु-पक्षियों को पात्र के रूप में उपस्थित किया गया है नेमिनाथ के शमामृत, रामचन्द्र के सत्य हरिश्चन्द्र व बालचन्द्रसूरि के करुणावज्रायुध में पशु-पक्षियों को पात्रों के रूप में उपस्थित किया गया है। पशु-पक्षी पात्रों का संस्कृत बोलना आदि पाया जाता है। जड़ व चेतन जगत् में एक ही विराट् सत्ता का दर्शन भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

---

१. गुजरात के इतिहास के विषय में प्राप्त अभिलेखों तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त जानकारी पर यह नाटक महत्त्व-पूर्ण प्रकाश डालता है।"—कीथ कृत संस्कृत ड्रामा का हिन्दी अनुवाद, पृ० २७०।

२. काशी से प्रकाशित, वीर सं० २४३२।

३. यह प्रतीकात्मक नाटक होने पर भी समसामयिक कथानक पर आधारित है।

महावीरोपदिष्टो धर्मः

—आचार्यः श्रीभाईशङ्करपुरोहितः

वेदप्रसूते धर्मेऽध्यात्मज्ञान-कर्मोपासनानां समबलं प्रतिपादनं वर्तते। विविधाकारां मनुजप्रकृतिमभिलक्ष्य त्रयाणामप्यमीषां भवत्यावश्यकता। ये किलैहिकामुष्मिकभोगपरास्तेषां कृते यागादिरूपं कर्म धर्मरूपेण विहितम्। ये तत उद्विग्नाः सन्तः परमात्मप्राप्ति परमार्थममंसत त उपासना ध्यान-परास्तेषां कृत उपासना विहिताः। ये तु चिन्तनपरा अध्यात्मज्योतिषि रमणशीलास्तेषां पुनरात्मविद्योपदिष्टा। यागादिकर्मपरा ब्राह्मणग्रन्थेष्वास्थावन्तः, उपासनापरा आरण्यकनिष्ठाः, आत्म-परमात्मैक्यावगमतत्पराश्च उपनिषद आश्रयन्ते स्म। तत्रापि काले काले तिसृष्वप्यमूपु निष्ठासु अन्यतमायाः प्राधान्यमवर्तत तीर्थङ्करस्य पार्श्वनाथस्य जीवनकाले हिंसाप्रधानानां यागादीनामनुष्ठानमितरद्वयमतिशय्य व्यजृम्भत। अतः पूर्वमेव प्रवृत्तायाः किन्तु निदाघनिर्झरिण्या इव क्षीणतामुपगतायाः श्रमणसंस्कृतेरुद्बोधं स प्राप्तकालममंस्त। प्रावर्तत च तथाकर्तुम्। ततोऽप्यधिकप्रभाववतीं हिंसाप्रवृत्तिं प्रतिकर्तुं सार्धद्विशतवर्षेभ्योऽनन्तरं तीर्थङ्करशिरोमणिर्महावीरः प्रावर्तत। महावीरस्य शीलं, समुदारसत्त्वं, प्रतिपादनपाटवं, बुद्धि-विभवश्च पूर्वगामिनस्तीर्थङ्करानतिशेते स्म येन तस्य प्रभावस्तत्काल इव सार्धद्विसहस्रवर्षेभ्योऽनन्तरमिदानीमपि विसृमरो विद्योतते।

वस्तुतोऽन्यान्यधर्मप्रवर्तकैर्भारते न नवीनधर्मस्य प्रवर्तना कृता किन्तु वेदप्रसूतस्य विशालोदरस्य धर्मस्य विस्मृतस्याङ्गस्य पुनर्दीप्तिरापादिता। औपनिषदं तत्त्वमहिंसादिमहाव्रतप्रधानमाध्यात्मिकमभ्युदयं पुरस्करोति।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

इति कठोपनिषन्मन्त्रो दुश्चरितशब्देन हिंसादीनेव वर्ज्यानुपदिशति। नाशान्तो नासमाहित इत्यादिपदैश्चान्तरान् रागद्वेषान् परित्यज्य समाहितत्वं परमहिताय कल्पत इति च समादिशति। "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः" इत्यादिवचोभिः काम्यकर्मणामपार्थत्वं निर्धारयति। किन्तु स्वभावेन भोगपरायणो मानवः। स हि धर्मस्योदारानंशान् दुरूहान् पश्यन्नात्मवृत्त्यनुरूपमंशं स्वीकरोति असंयमशीलतां परोपद्रवहेतुतां च गच्छति। धर्मसम्बन्धिनीं तस्य तादृशीं विकृतमतिं निःसार्य विवेकपूर्णाममलां मतिमुद्बोधयितुं प्रादुर्भवन्ति समुदारमतयो महापुरुषाः। महावीरोऽपि तादृशमहापुरुषेष्वन्यतमं पुरुषरत्नमजायत।

महावीरेण धर्मतत्त्वोपदेशो लोकभाषया सरलया हृदयङ्गमया च शैल्या कृतः। कर्मकाण्डप्रधानं वेदमनुसरन्तो भौतिकीं भोगसम्पदमुपासते स्म। तत्स्थाने तेनात्मसम्पदः समुन्नतिरुपदिष्टा। धर्मानुष्ठानं स्वेनैवाचरितव्यं न तत्र पुरोहितादीनां माध्यस्थ्यमावश्यकम्। इन्द्रादीन् भौतिकसम्पदधिष्ठातॄन् देवान् विहायान्तर्मुखेन चेतसाऽऽत्मदेव एवोपासनीय आत्मनश्च सूक्ष्मावलोकनेन तद्गता दोषा हिंसादयः प्रमार्जनीयाः। आत्मनः श्रेय आत्मनैव कर्तव्यम्। न कोऽप्यस्मान् बन्धाद्विमोचयितुमीष्टे। (उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ इति गीतोक्तस्यैवायमनुवादः) तीर्थङ्करा नूनं मार्गमात्रमुपदिशेयुः। तैरुपदिष्टे पथि प्रवर्तना त्वस्मदधीनैव। वयमेव स्वस्य मोक्षं बन्धं वा कर्तुमीश्महे। अतो न कस्यापि देवस्य हस्तेऽस्मद्भाग्यं वर्ततेऽस्मदधीनं हि भाग्यमस्माकम्। एवमादि प्रबोधनेनाध्यात्मदृष्टिमुद्घाटयज्जनानां महावीरः। धर्मस्य स्वरूपं फलञ्च प्रकाशयन् सोऽभाषत—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

(धर्म एवोत्कृष्टं मङ्गलम् । अहिंसा संयमः तपश्च धर्मरूपम् । यस्य मन एतादृशे धर्मे प्रतिष्ठितं तं देवा अपि नमस्कुर्वन्ति)" एवमहिंसात्मकं धर्ममुपदिशन् महावीरो, धर्मनाम्ना हिंसामनुष्ठाय देवान् प्रसादयितुं प्रवृत्ता न धर्ममपि तु तद्विपरीतमधर्ममेवानुतिष्ठन्ति-इति प्रतिपादयामास । विश्वबन्धुत्वभावनया संयमेन सर्वेन्द्रियनिग्रहेण च धर्मो भवति नान्यथेति जगाद तीर्थङ्करावतंसो महावीरः ।

पूर्वग्रन्थेषु सावष्टम्भं प्रतिपादितस्य लोलुपेन च जनेन विस्मृतस्यापरिग्रहस्यापि व्रतोत्तमत्वेन प्रतिपादनं विहितं महावीरेण । यां भोगलालसां तर्पयितुं जनोऽनर्थव्रातेनापि सम्पदं सञ्चिनोति । या च सम्पद् सर्वविधकलह-कारणं भवति तस्यापरिग्रह एव तपः । तेन च तपसा साधितो धर्मो निःश्रेयसाय कल्पत इत्यसकृदुदाजहार महावीरः —

"संघ विलवियं गीयं, सव्वं णहं विडम्बणा ।
सव्वे आमरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥"

यदस्माभिर्गीतमित्युच्यते तद्धि विलापमात्रम् । नायं नाम विडम्बना । आमरणं सर्वे भोगा भाररूपाः । इन्द्रि-याराधकाः सर्वे विषया दुखावहाः ।

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।" इति महाभारतमनुस्मृत्यादिप्रतिपादितं सत्यं पुनरुच्चारयन् भणति भगवान् महावीरः—

"सुवण्णरूपस्स उ पव्वया भवे, सिया सु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥"

"यावत्पृथिव्यां व्रीहियवम्०" इत्यादिवचोऽपि तृष्णानिन्दामुखेनानुवदति —

कसिए पि न जो इमं लोगं पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणाविसे न संतुसे इइ दुप्पूरए इमे आया ॥
जहा लाहो तहा लोहो लाहालोहो पवड्ढई ।

एवं नभःस्पर्शिनो लोभस्य दुर्जयत्वं प्रख्याप्य सन्तोष एव लोभजयोपाय इति सिद्धान्तयति स्म ।

प्राचीना वैदिका ऋषयः शत्रून् पराभवितुं सामर्थ्यमयाचन्त देवान् । महावीरस्तु आत्मबलमयाचत । स हि प्रार्थनामेनामुदगिरत्:—

"जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ ॥

बाह्यानां शत्रूणां जयापेक्षयाऽऽन्तराणां रागद्वेषादिषड्रिपूणां जय एव जय इत्यभणत् जिनवरः । 'महाभारता-दिषु बाह्यशत्रुजयापेक्षयाऽऽन्तरशत्रुजय एव वरीयानित्यसकृत्प्रतिपादितं तदेव शब्दान्तरैः समर्थयते भगवान् तीर्थङ्करः । अन्यप्रकारैर्विजितः शत्रुरपरम्परां सृजति । संयमेन त्यागेन शीलेन च कृतो बाह्यरिपुजयः प्रसादे परिणमति । सद्गुण-

जितः शत्रुः न केवलं शत्रुः न केवलं शत्रुभावं जहाति किन्तु परममित्रभावमुपयाति । इत्यभिप्रैति जिनवरः । आत्म-विजय एव सर्वसुखनिधानमिति वदतस्तस्य न पुनरुक्तिर्दोषाय स्यात् :—

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झुओ ।
अप्पणामेवमप्पाणं जइत्ता सुहमेहए ।।

(भोः ! किमेवमात्मनो बाह्यरूपञ्जेतुं यतसे ! चेत्ते युद्धेच्छा आत्मनैव युद्धचस्व । आत्मानमेव विजित्य शाश्वतमदुःखदिग्धञ्च सुखमाप्स्यसि ।)

एवं मनुष्यस्य रजःप्रधानां वहिर्मुखीं च प्रवृत्तिमन्तर्मुखीं विधातुमुपादिशत् । अनुष्ठानप्रवृत्तिरप्यान्तरा भवितुमर्हति येन चेतः शुद्ध्येत् ! द्रव्ययज्ञे यथा बाह्ये वह्नौ पदार्था हूयन्ते तथैवात्मयज्ञे तपोमन्त्रैः पापेन्धनानि होतव्यानीत्यभणन् महावीरः ।

महावीरेण "बाह्यधर्मानुष्ठानापेक्षया संयमादिभिस्तपः सञ्चेयं, तेन च तपसाऽऽत्मशुद्धिर्भवति । परिग्रहादिपापहेतूनाञ्च परित्याग एव वास्तविको धर्म" इति प्रतिपाद्य अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाख्यानि पञ्च महाव्रतानि पुनः प्रतिष्ठामवापितानि ।

सामाजिकदृष्ट्या महावीरेण नारीणामभ्युत्थानाय विशिष्टं कार्यं कृतम् । पूर्वं गार्ग्यादयः स्त्रियो विदुष्य आसन् किन्तु सा परम्परा व्यलुप्यत । नारीणां स्थानं गृहाभ्यन्तर एवेति जनानां धारणा उदस्थात् । महावीरस्य मतानुसार नारी अपि श्रमणधर्ममालिङ्गितुं शक्नोति । पुरुष इव सापि तपः समाचरन्ती आत्मसाधनया मुक्तिमार्गं प्रपद्येतेति च प्रतिपादितम् ।

शूद्रादीनां हीनत्वेन परिगणितानां सामाजिकप्रतिष्ठाशून्यानां लोकानामपि अभ्युत्थानमकारि जिनवरेण तेन । शूद्रा अपि ब्राह्मणादिवद् धर्मानुष्ठानमर्हन्ति त्यागादिरूपया तपस्यया च श्रेयो लभन्ते, न केवलमेतावदेव, तेऽपि संयम-ज्ञान-समृद्धा ब्राह्मणादीनामपि गुरुपदं प्राप्नुयुरिति प्रत्यपादि । न कोऽपि जन्मनोच्चो नीचो वा भवति । उदारेण कर्मणोच्चः, अधमेन चाधम, इति कर्मणैव मनुष्यस्तरतमभावं प्रपद्यते न जन्मनेति निःसंकोचं निजगाद महावीरः । अयमेवोपदेशः ५७ वर्षेभ्योऽनन्तरमवतीर्णेन शाक्यबौद्धेन निःसन्दिग्धं वितीर्णः । वस्तुतो महावीरः पूर्वमवातरत्, बुद्धश्च तत्क्षुण्णे पथि पदमपिपदत एव बुद्धस्य कार्यसिद्धिः सुकराऽभवत् ।

जिनधर्मस्य प्रभावः

वस्तुतो यागीयां हिंसां परिहर्तुं वेदधर्मानुयायिनः पूर्वमेव प्रावर्तन्त । उपनिषत्स्विव महाभारते रामायणे मन्वादिप्रयुक्तासु स्मृतिष्वपि धर्मान्वयेनाचर्यमाणाया हिंसाया निन्दा दरीदृश्यते । किन्तु जैनैः कृता हिंसानिन्दाऽधिकं प्रबला व्यवहारे प्रतिष्ठिता चाभवत् । **'अहिंसा परमो धर्मः'** इति धर्मस्याहिंसाप्रतिष्ठितत्वमेतैरेव समपादि । बौद्धैरहिंसा भूयसोपदिष्टा किन्तु आहारादिषु मांसपरित्यागो न कृतः । मांसं च हिंसाजन्यमेव । अतोऽहिंसाया व्यावहारिकं रूपं बौद्धधर्मानुयायिषु न प्रतिष्ठामातेने । भारताद्वहिः नैकेषु देशेषु बौद्धधर्मः प्रासरत् किन्तु न तेषु मांसाहारपरित्यागोऽभवत् । श्रूयते यद् भगवान् बुद्धोऽपि न तत्याज मांसाहारम् । जिनधर्मानुयायिनस्तु स्वयमेवाहारविषयेऽहिंसां यथावदपालयन् । अद्यत्वेऽपि ते हिंसामूलमाहारं दूरादेव परित्यजन्ति । अत एव गुजरातादिप्रदेशेषु जैनधर्मानुयायिबहुलेषु निरामिषाहाराणां संख्या भूयसी समुपलभ्यते ।

जैनैः पुरस्कृतः स्याद्वादसिद्धान्तोऽपि धर्मविचारसहिष्णुताप्रवर्तक इति वचनं न्याय्यम् । सर्वोऽपि स्वस्वदृष्ट्या-

नुरूपं गृह्णाति। एकमेव वस्तु विभिन्नस्थितिकालदृष्टिभिः साक्षात्क्रियमाणं विभिन्नतया प्रत्यक्षीभवति। तत्रेयमेव दृष्टिः स धीयसी नेतरेति ग्रहिलैर्न भाव्यमिति प्रतिपादयन् स्याद्वाद—अनैकान्तिकवादाभ्युपगमः सर्वथाऽभिनन्दनीयः। अत एव जैनधर्माश्रयभूतेषु भारतप्रदेशेषु विविधपूजा-देवतादिप्रवर्तनायां न संघर्षकथापि श्रूयते। गुजरातप्रदेशे वैष्णवानां शैवानां शाक्तानां रामपूजकानां जैनानाञ्च सत्यपि उपास्यभेदे, सत्यपि च सम्प्रदायवैलक्षण्ये, नास्ति मिथः कलहभावः। सर्वे च ते एकधर्मावलम्बिन इव बन्धुभावेन परस्परं पश्यन्ति। जैनाचार्याणां केषाञ्चिद् व्यापिनीं दृष्टिं परिचाययता पद्यद्वयेनोपसंहरामिः—

पक्षपातो न मे वीरे (महावीरे), न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यत् स्यात्, तस्य कार्यः परिग्रहः॥ हरिभद्रसूरिः
उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविविक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥ सिद्धदिवाकरः

———

जैन आगमों में भगवान् महावीर का चरित्र

डॉ० ब्रजबिहारी चौबे

आगम जैनधर्म के आकर ग्रन्थ हैं। हिन्दू धर्म में जो स्थान पुराणों का है वही स्थान इनका जैनधर्म में है। पुराणों के समान इनकी भी संख्या अनेक है। जिन परिस्थितियों में और जिन उद्देश्यों से पुराणों की रचना हुई थी लगभग वेही परिस्थितियां और उद्देश्य जैन आगमों के प्रणयन में भी वर्तमान थीं। सूक्ष्म एवं यथार्थ ज्ञान का उपदेश न तो आसानी से दिया जा सकता है और न ही कोई उसको सुनने के लिये तैयार होता है। इसलिये उपदेशकों तथा धर्मप्रचारकों को, यथार्थ ज्ञान को सर्वजन तक पहुँचाने के लिये, आख्यानों या कथाओं का सहारा लेना पड़ता है। आख्यानों या कथाओं में सत्य का अंश तो होता है किन्तु उनमें कल्पनाओं एवं पूर्वाग्रहों का इतना अधिक अंश होता है कि सत्य जैसा है वह यथार्थ रूप में प्रकाशित न होकर उपदेशक उसे जैसा समझता है उस रूप में प्रतिभासित होता है। इसलिये उसमें वस्तु-सत्यता की अपेक्षा भाव-सत्यता का ही प्राधान्य होता है। किसी महापुरुष को, जब अवतारी पुरुष मान लिया जाता है तब उसकी महत्ता का ख्यापन करने के लिये उसके साथ अनेक अलौकिक किंवा चमत्कारपूर्ण कर्म जोड़ दिये जाते हैं। सामान्य जनता का उस अवतारी पुरुष के प्रति आकर्षण इन्हीं चमत्कारपूर्ण कर्मों के कारण होता है। उसमें उसका पूर्ण विश्वास होता है। परिणाम-स्वरूप, उस पुरुष के कहे गये वचनों को उस धर्म—विशेष का मानक-तत्त्व समझा जाता है। प्रस्तुत निबन्ध में जैनधर्म के २४वें तीर्थंकर वर्धमान महावीर का जैन आगमों में जैसा चित्रण किया गया है उसका संक्षेप में विवेचन किया जा रहा है।

सूत्रकृतांगसूत्र का आर्द्रकीयोपाख्यान (अद्दइज्जणाम) गोशालक और आर्द्रककुमार के कथनोपकथन के माध्यम से भगवान् महावीर को एक श्रमणशिरोमणि के रूप में प्रस्तुत करता है। आर्द्रककुमार जो भगवान् महावीर के अनुयायी थे, एक बार उनसे मिलने के लिये जा रहे थे। रास्ते में गोशालक, जो भगवान महावीर का प्रतिद्वन्द्वी था, मिल गया। वह आर्द्रककुमार से भगवान् महावीर के विषय में बिना पूछे ही कहने लगा कि 'वे पहले एकान्तविहारी श्रमण थे ; अब वे भिक्षुसंघ के साथ धर्मोपदेश करने लगे हैं; इस प्रकार उनके वर्तमान के आचरण और विगत के आचरण में प्रत्यक्ष विरोध है। उनका चित्त अस्थिर है। उनका यह धर्मोपदेश आजीविका चलाने का एक ढोंग मात्र है।" गोशालक की ईर्ष्याभरी वाणी को सुनकर आर्द्रककुमार ने प्रत्युत्तर में कहा कि—'भगवान् महावीर सर्वदा एकान्तविहारी हैं; उनके एकान्तभाव में कोई परिवर्तन नहीं होता ; वे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों में सदा एकभाव रहनेवाले हैं ; वे राग-द्वेष से रहित हैं ; सहस्रों के बीच रहकर भी वे एकान्तविहारी हैं। धर्मोपदेश करना एकान्तविहार का विरोधी नहीं। भगवान् महावीर श्रमण-शिरोमणि हैं।' भगवान् महावीर की निन्दा करता हुआ गोशालक पुनः आर्द्रककुमार से कहने लगा कि—'जिसे तुम श्रमणशिरोमणि कहते हो वह न तो उद्यानशालाओं में ठहरता है और न धर्मशालाओं में ही, क्योंकि उसे भय रहता है कि वहाँ ठहरे हुये तार्किक पण्डित अथवा विज्ञ भिक्षु उससे कोई प्रश्न न कर दें और वह उसका उत्तर न दे सके।' आर्द्रककुमार ने गोशालक

के इस दोषारोपण का उत्तर देते हुये महावीर के विषय में जो कुछ कहा, वास्तव में वह महावीर के चरित्र की उदात्तता को प्रकट करता है। आर्द्रककुमार ने कहा कि—'श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर बिना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं करते ; वे बालक के समान बिना विचारे भी कोई कार्य नहीं करते ; वे राजभय से भी उपदेश नहीं करते, फिर अन्य के भय की क्या बात ? वे प्रश्नों का उत्तर देते हैं और नहीं भी देते ; वे अपनी सिद्धि के लिये आर्य लोगों के उद्धार के लिये उपदेश करते हैं ; वे सर्वज्ञ हैं, सुननेवाले पास जाकर धर्म का उपदेश करते हैं। अनार्य लोग दर्शन से भ्रष्ट होते हैं इसलिये ऐसे लोगों के पास वे नहीं जाते।' गोशालक ने पुनः प्रश्न किया—'महावीर वणिक् के समान हैं। जिस प्रकार कोई लाभार्थी वणिक् क्रय-विक्रय के लिये किसी महाजन के पास जाता है उससे सम्बन्ध स्थापित करता है, उसी प्रकार महावीर भी उसी के पास जाते हैं जहाँ उनको लाभ है; वहां वे नहीं जाते जहां उनको कोई लाभ नहीं।' गोशालक के इस दोषारोपण का उत्तर देते हुये आर्द्रककुमार ने कहा कि-भगवान् महावीर वणिक् नहीं हैं। वणिक् तो असत्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि अनेक पापकर्मों को करता है ; वणिक् जो लाभ अर्जित करता है वह आदि और अन्तवाला है। वह शाश्वत नहीं है। किन्तु भगवान् महावीर जिस लाभ को अर्जित कर रहे हैं, उसका कोई अन्त नहीं। वे पूर्ण अहिंसक, परोपकारक, सत्यवादी, अपरिग्रही एवं धर्मनिष्ठ हैं।" गोशालक द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में आर्द्रककुमार ने भगवान् महावीर के विषय में जो कुछ कहा वह उनके चरित्र पर अच्छा प्रकाश डालता है।

सूत्रकृतांग सूत्र का आर्द्रकीयोपाख्यान जहां भगवान् महावीर के प्रति एक अन्य व्यक्ति की धारणा को व्यक्त करता है, वहां भगवतीसूत्र आगम (१५वां शतक) स्वयं महावीर के द्वारा उनके जीवनवृत्त के विषय में उल्लेख करता है। भगवान् महावीर अपने प्रिय ब्राह्मण शिष्य इन्द्रभूति गौतम से गोशालक के इतिवृत्त को सुनाते हुये प्रसंगवश अपने मुख से अपना परिचय देते हुये कहते हैं—'३० वर्षों तक मैं गृहवास में रहा ; माता-पिता के दिवंगत होने पर स्वर्णादि का त्याग कर मात्र एक देवदूष्य वस्त्र धारणकर मैंने प्रव्रज्या ली ; पाक्षिक तप करते हुये मैंने अपना प्रथम चातुर्मास अस्थिग्राम में किया ; दूसरे वर्ष मासिक तप करते हुये बाहर नालन्दा की तन्तुवायशाला के एक भाग में यथायोग्य अभिग्रह ग्रहण कर मैंने चातुर्मास किया।"

जैन-आगम भगवान् महावीर के जीवन में उनके द्वारा दिखाये गये अनेक चमत्कारों का उल्लेख करते हैं। उनके इन चमत्कारों का इतना प्रभाव पड़ा कि लोग अधिकाधिक संख्या में इनके शिष्य बनने लगे। भगवतीसूत्र आगम के अनुसार भगवान् महावीर ने राजगृह में विजयगाथापति के यहां अपने प्रथम मासिक तप के पारणे के दिन एक चमत्कार दिखाया। पारणे के अनन्तर विजयगाथापति के घर में स्वर्ण आदि पांच द्रव्यों की वर्षा हुई। द्वितीय मासिक तप का पारण आनन्दगृहपति के घर, तृतीय मासिक तप का पारण सुनन्द के घर तथा चतुर्थ मासिक तप का पारण नालन्दा के पास कोल्लाक ग्राम में बहुल ब्राह्मण के घर किया। तीनों ही स्थानों पर पूर्ववत् उनका तपः प्रभाव प्रकट हुआ ; स्वर्णादि पाँच द्रव्यों की वर्षा हुई। उनके इन चमत्कारों को देख मंखलिपुत्र गोशालक जो पहले एक आजीवक था और हाथ में चित्रपट लेकर ग्रामानुग्राम घूमता हुआ भिक्षा द्वारा अपना निर्वाह करता था; उनका शिष्य बनने के लिये तैयार हो गया। उसके अन्दर भगवान् महावीर का शिष्य बनने के लिये उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई। अपने मन में यह निश्चय करके कि—'मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, श्रमण भगवान् महावीर को जैसी द्युति, तेज, यश, बल, वीर्य और ऋद्धि प्राप्त है वैसी अन्य श्रमण ब्राह्मण को प्राप्त नहीं, इसलिये वे ही मेरे धर्माचार्य एवं धर्मगुरु होने योग्य हैं।' उनके पास जाकर तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक नमस्कार करके उसने निवेदन किया—'भगवन् ! आप मेरे धर्माचार्य हैं, मैं आपका शिष्य हूँ।' प्रथम बार तो महावीर ने उसकी अनसुनी कर दी

थी किन्तु दूसरी वार उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसको अपने साथ रखने लगे ।

गृहपतियों के घर पर भगवान् महावीर के पारणा के अनन्तर हुई द्रव्यवृष्टि का उल्लेख मुख्यरूप से दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डालता है । एक, श्रमण साधु को उसके मासिक तप पारणा के दिन भोजन कराना बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता था । अतिथि सत्कार भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है । कठोपनिषद् का कथन है—

> आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च
> इष्टापूर्तेपुत्रपशूंश्च सर्वान् ।
> एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
> यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ।। कठ० उप० १.१.८ ।।

अर्थात् "जिस घर में ब्राह्मण अतिथि विना भोजन किये रहता है उस मन्दबुद्धि पुरुष की ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छायें, उनके संयोग से प्राप्त होनेवाले फल, प्रियवाणी से होनेवाले फल, यागादि इष्ट एवं उद्यानादि पूर्तकर्मों के फल तथा समस्त पुत्र और पशु आदि को वह नष्ट कर देता है ।" दूसरा, भगवान् महावीर का व्यक्तित्व आगमों के समय तक पूर्णरूप से पौराणिक वन चुका था ।

जैन आगमों के अवलोकन से इस वात का पता लगता है कि भगवान् महावीर को अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं । उन सिद्धियों में से मुख्य थीं तेजोलेश्या और शीततेजोलेश्या । तेजोलेश्या उष्णताप्रधान एक संहारकशक्तिविशेष है । इसकी प्राप्ति एक विशेष प्रकार के तप द्वारा ही की जा सकती है । तेजोलेश्या दो प्रकार की होती है—संक्षिप्त और विपुल । जब यह अप्रयोग काल में होती है तब संक्षिप्त और जब प्रयोगकाल में होती है तब विपुल कहलाती है । इस शक्ति के द्वारा व्यक्ति किसी के वध, उच्छेद आदि में समर्थ होता है । इस तेजोलेश्या शक्ति के प्रतिघात के लिये जिस शक्ति का प्रयोग किया जाता है उसे शीत तेजोलेश्या कहते हैं । भगवती सूत्र आगम से पता चलता है कि जब वैश्यायन वाल तपस्वी ने भगवान् महावीर के शिष्य गोशालक पर अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसे भस्म करने के लिये अपनी तेजोलेश्या शक्ति का प्रयोग किया तब भगवान् महावीर ने गोशालक पर अनुकम्पा करके वैश्यायन वाल तपस्वी की तेजोलेश्या का प्रतिसंहरण करने के लिये अपनी शीत तेजोलेश्या का प्रयोग किया । इससे गोशालक भस्म होने से बच गया । भगवान् महावीर ने अपने शिष्य गोशालक को दोनों सिद्धियों का ज्ञान कराया था और उसने इनकी सिद्धि भी की ।

जैन आगम भगवान् महावीर को त्रिकालज्ञ के रूप में प्रस्तुत करते हैं । वे भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों के ज्ञाता थे । जो भविष्यवाणी करते थे वह विल्कुल सही उतरती थी । भगवतीसूत्र आगम में इसके कई उदाहरण मिलते हैं । एक वार भगवान् महावीर गोशालक के साथ सिद्धार्थग्राम से कूर्मग्राम को जा रहे थे । मार्ग में एक पत्रपुष्पयुक्त पौधा मिला । उसको देखकर गोशालक ने पूछा कि यह तिल का पौधा फलित होगा या नहीं ? पौधे के ऊपर लगे सात फूलों के जीव मरकर कहां उत्पन्न होंगे ? गोशालक के इन प्रश्नों का उत्तर देते हुये महावीर ने कहा—यह तिल का पौधा फलित होगा तथा ये सात तिल-पुष्प के जीव मरकर इसी पौधे की एक फली में सात तिल होंगे । गोशालक ने महावीर की इस भविष्यवाणी को असत्य करने के लिये तिल के पौधे को उखाड़ कर फेंक दिया । महावीर गोशालक के साथ कूर्मग्राम की ओर चले गये । इसी वीच वर्षा हो गई । वह तिल

का पौधा, जिसे गोशालक ने उखाड़ कर फेंक दिया था, मिट्टी में जम गया तथा उसके सात तिलपुष्प भी मरकर उसी तिल के पौधे की एक फली में सात तिल उत्पन्न हुये। एक दिन भगवान् महावीर कूर्मग्राम से सिद्धार्थ ग्राम को लौट रहे थे और जब उस स्थान पर आये जहां तिल का पौधा था तब गोशालक ने कहा कि भगवन् ! आपने तिल वृक्ष के सम्बन्ध में जो कहा था कि उसमें सात तिल उत्पन्न होंगे, वह सब मिथ्या निकला। वह तिल का पौधा न तो वृक्ष बना और न उसके सात पुष्प एक फली में सात तिल हुये। इस पर भगवान् महावीर ने गोशालक से कहा— गोशालक ! तूने मेरे वचन को असत्य प्रमाणित करने के लिये उस तिल वृक्ष को उखाड़ कर फेंक दिया था, किन्तु आकस्मिक वृष्टि से वह पुनः मिट्टी में जम गया और उसके सात पुष्प उसकी एक फली में सात तिल हो गये। मेरा कथन किंचित् भी असत्य नहीं है।" गोशालक ने उस फली को तोड़ा और उसमें सात ही तिल निकले। वह चकित हो गया।

भगवतीसूत्र गोशालक के विरोध प्रदर्शन द्वारा भगवान् महावीर के चरित्र की महानता का प्रतिपादन करता है। गोशालक भगवान् महावीर से अलग होकर स्वयं अपने एक नये सिद्धान्त का प्रचार करने लगा था और अपने को जिन न होते हुये भी जिन, केवली न होते हुये भी केवली तथा सर्वज्ञ न होते हुये भी सर्वज्ञ कहने लगा। भगवान् महावीर उसके इस पाखण्ड को जानते थे और लोगों में कहा करते थे कि गोशालक जिन नहीं, केवली नहीं। लोगों में अपने जिन तथा केवली न होने की बात सुनकर वह भगवान् महावीर पर बड़ा क्रोधित हुआ और उनके स्थविर शिष्य आनन्द से कहने लगा कि तुम जाकर अपने धर्माचार्य और धर्मगुरु श्रमण महावीर से कह दो कि अगर वे मेरे सम्बन्ध में कुछ भी कहेंगे तो मैं उनको अपनी तेजोलेश्या से भस्म कर दूंगा। एक दिन वह स्वयं कोष्ठक चैत्य में आ पहुँचा और उनसे झगड़ पड़ा। भगवान् महावीर के शिष्य सर्वानुभूति अनगार तथा सुनक्षत्र अनगार ने जब उसको ऐसा करने से रोका तब उसने उनको अपनी तेजोलेश्या शक्ति से जला दिया। इसके बाद भगवान् महावीर शान्तभाव से उसको समझाने लगे। किन्तु वह शान्त होने के बजाय और क्रोधित हुआ और उनको भस्म करने के लिए अपनी तेजोलेश्या शक्ति का प्रयोग करने लगा। किन्तु उसकी तेजोलेश्या का प्रभाव उनपर नहीं पड़ा। वह तेजोलेश्या गोशालक के शरीर में ही उसे जलाती हुई प्रविष्ट हो गई। उसने फिर कहा कि मेरी तेजोलेश्या से पीड़ित हो कर तू ६ मास के अन्दर मरेगा। भगवान् महावीर ने शान्तभाव से कहा कि तू अपनी ही तेजोलेश्या से पराभूत होकर सात रात्रि पश्चात् मृत्यु को प्राप्त होगा। मैं तो १६ वर्ष तक जिन तीर्थंकर के रूप में विचरण करता रहूँगा। भगवान् महावीर की भविष्यवाणी सत्य निकली। जिस प्रकार से गोशालक की मृत्यु के विषय में कहा था उसी प्रकार से उसकी मृत्यु हुई। सातवीं रात्रि समाप्त होने पर उसका मिथ्यात्व दूर हुआ और वह स्थविरों को बुलाकर कहने लगा—"जिन न होते हुए भी मैं अपने को जिन, केवली न होते हुए भी केवली घोषित करता रहा हूँ; मैं श्रमणघाती तथा आचार्यप्रद्वेषी हूँ; श्रमण भगवान् महावीर ही सच्चे जिन हैं।"

भगवती सूत्र के इस उल्लेख से भगवान् महावीर के चरित्र के विषय में मुख्यतः तीन बातों पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम, भगवान् महावीर की तपस्या इतनी अधिक थी कि किसी की तेजोलेश्या का प्रभाव उन पर नहीं पड़ सकता था। द्वितीय, वे बड़े ही शान्त प्रकृति के थे तथा। कोई उनको कितना ही कष्ट क्यों न दे, अपशब्द क्यों न कहे, वे उससे विचलित नहीं होते थे! गोशालक ने उनके शिष्यों सर्वानुभूति अनगार तथा सुनक्षत्र अनगार को अपनी तेजोलेश्या से भस्म कर दिया और उन पर भी अपनी तेजोलेश्या का प्रयोग किया किन्तु बदले में उन्होंने अपनी तेजोलेश्या का प्रयोग नहीं किया, यद्यपि उनकी तेजोलेश्या गोशालक की तेजोलेश्या से अधिक प्रबल थी और अगर वे चाहते तो अपनी तेजोलेश्या से गोशालक को तत्क्षण भस्म कर सकते थे किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया।

केवल यही कहा कि तू जो कुछ कर रहा है उस दुष्कर्म का ही फल तू पायेगा। तृतीय, महावीर सत्यवादी थे। उनके सत्यवादी होने की धाक जनता में व्याप्त थी। उनकी वाक्-सिद्धि भी थी, जो कहते थे वही होता था।

भगवतीसूत्र आगम के अनुसार एक समय गोशालक की मृत्यु के बाद इन्द्रभूति गौतम भगवान्‌महावीर के पास पहुंचे और उन्होंने पूछा कि भगवन्! सर्वानुभूति अनगार तथा सुनक्षत्र अनगार जिनको गोशालक ने अपनी तेजोलेश्या से जला दिया था, कहां हैं? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया कि सर्वानुभूति अनगार सहस्रसार कल्प में अठारह सागरोपम की स्थिति में देवरूप से उत्पन्न हुआ है; वह वहां से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध तथा विमुक्त होगा। इसी तरह सुनक्षत्र अनगार भी अच्युत कल्प में बाइस सागरोपम की स्थिति में देवरूप में उत्पन्न हुआ है; वहाँ से च्युत होकर वह भी महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और वहाँ सर्व कार्य क्षय कर विमुक्त होगा। इन्द्रभूति गौतम ने उत्सुकतावश गोशालक के विषय में भी पूछा कि वह मरने के बाद कहां उत्पन्न हुआ है? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया कि वह अच्युत कल्प में बाइस सागरोपम की स्थिति में देवरूप में उत्पन्न हुआ है; वहां से च्युत हो अनेक भव-भवान्तरों में भ्रमण करता रहेगा और अन्त में उसे सम्यक् दृष्टि प्राप्त होगी और वह दृढ़ प्रतिज्ञ मुनि के रूप में केवली होकर सर्वदुःखों का अन्त करेगा।

भगवती सूत्र में सर्वानुभूति अनगार, सुनक्षत्र अनगार तथा गोशालक की मृत्यूपरान्त अवस्था के विषय में महावीर द्वारा दिया गया उत्तर मुख्य रूप से चार तथ्यों पर प्रकाश डालता है। प्रथम भगवान् महावीर को जन्म-मरण का रहस्य ज्ञात था। मृत्यु के बाद किस आत्मा की क्या अवस्था होगी इसका ज्ञान भगवान् महावीर को था। द्वितीय, अनेक जन्मों में परिभ्रमण करने के बाद जीव की मुक्ति होती है। मुक्ति तब तक नहीं होती जब तक उसे केवल ज्ञान न हो। केवल ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है; देवत्व को प्राप्त करना मुक्ति नहीं; मुक्ति देवत्व से बढ़कर है। तृतीय, मुक्ति के लिये मनुष्य-योनि प्राप्त करना आवश्यक है; अन्य योनियों में मुक्ति सम्भव नहीं। चतुर्थ, महाविदेह क्षेत्र अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

———

महावीर की भाषा

डॉ० भगवतीलाल राजपुरोहित

जिस प्रकार प्राचीन काल से ब्राह्मणों ने अपने विचार संस्कृत में प्रकट किए उसी प्रकार बौद्धों ने प्रधानतः पालि में एवं जैनों ने विशेषत: अर्धमागधी में। ये भाषाएँ इन भिन्न धर्मों में धार्मिक महत्त्व प्राप्त कर पल्लवित तथा समृद्ध होती रहीं। वैदिक काल से ही संस्कृत भाषा में वाङ्मय लिखा जाता रहा। इस भाषा का कालान्तर में विकास होता रहा, परन्तु प्रतीत होता है कि अन्ततः यह जन से दूर, पण्डितों की ही भाषा रह गयी थी। वह जन-जन की भाषा नहीं रह गयी थी। गुप्त युग में उसे पुरातन गौरव पुनः प्रदान करने का प्रयास हुआ जिसे पण्डितों ने जीवित रक्खा।

जन-जन तक अपने विचार पहुँचाने के लिए बुद्ध ने लोकवाणी का आश्रय लिया जिसे हम पालि अथवा लंका की परम्परा में मागधी कह सकते हैं तथा महावीर ने अर्धमागधी का आश्रय लिया। इन दोनों ही महान् उपदेशकों की भाषा में बहुत कम नगण्य अन्तर था अथवा था ही नहीं। कीथ (संस्कृत नाटक, हिन्दी रूपान्तर, पृ० ७९) के अनुसार प्राचीन अर्धमागधी पश्चात्कालीन अर्धमागधी की अपेक्षा मागधी के अधिक सदृश थी, जो क्रमशः पश्चिमी प्राकृतों के प्रभाव में आयी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध और महावीर, दोनों आचार्यों का उपदेश-क्षेत्र एक ही—मगध—होने पर भी मागधी तथा अर्धमागधी का भाषाभेद क्यों हुआ ? वस्तुतः मागधी से अर्धमागधी का भाषाभेद परवर्ती है। प्राचीन अर्धमागधी तथा मागधी में विशेष अन्तर नहीं था। और बुद्ध तथा महावीर के समय तो सम्भवतः था ही नहीं। कीथ का कहना है कि अशोक (के लेखों) की प्राकृत निश्चय ही उसके राज्य की दरबारी भाषा है। वह जैनधर्म के प्रवर्तक (?) महावीर की (और स्यात् बुद्ध की भी) अर्धमागधी की वंशजा है। नाट्यशास्त्र के अनुसार अर्धमागधी चेट, राजपुत्र तथा श्रेष्ठियों की भाषा है। परन्तु भास के नाटकों तथा वेणीसंहार के अतिरिक्त उपलब्ध नाटकों में कहीं इसका प्रयोग नहीं पाया जाता। अश्वघोष के शारिपुत्र। प्रकरण में इसकी कतिपय विशेषताएँ पाई जा सकती हैं।

अब प्रश्न उठता है कि महावीर ने वस्तुतः किस भाषा में उपदेश दिये थे तथा वे उपदेश कैसे सुरक्षित रह सके ? जिसके आधार पर उनकी भाषा का निर्धारण किया जा सके। डॉ० जगदीशचन्द्र जैन (प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३६-३९) के अनुसार महावीर ने उपदेश अर्धमागधी में दिये थे जिनके आधार पर गणधरों ने आगमों की रचना की।

अत्थं भासइ अरिहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।

—आवश्यकनिर्युक्ति

समवायांगसूत्र (पत्र ६०) के अनुसार अर्धमागधी में महावीर ने धर्मोपदेश दिया—

'भगवं च णं अद्धमाहिए भासाए धम्माइक्खइ' औपपातिकसूत्र तथा समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति एवं प्रज्ञापना का भी यही अभिमत है। इसलिए हेमचन्द्र ने प्राकृत-व्याकरण (८।४।२८७ की वृत्ति) में व्यक्त किया है कि प्राचीन सूत्र अर्धमागधी में रचे गये हैं। इसीलिए उन्होंने इस भाषा को आर्षभाषा भी कहा है। इसे ही स्थानांगसूत्र तथा अनुयोगद्वारसूत्र में ऋषिभाषिता भी कहा गया है। ये आगम अंग (बारह थे जिनमें से एक, दृष्टिवाद लुप्त है) वेद भी कहलाते हैं—दुवालसंगं वा प्रवचनं वेदो। (आचारांग चूर्णी, ५।१८५) इति।

लोकहित तथा लोकप्रियता के लिए ही लोक की भाषा में बुद्ध ने उपदेश दिये, उसी प्रकार महावीर ने भी लोक की भाषा में ही उपदेश दिये जिससे जनसामान्य उनके उपदेशों से लाभ उठा सके । हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में इसका पोषक एक श्लोक उद्धृत किया है—

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम् ।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ।।

महावीर ने जनभाषा में उपदेश का जो क्रम प्रारम्भ किया, उसका अब तक अनुसरण हो रहा है । अब भी साधु तथा साध्वियाँ दैनिक धर्मोपदेश प्रायः स्थानीय लोकभाषा में ही देती हैं जिससे अपढ़ बालकों, नारियों तथा अज्ञों को सरलता से समझ में आ सके ।

महावीर ने जिस अर्धमागधी में उपदेश दिये थे तथा जिन्हें समसामयिक गणधर सुधर्मस्वामी ने आचारांग प्रभृति ग्रन्थों में सूत्ररूप में संहगृहीत कर सुरक्षित कर लिया था वह समूचा साहित्य शिष्य-परम्परा में कण्ठ-पाठ द्वारा सुरक्षित था । दिगम्बरों के अनुसार ये ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं परन्तु श्वेताम्बरों के अनुसार महावीर-निर्वाण से लगभग ९८० अथवा ९९३ वर्ष पश्चात् वलभी (वर्तमान वला, काठियावाड़) में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में ये लिपिबद्ध कर लिए गये । इससे पूर्व ३०८ ई० पू० में मगध में, ३००-३१३ में मथुरा में तथा इसी काल नागार्जुन सूरि के नेतृत्व में वलभी-वलभी में सम्मेलन हुए और इन विभिन्न अवसरों पर विस्मृत सूत्रों को संघटित करने का प्रयास हुआ । अन्तिम दो सम्मेलनों के आधार पर ही आगमों की माथुरी तथा वलभी, दो भिन्न वाचनाओं की परम्परा चल पड़ी और वाचनाभेद कभी मिट न सका । तदनन्तर उपर्युक्त, अन्तिम, चतुर्थ सम्मेलन देवर्धिगणि के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ । इस काल में विविध पाठान्तर तथा वाचनाभेद का समन्वय कर, माथुरी वाचना के आधार पर आगमों को संकलित कर, उन्हें लिपिबद्ध कर लिया गया । जहाँ समन्वय नहीं हो पाया वहाँ 'वयणांतरे पुण' अथवा 'नागार्जुनीयास्तु एवं वदन्ति' इत्यादि रूप में उल्लेख कर दिया गया है । दृष्टिवाद तब भी उपलब्ध नहीं हो पाया । बौद्ध आगम भी इसी प्रकार क्रमशः राजगृह, वैशाली तथा अशोक के समय पाटलिपुत्र में हुई संगीतियों में संगृहीत किये गये और कनिष्क के काल की चौथी संगीति में महायान का उदय हुआ ।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि जैन-आगमों का महावीर-निर्वाण के लगभग १००० वर्ष पश्चात् अर्थात् ४५३-४६६ ई० में संग्रह हुआ । एक हजार वर्ष तक जो साहित्य कण्ठ में संक्रमित होता रहा तथा वार-वार विस्मृत हो जाने से जिसके पुनः पुनः संकलन की आवश्यकता प्रतीत होती रही, उस साहित्य की उपलब्ध भाषा के आधार पर यह निर्णय करना सर्वथा अनुचित होगा कि महावीर ने किस भाषा में उपदेश दिये होंगे । महावीर ने जिस किसी स्थानीय भाषा में उपदेश दिये उन्हें गणधरों ने सूत्रबद्ध कर लिया तथापि वे शब्द संस्कृतज्ञ ब्राह्मण विद्वानों के थे जिन्होंने अपना धर्मपरिवर्तन कर लिया था । पुनःसंकलन-कर्ता गणधर जिस प्रदेश का होगा, उसकी अपनी बोली का भी उसके लेखन पर, भाषा पर प्रभाव होना स्वाभाविक है । स्वभावतः महावीर के भावों का ही वे संकलन कर पाये, शब्दों का नहीं, जैसा कि आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है—

अत्थं भासइ अरिहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।

पुनः गणधरों के वे सूत्र भी वार-वार विस्मरण तथा स्मरण की लुकाछिपी में यात्रा करते रहे और अन्ततः एक हजार वर्ष पश्चात् लिपिबद्ध हुए । और यह भी जो कुछ स्मृति में शेष था उसी आधार पर सम्भव हो सका । स्वभावतः समय-समय पर जिन लोगों ने इन सूत्रों तथा ग्रन्थों का पुनर्वाचन किया, वहुत अवधान के उपरान्त भी अपने युग की स्थानीय भाषा में, जाने-अनजाने वे अधिक नहीं तो कम ही सही, और कौन जाने यदि समूचा ही

पाठ प्रस्तुत कर गये हों। इन आदरणीय आचार्यों की वाणी का श्रद्धावश विरोध भी कौन करता और इन साधुओं के अतिरिक्त प्रमाण भी किसे माना जाता? परन्तु भेद स्पष्ट दिखाई देता हैं, वलभी तथा मथुरा परम्परा में। स्वभावतः एक हजार वर्ष पश्चात् लिपिवद्ध किये गये ग्रन्थों के विषय में नहीं कहा जा सकता कि उनमें महावीर की वाणी अपने मूलरूप में कहाँ तक सुरक्षित रह पायी होगी?

यद्यपि प्राचीन वैदिक साहित्य भी श्रुति साहित्य था परन्तु उसका जो भी अंश कंठों में संक्रमित हुआ और बच सका, संशयास्पद इसलिए नहीं वन पाया कि वह छन्दोवद्ध था अथवा उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित इत्यादि व्याकरण के नियमों से आवद्ध आ रहा था। यही नहीं, उसकी सुरक्षा की ही दृष्टि से पदपाठ, घनपाठ, जटापाठ इत्यादि का ही विशेष महत्त्व नहीं रहा अपितु छन्दों, पंक्तियों, शब्दों, वर्णों तथा मात्राओं की भी गणना कर प्रातिशाख्यों में रख दी गयी जिससे न तो उसकी किसी मात्रा का क्षय हो सके और न उसमें वृद्धि। यही कारण है कि परवर्ती मार्गी (Classical) साहित्य में चाहे पाठभेद की बाढ़ हो परन्तु प्राचीन होने पर भी वैदिक साहित्य में निश्चित पाठ ही उपलब्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी प्रामाणिकता पर सन्देह करने का अवकाश उतना नहीं है जितना वौद्ध पालि-साहित्य अथवा उससे भी अधिक जैन आगम-साहित्य की प्रामाणिकता में। क्योंकि पालि साहित्य भी, त्रिपिटक सहित कम से कम तीसरी संगीति में, अशोक के समय तक लिपिवद्ध हो चुका था। परन्तु जैन-साहित्य तो नितान्त पाँचवीं सदी में अपनी अन्तिम स्थिति प्राप्त कर सका। पुनः उस धार्मिक साहित्य को सुरक्षित रखने का सबसे बड़ा उपाय पापभय के अतिरिक्त सम्भवतः था नहीं, जो वैदिक साहित्य के समान उसे भी अक्षरशः सुरक्षित रख सकने में समर्थ हो और तव भी वह बार-बार विस्मरण होता रहा, यह जैन-साहित्य की कथाओं से स्पष्ट है।

परन्तु आगमों में जो भाषा उपलब्ध होती है, उसे इस आधार पर अर्धमागधी मान लेना चाहिए कि महावीर के वचन अर्धमागधी में ही प्रचलित हुए थे, यह परम्परा से स्पष्ट है। हाँ, महावीर की अर्धगामधी और इस साहित्य में उपलब्ध अर्धमागधी में पर्याप्त अन्तर रहा होगा। विद्वानों के अनुसार आगमों की भाषा से स्पष्ट है कि यह अशोक के लेखों की भाषा से, भाषा के विकास की दृष्टि से परवर्ती है।

सातवीं शती के जिनदास गणि ने निशीथचूर्णी में कहा है कि अर्धमागधी आधेमगध में बोली जाती थी। **'पाइअसद्दमहण्णवो'** की भूमिका में इसका उत्पत्तिकाल, जेकोवी के विचारों के अनुसार ई० पू० तीसरी सदी में माना गया है और इसीलिए महाराष्ट्री के कई गुणों से इसे सम्पन्न माना गया है क्योंकि इसी काल में अकालवश मुनिगण दक्षिण भारत चले गये थे तथा लौट कर आगमों के संकलन में जुट गये थे। उनके अनुसार यह वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के अधिक निकट है।

भरत ने यद्यपि श्रेष्ठी, राजपुत्र तथा चेट की भाषा के रूप में अर्ध मागधी की अनुशंसा की है तथापि नाटकों में इसका प्रायः अभाव ही पाया जाता है। भास के चारुदत्त, स्वप्नवासवदत्ता तथा हेमचन्द्र के अनुसार वेणी-संहार की राक्षसी की भाषा अर्धमागधी है। तथैव हार्नलि ने अश्वघोष के शारिपुत्रप्रकरण में भी इसकी स्थिति वताई है। परन्तु नाट्यक्षेत्र में इसका विशेष प्रयोग नहीं हो पाया, सम्भवतः इस लिए कि यह भाषा एक धर्म विशेष की ही होकर रह गयी थी। सम्भवतः धार्मिक असहिष्णुता के कारण भी विशेष धर्म की भाषा को अन्य धर्मियों ने स्वीकार नहीं किया। यही कारण है कि जिन नाटकों में अर्धमागधी कही जाती है वह जैनागमों की भाषा से प्रायः भिन्न है।

प्रकृति अर्थात् प्रजा अथवा जनसाधारण की प्राकृत वाणी में कहे गये महावीर के वचन जिस भाषा में सुरक्षित हैं उसमें अमित धार्मिक साहित्य रचा गया। स्वभावतः धर्माश्रय से उस भाषा की अमित समृद्धि ही हुई। वह अजर अमर ही नहीं हुई अपितु पवित्रता तथा श्रद्धा भी अर्जित कर सकी।

जैन धर्म और मानववाद

मुनि रामकृष्ण

मेघ ऊपर उठता है मिट्टी की तलाश में। आकाश-गङ्गा की सार्थकता अनन्त के शून्य में नहीं, भूतल पर उतरने में है। जैनधर्म और उसके मानववाद ने उसे भूतल पर उतार लाने का जो वैज्ञानिक प्रयत्न किया है, उसके लिए उसने लोक-अर्चना की अर्हता का उपार्जन किया है।

सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र भारत में जहाँ वैदिक या ब्राह्मण संस्कृति अपना चिन्तन प्रस्तुत कर रही थी, वहाँ श्रमण-संस्कृति की परम्परा भी जीवन के विषय में सोचने का और समझने का अनवरत श्रम कर रही थी। वैदिक संस्कृति का लक्ष्य ब्रह्म था, जो आगे चलकर ईश्वर के रूप में परिवर्तित हुआ। इस संस्कृति ने अपने विचारों में ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया है, उसी के सम्बन्ध में समस्त सिद्धान्त निर्धारित किए हैं, और इसी के ज्ञान से मनुष्य का कल्याण है, ऐसा दृढ़ विश्वास विश्व के सामने रखा। दूसरी ओर श्रमण संस्कृति ने मनुष्य को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर उसी के विषय में सोचा-समझा और उसी के विषय में समस्त सिद्धान्तों का उदात्त चिन्तन के साथ निर्माण किया। यह एक बहुत बड़ी दार्शनिक, सैद्धान्तिक एवं बौद्धिक क्रान्ति थी। चिन्तन-जगत् में यह दार्शनिक क्रान्ति आकाश-गङ्गा को भूतल पर उतारने की थी, जहाँ उसकी सार्थकता थी और जिसे भूतल की सृष्टि ने अपना श्रेयस्कर वरदान मानकर उसका स्वागत किया। यह श्रमण-संस्कृति अरिहन्तों-तीर्थङ्करों की संस्कृति थी। यह किसी अज्ञात की ओर भटकना नहीं चाहती थी। इसका आराध्य भूतल का मनुष्य और उसके आश्रित इतर जीव-सृष्टि है। अतः श्रमण-संस्कृति इस लोक की आराधना का समर्थन करती है। वह इसी की आराधना में अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाती है।

संस्कृति में संसारक तत्त्व होता है, जो किसी का निर्माण करता है। वह तत्त्व है, आराधना। आराधना जीव के अन्तस्तल में प्रकट होती है। उसमें एक पवित्र आत्मीयता की भावना होती है। उस भावना को किसके लिए अर्पित किया जाये, यह एक विवेक का प्रश्न है जिससे उसका संस्कार हो, निर्माण हो, उसके लिए ही अपनी आराधना को अर्पित कर देना चाहिए। यही श्रमण संस्कृति अथवा तीर्थङ्करों का विराट उद्गार है। आराधना में निकट के वेदना व्याकुल मानव की उपेक्षा का कोई स्थान नहीं है। यह जीवन का सापेक्ष सिद्धान्त है। सन्तप्त मानव और इतर जीव-सृष्टि की हित-साधना की प्रक्रिया है। एक बार महावीर तीर्थङ्कर के ब्राह्मण कुलोत्पन्न ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति ने उनसे प्रश्न किया—भन्ते! एक आपकी उपासना करता है, एक विश्व की आराधना करता है। इन दोनों में से कौन सा श्रेष्ठ है? महावीर बोले—इन्द्रभूति! जो संसार की आराधना करता है, वह श्रेष्ठ है। मुझ में और संसार में कोई अन्तर नहीं है। ऋषभदेव से लेकर महावीर तक तीर्थङ्करों की परम्परा ने यही सन्देश दिया है कि व्यक्ति के हृदय में होने वाली आराधना एक उपहार है, जिसे लोकहित में अर्पित करना है। पुष्प खिलता है तो वह खिन्न लोक को अपना मधुर हास्य अर्पित करता है, यदि व्यक्ति की आराधना से लोक-साधना नहीं होगी, तो जो मानव-हृदय में आराधना का अङ्कुर आविर्भूत होता है, जिसे विशाल रूप धारण करना था, उसकी मृत्यु हो

जाती है। आराधना जो निराकार रूप में प्रकट होती है, उसे लोक-हित के आराधना रूप में साकार बनाते हुए समुन्नत करना है। इससे आराधक का तो कल्याण होता ही है, लेकिन आराध्य का भी कल्याण होता है। आराधना स्वहित-परहित दोनों का पूत सङ्गम है।

वैदिक संस्कृति के अनुसार ईश्वर पूर्ण है, अपूर्ण नहीं। वह ऐसा पूर्ण है, जिसमें से समस्त पूर्ण निकाल लेने पर भी उसका पूर्णत्व अवशिष्ट रह जाता है, उस पूर्णत्व में शून्यत्व नहीं आता। जिस मन्दिर में बैठकर मनुष्य ईश्वर की आराधना में संलग्न होगा, उस आराधना का परिणाम क्या होगा? यह एक वैज्ञानिक तर्क है। जहां मनुष्य के हृदय में श्रद्धा है, वहां तर्क भी है। तर्क से श्रद्धा का तात्त्विक-चिन्तन चमकता है, निखरता है। फिर वह परिशुद्ध होकर जीवन के लिये उपयोगी बनता है। स्पष्ट प्रतीति होती है, कि जब मनुष्य के हृदय श्रद्धा या आराधना का संवेग उच्छ्वसित होता है, तो साथ में अर्पण की भावना भी उन्निद्रित होती है। शबरी के हृदय में राम की आराधना थी। चिर प्रतीक्षित राम शबरी के तृण-कुटीर पर अतिथि बनकर पहुँचे, तो उसने अपनी आराधना को बदरी-फलों के रूप में राम को अर्पित कर दिया। मानव-हृदय में होनेवाली आराधना शून्य का अन्वेषण करती है, जहां अभाव है, अज्ञान है, दुःख-दैन्य या पीड़ा है, मानव-हृदय की आराधना की वहीं उपयोगिता है। यदि जलता हुआ दीपक तमाशा देखने के लिये उर्मिल जल-प्रवाह पर तिरा दिया जाये, तो उसका क्या लाभ? दीपक जल पर रख देने के लिये नहीं है, वह अन्धकार को दूर करने के लिये जलता है। यही उसका दायित्व है, कर्तव्य है। जो व्यक्ति उस दीपक के कर्तव्य को समझ कर उसका सदुपयोग करता है, उसकी मानवता भी सार्थक है। श्रद्धा या आराधना के साथ होने वाला तर्क मनुष्य को इसी श्रेष्ठ अनुभव पर पहुंचाता हुआ उसे अभ्युदय की ओर अग्रसर करता है।

तीर्थङ्करों, श्रमणों की परम्परा ने मनुष्य के विषय में एक बहुत बड़ा ज्ञान दिया था। उसने मानववाद को अपना सिद्धान्त माना। अपने सिद्धान्त में मानववाद का ही निरूपण किया। इस परम्परा की संस्कृति सारा महत्त्व मनुष्य को ही प्रदान करती है। मनुष्य से अतिरिक्त वह किसी को ऊँची दृष्टि से देखने की अपेक्षा नहीं रखती। इसीलिये इस संस्कृति का अनुयायी वर्ग सन्ध्या-वन्दन के समय इसी को अभिवन्दन करता है, उसी की अर्चना करता है।

नमो अरिहंताणं—अरिहंतों को नमस्कार हो।

अरिहन्त अतिमानव हैं। उनमें देवत्व है। वह साधारण अविकसित मानव का आराध्य रूप में आदर्श है। अरिहंत में मानव-जीवन की समस्त अनुभूति विशेषतया विकसित है। वह समृद्ध, सन्तुष्ट, परिपूर्ण मानव-जीवन है। वह मनुष्य का ही नहीं, स्वर्गीय-सृष्टि का भी स्पृहणीय है। आर्हतभाव मनुष्य का उत्कर्ष प्राप्त मनुष्यत्व है। मनुष्यत्व मनुष्य का परम सत्य है। इस सत्य के दर्पण के माध्यम से वह अन्तर्हित प्रच्छन्न अहिंसा, करुणा आदि दैवी समृद्धियों का आलोक पार कर उनकी उपलब्धि हेतु प्रयत्न करता है। इसीलिये एक इन्सान ऊँचा देवता है। अतः स्वर्ग का देवता भूमि के इस देवता के पावन चरण का अपने हाथों से स्पर्श करता है। महावीर ने हजारों वर्ष पहले यही मानववाद भारत के सामने रखा था—

देवा वि तं नमंसंति,

देव भी उस (मनुष्य) की पूजा करते हैं।

इस सत्य का दर्पण मनुष्य के ही पास होता है, पशु इससे वञ्चित है । इसीलिये मनुष्य पशु होते हुए भी देवत्व की कोटि तक पहुँच जाता है । पशु पशुता की परिधि में ही बन्द रहता है । पशुत्व की सीमाओं को लांघ कर वह आगे नहीं बढ़ सकता ।

आर्हतभाव मानव-जीवन की राग-द्वेष से विमुक्त स्थिति है । उसमें वर्ण, जाति, स्थान आदि भेदों का समावेश नहीं । कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण है या शूद्र, वैश्य है या क्षत्रिय, रागद्वेष से वियुक्त होकर अर्हत् बन सकता है । अर्हन् का अर्थ है, पूजनीय । अर्हन् या अरिहंत शुद्ध विश्व-जनीन मानव का प्रतीक है । महावीर आदि तीर्थङ्करों ने मनुष्य के भीतर रहे पशुत्व का निराकरण करने के लिये ही मानव जाति के सामने शुद्ध मानव की पूजा का सन्देश रखा । यह सन्देश विश्व के मनुष्यों को मनुष्यत्व की दृष्टि से देखने का आह्वान है । इसी से महावीर आदि तीर्थङ्करों ने दुनिया के लिये विश्व-बन्धुत्व एवं विश्वशान्ति के पथ का निर्माण किया था । भेददृष्टि से मनुष्य में दूसरों के लिये आत्मीयता या बन्धुता का लोप होता है । फिर वह अपने को विभिन्न मानने लगता है । मनुष्य की भेददृष्टि में समत्व लाते हुए मानवपूजा के आधार पर विश्व-बन्धुत्व के मार्ग का तीर्थङ्करों ने आविष्कार किया था ।

एक तरफ तो मनुष्य ईश्वर की उपासना में संलग्न है, दूसरी तरफ वह अपने बन्धुओं से कलह करता है । यह कैसा अज्ञान है, कैसी विरोधपूर्ण वृत्ति है ? एक तरह ताप-शान्ति-हेतु जल ढूंढता है, दूसरी तरफ आग जलाता है । एक कदम आगे रखता है तो एक पीछे । इस तरफ कैसे लक्ष्यबिन्दु तक पहुँच सकता है ? उसे ईश्वर-उपासना की अपेक्षा मानव-अर्चना का ज्ञान देना होगा । इसके बिना न मानव जाति एक होगी, न उसका धर्म एक होगा । तीर्थङ्करों ने मानववाद को विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व का उपाय मानते हुए ही यह महान् वाक्य बोला था कि मनुष्य मनुष्य में कोई अन्तर नहीं है । पृथ्वी के सब मनुष्य एक हैं । तुम अपने बन्धुओं से क्यों लड़ते हो ?—

मनुष्य जातिरेकैव ।

उत्तरकालीन वैदिक संस्कृति योग, सांख्य आदि दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है । उसने भी ब्रह्म की अपेक्षा मनुष्य को आत्मदर्शन के द्वारा स्वयं को देखने की विधि का निर्देश किया है, वह भी ब्रह्मवाद से मानववाद पर विराम लेती है । जिन की मन्दिरों में उपासना हो रही है वे महावीर, बुद्ध, कृष्ण के रूप में इन्सान ही तो है ।

तीर्थङ्करों की परिभाषा के अनुसार आज का जन्म लेनेवाला मनुष्य विश्व-मानव होगा । उसे बताना होगा कि तुम्हारा जन्म न किसी कुटुम्ब या परिवार में हुआ है, न किसी विशेष देश या राष्ट्र में हुआ है, न किसी जैन हिन्दू या मुस्लिम जाति में, बल्कि तुम्हारा जन्म इस विशाल वसुधा पर हुआ है । तुम छोटे परिवार के छोटे पुत्र नहीं हो, विशाल भूमि माता के पुत्र हो । तुम सबके बन्धु हो—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।'

तीर्थंकर, अवतार या पैगम्बर विशाल भूमिमाता के ही पुत्र थे । इस उदार भावना से प्रेरित होकर राज-वैभव का त्याग किया था । लोक-कल्याण के हेतु बड़ी-बड़ी यातनायें सहीं । अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर ने विश्वबन्धुत्व की भावना से आर्द्र होकर उन्होंने अपनी अन्तरात्मा का विराट् स्वर सारे संसार तक पहुंचाया था—आज से इस पृथ्वी के ऊपर मेरा कोई शत्रु नहीं है । आज से नये इन्सान की रचना के लिये, जन्म धारण करनेवाले मानव से विश्व-बन्धुत्व के लिये महावीर की शपथ लेनी होगी—कि मैं इस पृथ्वी पर होनेवाले मनुष्य को मनुष्यत्व की आंखों से देखूंगा । उसे हिन्दुत्व, जैनत्व की आँखों से नहीं । आज से भूमि मेरी जननी होगी, उस पर रहनेवाला मनुष्य मेरा बन्धु होगा ।

तीर्थङ्कर श्रमण होते हैं। लोक-परलोक के लिये श्रम करनेवाले साधु को श्रमण कहते हैं। श्रमणों के माननेवाले को श्रमणोपासक कहा जाता था। आज श्रमणोपासकों को जैन के नाम से पुकारा जाता है। जैनधर्म विश्वमान्य धर्म रहा है। अरिष्टनेमि, महावीर आदि कितने ही तीर्थङ्करों का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। यूरोप और एशिया महाद्वीप के बड़े-बड़े विद्वानों ने इस धर्म का सुचारु रूप से रुचि एवं श्रद्धा के साथ अध्ययन किया है। पश्चिम एशिया, मिस्र, यूनान और इथोपिया आदि दुनिया के भूखण्डों में उसने अपना सन्देश पहुँचाया है। वहां की जनता इस धर्म से प्रभावित हुई है। इंग्लैण्ड के महादार्शनिक बर्नार्डशा ने इस धर्म से प्रभावित होते हुए अपनी अन्तिम आकाङ्क्षा अभिव्यक्त की थी, कि "मेरा जन्म भारत के उस कुल में हो, जहां जैन-धर्म के सिद्धान्तों का पालन होता हो।"

मनुष्य के सामने एक महान प्रश्न उपस्थित होता है, धर्म क्या है? क्योंकि धर्म से मनुष्य की मानवता सफल होती है। जो अपूर्ण है, उसे पूर्ण बनाने में धर्म का उपयोग होता है। मनुष्य अपने पशुत्व के कारण अपूर्ण है। उसे धर्म-विज्ञान से शिक्षित कर पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर बढ़ाना है। धर्म से पशुत्व का संस्कार करके मनुष्य पूर्ण बनता है। अतः धर्म मनुष्य का विषय है। मनुष्य के चिन्तन से ही धर्म की सृष्टि होती है। कृष्ण की गीता स्पष्ट शब्दों में कहती है। कृष्ण इस पृथ्वी पर धर्म के लिये ही अवतरित हुए थे। यह आगम-प्रमाण है। यह प्रमाणित करता है कि धर्म मनुष्य-प्रदत्त वरदान है।

वैसे स्वभाव आदि अनेक अर्थों में धर्मशब्द प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत के अमरकोश में पुण्य, यम, न्याय आदि को धर्म माना गया है। प्रयोजनवश धर्म का अर्थ यथासमय बदलता रहा है, लेकिन इसका जो मूल अर्थ है, वह कभी नहीं बदल सका। उसका मौलिक अर्थ अविच्छिन्न प्रवाह के साथ चला आ रहा है। धर्म का शाब्दिक अर्थ है—जीवन। इस अर्थ को भूत, भविष्यत्, वर्तमान में कभी भी कभी बदल सकते। जीवन की उपलब्धि सार्व-भौमिक एवं त्रैकालिक सिद्धान्त है। मनुष्य से लेकर इतर जीव सृष्टि जीने के लिये प्रयत्नशील है। सभी जीवन की आकाङ्क्षा लिये हुये हुए हैं। जीवन व्यक्ति की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। विश्व की किसी भी मूल्यवान् सम्पत्ति को देकर जीवन को सुरक्षित रखा जा सकता है। अतः सर्वप्रथम समाज में यह निजी विधात्मक धर्म अहिंसा के रूप में प्रकट हुआ। अहिंसा के पथ पर धर्म का रथ आगे बढ़ा। अहिंसा के पश्चात् सत्य आदि धर्मों की समाज में मार्गणा हुई। वे अहिंसा को अपना केन्द्रविन्दु मानकर उसके चारों ओर घूमने लगे। इस तरह समाज में धर्मचक्र का प्रवर्तन हुआ। धर्मचक्र में केन्द्रविन्दु होने के हेतु ही समाज में अहिंसा को "परमो धर्मः" की प्रतिष्ठा मिली। इस आधार पर अहिंसा जीवन की व्यवस्था करनेवाला सिद्धान्त स्वीकृत हुआ। फिर जीवन और धर्म की भेद-रेखा का समाज में अन्त हुआ। समाज को यह एक अपूर्व अभेद-विज्ञान मिला, जिससे जीवन और धर्म में पृथक् अनु-भूतियां नहीं रहीं। मनुष्य दोनों को समान समझने लगा। जीवन से धर्म का पृथक् अनुभव करना अज्ञान है, अज्ञान पापों का मूल है और दया—जीवनतत्त्व धर्म का ज्ञान है। ज्ञान से पाप-मूल का उच्छेद होता है। अतः जब से जीवन का प्रारम्भ होता है, तभी से धर्म का प्रादुर्भाव हो जाता है। जीवन धर्म की मिट्टी पर ही सत्यादि धर्म अङ्कु-रित होते हैं। बीज को उगाने के लिये मिट्टी चाहिये। सत्वादि धर्म के लिये जीवन चाहिये।

अहिंसा जीवन का एक तरीका है। इसके माध्यम से जीवन और धर्म में अभेद स्थापित हो जाता है। अहिंसा का त्याग करके हम कभी जी नहीं सकते, क्योंकि इसमें जीवन का विस्तार होता है। समीचीन दृष्टिकोण से इसे समझने की जरूरत है। अहिंसा सिर्फ जीवन के घात का निषेध ही नहीं है। यदि इतना ही मानकर चलेंगे तो

कुटुम्ब समाज का आधार ही अस्त-व्यस्त हो जायेगा और तदाश्रित धर्म भी लुप्त हो जायेगा। अतः अहिंसा निषेध या निवृत्ति ही नहीं है, विधान या प्रवृत्ति भी है। विधान निषेध को उज्जीवित रखता है। बीजारोपण के पश्चात् जलाभिषेक आदि क्रियायें भी अपेक्षित हैं। किसी को उत्पीडित न करना, इतना ही सीमित अर्थ अहिंसा का नहीं हो सकता। इसमें दूसरों को पीड़ा-परिताप से उबारने का विधान भी गर्भित है। निषेध में विधान भी होता है। घट नीला नहीं है, नीलत्व के निषेध में पीतत्व आदि का विधान है—

एक विशेष-निषेधे सति विशेषान्तर-विधायकत्वम्। यह नैयायिक तर्क से सिद्ध है। महावीर सर्वज्ञ थे, अहिंसा के अग्रणी थे। इन्हीं सब अहिंसा के दृष्टि-कोणों को लक्ष्य में रखते हुए उन्होंने अपने प्रवचन में कहा था :—

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं।

सभी जीव जीवन के लिये आकुल हैं। वे उसका विस्तार करना चाहते हैं। महावीर के श्रमणों, निर्ग्रन्थों ने इस सन्देश को भारत के प्रत्येक कुटुम्ब-परिवार को सुनाया कि किसी भी धर्मक्रिया में किसी भी जीव का घात करना पाप है। सब जीवन के लिये आतुर हैं, सब की रक्षा करना धर्म है। यह प्रभु महावीर का सन्देश है—

सव्व-जग-जीव-रक्खण-दयट्ठयाए
भगवया पावयणं सुकहियं।

प्रवृत्त्यात्मक रक्षामूलक विधान के द्वारा अहिंसा के अर्थ को पूर्ण करने के लिये अनुकम्पा, दया, करुणा आदि शब्दों का समाज में आविष्कार हुआ। ये पीड़ित की रक्षा के लिये विचार जागृत करके दुःख से बचाने के प्रयत्नों का प्रतिपादन करते हैं। पुण्य, दान आदि सुकृत हैं। इसीलिए धर्म है, कि इनसे समाज में सह-अस्तित्व, परस्पर सापेक्ष एवं विहित अहिंसाभाव का विस्तार होता है। इन सुकृत्यों से सारे समाज में अपरिग्रहवाद भी आता है। अर्थात् अहिंसा-बुद्धि से प्रदत्त दान-दाता को परिग्रह के दोष से भी मुक्त रखता है। महावीर ने अपना स्वर्ण-भण्डार वर्ष पर्यन्त इसी दृष्टिकोण से गृहत्याग के समय अभावग्रस्त जनता में वितरित कर दिया था। जीवनरक्षा का धर्म कितना महान् है, कि किसी जीव के घात को रोकने के लिये वस्तु त्याग ही नहीं, सत्यादि धर्मों का भी त्याग किया जा सकता है।

विश्व की मानव-जातियां एक दूसरे की हिंसा से विरत नहीं हो पाई हैं। उसे हिंसा से विरत करने के लिये परकीय सुख-दुःख की अनुभूति करानी है। यह अहिंसा से ही सम्भव है, उसी में यह अनुभूति रही हुई है। अहिंसा दूसरे के दुःख-सुख को समझने की शक्ति है। अहिंसा की आंखों में सच्चा अहिंसक वह है, जो दूसरों के सुख-दुःख की अनुभूति करता है। वह फिर किसी भी देश या जाति से सम्बन्ध रखता है, किसी को न दुःख की स्थिति में देख सकता है, न किसी पर घातक प्रहार ही कर सकता है। अहिंसा जीवन की एक नीति है, जो बीजा-ङ्कुरवत् मानव-हृदय में विहित है। ज्ञान-द्वारा ही उसके हृदय में यह नीति विकसित होती है। स्वर्ग, नरक या दैवी प्रकोप-अनुग्रह के भय से और लोभ से वह विकास नहीं पाती। भय और लोभ से पशु प्रेरणा पाकर सीधा चलता है, मनुष्य ज्ञान से सीधा चलता है। प्रहार पशु के लिये निश्चित है, ज्ञान मनुष्य के लिये। आज तक जो जातियां भय या लोभ-नीति का आधार लेकर अहिंसा-नीति पर चली हैं, वे दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के संस्कारों से मुक्त नहीं हो सकी हैं। अहिंसा-नीति का ज्ञान द्वारा विकास करके जीवन को विस्तृत विशाल करना, एक जीवन विज्ञान है। जीवन मर्यादित नहीं, अनन्त है। कोई अपने जीवन की इयन्ता नहीं कर सकता। अतः अहिंसा जीवन की अनन्त सत्ता तक पहुंचने का मार्ग है।

जीवन सुख अथवा शान्ति की अनुभूति के लिये होता है। जीवन दुःख या कष्टों की अनुभूति नहीं। जीवन यदि आनन्दशून्य है तो जीवन और मृत्यु में क्या अन्तर ? नारकीय जीवन इसीलिये अभिशाप है, कि वहां पलकभर का भी कोई उल्लास नहीं। कष्टों की परम्परा का नाम ही नरक है। जैसे मधु में मिठास होना जरूरी है, वैसे ही जीवन में सुख-शान्ति जरूरी है। इसी तत्त्व पर महावीर ने जीवन की व्याख्या की थी—सब प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख वे नहीं चाहते। यहां एक तात्त्विक विचार उत्पन्न होता है—सुख और शान्ति में से जीवन के लिये कौनसा तत्त्व उपादेय होना चाहिये ? सुख श्रेयस्कर है या शान्ति ? सुख बन्धन है, शान्ति निर्वाण है। सुख भोग है या मृत्यु है, शान्ति त्याग या अमृत है। सुख नास्तिकता है, शान्ति श्रद्धा या आत्मा है। आत्मा की उपलब्धि के लिये ही जीवन है। आत्मा जीवन, शान्ति, प्रकाश की अनन्त सत्ता है। अतः आत्मा की उपलब्धि मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है। मानव-यात्रा का यहां विराम होता है। इससे आगे इसकी और कोई मंजिल नहीं है। धर्म की आराधना से यहां पहुँच कर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। तीर्थङ्कर आर्हतों का धर्म और मानववाद मनुष्य को अपने इसी लक्ष्य तक पहुंचा कर विराम लेता है।

———

भगवान् महावीर और जैन संस्कृति

—दामोदर शास्त्री

भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त है, और महत्त्वपूर्ण तथ्य है, वह सब अहिंसा, सत्य, इन्द्रिय-संयम, त्याग, तपस्या आदि व्यापक अर्थों को अपने अन्दर समेटने वाले 'धर्म' तत्त्व से ही अनुप्राणित है। धर्म से ही इस राष्ट्र का बल और ओज उत्पन्न हुआ है। इतना ही नहीं, उसके सुदीर्घ इतिहास में, जब-जब उस पर विपत्तियों के पहाड़ टूटे हैं जिन्होंने उसके अस्तित्व की जड़ों को दूर तक हिला दिया है, और उसके जीवन को निराशा के घोर अन्धकार ने घेरा है, तब-तब धर्म के अमोघ बल ने ही उसमें नव-जीवन, जागरण और आत्मविश्वास की भावनाएं संचरित की हैं और उसके तेज को समुद्दीप्त कर उसके अस्तित्व को आज तक इस निरन्तर संघर्षमय जगत् में सर्वथा विलुप्त होने से बचाया है। हम कह सकते हैं कि भारत के समस्त जातीय, राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक जीवन का इतिहास वास्तव में जन-जन को सदाचार, तपस्या तथा आध्यात्मिक साधना का सन्देश देनेवाले महापुरुषों तथा उनके गूढ अध्यात्म-चिन्तन की दिशा में भारत के मनीषियों के योगदान एवं जन-मानस में इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप नैतिक उत्थान का विवेचन ही है।

भारत का गम्भीर श्रद्धा से प्रेरित मस्तक संयमरूप तपस्या के धनी, सदाचाररूपी वित्त के अटल स्वामी तथा लोक-कल्याण के लिए सर्वस्व के त्यागी उन्हीं महापुरुषों के समक्ष झुका है जो सभी कामनाएँ छोड़ कर आप्त-काम, आत्माराम तपस्वी हुए हैं, बाह्य विजय की अपेक्षा आन्तरिक विजय ही जिनके लिए हजार गुनी अधिक महत्त्वपूर्ण रही है और जिन मनस्वियों ने आत्म-विजय के बाद परम सत्य का साक्षात्कार कर भारतीय-दर्शन को समृद्ध किया है।

निष्काम होकर प्राणि-मात्र के हित में जीवन को खपा देने वाले सर्वत्यागी तपस्वियों का ताँता भारत में कभी नहीं टूटा। प्रत्येक युग में वे समाज का परिष्कार और नेतृत्व किसी न किसी रूप में करते रहे। भारतीय संस्कृति में एक-एक सद्गुण के लिए, एक-एक ध्येय के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देनेवाली महान् विभूतियाँ दिखाई देती हैं। भारतीय संस्कृति मानो इन विभूतियों का ही इतिहास है। कहा जाता है कि महापुरुषों का चरित्र ही इतिहास होता है। भारतीय संस्कृति के इतिहास के मानी है—भारतीय संतों का इतिहास, भारतीय वीरों का इतिहास।

जैन-संस्कृति का हार्द—

भगवान् महावीर ने अहिंसा, संयम व त्यागमय जीवन जैसे उच्च आदर्शों की भावना का प्रचार-प्रसार करती आ रही जैन (श्रमण) संस्कृति की लड़खड़ाती परम्परा को पुनरुज्जीवित व प्राणवना किया।

अहिंसा प्रेम के विस्तार में प्रकट होती है। दूसरे का दुःख हमारा दुःख है, दूसरे का सुख हमारा सुख है—इस सह-जीवन की विराट भावना में से ही अहिंसा प्रस्फुटित होती है। जो तेरे लिए काँटा बोता है, उसके लिए तू फूल ही लगा। तुझे फूल ही मिलेंगे, उसे काँटे। परन्तु उसके लिए तू अपने मन में काँटे की भावना मत रख।

तेरे फूलों की फसल अगर उसके काँटों से बड़ी होगी, तो निश्चय ही इसमें तेरी सफलता है। फिर तो तेरे आसपास जो काँटे बिखेरे गये हैं, इनमें से भी गुलाब ही महकेंगे। यही तो अहिंसा-तत्त्व का दर्शन है। दूसरे के जीवन में सहायता पहुंचाना अहिंसा है और दूसरे के जीवन में बाधा पहुंचाना हिंसा है। अहिंसा अमृत है और हिंसा विष है। जीवन को सुखी और शान्त बनाने के लिए अहिंसा को जीवन में उतारना अत्यावश्यक है। संक्षेप में भगवान् महावीर के उपदेश का सार यह है :—

जं इच्छसि अप्पणतो, णं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि वा, एत्तियगं जिणसासणयं॥ (बृहत्कल्पभाष्य)

अर्थात् जिस बात की अपने लिए इच्छा करते हो, उसकी औरों के लिए भी इच्छा करो, और जो बात अपने लिए नहीं चाहते हो, उसे दूसरों के लिए भी न चाहो—यही जिन-शासन—जिन-धर्म का सार है।

जब यह भावना जन-जीवन में समवतरित होती है, तब मानव-मन में से जन्म पानेवाले ये जाति के बन्धन स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। मनुष्य 'महतो महीयान्' बन जाता है और उसे विश्वात्मा के दर्शन हो जाते हैं।

जैन-संस्कृति में अहिंसा को 'किसी को मत मारो'—जैसे छोटे-छोटे वाक्यों की परिभाषा में समाप्त नहीं किया गया है, किन्तु इसे एक गम्भीर आध्यात्मिक दर्शन के रूप में उपस्थित किया गया है। विश्व की अन्य संस्कृतियाँ अहिंसा के अगाध समुद्र-तट तक न पहुंच सकने के कारण उसके ऊपर ही ऊपर तैरती रहीं, जिससे वे अहिंसा-हिंसा के सिद्धान्तों को अच्छी तरह न समझ सकने के कारण बहुत गलत ढंग से इन सिद्धान्तों के प्रचार में सहायक बनती रहीं। ये ही गलत धारणाएँ दुनियां में भयंकर आग बन कर भड़कती रहीं, जिसमें मानव-जातियों को अपनी संस्कृति और सभ्यताओं के बड़े-बड़े बलिदान देने पड़े। यदि जैनसंस्कृति की तरह दुनियाँ में अहिंसा की मौलिकता और आवश्यकता हमेशा से अनुभव की गयी होती तो हमें आज दुनियाँ इतनी अव्यवस्थित, भयंकर, क्रूर और असुन्दर रूप में नहीं मिलती। मानव-जाति के खून से सने हुए ऐतिहासिक पृष्ठ पढ़ने को नहीं मिलते। जैन संस्कृति ने मनुष्य के सामने अहिंसा का विराट रूप रखते हुए यह उदार सन्देश रखा है कि यदि वह जीने और हर तरह के भय से मुक्त होने का इच्छुक है तो वह अपने जीवन और सुख-सुविधाओं को चिन्ता से पहले, दूसरों को मृत्यु और भय से मुक्त करने के साधनों और उपायों को जुटाने का प्रयत्न करे।

जैनसंस्कृति की अहिंसा का क्षेत्र जल और वनस्पति जैसे वे अत्यन्त मूक प्राणी भी हैं जिनके सुख-दुःखों का संसार को जरा भी ज्ञान नहीं है। जैन संस्कृति मनुष्य के मानस को इतना अहिंसामय बनाना चाहती है कि उसके विचारों की दुनियाँ में किसी भी प्राणी की हिंसा के संकल्प जन्म न ले सकें। उसने मानवीय स्वभावों को विश्व हितों में बदलने के लिए कुछ मौलिक संयम-सिद्धान्तों का आविष्कार किया है।

तीर्थंकर महावीर

जैन धर्म में इस संसार की उपमा समुद्र से दी गई है। जैसे समुद्र को पार करना बहुत कठिन है, वैसे ही इस संसार को पार करना बहुत कठिन है। राग-द्वेष व आसक्ति की भंवरें प्राणी को संसार-सागर में इस प्रकार निमग्न कर देती हैं कि उसमें से सकुशल निकल पाना कठिन हो जाता है। किन्तु कभी-कभी कोई ऐसे भी वीर पुरुष जन्म लेते हैं जो अपनी भुजाओं से समुद्र को भी पार कर जाते हैं और फिर अपने अनुभव के बल पर पार उतरने की प्रक्रिया भी स्थापित कर जाते हैं जिसके आश्रय से पार उतरने के इच्छुक अन्य लोग भी पार उतरते रहते हैं।

तीर्थंकर ऐसे ही वीर पुरुष होते हैं; वे संसार रूपी समुद्र को अपने बाहुबल से पार करके धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं। अतः उनका स्थापित किया हुआ धर्म वास्तव में एक तीर्थ कहा जाता है, क्योंकि उसका काम तारना है। लोग उसे अपनाकर संसारसमुद्र से तिर जाते हैं और फिर सदा के लिए उस जंजाल से छूट जाते हैं।

पूर्वभव में उत्कृष्ट साधना के साथ जो महात्मा संसार के उद्धार करने की पुनीत भावना करता है, वही **'तीर्थंकर-प्रकृति'** का पुण्य बन्ध करता है। इस पुण्य-बन्ध के कारण ही वह भावी जन्म में 'तीर्थंकर' कहलाता है। तीर्थंकर सर्वज्ञ तो होता ही है, उसके अन्य अतिशयों के साथ महान् वचन अतिशय प्रकट होता है। उसका प्रभाव जनता के हृदय पर ऐसा पड़ता है कि जनता पाखण्ड, भ्रम, पाप, दुराचार, अत्याचार से स्वयं घृणा करने लगती है। सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् आचार उसमें अनायास ही विकसित होने लगते हैं।

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज से ढाई हजार वर्ष पहले तक क्षत्रिय लोग जहाँ युवावस्था में शारीरिक पराक्रम से ऐहिक शत्रुओं को जीत, भूमंडल के अधिपति बनते थे, वहाँ वे (अन्तिम जीवन में) इन्द्रिय भोग, बन्धु-जन और राज्य वैभव को छोड़ तपः-पराक्रम से अन्तःशत्रुओं (राग-द्वेषादि) को जीतकर 'जिन' शिव, अर्हन्त, और विश्वपति बन जाते थे। वे अपने आदर्श और उपदेश द्वारा अगणित भव्यजनों को संसार-सागर से पार उतारने के के कारण तीर्थंकर बन जाते थे।

जैन संस्कृति के एक नहीं, (वर्तमान अवसर्पिणी काल में) २४ तीर्थंकर हुए हैं। इनमें भगवान् महावीर अन्तिम तीर्थंकर हैं। महावीर का हमारे लिए अधिक महत्त्व इस दृष्टि से है कि वर्तमान जैन शासन उन्हीं के उप-देशों को प्रमाण मान कर चल रहा है। वर्तमान निर्ग्रन्थ-प्रवचन के मूल स्रोत तथा वर्तमान निर्ग्रन्थ-धर्म के संस्थापक भगवान् महावीर आज भी मानव-जाति के एक उत्कृष्ट प्रेरणा-स्रोत हैं।

भगवान् महावीर के धार्मिक प्रचार से पहले भारत में अश्वमेध आदि विविध वैदिक यज्ञों में घोड़ा, हिरण, बकरा आदि असंख्य दीन, निरपराध मूक पशुओं का निर्दयता से हवन किया जाता था और उस निर्दय हिंसा-कृत्य को स्वर्ग-मुक्तिदाता और धर्म समझा जाता था। इस अज्ञान और अत्याचारी पाप-कलंक को भगवान् महावीर की सदुपदेश-वर्षा ने धोकर भारत का कलंक मिटाया। अत्याचार के दमन के लिए उन्हें शास्त्र-बल का अवलम्बन नहीं लेना पड़ा, उनके उपदेश में ही इतना प्रभाव था कि जनता का हृदय बदल गया और पशु-यज्ञों का प्रचलन बन्द होने लगा। भगवान् महावीर ने आचरण-सबन्धी विवाद दूर करने के लिए अहिंसा-सिद्धान्त का प्रचार किया और साथ ही बौद्धिक विवाद के समाधान के लिए स्याद्वाद सिद्धान्त की स्थापना की।

प्राचीन युग में भारतीय दर्शनों में अनेक वाद, और प्रतिवाद दृष्टिगोचर होते हैं, जहाँ वाद होता है, वहाँ प्रतिवाद अवश्य ही होगा। और जहाँ प्रतिवाद होता है, वहाँ संघर्ष अवश्य होगा ही, इस स्थिति में संघर्ष को टालने के लिए अथवा वाद-प्रतिवाद की कटुता को मिटाने के लिए किसी ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता थी जो उसमें समन्वय स्थापित कर सके। उस युग की मांग को अनेकान्तवाद ने पूरा किया।

जिस देश में भगवान् महावीर ने जन्म लिया, उस देश में इतिहास-विधाता के अनुसार दुनिया के सब धर्म आ बसे हैं। अब हमें अनेकान्तवाद के द्वारा समन्वय को सर्वश्रेष्ठ धर्म बनाकर उन सब धर्मों का एक सार्वभौम सनातनी परिवार बनाना है। हमारा सबका यह प्रयत्न होना चाहिए कि सारे विश्व में समन्वय द्वारा आत्मीयता बढ़ाने का भारत का मिशन फैला सकें, ऐसी नई धर्म-दृष्टि सबके हृदय में विकसित हो जाये कि जीवन में उन्नति-प्रेरक समन्वय नये युग के लिए तैयार कर सकें। नया युग आया है। आज अनेकान्तवाद के प्रभाव से समन्वय का

वायुमंडल सारी दुनियां में फैल जाएगा और केवल युद्ध-विरोध ही नहीं, किन्तु दुनिया संघर्ष-विरोधी, शोषण-विरोधी, ऊँच-नीच की विरोधी भी बन जाएगी।

आज समाज में और संसार में, झगड़ने की सबसे बड़ी जड़ हमारा अहं है, दुराग्रह है। हम जो कहते हैं, वही सत्य है; दूसरे जो कहते हैं, वह झूठ है—ऐसी सामान्य धारणा सर्वत्र प्रचलित दिखाई देती है। महावीर ने कहा—यह ठीक नहीं है। तुम जो कहते हो, वही एकांतिक सत्य नहीं है। दूसरे जो कहते हैं, उसमें भी सत्य है। सत्य के अनेक पहलू होते हैं। उन्हें जो दीख पड़ता है, वह सत्य का एक पहलू है। जिस प्रकार पांच अन्धों ने एक हाथी के विभिन्न अगों को देखकर अपने-अपने दृष्ट अंग को ही हाथी मान लिया, पर वस्तुतः हाथी तो सब अंगों को मिल कर बना है। यही बात हमारे साथ होनी चाहिए। यदि हम इस सिद्धान्त के साथ चलें तो आज के सारे विग्रह दूर हो जाएं और हमारा जीवन अत्यन्त शांतिपूर्ण बन जाये।

महावीर का सर्वोदय तीर्थ

स्वामी समन्तभद्र ने अपने ग्रन्थ **'युक्त्यनुशासन'** में भगवान् महावीर के तीर्थ को 'सर्वोदय' के नाम से अभिहित किया है:—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं,
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

जिस तीर्थ की शरण में जाकर आत्म-स्वातन्त्र्य की प्राप्ति होती है, जिसके द्वारा ऐहिक परिपूर्णता-अपरिपूर्णता का यथार्थ दर्शन होता है, जिस शासन में रूढिवाद को कोई स्थान नहीं, जो प्रगतीशील है, जिस शासन का आश्रय पाकर पीड़ित, पतित और मार्गच्युत सर्वसाधारण जनता को अपना आत्म-कल्याण करने का यथायोग्य पूरा अवसर मिलता है, जिस शासन के द्वारा अधर्म और अज्ञानरूप घोर अन्धकार का नाश होकर ज्ञान-सूर्य का प्रकाश प्रकट होता है, वहाँ वैर-विरोध का काम नहीं, प्राणिमात्र अभय रहता है; जहाँ व्यक्तिगत विचार-स्वातन्त्र्य की महत्ता तथा परीक्षा प्रधानता की मुख्यता हो, विशुद्ध आत्मज्ञान की प्राप्ति हो, वही सच्चा शासन है, और सर्वोदय तीर्थ है।

वीर भगवान् का यह तीर्थ पतित पावन है, समस्त आधि-व्याधियों को क्षय करने वाला है, परम शांति के लिए अमोघ अस्त्र है। विविध दुर्गुणों को हटा कर अनेक सद्गुणों को विकास में लाने वाला है, सर्व प्रकार के दारिद्रय, दुःख, क्लेश तथा भय को हर कर मनुष्य को निर्भय तथा सुखी बनाता है और क्रमशः अभ्युदय के शिखर पर पहुंचा देता है।

यह वीर-शासनरूपी सर्वोदयतीर्थ बड़ा विशाल है। यह सबके लिए खुला है, इस तीर्थ की शरण में जाकर तथा इसकी उपासना करके अनेक पातकियों ने अपने को शुद्ध और पवित्र बनाया है, इसने कितने ही दीनों को उन्नत बनाया है, कितने ही दुराचारी कुमार्ग को छोड़कर सन्मार्ग पर आरूढ हो स्वतन्त्रतापूर्वक अपना आत्म-कल्याण कर परम धाम को प्राप्त हुए हैं। मनुष्य और देवों की तो बात ही क्या, तिर्यंच तथा नारकी भी इस धर्म को धारण कर अपना कल्याण करते रहे हैं और करेंगे।

मानव की सर्वश्रेष्ठता घोषित

भारतीय अध्यात्म-चिन्तन में मानव ही ज्ञान-विज्ञान का मध्य विन्दु है। मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं। महर्षि वेदव्यास की दृष्टि में मनुष्य बहुत बड़ा गुह्य ब्रह्म है। उन्होंने कहा—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि,
न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

मानव की श्रेष्ठता का आख्यात केवल महाभारत का ऋषि ही नहीं करता, वल्कि पूरी भारतीय परम्परा करती है। मानव को दुनियां की सभी वस्तुओं से श्रेष्ठ कहने का कारण है उसका धर्माचरण, जिसके आधार पर वह आत्मा से परमात्मा की कोटि में आ जाता है। जैनपरम्परा के अनुसार भी आत्मा या जीव स्वयं ऐसी शक्ति रखता है कि जिससे वह चाहे जैसा भावी जीवन निर्माण कर सकता है, वह जिस तरह अज्ञान और क्लेश की वासना के वशीभूत होता है, उसी तरह पुरुषार्थ के वल पर वह ज्ञान और निर्मोहता की पराकाष्ठा भी सिद्ध करता है। जैन दर्शन की यह स्पष्ट उद्घोषणा है कि प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, उसका अपने विचार और अपनी क्रियाओं पर अधिकार है, वह अपने गुण-पर्याय का स्वामी है, अपने सुधार-विगाड़ का वह स्वयं जिम्मेदार है। जीव में इतना अधिक स्वातन्त्र्य है कि उसे अपने सिवा कर्ता के रूप में दूसरे किसी के अनुग्रह की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार सिद्ध, वुद्ध आत्मा ही ईश्वर या परमात्मा है।

जैन दर्शन कहता है—मानव ! तू महान् है, अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख आदि का पुंज है। तुझ से श्रेष्ठ और ज्येष्ठ दूसरा कौन है ? यह तेरा भ्रम ही है, जो तू अपने को तुच्छ समझ रहा है। अपने को पहचान, उसकी शान्ति को परख। स्वामी विनेकानन्द का यह उद्धरण भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—

"हमारे प्रसंग में भी अक्सर यही भ्रान्ति गजब ढहाती रहती है। हम अपनी शक्ति में खुल कर खड़े नहीं होते हैं। कोई भ्रम भयंकर भय वनकर हमें निकम्मा वनाए रखता है। भारतीयों के साथ तो यह सदियों से चला आ रहा अभिशाप है। किन्तु जव वे ताल ठोक कर खड़े हुए हैं, पर्वतों ने शीश नवाया है, नदियों ने अपने प्रवाह मोड़ लिए हैं, और आसमान जमीन पर उतर आया है।"

भगवान् महावीर की वाणी आज भी मानव मात्र को उद्वोधित करती हुई कहती है—क्या तुम अपने को जानते हो ? कि तुम कौन हो ? सत्य को पहचानते हो ? वस्तुतः यह क्या है ? अगर हम अपने स्वरूप को पहचान लें तो अपना तो कल्याण कर ही सकते हैं, संसार को भी कल्याण का मार्ग दिखा सकते हैं।

महावीर के युगानुकूल सिद्धान्त

जीवन एक प्रयोगशाल है। नाना समस्याएँ नाना रसायन हैं और नाना अनुभव रासायनिक परिणाम हैं। नाना मनुष्यों के नाना अनुभवों में ही हमें समस्याओं के समाधान मिलते हैं। देखा जाये तो समस्याओं के मूल में हिंसा है, परिग्रह है, एकान्तवाद हैं और समाधान के मूल में त्याग, ऋजुता, अहिंसा, एनेकान्त और अपरिग्रह है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के अपने सिद्धान्तों द्वारा जिस दृष्टि का प्रतिपादन किया है, उसकी आज उतनी ही आवश्यकता जान पड़ती है जितनी कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले थी, क्योंकि आज तो कहीं पहले से अधिक हिंसा, अर्थ-संग्रह, पक्ष-संग्रह और पक्ष-प्रावल्य चल रहे हैं।

आधुनिक सभ्यता में अतिपरिग्रह, अतिव्यय, नवीन-नवीन पदार्थों की संग्रह, अधिकाधिक नवीन-नवीन वस्तुओं की प्राप्त करने को कामना, लक्ष्मी की दासता और विषयभोगों की लालसा स्पष्ट दिखाई दे रही है। ऐसी

दशा में स्वार्थ-त्याग, दया, परोपकार, प्रेम, संतोष तथा स्थिरता को ठिकाना कहां ? आज संसार दुःख से पीड़ित हैं, दुनियां के बड़े-बड़े राष्ट्र स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए उत्सुक हैं, अपने राजनैतिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन को ऊँचा और सुखी बनाने की जटिल समस्याएँ उनके सामने हैं, उनको वे हल करना चाहते हैं। पर उन्हें हल करने का उपाय सूझता नहीं। भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसावाद, अनेकान्तवाद, साम्यवाद तथा कर्मवाद द्वारा विश्व की ये उलझनें सुलझाई जा सकती हैं। ये सिद्धान्त सिखाते हैं कि संसार में निर्वैर होकर जिओ और दूसरे को जीने दो। राग-द्वेष, अहंकार तथा अन्याय पर विजय प्राप्त करने और अनुचित भेद-भाव को त्याग कर सर्वतोमुखी विशाल दृष्टि प्राप्त करके नये-प्रमाण द्वारा एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझकर सत्य-असत्य का निर्णय करो, विरोध का परिहार करो तथा स्वावलम्बी बन कर अपना हित और उत्कर्ष-साधना तथा दूसरों के हित-साधन में सहायता करना-कराना सीखो।

महावीर शासन की सबसे बड़ी विशेषता विश्व-प्रेम है। इस भावना द्वारा अहिंसा को धर्म मे प्रधान स्थान मिला। सब प्राणियों का धार्मिक अधिकार एक समान दिये गये। कहा गया कि धर्म पवित्र वस्तु है, उसका पालन जो करेगा, वह जाति अथवा कर्म से चाहे कितना ही नीचा समझा जाता हो, अवश्य पवित्र हो जाएगा।

जैनशासन सिखाता है कि घृणा करो तो पाप से करो, पापी से नहीं। पापी का तो उद्धा ही श्रेष्ठ है। भगवान् महावीर और उनके अनुयायी चिन्तकों ने वर्गविहीन और जातिभेद रहित एवं विराट मानव-समाज की परिकल्पना दी है। महावीर ने कहा—कोई भी आत्मा न हीन है और न विशिष्ट। सब आत्माएँ समान है। अध्यात्म-जगत् के पहले सोपान में उत्कर्ष और अपकर्ष की भावनाएं टूट जाती हैं जो मुमुक्षु होकर भी किसी को अपने से हीन मानता है, वह सही अर्थ में मुमुक्षु नहीं है। वह उसी व्यवहार-जगत् का प्राणी है जो जाति, वर्ण आदि के आधार पर आत्म-आत्मा को ऊँच-नीच माने बैठा है। वस्तुत: जातिवाद अतात्त्विक है। इसमें वही फंसता है जो सचाई को नहीं जानता। काले-गोरे, पूर्वीय-पाश्चात्य, अच्छे-बुरे, स्त्री-पुरुष सभी में परम आत्मा विराजमान है। भगवान् महावीर ने मानवमात्र को समता की स्थिति में रख कर मानवमात्र के लिए धर्म के द्वारा खोल दिये थे। जाति और वर्ण के आधार पर खड़े किये गये वैषम्य को उन्होंने खंडित किया। जाति विशेष के लिए सुरक्षित धर्माधिकार का क्षेत्र प्राणिमात्र के लिए उन्मुक्त कर दिया। उन्होंने सर्वसाधारण के लिए उपदेश का स्रोत बहाया अत: उनके मुख से नि:सृत अहिंसा की सबल आवाज जनता के हृदय में समा गई। सभी ने एक स्वर से सामूहिक तथा आत्मिक हित के लिए अहिंसा का परम धर्म स्वीकार किया और फलस्वरूप यज्ञ में होने वाली हिंसा सदा के लिए बन्द हो गई।

वस्तुत: भगवान् महावीर का इन सब सिद्धान्तों के पीछे 'समता-धर्म' की स्थापना करना लक्ष्य था। जहाँ धर्म का आधार 'समता' है, वहाँ यज्ञ-हिंसा और दास-प्रथा का विरोध स्वत: प्राप्त है।

चेतन जगत् में वृक्ष, कीड़े मकौड़े, पशु-पक्षी आदि से मनुष्य में चेतना और बुद्धि का विकास अत्यधिक होने से उसमें संग्रह और प्रभुता-स्थापन की वृत्ति जागृत होती रहती है। उनमें द्वेष और तृष्णा का प्रकट विकास होता रहता है। वह अपना गिरोह बांधता और दूसरे गिरोहों से संघर्ष और युद्ध का प्रसंग पैदाकर जगत् में अशांति और हिंसा को जन्म देता रहा। वह चाहता रहा है कि संसार के अधिक से अधिक अचेतन पदार्थ उसकी मालकियत में आ जायें और अधिक से अधिक चेतन उसके गुलाम बन जायें। इसलिए उसने गुट बनाए, समाज बनाए और रक्त-सम्बन्ध के नाम पर जाति और वर्ण की रचना कर समान्तशाही और राजतन्त्र को जन्म दिया।

जैन तीर्थंकरों ने कहा—यह मार्ग गलत है, जब मूलतः सब मनुष्य स्वतन्त्र द्रव्य हैं; मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी और प्रत्येक चेतन स्वतन्त्र द्रव्य है तो एक का दूसरे को गुलाम बनाने का, उस पर अपनी प्रभुता स्थापित करने का, कोई अधिकार नहीं। यह गिरोहबाजी, विषम समाज-व्यवस्था, वर्गसर्जक वर्णव्यवस्था आदि, जिनसे एक दूसरे के प्रति ऊँच-नीच भावना पैदा होती है, अनधिकार चेष्टा है, मिथ्यात्व हैं और पाप है। सिद्धान्ततः प्रत्येक प्राणी का मूलतः समान अधिकार है। इसी तरह सम्पत्ति, जिसमें मुख्यतः भौतिक पदार्थ हैं, किसी की नहीं है, उसका अणु-परमाणु भी स्वतन्त्र है। पर यदि प्राणियों का उसके बिना काम नहीं चलता तो काम चलाने के लिए, व्यवहार निर्वाह के लिए, सब मिलकर, समानभाव से बैठकर उसे व्यवहार में लाने का रास्ता निकालो, छीन-झपट कर व्यक्ति-विशेष, परिवार-विशेष, जाति-विशेष, समाज-विशेष और प्रान्तविशेष आदि की गिरोहबाजी कर उसे हड़पने की चेष्टा न करो और जगत् में संघर्ष और युद्ध का अवसर न आने दो।

जैन-संस्कृति का उज्ज्वल इतिहास

भगवान् महावीर ने अपने दर्शन के माध्यम से रुग्ण, जीर्ण, शीर्ण भारतीय जन-जीवन की व्याख्या प्रस्तुत की और उसका अपीड़क शल्योपचार प्रस्तुत किया। फलतः भारतीय जन-जीवन को एक नया स्वास्थ्य और नया प्राण प्राप्त हुआ। अहिंसा आदि सिद्धान्तों के माध्यम से विश्व के लिए अनिवार्य मानवतावादी दृष्टिकोण की व्याख्या की। उन्होंने जो लोकोपयोगी ज्ञान दीपक जलाया, वह संसारी हवाओं के तूफानी झोंकों से कभी बुझ नहीं सका, भले ही संसार के कलुषित वातावरण में इसका प्रकाश कुछ मन्द पड़ गया है। वह अखण्ड रूप में प्रकाश फैला रहा है। जो उसके प्रकाश में प्रकाशित होकर स्वयं को पहचानने लगेंगे तो उस मुमुक्षु आत्मा का भी अन्तर्दीपक जल उठेगा। इसी ज्ञान-दीपक को भगवान् महावीर के गणधरों ने शब्द रूप देकर आगम रूपी अमर ग्रन्थों के रूप में चिरस्थायी बना दिया। परवर्ती आचार्यों ने इसी ज्ञान दीपक की किरणों को सहस्रों ग्रन्थों के रूप में जन-जन तक पहुँचा कर अज्ञानान्धकार को दूर भगाया।

इतिहास बताता है कि जैनसमाज के सपूत जिस दिशा में गए, वहाँ वे शीर्षस्थ स्थिति तक पहुंचे। विद्या और साधना के क्षेत्र में जैन आचार्यों और जैन मुनियों का स्थान अजोड़ रहा। उनका त्याग, संयम, उनकी निःस्पृह-वृत्ति, देश भर में सर्वोपरि मानी गई। उन मनीषियों द्वारा रचित अगाध साहित्य आज भी जैन समाज का निरुपम गौरव बना हुआ है। लौकिक जीवन में भी, राजनीति के क्षेत्र में जैन लोग आए तो बड़े-बड़े राजाओं के दाहिने हाथ होकर रहे, देश-दीवान कहाए। कहना चाहिए, उनकी सूझबूझ से ही बड़े-बड़े राज्य चले। जैन लोगों की व्यवसायिक प्रगति का तो कहना ही क्या?

जैन-संस्कृति श्रमण-संस्कृति की शाखाओं के समान ही भारत की प्राचीन मौलिक संस्कृति है। यह भारत-भूमि और इसके वातावरण की स्वाभाविक उपज है, यह उसकी सामाजिक प्रगति और मानसिक विकास की पराकाष्ठा है, इसलिए वह सदा से भारत के कोने-कोने में फैलती-फूलती रही है, इसका अन्दाजा इसी बात से लगया जा सकता है कि भारत का कोई प्रान्त ऐसा नहीं है जहां जैनियों के माननीय तीर्थस्थान और अतिशयक्षेत्र मौजूद न हों। ये तीर्थस्थान उत्तर में कैलाशपर्वत से लेकर दक्षिण में कर्नाटक तक और पश्चिम में गिरनार पर्वत से लेकर पूर्व में सम्मेद शिखर तक सभी दिशाओं में फैले हुए हैं। ये बंगाल, बिहार, उड़ीसा, बुन्देलखण्ड, अवध, रोहेल

खण्ड, दिल्ली, हस्तिनापुर, मथुरा, बनारस, राजपूताना, मालवा, गुजरात, काठियावाड, बरार, बड़ौदा, मैसूर, और हैदराबाद आदि में मौजूद हैं।

महापुरुषों के प्रति श्रद्धा की भावना ने जैन समाज के किसी सम्प्रदाय को मूर्तियों और मन्दिरों के निर्माण की ओर प्रवृत्त किया, गुरु की उपासना के लिए गुरुकुलों, मठों और गुफाओं आदि का निर्माण हुआ, स्वाध्याय के लिए तथा साहित्य के सृजन व संरक्षण हेतु स्वाध्याय-मन्दिर और ग्रन्थागार बनाए गए। संयमित जीवन ने पारिवारिक व्यवस्था की नींव पुख्ता की, तप की साधना के लिए एक ओर तपोवनों आदि का निर्माण हुआ तो दूसरी ओर कष्ट करने की प्रवृत्ति ने संकल्पसिद्धि के लिए कठोर श्रम की दृढ़ता प्रदान की और दान की प्रवृत्ति ने सभागारों, प्रपाओं, सभाभवनों, अतिथिशालाओं, पुष्पोद्यानों, वाटिकाओं, कूपों और तड़ागादि की आवश्यक निर्मितियों की ओर समाज को प्रवृत्त किया।

वैचारिक धरातल पर जैन चिन्तकों की उक्त उत्क्रान्ति ने जन-जीवन को इतना प्रभावित किया कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में परिव्याप्त शिल्प-निर्मितियों, कलाकेन्द्रों, ऐतिहासिक अभिलेखों, मन्दिरों, गुफाओं, मूर्तियों और जैन वाङ्मय आदि के बिना भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास का परिपूर्ण ज्ञान ही सम्भव नहीं कहा जा सकता।

जैन-संस्कृति का विश्वव्यापी प्रभाव

जैन संस्कृति का क्षेत्र न केवल भारत, अपितु विशाल संसार रहा है। मध्य एशिया की संस्कृतियों में सर्वप्राचीन समझी जाने वाली सुमेर और बाबुल की संस्कृति के जनक भगवान् ऋषभदेव के वंशज (या कुछ विद्वानों के अनुसार उनके भक्त) थे। सुमेरी संस्कृति में अनेक चिह्न जैनसंस्कृति से मिलते-जुलते हैं। इसी प्रकार बेबीलोनिया का बादशाह **नबुशचडनजर** जैनसंस्कृति से आकृष्ट होकर भारत आया था और उसने जैनतीर्थ रैवत गिरिनार की वन्दना करके वहां नेमिनाथ जी का एक मन्दिर बनवाया था। सौराष्ट्र में इसी बादशाह का एक ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है।

इसी बादशाह **नबुशचडनज़र** के बारे में एक घटना विख्यात है जो इस प्रकार है—इस बादशाह ने राजमहल में भोजन बनाने के कार्य में नियुक्त एक कर्मचारी, जिसका नाम **दनियाल** था और जो निरामिषभोजी था, को मांस खाने का आदेश दिया। परन्तु वीर दनियाल ने उसे स्वीकार नहीं किया। बादशाह ने रुष्ट होकर उसे शेर की मांद में फिकवा दिया, किन्तु भूखे शेर भी उस युवक के पैर चाटने लगे। अहिंसा के इस अद्भुत चमत्कार ने बादशाह को अहिंसक संस्कृति के प्रति आकृष्ट किया हो तो आश्चर्य नहीं। इस कथा का उल्लेख '**एह्वाइट**, नामक विद्वान् *Why I do not eat meat* नामक कृति में किया है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ और महावीर के समय में कई यूनानी तत्त्ववेत्ता जैसे **पिथागोरस, पिर्रहो, प्लोटिनस** आदि भारत में आए थे और उन्होंने जैन-गुरुओं के निकट शिक्षा प्राप्त की थी। जैन आचार्यों के निकट तत्त्वचर्चा करके यूनानी तत्ववेत्तओं ने जो ज्ञान-नवनीत संचित किया, उसका वितरण उन्होंने अपने देश में किया। यही कारण है कि यूनान में प्राचीन काल से ही तप, त्याग, सत्य एवं अहिंसा का प्रचार जन-साधारण में हो गया था। कुछ अन्य यूनानी तत्त्ववेत्ताओं के विचारों में भी जैन-संस्कृति के तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। विद्वानों का यह भी मत है कि यूनानी तत्त्ववेत्ता पिथागोरस दृष्टिगोचर ने जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की शिष्य-परम्परा से शिक्षा ग्रहण की थी और जैन-संघ में वे मुनि '**पिहितास्रव**' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। पिथागोरस की मान्यताएं जैन-संस्कृति के अनुरूप थीं और वे मौनव्रत पर अधिक जोर देते थे। पिथागोरस ने मांस-मदिरा का भी निषेध किया जिससे उनको

अनेक कष्ट झेलने पड़े। निःसन्देह, पिथागोरस पर जैन-संस्कृति की छाप गहरी पड़ी थी। प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्ता उस समय भारत आया जिस समय भगवान् महावीर का सुखद विहार हो रहा था, और उसने स्याद्वाद सिद्धान्त का अध्ययन किया। यूनान लौटकर उसने **एलिस** नामक स्थान पर रहकर जैनमुनि की जीवन-चर्या का अभ्यास किया था (द्रष्टव्य—**इन्साइक्लोपीडिया आफ ब्रिटानिका, खण्ड-१२, पृ० ७५३**)। इसी प्रकार अपोलो और दमस नामक दो तत्त्ववेत्ता भी यूनान से आए और उन्होंने निर्ग्रन्थ श्रमणों से ज्ञान-चर्चा की थी। सिकन्दर महान् भी जब भारत आया तो तक्षशिला के पास दिगम्बर जैनमुनियों से उसकी भेंट हुई और उनकी ज्ञान-चर्चा व तपस्या का सिकन्दर के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा था। **कल्याण** नामक एक जैनमुनि भी जैनसंस्कृति के प्रचार-प्रसार हेतु सिकन्दर के साथ हो लिए थे। भृगुकच्छ के एक दिगम्बर श्रमणाचार्य भी रोम के बादशाह **आगस्टस** के शासनकाल में यूनान पहुंचे थे और एथेन्स में उन्होंने अपने संघ की स्थापना की थी।

जर्मन विद्वान् **वान क्रेमर** के अनुसार मध्यपूर्व एशिया में प्रचलित **'समानिया'** सम्प्रदाय **'श्रमण'** (जैन) था। **जी० एफ० मूर** नामक प्रसिद्ध विद्वान् के अनुसार ईसा की जन्मशती के पूर्व ईराक, स्याम और फिलिस्तीन में जैन मुनि और बौद्धभिक्षु सैकड़ों की संख्या में चारों ओर फैल कर अहिंसा का प्रचार करते रहे। पश्चिमी एशिया, मिस्र, यूनान और इथोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों अगणित भारतीय साधु रहते थे जो अपने त्याग और अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। मेजर जनरल **जे० जे० आर० फरलाग** ने भी अपनी खोज से सिद्ध किया है कि **ओकसियना कैस्पिया** एवं **बल्ख** व **समरकन्द** नगरों में जैनधर्म का प्रचार था। जैनसंस्कृति से प्रभावित यहूदी लोगों ने ही ऐस्सिनी सम्प्रदाय को जन्म दिया था।

प्राचीनकाल में अफगानिस्तान भारत का एक अंग था और वहां श्रमणसंस्कृति का इच्छा प्रचार था। ई० ६-७वीं शती में चीनी-यात्री हुएन्त्सांग ने वहां अनेक दिगम्बर जैनमुनि देखे थे। अफगानिस्तान से सटा हुआ अरब देश था जिसे जैन आगमों में पारस्य नाम से अभिहित किया गया है।

मौर्य सम्राट सम्प्रति ने जैनश्रमणों के विहार की व्यवस्था अरब व ईरान में की थी जहां उन्होंने अहिंसा का प्रचार किया और अनेक अरब लोगों ने जैनधर्म स्वीकार किया। किन्तु जैनधर्म में दीक्षित अरब लोग बाद में, ईरान के आक्रमण करने पर, दक्षिण भारत में चले आये और इनकी संज्ञा **'सोलक अरबी जैन'** हुई। इतिहास से पता चलता है कि ९९८ ई० के लगभग भारत से बीस जैनसाधु पश्चिम एशिया के देशों में प्रचार हेतु गए और वहाँ जैनसंस्कृति का अच्छा प्रचार किया। यही दल १०२४ ई० में पुनः शान्ति, अहिंसा व समतावाद का अमर संदेश लेकर विदेश गया और लौटते हुए अरब के तत्त्वज्ञानी कवि **यबुल अला अल्मआरी** से उसकी भेंट हुई। कवि ने बाद में बगदाद स्थित जैनदार्शनिकों से जैनशिक्षा ग्रहण की थी।

ईरान (पारस्य) देश की संस्कृति पर भी जैनसंस्कृति ने प्रभाव डाला था। जब अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने की खबर ईरान में फैली तो उनके पावन दर्शन के लिए कई ईरानी भारत आए थे। मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र राजकुमार अभय के मित्र ईरान के राजकुमार आर्धराक थे। वे भी भगवान् महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर जैनमुनि हो गए और ईरान में जैनधर्म व संस्कृति का प्रचार-प्रसार करते रहे।

कालान्तर में सम्राट अशोक और सम्प्रति ने अपने धर्म-रज्जुकों और भिक्षुओं को ईरान धर्म प्रचारार्थ भेजा था। मध्यकाल में भी जैनदार्शनिकों का एक संघ बगदाद में गया था और अहिंसा का प्रचार किया था

जिसका प्रभाव इस्लाम धर्म के **'कलन्दर'** तबके पर विशेष रूप से काफी दिनों तक बना रहा था। ९वीं-१०वीं शती में अब्बासी खलीफाओं के दरबार में भारतीय पंडितों के साथ-साथ जैन-साधुओं को सादर निमंत्रण किया जाता था और ज्ञानचर्चा की जाती थी।

प्राचीन अमेरिका की **मय, इंका** और **अज़ेतक**—इन तीनों संस्कृतियों पर अहिंसक संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। अमेरिका के पुरातत्त्व से भी इसकी पुष्टि होती है। जैन तीर्थंकर नेमि की जन्मभूमि मिथिला के नाम पर अमेरिका के एक प्रदेश में राजधानी बनने का प्रमाण मिलता है।

चीन की संस्कृति पर भी जैन संस्कृति का ऋण कम नहीं समझा जा सकता। चीन पर भगवान् ऋषभदेव के एक पुत्र का शासन भी था। जैन संतों ने चीन में अहिंसा का प्रचार किया था।

—०—

जैनसंस्कृति के स्तोत्रों का साहित्यिक परिशीलन

—प्रा० मोहनचन्द्र,

स्तोत्र शब्द स्तुत्यर्थकस्तु धातु से निर्मित है जिसका अर्थ है—आराध्यदेव का छन्दोबद्ध स्वरूप-कथन अथवा गुण-कथन—'प्रतिगीतमन्त्रसाध्यं स्तोत्रम् ।'[1] जैन मान्यता के अनुसार 'स्तोत्र' के पर्यायवाची 'स्तुति' तथा 'स्तव' में भी अन्तर स्वीकार किया जाता है। एक श्लोक से तीन श्लोक पर्यन्त 'स्तुति' तदनन्तर चार या उससे अधिक श्लोकों का समूह 'स्तव' कहलाता है। एक दूसरी मान्यता के अनुसार एक से सात श्लोक पर्यन्त 'स्तुति' तथा आठ या इससे अधिक संख्यावाले श्लोक 'स्तव' कहलाते हैं।[2] जैन-परम्परा में भाषा के आधार पर भी 'स्तुति' तथा 'स्तोत्र' में भेद स्वीकार किया गया है। गम्भीरार्थ से युक्त संस्कृतभाषा में निबद्ध स्तुतिपरक प्रशंसा 'स्तुति' अथवा 'स्तव' कहलाते हैं जबकि विविध छन्दों में तथा प्राकृत भाषा में रचित स्तुतियाँ 'स्तोत्र' कहलाती हैं।[3] प्रारम्भ में संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत को महत्त्व देने की इच्छा से जैन कवियों ने इस प्रकार का विभाग किया होगा किन्तु परवर्ती जैन कवियों ने स्तुति एवं स्तोत्र के इस भेद को अधिक महत्त्व नहीं दिया तथा संस्कृत भाषा में ही अनेक स्तोत्रों की रचना की।[4] ब्राह्मण संस्कृति के स्तोत्रों में मुख्य रूप से शिव, कृष्ण, विष्णु, राम, लक्ष्मी, पार्वती, सरस्वती तथा अन्य पवित्र नदियों आदि की महिमा का वर्णन होता है तो जैनसंस्कृति के स्तोत्रों में तीर्थङ्करों की ही प्रधान रूप से स्तुति की गई है। वेदों में प्राप्त इन्द्र आदि देवताओं के स्तुतिपरक मन्त्रों को स्तोत्र-साहित्य का प्रेरणास्रोत माना जाता है। ब्राह्मण-संस्कृति के स्तोत्रों की प्रधान आराध्यशक्तियाँ वैदिक देवशास्त्र से ही प्रभावित नहीं हैं। अपितु पुराणकालीन देव-शक्तियों का भी इन स्तोत्रों पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है। कतिपय स्तोत्र तो पुराणों के ही अंश हैं।[5] जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि जैनस्तोत्रों की प्रेरणा-स्रोत जिनेश्वर भक्ति है, किन्तु मध्य-कालीन वैष्णव एवं शैव भक्तिसम्प्रदायों का भी जैन स्रोतों पर प्रभाव पड़ा है।[6] जैन मान्यता के अनुसार सर्व-प्रथम इन्द्र विद्यार्थी के रूप में महावीर के समक्ष पहुँचा और उसने 'जयतिहुअण' नामक स्तोत्र का पाठ किया तथा अपनी विनम्रता प्रकट की।[7] इस प्रकार 'जयतिहुअण' स्तोत्र से जैन स्तोत्रसाहित्य का प्रारम्भ माना जाता है।

---

१. डॉ राम खेलावन पाण्डेय, हिन्दी-साहित्य कोश, भाग-१, प्रधान सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, बनारस, संवत् २०१५, पृ० ८६६।

२. तुलनीय—'एक श्लोक: द्विश्लोकौ त्रिश्लोका वा स्तुतिर्भवति । परतश्चतुःश्लोकादिक: स्तव: । अन्येषामाचा-र्याणां मतेन एकश्लोकादि—सप्तश्लोकपर्यन्ता स्तुतिः । ततः परमष्टश्लोकादिकाः स्तवाः ।'—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, दिल्ली, १९७१, पृ० ५५।

३. तु० 'संक्कयभासाबद्धो, गंभीरत्थो थओति विक्खाओ ।
पाइयभासाबद्धं थोत्तं विविहेहिं छड्डेहिं ।। शान्तिनाथ सूरि, चेइयवंदणमहाभास, ८५१।

४. विशेष द्रष्टव्य—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृतकाव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ० ५५-५६।

५. वि० द्र०—डॉ० सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी, संस्कृते पञ्चदेवता-स्तोत्राणि, शोध प्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पृ० ६०।

६. कैलाशचन्द्र शास्त्री, दक्षिण भारत में जैन धर्म।

७. तु०—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, संस्कृत काव्य के विकास०, पृ० ५९।

जैन एवं जैनेतर संस्कृति से सम्बद्ध सहस्राधिक स्तोत्रों के अस्तित्व के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ब्राह्मण-संस्कृति से सम्बद्ध स्तोत्रों का एक वर्ग ऐसा भी है जो प्रकीर्णरूप से अत्यधिक प्रसिद्ध है किन्तु काल एवं कर्तृत्व की दृष्टि से इनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है।[1] स्तोत्रों का एक दूसरा वर्ग भी है जिन्हें प्रायः संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध कवियों से सम्बद्ध कर दिया जाता है।[2] इनकी शैली विशुद्ध काव्यात्मक है तथा भक्तिभाव का प्राधान्य होने पर भी काव्य के प्रमुख तत्त्वों जैसे रस, अलङ्कार आदि का इनमें स्फुट एवं सफल प्रदर्शन हुआ है।

ब्राह्मण-संस्कृति से सम्बद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण स्तोत्रों के लेखक मयूर भट्ट, बाणभट्ट, हर्ष, जगन्नाथ पण्डित आदि भी रहे हैं। शङ्कराचार्य के नाम से प्रसिद्ध अनेक स्तोत्र अपनी काव्यसुषमा के लिए विश्वविख्यात हो चुके हैं।[3]

जैन कवियों ने भी स्तोत्रों के निर्माण के प्रति अपनी पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है। सहस्राधिक जैन स्तोत्रों के निर्माण होने के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें समन्तभद्रकृत स्वयम्भूस्तोत्र[4] (द्वितीय शती ई०), मानतुङ्गाचार्यकृत भक्तामरस्तोत्र[5] (७वीं शती ई०), महाकवि धनञ्जयकृत-विषापहार स्तोत्र (८वीं शती ई०), वादिराजकृत-एकीभाव स्तोत्र[6] (११वीं शती ई०), कुमुदचन्द्रकृत-कल्याणमन्दिर स्तोत्र[8] (वि० स० १२वीं शती), पं० मेरुविजयकृत-चतुर्विंशतिजिनानन्दस्तवन, (वि० स० १७६२) हेमचन्द्रकृत-महावीर स्तोत्र[9] (१२वीं शती० ई०), जिनप्रभसूरिकृतगौतम स्तोत्र[10] (१३वीं शती० ई०), बप्पभट्टिकृत-चतुर्विंशतिजिनस्तुति[11] (७४३-८६८ ई०), विद्यानन्दकृत श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

काव्यतत्त्वों का मूल्याङ्कन

भारतीय काव्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के मुख्य तत्त्व हैं—१. रस, २. अलङ्कार, ३. सौन्दर्य, ४. रीति, ५. ध्वनि, ६. शब्द और अर्थ का समवाय-सम्बन्ध। प्रायः भारतीय काव्यशास्त्रियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने सार्वभौमिक रूप से काव्यतत्त्वों पर विचार नहीं किया। काव्य की आत्मा के अन्वेषण में पड़कर काव्याचार्यों ने काव्य के किसी एक ही तत्त्व को महत्त्व दिया और अन्य तत्त्वों को अङ्गभाव से स्वीकार किया। भारतीय काव्यशास्त्र में रससिद्धान्त को विशेष लोकप्रियता मिली है। आधुनिक आलोचक रसवाद को इतना महत्त्व देने के पक्ष में नहीं हैं। आज काव्य के दो पक्ष स्वीकार किए जाते हैं। एक पक्ष अन्तरङ्ग है जिसके अन्तर्गत कवि का भावजगत् अर्थात् रस एवं भाव आते हैं। अलङ्कारों की स्थिति भी भावजगत् के अन्तर्गत ही मानी जाती है, जिसके

---

१. वि० द्र०-(क) स्तोत्ररत्नावली, गीताप्रेस गोरखपुर, स० २०२८।
(ख) बृहत्स्तोत्ररत्नाकर, सम्पा० पं० रामतेज पाण्डेय, स० २०१६.
२. Varadacharya, V., A History of the Sanskrit fiterature, Allahabad, 1960 pp. 96-98
३. Marthy, G. S., The Poetry of sanskritcharya (article) on 'The Aryan-Path, Banglore, 1969, Vol: XL, No-10, p. 453.
४. प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९५१।
५. काव्यमाला, भाग-७, सम्पा० दुर्गाप्रसाद तथा वासुदेव लक्ष्मण, बम्बई १९२६, पृ० १-१०
६. वही, पृ० २२-२६।
७. वही, पृ० १७-२२।
८. वही, पृ० १०-१७।
९. वही, पृ० १०२-१०७।
१०. वही, पृ० ११०-११२।
११. आगमोदय समिति, बम्बई, वि० स० १९२२।

द्वारा अप्रस्तुत विधान, वाग्वैदग्ध्य आदि काव्यतत्त्वों का संयोजन होता है। दूसरा पक्ष काव्य का वहिरङ्ग है, इसके अन्तर्गत रीति, गुण, औचित्य तथा शब्दालङ्कार जैसे काव्यतत्त्व आते हैं।[1] निष्कर्षरूपेण काव्यतत्त्वों का मूल्याङ्कन रसानुभूति, भावानुभूति, विचारानुभूति तथा शब्दानुभूति के सन्दर्भ में करना प्राचीन काव्य-मूल्याङ्कन-पद्धति तथा आधुनिक मूल्याङ्कनपद्धति के अनुरूप होगा।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी यदि विचार किया जाए तो भी काव्य-मूल्याङ्कन के सभी तत्त्व उपर्युक्त वर्गीकरण में समाविष्ट हो जाते हैं। जैसे रस को पाश्चात्य काव्यशास्त्र में Sentiment भाव को Emotion अलङ्कार को Imaginaton के अन्तर्गत माना जाता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र काव्य के वहिरङ्ग अर्थात् रीति एवं गुणों को भावपक्ष की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है। दूसरे शब्दों में 'वक्रोक्ति' सिद्धान्त को पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विशेष महत्त्व दिया गया है।[2]

स्तोत्रों में ही काव्य की स्थिति को मुक्त-कण्ठ से स्वीकार किया गया है। स्तोता काव्यास्वाद को अनिर्वच-नीय सिद्ध करता हुआ, घी, दूध, दाख, तथा मधु के अस्वाद के माध्यम से काव्यतत्त्व-रस, अलङ्कार आदि के स्वरूप को प्रस्तुत करता है। काव्य के अत्यावश्यक तत्त्व 'सौन्दर्य' Aesthetics से भी वह अवगत है—

> घृतक्षीरद्राक्षामधुमधुरिमा कैरपि पदै-
> र्विशिष्यानाख्येयो भवति रसनामात्रविषयः।
> तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृङ्मात्रविषयः,
> कथङ्कारं ब्रूमः सकलनिगमागोचरगुणे ॥[3]

'लक्ष्मीसहस्र' के अनुसार देवी के वाचक पदों से ही कवि काव्य का श्रीगणेश करने में समर्थ होते है—

> वरदे तव वाचकं पदं,
> कवयः काव्यमुखे प्रयुञ्जते।[2]

'सौन्दर्यलहरी' में काव्य की प्रौढ़ता का कारण भी देवी को माना गया है—

> तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः,
> पयःपारावारः परिवहति सारस्वत इति।
> दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्,
> कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता ॥[3]

जगन्नाथ पण्डित विरचित 'लक्ष्मीलहरी' स्तोत्र के अनुसार काव्य में प्रसिद्ध उपमानों तथा काव्यगत सौन्दर्य व अलङ्कारों की स्थिति लक्ष्मी द्वारा ही सफल हो पाती है—

> अलभ्यं सौरभ्यं कविकलनमस्या रुचिरता
> तथापि त्वद्धस्ते निवसदरविन्दं विकसितम्।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, प्रधान. सं. डॉ० धीरेन्द्रवर्मा, पृ० २२९
२. वही, पृष्ठ २२९।
३. शङ्कराचार्यकृत, आनन्दलहरी, २ (स्तो० २०, पृ० ७४)
४. लक्ष्मीसहस्र, ७३।
५. शङ्कराचार्यकृत, सौन्दर्यलहरी, ७४।

कलापे काव्यानां प्रकृतिकमनीयस्तुतिविधौ,
गुणोत्कर्षाधानं प्रथितमुपमानं समजनि ॥[1]

अलङ्कार, रस, भाव आदि की दृष्टि से जैन-संस्कृति के स्तोत्रों का साहित्यिक परिशीलन इस प्रकार है :—

(१) जैन स्तोत्रों में अलङ्कार-विन्यास

संस्कृत जैन-स्तोत्रों में यत्र-तत्र अलङ्कारों की साभिप्राय योजना भी की गई है तो कहीं-कहीं मधुर काव्याभिव्यक्तियों के माध्यम से स्वयमेव ही अलङ्कार पुष्ट हो जाते हैं।

उपमा—'स्वयम्भूस्तोत्र' में हृदयाकर्षक एवं अत्यन्त सरल उपमाओं के दर्शन होते हैं। यथा—यस्य च मूर्तिः कनकमयीव'[2] तथा—

'विराजितं येन विधुन्वता तमः, क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ।[3]

प्राकृतिक उपमाओं में अरविन्द का सूर्य द्वारा विकास होना—'यथाऽरविन्दाऽभ्युदयाय भास्वान्'[4] तथा गजप्रवेक का घर्मतप्त होना—'गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः[5] आदि सरल एवं स्वाभाविक उपमाविषयक अभिव्यक्तियाँ काव्यतत्त्वों को विशेषरूप से प्रश्रय देती हैं।

कवि अपने आराध्य देव को 'वैद्य' कहकर न केवल व्यावहारिक उपमा का ही प्रयोग कर रहा है अपितु 'आकस्मिक' शब्द द्वारा अर्थ-गौरव को भी समृद्ध किए हुए है अर्थात् वैद्य रोग से मुक्ति तो दिलाता ही है किन्तु यदि अनाथ रोगी के पास आकस्मिक रूप से ही वैद्य पहुंच जाए तो कहना ही क्या —

'आसीरिहाऽऽकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ॥[6]

इसी प्रकार दार्शनिक नय-सम्बन्धी उपमाओं में निम्नलिखित उपमा अद्भुतसी प्रतीत होती है—

नयास्तव स्यात्पद-सत्य-लाञ्छिता[7],
रसोपविद्धा इव लोहधातवः ॥

रूपक—इसी प्रकार विरुद्धवादियों की मदावलिप्त गजों पर तथा आराध्यदेव का वाक्सिंह पर आरोप करके रूपक अलङ्कार का सुन्दर विन्यास भी हुआ है तथा गजों एवं सिंहों से क्रमशः उपमा भी दी गई है—

'स्वपक्षसौस्थित्यमदाऽवलिप्ता वाक्सिंह-नादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केसरिणो निनादैः ॥[8]

---

१. जगन्नाथ पण्डित कृत लक्ष्मीलहरी, २५ (काव्यमाला भाग २)।
२. स्वयम्भूस्तोत्र, १६,२।
३. वही, १.१।
४. वही, २.३।
५. वही, २.४।
६. वही, ३.१।
७. वही, १३.५।
८. वही, ८.३।

निदर्शना[१]—स्तोता महावीर के गुणों का कथन उसी प्रकार असम्भव मानता है जैसे जंघाओं से समुद्र पार करना तथा चन्द्र ज्योति पान से तृष्णा बुझाना असम्भव है—

'वाग्वैभवं ते निखिलं विवेक्तुमाशास्महे चेन्महनीयमुख्यम् ।'
लङ्घेम जङ्घालतया समुद्रं वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम् ॥[२]

यहां पर हेमचन्द्र का चिह्न भी अङ्कित है। कालिदास के निदर्शना-प्रयोग से भी साम्य दर्शनीय है।[३]

व्यतिरेक-तुल्ययोगिता—स्वयम्भू-स्तोत्र में ज्ञानी-मुनि की वाक्य-रश्मियों को चन्दन, चन्द्रमा, गङ्गाजल तथा मुक्ताहार की शीतलता से भी अधिक शीतल कहा गया है, अतः 'व्यतिरेक' अलङ्कार है।[४] इसी पद्य में 'शीतलता' नामक एकधर्म का अनेक (अप्रस्तुत) चन्दन आदि पदार्थों से एकधर्म सम्बन्ध होने के कारण 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार[५] का संकर भी दर्शनीय है—

'न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयोर्न गाङ्गमम्भोन च हारयष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनघ ! वाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥[६]

'तुल्ययोगिता' अलङ्कार में एकक्रियासम्बन्ध भी माना जाता है। निम्नलिखित श्लोक में सुख-दुःख, गुण-दोष, धर्म-पाप का 'समाचरन्ति' क्रिया से सम्बन्ध दर्शनीय है—

'सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्धर्माय पापानि समाचरन्ति' ।[७]

दृष्टान्त[८]—वसन्तकाल में जिस प्रकार कोकिल को आम्रमंजरी कूजने के लिए विवश कर देती है, उसी प्रकार अल्पश्रुत होते हुए भी भक्तिभाव के कारण स्तोता आराध्य-देव की स्तुति के लिए मुखरित हो उठता है—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम, त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः ॥[९]

उल्लेख[१०]—आदि जिन को बुद्ध, शंकर, ब्रह्मा तथा पुरुषोत्तम के विविध रूपों में वर्णित किया गया है—

'बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात्त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धातासि धीरशिवमार्गविधेर्विधानाद् व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥[११]

---

१. 'यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ॥ सा० द० १०-५२
२. महावीरस्वामिस्तोत्र, ३१ ।
३. 'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्वचाल्पविषयामतिः । तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' ॥ रघु १.२
४. 'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा ।' सा० द० १०.५२ ।
५. 'पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् । एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥' सा० द० १०.४८
६. स्वयम्भूस्तोत्र, १०.१ ।
७. विषापहारस्तोत्र, १३ ।
८. दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ॥ सा० द० १०.५१
९. भक्तामरस्तोत्र, ४ ।
१०. 'क्वचिद् भेदाद् गृहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित् । एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते' ॥ सा०द० १०.३६
११. भक्तामरस्तोत्र, २५ (काव्यमाला भाग-७, पृ० ६) ।

अर्थान्तरन्यास—जैन स्तोता अपने आराध्यदेव को देखकर अन्य वस्तुओं में कोई सन्तोष नहीं प्राप्त करता। चन्द्रद्युति का दुग्धपान कर समुद्र के खारे जल को कौन पीना चाहेगा ? विशेष का सामान्य से समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास द्रष्टव्य है—

'दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः क्षारं जलं जलनिधे रसितुं क इच्छेत् ॥[1]

यमक—महाकवि शोभन मुनि प्रणीत चतुर्विंशति जिनस्तुति में यमक अलङ्कारों की छटा भी दर्शनीय है। ९६ पद्यों वाले इस स्तोत्रकाव्य में कृत्रिम शैली द्वारा 'यमक' अलङ्कार का शास्त्रीय रूप प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए एक पद्य दर्शनीय है—

'राजी राजीवनक्रा तरलतरलसत्केतुरङ्गत्तु रङ्ग-
व्यालव्यालग्नयोधाचितरचितरणे भीतिहृद्यातिहृद्या।
सारा साराज्जिनानामलममलमतेर्बोधिकामाधिकामा—
दव्यादव्याधि-कालाननजननजरात्रासमानासमाना ॥'[2]

चित्रकाव्य—चतुर्विंशति जिनस्तुति में शब्दक्रीडा की ओर स्तोता का अधिक ध्यान है। प्रथमपाद तथा तृतीयपाद, द्वितीयपाद तथा चतुर्थपादों में शब्दावृत्ति समान है किन्तु अर्थ भिन्न है—

'सदा यतिगुरोरहो नमतमानवैरञ्चितं,
मतं वररमेनसा रहितमायताभावतः।
सदायति गुरोरहो न यति मानवैरं चितं
मतं वरदमेन सारहितमायता भावतः' ॥[3]

इसी प्रकार चित्रकाव्य की संयोजना करते हुए 'स्तुतिविद्या' स्तोत्र में २४ तीर्थङ्करों की आराधना २४ मुरजादि चक्रवन्धों द्वारा की गई है। ४ अक्षरों से निर्मित पद्य दर्शनीय है—

'ये याययाययेयाय नानानूनाननानना।
ममाममाममामामिताततीतितितीतितः ॥[4]

(२) जैन स्तोत्रों में रस तथा भावयोजना

भक्तिरस का सैद्धान्तिक पक्ष— भरत मुनि के रससिद्धान्त **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"** की व्याख्या भी अत्यन्त मतभेदपूर्ण है। सामान्यतः सहृदयों में वासनारूप से स्थित स्थायीभाव ही विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भावों द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होता है।[5] इस प्रकार काव्य में रसपरिपाक होना ही एक विस्तृत प्रक्रिया है।

---

१. भक्तामरस्तोत्र, ११ (काव्यमाला-भाग-७, पृ० ४)।
२. चतुर्विंशति जिनस्तुति, ९०, (काव्यमाला भाग-७, पृ० १५७)।
३. चतुर्विंशति जिनस्तुति, ५१ (काव्यमाला भाग-७, पृ० १४६)।
४. स्तुतिविद्या, १४।
५. 'विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥ सा० द० ३.१।

स्तुतिपरक स्तोत्रों में भक्तिभाव का प्राधान्य है। रस की दृष्टि से इन स्तोत्रों में प्रधानतः भक्तिरस अथवा शान्तरस ही सम्भव है। शान्तरस को नाटक में भी स्थान नहीं मिला।[1] भक्तिरस को एक पृथक् रस के रूप में लिया जाए अथवा शान्तरस में ही इसका अन्तर्भाव कर दिया जाए, इस विषय में भी काव्याचार्यों में बहुत मतभेद है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने केवल नौ प्रकार के रसों का ही उल्लेख किया है।[2] शान्तरस को इसमें नौवां रस स्वीकार तो कर लिया गया है किन्तु भक्तिरस की गणना इसमें नहीं की गई। पण्डितराज जगन्नाथ को तो भक्तिरस के रसत्व में ही सन्देह है और वे इसे 'भावों' के अन्तर्गत ही स्थान देते हैं।

श्री मधुसूदन सरस्वती, रूप गोस्वामी आदि वैष्णवाचार्यों ने भक्तिरस को एक पृथक् रस के रूप में स्वीकार किया है।[3] इन आचार्यों के मतानुसार श्रवणादि से उपासना करनेवाले सहृदयों के हृदय में स्थित 'कृष्ण-रति'रूप स्थायीभाव विद्यमान रहता है अतः यही देवरूप स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारी भावों द्वारा पुष्ट होकर भक्तिरस के रूप में व्यक्त हो जाता है।[4]

स्तोत्रों में 'देवादिविषयकरति' स्थायीभाव रहता है। साहित्यदर्पणकार के मतानुसार देवादिविषयकरति' में भावप्रधानता रहती है।[5] अतः स्तोत्रों को रस-सिद्धान्त के अनुसार रसपुष्ट भी नहीं माना जाता है। उपचार से भावप्रधान को ही रस संज्ञा दे दी जाती है क्योंकि बिना भाव के रस पुष्ट नहीं होता और रस से रहित कोई भाव भी असम्भव है—

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।[6]

इस न्याय से स्तोत्रों में शान्तरस तथा भक्तिरस की सिद्धि तो हो जाती है किन्तु अन्य वीर, शृङ्गारादि रसों की पुष्टि में भक्तिभाव बाधा उपस्थित करता है। अतः ऐसे गौण रसों को यद्यपि रस की संज्ञा दे दी गई है तथापि कथित रस भाव ही है।

---

१. 'शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात् ।,
अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ।। सा० द० ?
२. शृङ्गार-हास्यकरुणरौद्रवीर-भयानकाः ।
बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ।।' सा० द० ३. १८२
३. भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः । न चासौ शान्तरसान्तर्भावमर्हति ।
अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात् । उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः।। पण्डितराज जगन्नाथ रसगंगाधर (भक्तिशास्त्र-भगवदाचार्य, अहमदाबाद, १९५०, पृ० १८ से उद्धृत)
४. डॉ० श्यामनारायण पाण्डेय, भक्तिरसामृतसिन्धु की भूमिका, कानपुर, १९६५, पृ०८,
५. 'विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ।'
एषा कृष्णरतिः स्थायिभावो भक्तिरसो भवेत् ।। दक्षिणविभाग, विभावलहरी ५,६, वही पृ० ४५
६. सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ।। सा० द० ३.२६०, ६१
७. साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद पृ० १२४-से उद्धृत ।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि स्तोत्रों में शृङ्गार, वीर आदि रसों का तात्त्विक विवेचन तो सम्भव है किन्तु अन्ततोगत्वा ये सभी रस शान्तपर्यवसायी हैं।

संस्कृत जैनस्तोत्र शान्तरस प्रधान है। ब्राह्मण-संस्कृति के स्तोत्रों की अपेक्षा जैन स्तोताओं का भक्तिभाव की ओर अधिक झुकाव है। परिणामतः अन्य रसों की अपेक्षा इनमें शान्तरस ही सर्वोपरि है। प्रसङ्गवश आए शृङ्गार, वीर आदि रस भी शान्तरसपर्यवसायी हैं।

शान्तरस—भक्ति की तन्मयता के कारण स्तोता शान्तरस की संयोजना करता हुआ कहता है कि हे देव ! जो आपके स्वरूप में स्थिरप्रज्ञ हो जाता है वह आनन्दाश्रुओं से गद्गद् होता हुआ सभी विषम व्याधियों से मुक्त हो जाता है—

'आनन्दाश्रुस्नपितवदनं गद्गदं चाभिजल्पन्,
यश्चायेत त्वयि दृढमनाः स्तोत्रमन्त्रैर्भवन्तम्।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देहवल्मीकमध्या
निष्कास्यन्ते विविधविषयव्याधयः काद्रवेयाः॥'[1]

शृङ्गाररस— भक्त स्त्रियों के हाव-भावों तथा कोमल विलासों से अत्यधिक उद्विग्न हैं। स्त्रियां उसके हृदय को बलपूर्वक हर लेती हैं। अपनी इस प्रेम-संकट की अवस्था को वह अपने आराध्य देव के समक्ष रखता है—

'उल्लासितातरलामलहारिहारा, नारीगणा बहुविलासरसालसा मे।
संसारसंसरणसम्भवभीनिमित्तं, चित्तं हरन्ति भण किं करवाणि देव॥'[2]

यहां शब्दानुकूल रसभाव-योजना भी दर्शनीय है। शृङ्गारभाव का यद्यपि उदात्तवर्णन है तथापि वह भक्तिरस में ही पर्यवसित है।

वीररस— आराध्यदेव के नाम-स्मरण से ही संग्राम में वीर राजाओं के घोड़े, हाथी तथा गरजते हुए सैनिक छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

यहाँ पर भक्तिरस से अनुप्राणित वीररस की अवतारणा दर्शनीय है—

'वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनादमाजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति॥[3]

वात्सल्यभाव— भक्त का वात्सल्यभाव से ओतप्रोत होकर देवताओं की स्तुति करना जैनस्तोत्रों का वैशिष्ट्य है। वह तरह-तरह की कल्पनाएँ करता हुआ अपने वात्सल्यभाव को प्रकट करना चाहता है—

तथापि यूथाधिपतेः पथःस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः।[1]

मातृभाव से प्रभावित होकर वह अपने आराध्यदेव को माता की संज्ञा देता है, और स्वयं शिशु की भांति

---

१. एकीभावस्तोत्र, ३।
२. महावीरस्वामिस्तोत्र, २२।
३. भक्तामरस्तोत्र, ४२।
४. महावीरस्वामिस्तोत्र।

हितानुकम्पित होना चाहता है—

'सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता, मातेव बालस्य हितानुशास्ता'।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता मयाऽपि भक्त्या परिणूयतेऽद्य ॥[2]

सख्यभाव—मैत्रीभाव के आग्रह से वह इन्द्र से अपनी तुलना करता हुआ स्वयं को निकटस्थ मित्र मानता है। अतः अल्पबुद्धि होने पर भी अत्यधिक लाभ प्राप्त करने की इच्छा रखता है—

'तत्याज शक्रः शकनाभिमानं नाहं त्यजामि स्तवनानुबन्धम्।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं वातायनेनेव निरूपयामि ॥'[3]

दैन्यभाव—जैन स्तोता का दैन्यभाव सौन्दर्यवर्धक अभिव्यक्तियों से अनुप्राणित है। अपने आराध्यदेव के गुणों के वर्णन करने की शक्ति उसमें नहीं है। अल्पबुद्धि स्तोता अपनी दशा की तुलना एक बालक से करता है जो जलस्थित चन्द्र को ग्रहण करने की जिद करता है। उसी प्रकार आराध्यदेव के गुणों का कथन करना भी स्तोता की जिद है—

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चितपादपीठ स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम्।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्बमन्यः क इच्छति जनः सहसा गृहीतुम् ॥[4]

इस प्रकार जैनस्तोत्रों में रस एव भाव की सयोजना हृदयाकर्षक तथा काव्योत्कर्षक है। एक सहृदय सहज में ही जैनस्तोत्रों के काव्यसौन्दर्य से प्रभावित हो सकता है।

(३) जैनस्तोत्रों की भाषा-शैली एवं अर्थगाम्भीर्य

जैनस्तोत्रों की भाषाशैली भी सरल एव भावानुकूल है। शब्दाडम्बर का विशेष आग्रह उनमें नहीं है। स्तुति के अनुरूप जैसी भाषा होनी चाहिए उसके लिए जैन स्तोता पूर्णरूप से सतर्क है। कल्याणमन्दिर स्तोत्र में शब्दों तथा भावों में विशेष सन्तुलन द्रष्टव्य है—

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ जडाशयोऽपि कर्त्तुं स्तवं लसदसंख्यगुणाकरस्य।
बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य विस्तीर्णतां कथयति स्वधियम्बुराशेः ॥[5]

काव्यगुणों की दृष्टि से जैनस्तोत्रों में माधुर्य, प्रसाद एवं ओज तीनों गुणों का बाहुल्य होने पर भी माधुर्य एवं प्रसाद गुण की प्रधानता है। प्रसाद गुण का एक सुन्दर उदाहरण दर्शनीय है—

'सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूपमस्मादृशाः कथमधीश भवन्त्यधीशाः।
धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धो रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः ॥[२]

सभी स्तोत्रों की भाषा शैली सरल नहीं है। कतिपय कृत्रिमकाव्य की अवतारणा में विश्वास रखनेवाले स्तोताओं की भाषा अत्यधिक जटिल एवं दीर्घसमासों से क्लिष्ट है। यथा—

जननमृतितरङ्गनिष्पारसंसारनीराकरान्तर्निमज्जज्जनोत्तारनौर्भारतीतीर्थकृतमहति
मतिश्रतेहितेशस्य मानस्य वा संसदातन्वती तापदानं दधानस्य सा मानिनः ॥[3]

सुन्दर सुन्दर उक्तियों तथा सुभाषितों के प्रयोग में जैनस्तोता दक्ष है। ब्राह्मण-संस्कृति के स्तोत्रों में प्रायः सुभाषितों का प्रयोग उतना नहीं मिलता, जितना जैनस्तोत्रों में प्राप्त होता है। किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदा-

१. स्वयम्भूस्तोत्र, ६.५।
२. विषापहारस्तोत्र, ३।
३. भक्तामरस्तोत्र, ३।
४. कल्याणमन्दिर, ५।
५. कल्याणमन्दिर, ३।
६. चतुर्विंशतिजिनस्तुति, ९५।

चत्[1] । 'क्षारं जल जलनिधे रसितुं क इच्छेत् ।[2] 'प्राच्येन दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ।'[3] आदि अनेक सुभाषितों से काव्यसौष्ठव की वृद्धि करना जैनस्तोत्रों की प्रवृत्ति रही है।

संस्कृत जैनस्तोत्रों में समन्तभद्र का 'स्वयम्भूस्तोत्र' भी अपनी काव्यसुषमा के लिए प्रसिद्ध है। स्तोता ने शीतलनाथ की स्तुति करते हुए तत्त्वज्ञानरूपी वाक्यरश्मियों को चन्द्रमा, चन्दन, गङ्गा तथा मुक्तामणियों की शीतलता से भी अधिक शीतल ठहराया है—

'न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो, न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनघ ! वाक्यरश्मयः, शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥[4]

एक दूसरे स्थान पर कवि ने अपनी अल्पबुद्धि द्वारा ईश्वर की स्तुतिक्रिया को 'छोटा मुंह बड़ी बात' न मानते हुए इसे स्वाभाविक माना है—ठीक उसी प्रकार जैसे दीपशिखा द्वारा सूर्य की पूजा की जाती है—

'मयाऽपि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र !
दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥[5]

समन्तभद्र के 'स्वयम्भूस्तोत्र' के समान काव्यसौन्दर्योपेत-स्तोत्रों में मानतुङ्ग के भक्तामरस्तोत्र का नाम भी सम्मानपूर्वक लिया जाता है। एक स्थान पर कवि ने हृदयाह्लादक कल्पना का आश्रय लेते हुए आराध्यदेव की स्तुति इस प्रकार की है—

'स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्, नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥[6]

इसी प्रकार जैनकवि समन्तभद्र ने ईश्वर की आराधना के औचित्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिनदेव को भक्त द्वारा की गई पूजास्तुति से कोई विशेष प्रयोजन नहीं है क्योंकि वे तो वीतराग हैं तथा राग-द्वेषादि से रहित हैं। उनकी निन्दा भी की जाए तो भी वे रुष्ट नहीं होते क्योंकि वे वैरादि भावनाओं से भी सर्वथा दूर हैं। स्तोता द्वारा जिनदेव की स्तुति करने का केवल इतना ही फल मिल पाता है कि पुण्य-गुणों के स्मरण से पाप दूर भाग जाते हैं तथा स्तोता का हृदय भी पवित्र हो जाता है—

'न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥[7]

मानतुङ्गाचार्य ने' 'भक्तामरस्तोत्र' में अपने आराध्यदेव की जितेन्द्रियता का वर्णन करते हुए कहा है कि प्रलयकालीन वायुद्वारा विशालपर्वत भी चलायमान हो जाते हैं किन्तु सुमेरु पर्वत अडिग रहता है। उसी प्रकार देवाङ्गनाओं के सौन्दर्य से बड़े-बड़े ऋषि मुनियों के चित्त चलायमान हो जाते हैं किन्तु आपका चित्त तनिक भी विचलित नहीं होता—

---

१. भक्तामरस्तोत्र, १५
२. वही, ११
३. वही, २२
4. Ray, Amarnath, the Kṛṣṇakarṇāmṛtam (Review) I.H.Q. Vol. 15, No-1 p. 150.
5. Kunjuni Raja, Kṛṣṇa līlāśuka, The Contribution of Kerala to Skt. Lit. p. ४३, से उद्धृत ।
६. स्वयम्भूस्तोत्र, १०.१
७. स्वयम्भूस्तोत्र,
८. भक्तामरस्तोत्र, २२
९. स्वयम्भूस्तोत्र, ५७

'चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
र्नीतम्मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताऽ चलेन
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥'[१]

'कल्याणमन्दिर' स्तोत्र में कर्मबन्धन को शिथिलता का दृष्टान्त सर्पविष्टित चन्दनवृक्ष से दिया गया है। जिनदेव के गुणगान द्वारा कर्मबन्धन उसी प्रकार शिथिल होने लगते हैं जैसे मोर के आगमन से चन्दनवृक्ष का सर्पबन्धन शिथिल होने लगता है—

'हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति, जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः ।
सद्यो भुजङ्गममया इव मध्यभागमभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥[३]

इस प्रकार जैन संस्कृति के स्तोत्रों में काव्यतत्त्वों का सफल विन्यास हुआ है । स्तोत्रसाहित्यरूपी काव्य-सरित के सन्दर्भ में जैन एवं ब्राह्मण संस्कृति में कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों धाराओं के कवियों ने अपने-अपने आराध्यदेव की स्तुतियों को बहुविध-अलङ्कारों, रस तथा भावों से संजोया है । अतः वह सम्पत्ति काव्य-जगत् की सम्पत्ति है । इसका प्रयोग किसी जैनकवि ने किया है अथवा किसी ब्राह्मणसंस्कृति के कवि ने—यह गौण है । तथापि ब्राह्मणसंस्कृति तथा जैनसंस्कृति की जो धार्मिक चेतनाएँ हैं वे चेतनाएँ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं । वास्तव में स्तोत्रसाहित्य धर्म तथा काव्य का अद्भुत सम्मिश्रण है । काव्यचेतना धार्मिकभावनाओं से जुड़कर जब सामने आती हैं तो सहृदयों का आनन्द द्विगुणित हो जाता है । एक 'सच्चिदानन्द ब्रह्म' का आनन्द जिसे स्तोता भक्तिभावना से प्राप्त करता है तथा दूसरा रसब्रह्म का आनन्द जिसे वह सदस्य होकर प्राप्त करता है । जैनसंस्कृति के स्तोत्रों की काव्यशैली पर गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि सदृश सरलतम भाषा, कालिदास जैसी रसमय एवं उपमाप्रधान काव्य-योजना, भारवि सदृश अर्थ गौरव एवं कृत्रिम काव्य रुचि, दण्डी एवं बाण की भांति लालित्यपूर्ण पदविन्यास एवं ओजस्विता से जैनस्तोत्रों का काव्य विशेष रूप से निखरा है ।

१. भक्तामरस्तोत्र, १५ । २. कल्याणमन्दिरस्तोत्र, ८ ।

जैन-साहित्य में नारी

—राजमल जैन

प्राचीन जैनसमाज में नारी के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा है इसका परिचय हमें पुराणों, दार्शनिक ग्रन्थों एवं विभिन्न साहित्यिक रचनाओं (जिनमें राजनीतिसम्बन्धी ग्रन्थ भी हैं) से मिलता है। जीवन की सांस्कृतिक-राजनीतिक, दार्शनिक एवं ललित-साहित्य जैसी प्रमुख धाराओं के साहित्य के सम्यक अवलोकन से ही नारी के प्रति जैन धर्मावलम्बियों के दृष्टिकोण का एक समग्र चित्र कल्पित किया जा सकता है। इस प्रकार के अध्ययन में जहाँ प्रसंग महत्त्वपूर्ण है, वहीं किसी एक विशिष्ट अंग सम्बन्धी कृति से कोई धारणा बना लेना समीचीन नहीं होगा (जैसे संसार से वैराग्य के प्रसंग में कोई दार्शनिक नारी की निन्दा करे तो उसी के कथन को पूरे समाज का दृष्टिकोण मानना न्यायसंगत नहीं होगा। इसी दृष्टि से इस लेख में विभिन्न विषयों का अनेक ग्रन्थों से संकलन किया गया है।

जैनधर्म में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का प्रादुर्भाव सृष्टि के प्रारम्भ में माना गया है। ऋग्वेद में इनका उल्लेख आता है। भागवतपुराण, विष्णुपुराण, मार्कण्डेयपुराण आदि अन्य अनेक पुराण इन्हें मानव-सृष्टि के प्रथम मनु-स्वायम्भुवकी पांचवीं पीढ़ी (१ स्वायम्भुव, २ प्रियव्रत, ३ आग्नीध्र, ४ नाभि और, ५ ऋषभदेव) में मानते हैं। ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर ही यह देश भारत कहलाया यह बात उक्त पुराणों में वर्णित है। जो भी हो, ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ थीं—ब्राह्मी और सुन्दरी, जिन्हें उन्होंने अपने पुत्रों से पहले क्रमशः लिपि और गणित का ज्ञान कराया। ब्राह्मी के नाम पर ही ब्राह्मी लिपि का प्रचलन हुआ। उक्त विद्याओं का अभ्यास कराने से पहले लगभग १००० वर्ष पुरानी रचना जिनसेनाचार्य कृत महापुराण के अनुसार ऋषभदेव ने ये वचन कहे थे—

विद्यावान् पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ॥१६॥

(इस लोक में विद्यावान पुरुष पण्डितों के द्वारा भी सम्मान को प्राप्त होता है। और विद्यावती स्त्री भी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त होती है।)

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि प्रथम तीर्थंकरने न केवल पुत्रों के समान ही पुत्रियों को माना अपितु स्त्री-शिक्षा पर भी जोर दिया।

पुत्र और पुत्री में भेद-भाव न करने की इस प्रवृत्ति का कारण यह विचार जान पड़ता है कि पुत्र वह है जो अपने आचरण से पितरों को पवित्र करे-यः पुनाति निजाचारैः पितरः पूर्वजानिति। पुत्रः गोपते वप्तुः।)

ऋषभदेव के पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती थे। उनके वैभव का वर्णन करते हुए उक्त जिनसेनाचार्य ने लिखा है—

भेजे षट्ऋतुजानिष्टान् भोगान् पञ्चेन्द्रियोचितान्।
स्त्रीरत्नसारथिस्तद्धि निधानं सुखसम्पदाम् ॥३७॥

(वह चक्रवर्ती स्त्रीरत्न के साथ-साथ छहों ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले पञ्चेन्द्रियों के योग्य भोगों का उपभोग करता था सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री ही सुख सम्पदाओं का भंडार है।) इस प्रकार प्रथम तीर्थंकर और उनके वंश के वर्णन के सम्बन्ध में नारी को समुचित प्रतिष्ठा का स्थान दिया गया है। इतना ही नहीं, जैनों के श्वेताम्बर सम्प्रदाय की यह मान्यता है कि मल्लिकुमारी ने तीर्थंकर पद प्राप्त किया था जब कि दिगम्बर सम्प्रदाय ने उन्हें पुरुष माना है।

राम की कथा से सम्बन्धित एक जैन पुराण पद्मपुराण है। उसकी रचना रविषेणाचार्य ने ६७६ ई० में की थी। इस पुराण के १४वें अध्याय के २५८वें श्लोक में रविषेणाचार्य ने यह मत व्यक्त किया है कि स्वर्ग से च्यवन कर मनुष्ययोनि प्राप्त करने वाली स्त्रियां भी अभ्युदय को प्राप्त होती हैं (जैन मान्यता के अनुसार स्वर्गस्थित देवताओं को भी मनुष्यरूप में जन्म लेने के बाद ही मुक्ति प्राप्त होती है या तीर्थंकर अथवा सिद्धपद प्राप्त होता है)।

उक्त पद्मपुराण में ही रावण के मुख से कवि ने शील की महिमा वर्णित कराई है। संक्षिप्त प्रसंग इस प्रकार है। नलकूबर की पत्नी उपरम्भा रावण पर आसक्त हो गयी। उसने विचित्रमाला नामक अपनी दासी से एकान्त में रावण को अपना सन्देश कहलवाया। किन्तु रावण ने यह उत्तर दिया कि चाहे विधवा हो, सधवा हो, वेश्या हो, हर स्थिति में परस्त्री का प्रयत्नतः त्याग करना चाहिए। इस पर विभीषण ने राजनीति के कारण रावण पर जोर डाला कि वह उपरम्भा को बुला ले। उसके आने पर रावण ने उसे समझाते हुए कहा—

मलीमसा च मे कीर्तिः कर्मेदं कुर्वतो भवेत्।
अपरोऽपि जनः कर्म कुर्वीतेदं मया कृतम्॥१२।२५०

(इस कार्य के करने से मेरी कीर्ति मलिन हो जायगी और मैंने यह कार्य किया है इसलिए दूसरे लोग भी यह कार्य करने लग जाएँगे।) उसने आगे कहा—तुम राजा आकाशध्वज और मृदुकान्ता की पुत्री हो, निर्मल कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है अतः शील की रक्षा करना ही योग्य है। इस पर उपरम्भा लज्जित हो अपने पति में ही सन्तुष्ट होगई।

प्रमुख जैन पुराण दक्षिण भारतीय मुनियों द्वारा लिखे गये हैं। इसलिए उनमें मामा की लड़की या लड़के से विवाह के प्रसंग बहुलता से मिलते हैं। पुन्नाट संघ के आचार्य जिनसेन द्वारा रचित आदिपुराण (८-९वीं सदी) के सप्तम पर्व में राजा वज्रदन्त ने राजा वज्रबाहु से अपने पुत्र वज्रजङ्घ के बारे में यह प्रस्ताव किया कि 'यह वज्रजङ्घ आपका भागिनेय (भानजा) है। इससे अपनी कन्या श्रीमती का विवाह कर दीजिए" राजा वज्रबाहु ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और विवाह भी कर दिया।

जैन शास्त्रों में स्वयंवर द्वारा विवाह के अनेक उल्लेख मिलते हैं। इन स्वयंवरों में अनेक प्रकार की शर्तें जय-पराजय और परिणामानुसार स्वयंवर सम्बन्धी हुआ करती थीं। किन्तु यह सम्भव है कि स्वयंवर की प्रथा राजघरानों तक ही सीमित रही हो। जो भी हो, माता-पिता भी कन्या के लिए वर ढूंढते थे। इसका समर्थन जिनदत्ताख्यान की निम्नलिखित पंक्तियों से मिलता है—

जेण कुलबालियाओ न कहँति, हवेउ एस मज्झ वरो।
जो फिर पिऊहिं दिन्नो, सो चेव पमाणियव्वुत्ति॥[1]

---

१. द्रष्टव्य, प्राकृतसाहित्य का इतिहास।

(कुलीन बालिकायें अपने वर के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहतीं। जो वर माता-पिता उनके लिए खोज देते हैं वही उन्हें मान्य होता है।)

स्वयं भगवान् महावीर ने नारी को अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया था। उन्होंने जो चतुर्विध संघ स्थापित किया था उसमें निम्नलिखित सम्मिलित थे। १ मुनि, २ आर्यिका (साध्वी) ३ श्रावक (गृहस्थ) और ४ श्राविका (गृहस्थ महिलाएँ) इससे स्पष्ट है कि महावीर ने नारी को समानता का स्तर प्रदान किया।

अपने जीवनकाल में ही दासता की बेड़ियों में पड़ी एवं सौतिया डाह की शिकार चन्दनबाला का उद्धार किया था। उसकी कथा बहुविदित है। उनके उपदेश के कारण एक और नारी के सतीत्त्व की रक्षा होने के साथ ही साथ एक निरर्थक युद्ध भी टला। यह कथा संक्षेप में इस प्रकार है। कौशांबी में राजा शतानीक राज्य करता था। उसकी रानी मृगावती अत्यन्त रूपवती थी। उज्जयिनी का राजा चण्डप्रद्योत मृगावती के रूप की प्रशंसा सुन उस पर मोहित हो गया और उसने शतानीक से मृगावती की माँग की। शतानीक ने यह माँग ठुकरा दी किन्तु इसी बीच उसकी मृत्यु भी हो गयी। चण्डप्रद्योत ने कौशाम्बी पर चढ़ाई कर दी। इतने ही में भगवान् महावीर विहार करते हुए कौशाम्बी आए। उनके आगमन का समाचार सुनकर रानी ने नगर के समस्त द्वार खोलने की आज्ञा दे दी और वह महावीर की उपदेश-सभा में जा उपस्थित हुई। महावीर ने अहिंसा पर प्रभावशाली प्रवचन दिया। उसे सुन रानी ने महावीर से निवेदन किया कि यदि राजा चण्डप्रद्योत जो कि इस उपदेश सभा में उपस्थित हैं मुझे स्वीकृति दे और मेरे पुत्र उदयन की रक्षा का भार सम्भाले तो मैं साध्वी होने को तैयार हूँ। सभा में सन्नाटा छा गया। आखिर चण्डप्रद्योत ने वचन दे दिया। इस प्रकार उज्जयिनी और कौशाम्बी के बीच एक निरर्थक युद्ध टल गया।

सतीत्व के चमत्कार की अनेक कथाएँ जैनसाहित्य में उपलब्ध हैं। एक राजा ने अपनी दो पुत्रियों से पूछा- "राजा बड़ा होता है या कर्म ?" एक पुत्री ने राजा को बड़ा बतलाया किन्तु दूसरी ने कर्म को। कर्म-सिद्धान्त वाली पुत्री का विवाह उसने एक कोढ़ी से कर दिया। कालान्तर में वह रूपसम्पन्न हो गया। यह कथा मैनासुन्दरी की है जो कि जैन सम्प्रदाय में अत्यन्त प्रचलित है।

महासती अत्तिमब्बे की कहानी दक्षिण भारत के सम्राट् तैलपदेव आहवमल्ल के शासन काल से संबंधित है। अत्तिमब्बे इस सम्राट के महादण्डनायक नागदेव की पत्नी थी। एक बार परमार नरेश मुञ्ज ने तैलपदेव पर आक्रमण किया। मुञ्ज की सेना को मालवा तक खदेड़ दिया गया जिसमें नागदेव आहत हुए। किन्तु सेना का वापस लौटना मुश्किल हो गया क्योंकि गोदावरीमें भयकर बाढ़ आ गई थी। मुञ्ज की सेना ने इस स्थिति में फिर आक्रमण किया। यह सुन अत्तिमब्बे एक ऊँचे स्थान पर गईं और उन्होंने यह घोषणा की कि यदि मेरा सतीत्व अखण्ड है तो मैं गोदावरी को आज्ञा देती हूँ कि वह अपने स्तर पर तब तक आजाए जब तक कि हमारे स्वजन इस पार न आ जाएँ।" कहा जाता है कि भयंकर बाढ उतर गई और घायल नागदेव एवं अन्य सैनिक मृत्यु के मुख से लौट आए[1]।

सभी नारियाँ एक-सी नहीं होतीं। उनमें से कोई तो कामुकता की अन्तिम सीमा भी पार कर जाती हैं। इस प्रकार का एक उदाहरण उपर्युक्त जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्र द्वारा रचित उत्तरपुराण[2] के ७२वें पर्व में मिलता है। उसमें यह कथा आती है कि—श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न का अपहरण कर धूमकेतु नाम के

१: डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ, पृ० ११५-१७।

२. यह पुराण आदिपुराण को पूरा करने के लिए जिनसेन की मृत्यु हो जाने पर रचा गया था।)

एक देव ने उसे एक शिला के नीचे दवा दिया था। उसी समय राजा कालसंवर और उसकी रानी काञ्चनमाला उधर से निकले। उन्होंने प्रद्युम्न को उठा लिया और उसे अपने पुत्र की तरह पाला। जब वह बड़ा हुआ तो उसकी यौवनावस्था देखकर रानी कामातुर हो गई। प्रद्युम्न ने उसकी इच्छा पूरी नहीं की। तब रानी ने उसे मरवा देने के अनेक प्रयत्न किए। इस प्रसंग में गुणमडाचार्य कहते हैं—"जिस प्रकार कमल के पत्तों पर जल स्थिर नहीं रहता उसी प्रकार स्त्रियों का चित्त भी स्थिर नहीं रहता। स्त्रियों के भाव दूषित रहते हैं और ठीक-ठीक नहीं जाना जा सकता। उनके भाव सन्निपात के समान दुःसाध्य तथा बहुत अधिक मोह उत्पन्न करने वाले होते हैं।

> **अम्भो वाम्भोजपत्रेषु चित्तं तासां न केषुचित्।**
> **तासु तिष्ठदपि स्पृष्ट्वाऽप्य स्पृष्टवदतः पृथक्।**
> **सर्वदोषमयो भावो दुर्लक्ष्यः सर्वयोषिताम्।**
> **दुःसाध्यश्च महामोहावहोऽसौ सन्निपातवत् ॥७२॥६३-६४॥**

सम्भवतः उपर्युक्त जैसे उदाहरणों को सामने रखकर ही कुछ जैन ग्रन्थों में स्त्री की निन्दा डटकर की गई है। किन्तु उनसे सम्बन्धित अधिकांश प्रसंग वैराग्य को उत्पन्न करने वाले तथा मुनि के धर्म एवं आचरण को नियमित करने से सम्बन्धित हैं।

मुनियों के अध्ययन के लिए विशेष रूप से रचित दसवैकालिय (दशवैकालिक) ग्रन्थ में भिक्षु को नारी से सावधान करते हुए कहा गया है—

> **जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं।**
> **एवं खु बंभचारिस्स इत्थी विग्गहओ भयं ॥**
> **चित्तभित्तिं न निज्झाए नारिं वा सुअलंकियं।**
> **अक्खरं पिव छट्ठुणं दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥**
> **हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्णवासविगप्पियं।**
> **अवि वाससइं नारिं बंभयारी विवज्जए ॥**

(जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली से सदा भय रहता है वैसे ही ब्रह्मचारी को स्त्रियों के शरीर से भयभीत रहना चाहिए। स्त्रियों के चित्रों से शोभित भित्ति अथवा अलंकारों से सुशोभिन नारी की ओर न देखे। यदि उस ओर दृष्टि पड़ भी जाये तो जिस प्रकार हम सूर्य को देखकर दृष्टि संकुचित कर लेते हैं वैसे ही भिक्षु को भी अपनी दृष्टि संकुचित कर लेनी चाहिये। जिसके हाथ-पाँव और नाक-कान कटे हुए हों अथवा जो सौ वर्ष की बुढ़िया हो ऐसी नारी से भी भिक्षु को दूर ही रहना चाहिए।)[1]

नकटी-बूची या अत्यन्त वृद्धा सांसारिक नारी से भी साधु को सावधान किया ही गया है किन्तु यह भी नियम बनाया गया है कि मुनि को संसार से विरक्ता स्त्री अथवा साध्वी (जैन शब्दावली में आर्यिका) से भी दूर रहना चाहिए। ईसा की पहली शताब्दी में आचार्य शिवकोटि द्वारा रचित 'मूलाचार' नामक ग्रन्थ में जो कि भगवती आराधना' के नाम से भी जाना जाता है, मुनिधर्म का वर्णन करते हुए कहा गया कि यदि किसी आर्यिका को सामने आते हुए कोई मुनि दिखाई दे तो वह छह हाथ दूर से ही उसकी वन्दना करे और मुनि को आर्यिका से दूर ही रहने

१. द्रष्टव्य पृ० १७१, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास।

का नियम बताया गया है। क्योंकि जिस प्रकार घी और अग्नि को पास-पास रख देने से घी पिघल ही जाता है उसी प्रकार दृढ़ बुद्धि मुनि का मन भी चंचल हो सकता है।

जदि वि सयं थिर बुद्धी, तहावि संसग्गलद्धपसरो य।
अग्गिसमीवेव घदं, विलेज्ज चित्तं खु अज्जाए॥

ऊपर चर्चित पद्मपुराण में यह उल्लेख आया है कि केवली-संशय के कारण ही मुनि का चरित्र लांछित करने की चेष्टा की गई। प्रसग इस प्रकार है कि किसी ग्राम में सुदर्शन नाम के एक मुनि पधारे। लोगों ने उनकी वन्दना की, उनका उपदेश सुना और सब अपने-अपने घर चले गए। किन्तु एक आर्यिका वहीं बैठी रह गई। वह उनकी बहिन थी। मुनि ने कुशल-क्षेम के बाद उसे भी उपदेश दिया। किन्तु एक स्त्री ने गाँव में आकर कह दिया कि मैंने मुनि को सुन्दर स्त्री के साथ बातें करते देखा है। कुछ इसी प्रकार की परिस्थितियों के कारण जैन साधु के लिए किसी आर्यिका की एकान्त में सगति का निषेध किया गया है। इतिहास साक्षी है कि बौद्ध धर्म के पतन का एक कारण बौद्ध-भिक्षुणियाँ भी थीं। वैसे आरम्भ में ही महात्मा बुद्ध अपने धर्म-संघ में स्त्रियों को प्रवेश देने के विरुद्ध थे किन्तु अपनी एक निकट की सम्बन्धिनी के कारण उन्हें भिक्षुणी-संघ भी बनाना पड़ा।

साधुओं के चरित्र की सम्यक् रक्षा के लिए जैन धर्म में जहाँ (भगवती आराधना में ही, गाथा ९५२) यह कहा गया है कि तो पुरुष स्त्रियों का विश्वास करता है वह बाघ, विष, चोर, आग, जलप्रवाह, मदमत्त हाथी, काले साँप और शत्रु का विश्वास करता है, वहीं यह भी विधान है कि साधु को युवकों की संगति से भी बचना चाहिए। क्योंकि बूढ़ा आदमी भी तरुणजनों की संगति पाकर विषयों में प्रवृत्त होता है। ज्ञानवान चारुदत्त ऐसी ही संगति में पड़कर वेश्या की ओर आकर्षित हुआ और अन्त में वह शराब भी पीने लगा। इसलिए ब्रह्मचारी को गुरुजनों या वृद्धजनों की ही संगति करनी चाहिए। उसे राजकथा, चोरकथा स्त्रीकथा जैसी विकथा से भी बचना चाहिए।[1] मुनि या साधु के प्रसंग में क्या यह स्त्री-निन्दा सदोष है ?

भगवती आराधना के रचयिता ने उसी ग्रन्थ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उन्होंने जो कुछ स्त्री-निन्दा की है वह दुश्चरित्र स्त्रियों से सम्बन्ध रखती है, शीलवती स्त्रियां तो गुणों का पुन्ज होती हैं और—

मोहोदयेण जीवो सव्वो दुस्सीलमइलिदो होदि।
सो पुण सव्वो महिला पुरिसाणं होइ सामण्णा॥१००१॥

(मोहोदय के कारण सभी जीव कुशील और मलिन स्वभाव वाले बनते हैं। यह मोहोदय स्त्रियों और पुरुषों में समान होता है। ग्रन्थकार के मत में ऐसी शीलवती स्त्रियां भी होती हैं, जिन्हें चमत्कारिक शक्तियां प्राप्त हुई हैं और जिन्होंने यशस्वी या मोक्षगामी पुत्रों को जन्म दिया है। स्त्रियों को (जो शीलवती होती हैं) जलप्रवाह भी वहां ले जाने में असमर्थ होता है। अग्नि भी उन्हें नहीं जला सकती और सर्प आदि भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ते। वे इस वसुन्धरा का भूषण होती हैं।

जैन-साहित्य में पुत्र की अनिवार्यता किसी धार्मिक दृष्टि से स्वीकार नहीं की गई है। दूसरे शब्दों में, पुत्र और पुत्री को समान सम्मान प्राप्त है। इसका एक प्रमाण आदि पुराण के रचयिता जिनसेन के ये वचन है—

---

१. द्रष्टव्य, भगवती आराधना गाथा ९५२ से आगे—

पुत्र्यश्च संविभागार्हाः समं पुत्रैः समांशकैः (अध्याय ३८, श्लोक १५४)। इस अध्याय में आचार्य ने गृहत्याग नामक बाईसवीं क्रिया का वर्णन करते हुए उक्त वचन कहे हैं। उनका मत है कि गृहत्याग करने वाला व्यक्ति इष्टजनों को बुला कर अपनी सम्पत्ति सबसे बड़े पुत्र को सौंपे और कहे कि मैंने अपने धन के तीन भाग किये हैं। पहला भाग धर्म-कर्म के लिए है, दूसरा घर-खर्च के लिए और तीसरा भाइयों में बाँटने के लिए किन्तु पुत्रों के समान पुत्रियों को भी बराबर भाग दिया जाना चाहिए। किन्तु प्रसिद्ध कोश एवं व्याकरणकार हेमचन्द्राचार्य ने अपनी अल्पपरिचित कृति 'लघ्वर्हन्नीति' (राजनीति सम्बन्धी संक्षिप्त ग्रन्थ) में लिखा है—

विवाहिता च या कन्या तस्या भागो न कर्हिचित्।
पित्रा प्रीत्या च यद्दत्तं तदेवास्या धनं भवेत्॥

(विवाहिता कन्या का पिता के धन में कोई भाग नहीं होता। उसे पिता स्वेच्छा से (प्रेमवश) जो देदे वही उसका धन होता है। इस प्रकार जिनसेन का नियम भी अविवाहित कन्याओं के सम्बन्ध में ऐसा ही जान पड़ता है। जो भी हो, उनकी ८-९वीं सदी के लिए तो वह प्रगतिशील ही कहा जाएगा।

दण्ड के सम्बन्ध में भी हेमचन्द्राचार्य ने स्त्रियों को विशेष सुविधा प्रदान की है। उक्त ग्रन्थ के दण्ड-नीति प्रकरण में उन्होंने लिखा है—

जाते महापराधेऽपि नारी विप्रतपस्विनाम्।
नाङ्गच्छेदो बधो नैव कुर्यात्तेषां प्रवासनम्॥

(नारी, विप्र और तपस्वी अगर गम्भीर अपराध भी कर डाले तो उन्हें अंश-छेदन, प्राण दण्ड, देशनिकाला जैसे दंड नहीं देना चाहिए।)

यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक जान पड़ती है कि प्राचीन भारत में स्त्रियों के नाम कैसे हुआ करते थे। यह जानने का साधन भी अब तो प्राचीन ग्रन्थ ही हैं किन्तु उनके सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के ग्रन्थों में कुछ श्रुतिमधुर नाम कवि प्रयुक्त करते हैं। जैन संस्कृत-साहित्य में स्त्रियों के कुछ नाम इस प्रकार आए हैं—कनकलता, नागलता, विद्युल्लता, कुन्दलता, शीलवती, जयसुन्दरी, मदनसुन्दरी, रत्नवती, सिंहनन्दिता, अनिन्दिता, श्रीकान्ता, तडित्तता, कनकमालिका, मित्रसेना, कनक श्री, श्रीदत्ता; सुव्रता, सुकान्ता, सुवर्णतिलका, मदनवेगा, चित्रमती, केशवती, पुष्पदन्ता, गुणकान्ता, श्रीमती, नलिना, तिलकचन्द्रा, धनश्री, हिरण्यलोमा, मन्दारमालिनी, श्रीदत्ता, गन्धर्वदत्ता, कञ्चनमाला, इन्दुरेखा, श्रीप्रभा, विद्युत्प्रकाशा, वेगवती, स्वस्तिमती, सुरकान्ता, सर्वश्री, सुमना, केतुमती, वसन्तमाला, सुकेशी आदि।[1]

अतः यदि उक्त तथ्यों को ध्यान में रखा जाए तो प्राचीन जैन-साहित्य का और उसके द्वारा प्राचीन जैन समाज का नारी के प्रति दृष्टिकोण उसके समग्र रूप में कल्पित किया जा सकता है।

---

१. अपभ्रंश काव्यों में स्त्रियों के नामों का संग्रह डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री की पुस्तक-भविसयत्त कहा तथा अपभ्रंश कथा काव्य (पृ० ४१२) के आधार पर यहां किया गया है। अपभ्रंश नाम इस प्रकार हैं—'कंचणमइ' पोमावइ, कमलसिरि, बिमला, विमलमति, सिरियामती, अशोकसिरी, रूपादे, कंचणदे, उपमादे, मामादे, चित्तरेह, सांवल दे, तारादे, मंदोवरि, चन्द्रामति, हीरादे, रेवती, सारंगदे, वीरमदे, गंगादे, कमलदे सुन्दरी, भोगवती, मोरवती, कइलास कुमारि, सिंगारमद, वसन्तमाला, विलासवई णरसुन्दरि, सुरसुन्दरि मयणासुन्दरि, रयणमजूस, वणमाला, गुणमाला, चित्रलेह, जगरेहा, सुरेहा, गुणरेहा, मणरेह, रंभा, रइरेहा, विलासमई, जयलच्छी, लच्छि, सरूवा, मयणवेय, णायसिरि, भविसाणुरुव, अनंगसुन्दरि, गोरि, इत्यादि।'

समाजवाद के समर्थ शासक-भगवान् महावीर

—डॉ० मुक्ताप्रसाद पटैरिया

पूंजीवाद और समाजवाद के पारस्परिक संघर्षों के भूले में आन्दोलित विश्व, मानव को मानवता के पथ से विचलित करने में बहुत सहयोगी हो रहा है, किन्तु 'विश्व-बन्धुत्व' के सिद्धान्त पर एकराष्ट्र की कल्पना का साकार रूप समाजवाद की पृष्ठभूमि पर ही तैयार होगा, ऐसी भावनाएं समाज की परिवर्तित मानसिक विचार-धाराओं में परिलक्षित होने लगी हैं। संयोग से वर्तमान वर्ष में एक ऐसे अद्वितीय विचारक की २५००वीं शताब्दी पूर्ण हुई है, जिसने एक ऐसी विचारधारा को जन्म दिया है, जो सहस्रों वर्ष पश्चात् भी आधुनिकतम है, समग्र विश्व के लिए उपादेय है। इस विचारधारा का मूल आधार है—'स्याद्वाद' (अपेक्षावाद)। किसी भी व्यक्ति की, किसी भी विचार की, किसी भी मानव की भावना की अपेक्षा और भावना का परिणाम है—सच्चा चरित्र, शुद्ध आचरण। सभी भावनाओं का समादर करते हुए अपने आपको एक ऐसे आचरण में ढालना, जिससे किसी भी प्राणी को, किसी भी मानव को कष्ट न हो। इसीलिए इस फल की प्राप्ति का माध्यम इस महान् विचारक ने 'अहिंसा' को बनाया। अहिंसा का तात्पर्य है—किसी भी मानव को किसी दूसरे मानव से अपनी प्रगति में किसी भी रूप में बाधा उपस्थित होने का भय न हो। सभी समान रूप से अपनी-अपनी प्रगति करें। यह प्रगति चाहे भौतिक जगत् से सम्बन्धित हो, या आध्यात्मिक। अपनी आत्मा को, अपने चरित्र को, अपने विचारों को उच्च बनाने का सबको समान अवसर मिले। यही अभिप्राय आधुनिक 'समाजवाद' का है। कोई इतना बड़ा न हो कि अपने से छोटे को उठने ही न दे, अपने नीचे ही दबाए रक्खे, कोई इतना छोटा भी न हो कि अपने से बड़े की परछाई में उसे बढ़ने का अवसर ही न मिल सके। यह तभी सम्भव है जब कि सब बराबर हों, एक दूसरे के समान धरातल पर स्थित हों। इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक मानव में यह भावना हो कि शरीर की उच्चावचता, धन की अधिकता-अल्पता, जाति की स्पृश्यता अस्पृश्यता आदि विश्व के किसी भी मानव, किसी भी समाज या राष्ट्र की उन्नति और प्रगति में बाधक न हों। ऐसी भावनाओं को प्रोत्सहित करने में, जन्म देने में, उन्हें फलने-फूलने देने में, 'स्याद्वाद' (समन्वयवाद=अपेक्षावाद=समाजवाद)के पुनः संस्थापक, महान् दार्शनिक (सांसारिक भाषा में—महान् विचारक) का योगदान उनके आदर्शों के माध्यम से विश्व को जिस रूप में प्राप्त हो सकता है। संक्षेपतः प्रसङ्गानुसार प्रस्तुत किया है।

सामाजिक समानता के समर्थक महावीर का उद्देश्य था कि प्रत्येक मानव अपने आप में समर्थ हो, ऐह-लौकिक दृष्टि से और पारलौकिक दृष्टि से भी। जब तक किसी भी मानव-मन में इहलोक की वास्तविकता का ज्ञान नहीं हो पाता, तब तक उसे पारलौकिक वास्तविकता को स्वीकार करने का अहसास तक नहीं होता। इसलिए उन्होंने किसी भी मानव के वैचारिक तथा कायिक कर्त्तव्यों में, (चाहे वह अकरणीय ही क्यों न रहा हो) बाधा डालकर ठेस पहुंचाना उतना ही पापमय आचरण माना है, जितना कि किसी भी जीव की हिंसा

को। वे इस बात को भली-भांति स्वीकार करते हैं कि जीव की, मानव की अधोगति चरम सीमा पर भी पहुँच जाय, किन्तु अन्त में जब कभी (चाहे कितने ही वर्ष उसे दुष्कृत्य में रमे हुए बीत जायें, तब भी) उसे एक दिन अपने कर्त्तव्यों का बोध होगा, तब वह शनैः शनैः सांसारिकराग से बहिर्मुख होता हुआ अपने आपको परमात्मरूप में पहुँचाने के लिये सतत प्रयत्नशील होता रहेगा। इसके साथ ही उन्होंने यह भी आवश्यक समझा है कि यदि किसी मानव मन में थोड़े से ही प्रयत्नों से कर्त्तव्य बुद्धि जगाने की सम्भावना हो तो उसे मन से, वाणी से और यदि सम्भव हो तो शरीर से भी ऐसा सहयोग हो कि उसकी भावनाएँ उस रूप में बल प्राप्त कर सकें। ऐसी ही विचारधारा-वाले जीवों को (मानवमनों को) पथ-प्रदर्शनहेतु उन्होंने अपने उपदेशामृत का सिंचन किया है, जिसे अपना समग्र-मानव समाज को श्रेयस्कर होगा।

विश्व का प्रत्येक राष्ट्र, चाहे वह किसी भी प्रकार की विचारधारा वाला हो, उसका अपना स्वभाविक विकास उसकी आर्थिक-व्यवस्था पर निर्भर रहता है। यदि उसकी आर्थिक स्थित सुदृढ़ न हुई तो उसे उन राष्ट्रों के समक्ष झुकना पड़ता है जो कि समृद्ध हैं। यही स्थिति मानव समाज की है। इसलिए प्रत्येक विकासशील राष्ट्र, और विकासशील मानव, आर्थिक स्थिति को समरूप बनाने के लिए ज्यादा प्रयत्नशील हैं। इन सब की एक ही धारणा है कि प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक मानव के पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त पर्याप्त मात्रा में धन उपलब्ध होना चाहिए। समाज इसी प्रकार की आर्थिक समानता के समन्वय के लिए प्रायः विकासशील राष्ट्र अपने यहाँ सम्पत्ति की सीमा निर्धारित करने के लिए उद्यत हैं। ताकि उस राष्ट्र की समाज में आर्थिक असमानता दूर हो सके। अर्थात् जिनके पास आवश्यकता से अतिरिक्त अधिक सम्पत्ति है, उनसे लेकर उन लोगों में बाँट दी जाये, जिनके पास आवश्यकता से कम मात्रा में सम्पत्ति है। ठीक यही विचारधारा भगवान् महावीर की सामाजिक अर्थ-व्यवस्था के प्रति रही है। अन्तर केवल इतना है कि आधुनिक राष्ट्रीय सरकारें सम्पत्तिशालियों से अर्थ की अधिक मात्रा छीन कर बाँटना चाहती हैं, जब कि महावीर के सिद्धान्तानुसार सम्पत्तिशाली व्यक्ति अपनी अधिक सम्पत्ति स्वेच्छा से दूसरों में वितरित कर देना चाहता है। इसके अतिरिक्त भी एक और दूसरा अन्तर आधुनिक विचारधारा से है, वह यह है कि—राज्य सरकार, आर्थिक उपेक्षा वाले व्यक्तियों को ऋण अधिक देतीं हैं, अनुदान कम। जबकि महावीर ने विशेष बल दिया है इस बात पर कि जिस किसी भी व्यक्ति के पास आवश्यकता से अधिक धन है, वह दूसरों कोभी दान दे दे।

बुद्धिजीवी व्यक्ति इस बात पर विचार कर सकता है कि समाज की आर्थिक समानता में ऋण कितना सहायक हो सकता है और दान कितना। राज्य सरकारों के ऋणों में या धनिकों के ऋणों में कुछ शर्तों का अन्तर हो सकता है, किन्तु पूँजीवाद, जिसके विपरीत राष्ट्रीय सरकारें कदम उठा रहीं हैं, वे स्वयं जब वही व्यापार शुरू कर देती हैं तो आर्थिक स्थिति से पीड़ित मानव जहाँ था वहीं रह जाता है। इसलिए राज्य सरकारों को (चाहे वे किसी भी राष्ट्र की हों) यही चाहिए कि महावीर के 'अपरिग्रह' (=अधिक साधन सुविधाएं न जुटाना) सिद्धान्त का यदि अनुकरण करना प्रारम्भ किया है तो उन्हें अपनी ऋणपद्धति पर और अनुदान पद्धति पर भी इस वर्ष में पुनर्विचार करना चाहिए।

जन्म-जातिवाद का विरोध-'कम्मणा बम्मणो होइ'

राष्ट्र के या समाज के विकास में आर्थिक असमानता जितनी बाधक होती है, उससे कहीं अधिक 'जाति-

भेद' की सामाजिक असमानता बाधक हो रही है। भारत में इस असमानता को दूर करने के लिए महात्मा गाँधी जी ने 'अछूतोद्धार' का जो अभियान प्रारम्भ किया था, आज उसका दूसरा ही स्वरूप सामने आ रहा है। 'अछूतोद्धार' से तात्पर्य था कि कोई भी अस्पृश्य नहीं हैं, सभी मानव हैं अतः सभी समान (=स्पृश्य) हैं। किन्तु भारतीय कर्णधारों ने इसका गलत आशय समझकर अछूतों को जो सुविधाएं देनी प्रारम्भ की हैं, उनका उद्देश्य उन्हें अन्यवर्गीय जातियों के समान स्तर पर लाना है, किन्तु इससे जहाँ एक ओर शारीरिक अस्पृश्यता की भावना को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है, वहीं मानसिक (बौद्धिक) अस्पृश्यता को बल मिलता जा रहा है, और यह भावना दूर होने के स्थान पर मन में और गहरी बैठती जा रही है। कारण यही है कि—जो सुविधाएं, अनुदानों, सेवाकार्यों आदि के रूप में अछूतों को देने की परम्परा चल रही है, इससे अछूतों के प्रति "यह अछूत है" ऐसी भावना बालमस्तिष्क से ही स्पष्टतः नजर आने लगी है। करना ऐसा चाहिए था जिससे कि समाज में जाति के नाम से स्पृश्य या अस्पृश्य के भाव पैदा होने पाते। यदि होते भी तो वह भाव जाति से सम्बन्ध न रखकर कर्म से सम्बन्धित होते। और यह अनुदान आदि सम्बन्धी सुविधाएँ उन व्यक्तियों के लिए होतीं जो कि उस कर्म को करते हैं। भगवान् महावीर ने अपने सिद्धान्त में "कर्मणा वर्णव्यवस्था" का आधार स्वीकार किया है। यद्यपि निकृष्ट कर्म करने वालों को भी उन्होने मानव समाज के एक ऐसे मित्र के रूप में स्वीकार किया, जैसा कि एक सुशिक्षित एवं सद्भावनाशील व्यक्ति को। अतएव उनके इस सिद्धान्त का अनुकरण करने वाले मानव को जैन समाज आज भी "प्राणिमित्र" की उपाधि से विभूषित करता है।

'परोपकार की भावना—परस्परोपग्रहो जीवानाम्'

मानव का स्वभाविक गुण है—अपनी एक 'विशेष रुचि' जो प्रायः अन्य मानव में उपलब्ध नहीं होती। जितने भी व्यक्ति हैं, सभी की अपनी २ रुचि भिन्न होतीं है। इसलिए उसकी अपनी कल्पनाएं, अपनी इच्छाएं, अपनी आवश्यकताएँ; अपनी प्रवृत्तियाँ आदि सभी दूसरों से भिन्न होती हैं। प्रत्येक मनुष्य में यह स्वाभाविक भेद है। और सब परस्पर भिन्न स्वभाव वाले एक जगह पर; एक स्थान पर एकत्रित हों तो उनमें संघर्ष भी सम्भव हो जाता है। विश्व की तमाम समस्याएं केवल इसी स्वाभाविक भिन्नता के आधार पर उत्पन्न होती हैं, स्थित भी रहती हैं, और सुलझ भी जाती हैं। समस्याओं की उत्पत्ति तो स्वाभाविक है ही। किन्तु इनकी स्थिति का एक मात्र कारण है 'असहयोग'। इसी के कारण अनेकों विध्वंसकारी परिवर्तन ऐतिहासिक स्थान प्राप्त करते रहते हैं। मानव ने यद्यपि अन्य सभी प्रकार की विषमताओं को दूर करने के उपाय खोज निकाले हैं, किन्तु अभी वह इस समस्या का समाधान नहीं कर सका कि मानवीय स्वाभाविक गुणों की असमानता को दूर कैसे किया जाये। जब तक इस असमानता को दूर नहीं किया जायेगा, जब तक विश्व को एक रूप, एकराष्ट्र के रूप में देखने का स्वप्न पूरा होना असम्भव होगा। इसी सन्दर्भ में भगवान महावीर का चिन्तन हमें दिशा निर्देश कराता है कि प्रत्येक पदार्थ का अपना-अपना स्वभाव निश्चित है। जब तक वह अपने स्वभाव में स्थित है, तब तक किसी भी प्रकार का संघर्ष अथवा टकराव उपस्थित नहीं हो सकता और संघर्ष के अभाव में निरन्तर केवल निर्माण ही होता रहेगा, विनाश की शुरुआत नहीं हो सकती। क्योंकि विनाश का प्रारम्भ संघर्ष से होता है। उन्होंने बताया कि जिस प्रकार जल का स्वभाव है शीतलता, अग्नि का स्वभाव है उष्णता, उसी प्रकार जीव स्वभावतः श्रद्धा और ज्ञानयुक्त है। जिस प्रकार जल स्वभावतः (स्व से भिन्न) दूसरे पदार्थों को गीला करता है, जिस प्रकार अग्नि भी दूसरे पदार्थों को जलाती है, और गरम रखती है।

इसी प्रकार जीव भी स्वभावतः हर दूसरे जीव का उपकार करता है। यह मानवमात्र का ही नहीं अपितु पशु, पक्षी आदि समग्र जीव समुदाय का स्वभाव है। किन्तु आज की स्थिति में जीव के इसी स्वभाव में विकार की मात्रा इतनी अधिक बढ़ गई है कि जीव का स्वभाव 'परस्पर-उपकार' के स्थान पर 'परस्पर-अपकार' होकर रह गया है। इसलिए हर मानव का किसी भी क्षण, किसी भी मानव से चाहे वह एकदम अपरिचित ही क्यों न हो, संघर्ष सम्भव हो जाता है। यही कारण है कि आज का विश्व निर्माण की ओर कम, विनाश की ओर अधिक गतिशील हो रहा है। इसी वैभाविक परिणाम का फल है कि मानवीय संस्कृति इतनी अधिक दूषित हो सकी है। इस स्वाभाविक गुण "परस्परोपग्रह" को तब तक मानव समाज पुनः नहीं अपनाएगा, तब तक विश्व के किसी भी भाग में मानवता का दर्शन हो पाना सम्भव नहीं होगा।

आज का विश्व किसी भी क्षण तृतीय विश्व युद्ध की महान् विभीषिका में भस्मसात् होने की कल्पना अन्तर्भूत किए हुए है। इन्हीं दिनों में भगवान् महावीर का यह २५००वां निर्वाण महोत्सव मनाया जा रहा है। इस पावन प्रसङ्ग पर इस महान् विचारक के सिद्धान्तों का अनुसरण कर महान् विभीषिका से मानवता को सुरक्षित किया जा सकता है। अन्यथा वर्तमान पारस्परिक कटुता से मानव न तो मानव रह सकेगा, और न ही मानवता। मानवता और इन दोनों के अभाव में समाज या समाजवाद की कल्पनाएं भी कोरी रह जाएँगी।

————

भास के श्रमणक

—डॉ० राजपुरोहित

श्रमण वस्तुतः आश्रमवासी थे जो स्वयं श्रम करते थे, तपस्या करते थे। समाज में श्रमण-संस्था का उदय बौद्ध तथा जैनधर्म से पूर्व वैदिकयुग में ही हो चुका था।[1] बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।२२) में श्रमणों का सर्वप्रथम उल्लेख ज्ञात होता है परन्तु परवर्तीकाल में, बौद्ध और जैन-सम्प्रदायों ने इस शब्द को विशेषतः स्वीकार किया है। बुद्ध को प्रायः समण गोतम कहा गया। वहाँ यह साधारण भीख माँगनेवाले का अर्थ देने लगा। सुत्त तथा विनय-पिटक में ऐसे भिक्षु समणों की संस्था ही बन गई थी। परन्तु समय से पूर्व अपने उत्तरदायित्व से पलायन करने के कारण इनके प्रति ब्राह्मणों की सद्भावना नहीं थी। वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थों के श्रमण सच्ची त्यागवृत्ति में महान् थे।[2] वैदिक-साहित्य के आलोक में उपलब्ध श्रमण-परम्परा को अवैदिक सिद्ध करना[3] वस्तुतः उस शब्द तथा परम्परा-विषयक तथ्यदृष्टि के साथ अनाचार एवं अन्धानुकरण है।

'पाइय-सद्द-महण्णवो' (पृष्ठ-८६५) के अनुसार पाँच प्रकार के श्रमण होते हैं—निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरुक तथा आजीवक।

'निग्गंथ-सक्क-तावस-गेरुय-आजीव-पंचहा समणा।' स्पष्ट ही जैन, बौद्ध, ब्राह्मण इत्यादि के साथ ही गोव्रतिक श्वाव्रतिक, दिशाव्रतिक आजीवक इत्यादि अनेक श्रमणमार्गी साधुओं की परम्परा थी।[4] यह परम्परा बुद्ध तथा महावीर के पूर्व से ही चली आ रही है और इन दोनों महापुरुषों के अनुयायियों ने भी इसमें परिवृद्धि की है।

सम्राट् अशोक ने (बौद्ध) संघ, ब्राह्मण, आजीविक, निर्ग्रन्थ इत्यादि का एक साथ पृथक्-पृथक् उल्लेख करने के साथ ही बौद्धों से इतर ब्राह्मण-श्रमणों का एक साथ उल्लेख किया है।[5] स्पष्ट ही ये श्रमण बौद्धेतर तो थे ही, ब्राह्मणेतर भी थे। सम्भवतः ये 'समण' आजीविक थे जिन्हें अशोक ने गया के निकट बराबर की गुहाएँ दान में दी थीं।[6]

---

१. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता (हिन्दी अनुवाद), चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ २६८।

२. वही।

३. डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, भारतीय संस्कृति और श्रमण परम्परा, पृष्ठ १३-१४।

४. वहीं, पृष्ठ १३ पर उद्धृत डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का अभिमत।

५. डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स्, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६६। अशोक का सातवां स्तम्भलेख।

६. वही, पृ० ७७।

ईसवी पूर्व दूसरी शती में श्रमण अथवा श्रमणदास नाम भी रखे जाते थे।[1] चीनी-तुर्किस्तान की निय नदी के पार से उपलब्ध, ईसवी की तीसरी-चौथी शती की खरोष्ठी में उत्कीर्ण अभिलेखों में श्रमण तथा श्रामणेर का उल्लेख प्राप्त होता है। 'सामणेर' (श्रामणेर) का तात्पर्य नौसिखिया भिक्खु किया गया है। श्रमणगोष्ठ के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।[2]

यह सर्वविदित है कि भास कालिदास के आदरणीय और उनसे पूर्ववर्ती दक्ष एवं प्रथित रूपककार हुए हैं। चौदह रत्नों के समान उनके चौदह उपलब्ध नाटक सम्पूर्ण परवर्ती नाट्य-परम्परा के; वस्तु, प्रयोग तथा कल्पना की दृष्टि से उपजीव्य बन गए हैं। सम्पूर्ण संस्कृत नाट्य-परम्परा में आज भी भास के समान मंच-प्रयोग-सुलभ रूपक दुर्लभ ही हैं। उनके रूपकों में मंचीय नाट्य-तत्त्व अनायास उतर पड़े हैं। भास की इसी नाट्य महत्ता के समक्ष कालिदास भी एक बार अपने रूपक की सफलता में सशक हो कह उठते हैं[3]—

प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बाहुमानः?

परन्तु परवर्ती होने पर भी कालिदास-साहित्य में ब्राह्मणेतर सन्दर्भ दुर्लभ ही हैं जबकि भास-साहित्य में वे असुलभ नहीं हैं। बुद्ध और महावीर के उपदेशों के पश्चात् श्रमण शब्द प्रायः इन्हीं के द्वारा प्रवृत्त सम्प्रदायों से सम्बद्ध हो गया। किसी भी स्थिति में भास बुद्ध और महावीर के पश्चात् ही हुए और इसलिए भास के रूपकों में इन दोनों के सन्दर्भ में ही श्रमणक शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अविमारक तथा चारुदत्त नामक भास के रूपकों में श्रमणक अथवा श्रमणिका के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

सर्वप्रथम हमें यह देखना है कि साधारणतया श्रमणक से, भास का क्या तात्पर्य है ? 'अविमारक' के द्वितीय[4] अंक में विदूषक से विनोद करती हुई चेटी उसे कहती है कि वह भोजन के लिए निमन्त्रित करने किसी ब्राह्मण का अन्वेषण कर रही है। तब विदूषक कहता है—"अरी ! मैं कौन हूँ ? क्या श्रमणक हूँ ?" चेटी कहती है—"तू तो अवैदिक है।" विदूषक कहता है, "मैं अवैदिक कैसे हुआ ? सुन तो ! रामायण नामक नाट्यशास्त्र है न, एक वर्ष पूरा होने से पहले ही मैंने उसके पाँच श्लोक पढ़ लिए हैं।"

विदूषक— **भोदि अहं को, समणओ ।**

चेटी— **तुवं किल अवेदिओ ।**

विदूषक— **किस्स अहं अवेदिओ सुणाहि दाव । अत्थि रामाअणं णाम णट्टसत्थं । तस्सिं पंचसुलोआ असम्पुण्णे संवच्छरे मए पठिदा ।**

इस विवरण से स्पष्ट है कि भास की दृष्टि में श्रमणक अवैदिक होते हैं। श्रमणक ब्राह्मणेतर ही हो सकते हैं। फिर चाहे वे बौद्ध हों, चाहे जैन अथवा अन्य कोई।

---

१. वही, पृ० २२७।
२. वही, पृ० २४८-४९, ५१-५४ तथा हिन्दू सभ्यता, पृ० २६८।
३. मालविकाग्निमित्र, प्रस्तावना।
४. भासनाटकचक्रम् (श्री सी० आर० देवधर द्वारा सम्पादित का १९६२ ई० का संस्करण), पृष्ठ ११९।
५. वही, अविमारक, पृष्ठ १६९।

"अविमारक के पाँचवें अंक में" नायक नलिनिका को जब विदूषक का परिचय देता है तब नलिनिका कहती है, "इस ब्राह्मण को, शहर की दुकान के बरामदे में, पहले देखा है।"

"आ, दिट्ठपुरुवो णअरापणालिदे अअं बम्हणो।"

तब विदूषक कहता है कि यज्ञोपवीत ब्राह्मण की पहचान है और चीवर रक्तपट की। यदि वस्त्र त्याग दूँ तो श्रमणक हो जाऊँ।

"आम भोदि! जण्णोपवीदेण बम्हणो, चीवरेण रत्तपडो। जदि वत्थं अवणेमि, समणओ होमि।"—

यहाँ भास ने अपने युग में प्रचलित भारतीय तीनों प्रधान धर्मों के अनुयायियों के सामान्य पहचान-चिह्न दे दिए हैं। चीवरधारी प्रायः बौद्ध होते थे। अतः रक्तपट से तात्पर्य बौद्ध ही लेना चाहिए। वैसे रक्तपट किसी अज्ञात अथवा लुप्त पाषंड का नाम भी हो सकता है। श्रमणक वस्त्रहीन होते थे। स्पष्ट ही यहाँ दिगम्बर जैनों की ओर ही संकेत प्रतीत होता है। इसी आधार पर डॉ० ए० डी० पुसालकर यह निर्णय लेते हैं कि चूँकि श्रमणक से भास, दिगम्बर सम्प्रदाय का ही अर्थ लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बरों के उदय से पूर्व अर्थात् ई० पू० ३०० से पूर्व ही भास का समय होना चाहिए। क्योंकि उन्हें श्वेताम्बरों का ज्ञान नहीं था।[1]

अविमारक रूपक के ही चौथे अंक[2] में नायक, विदूषक से नायिका (कुरंगी) विषयक प्रश्न पूछता है—

किन्न स्मरति मां कुरङ्गी? (क्या कुरंगी मेरा स्मरण नहीं करती?)

विदूषक कहता है—**किण्णु खु जीवदि णग्गन्धस्समणिआ।**

श्री सी० आर० देवधर इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार करते हैं—"**किन्नु खलु जीवति नग्नान्धश्रमणिका।** स्पष्ट ही यहाँ विरहिणी नायिका के लिए 'श्रमणिका' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका तात्पर्य तपस्विनी अथवा बेचारी हो सकता है। अर्थ होगा—"बेचारी जीवित भी है?" तपस्विनी के अर्थ में यहाँ श्रमणिका शब्द का प्रयोग किया गया है। जैनों के दिगम्बर सम्प्रदाय की ओर चाहे भास ने संकेत किया हो, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय की साध्वी भी नंगी कभी नहीं रहती है। कम से कम वह एक वस्त्र तो धारण करती ही है। पुनः उपर्युक्त सन्दर्भ में **'अन्ध'** शब्द का क्या अर्थ होगा? अतः **'णग्गंधसमणिआ'** की **'नग्नान्धश्रमणिका'** छाया न करते हुए **'निर्ग्रन्थश्रमणिका'** छाया करना अधिक उचित है, जिसका तात्पर्य होगा कि नायक के विरह में सन्तप्त होती बेचारी राजकुमारी दिगम्बर सम्प्रदाय की श्रमणिका ही बन गयी है। अर्थात् निर्ग्रन्थ श्रमणिका बनने पर भी क्या वह जीवित है?

यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि अविमारक रूपक के उपर्युक्त तीनों स्थलों पर श्रमणिका अथवा श्रमणक का विदूषक ही स्मरण करता है। प्रतीत होता है, कवि इनके प्रति अधिक गम्भीर नहीं है। वह इन्हें उपहास के उपकरण बनाता प्रतीत होता है।

भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण रूपक के तृतीयांक में श्रमणक नामक पात्र रंगमंच पर प्रवेश करता है और वह विदूषक तथा उन्मत्तक के वेष में उपस्थित यौगन्धरायण के कृत्रिम टंटे को शान्त करने का प्रयास करता है। वस्तुतः यह श्रमणक भी वास्तविक नहीं है। उदयन का अन्य मन्त्री रुमण्वान् ही श्रमणक के वेश में उपस्थित होता

---

१. डॉ० ए० डी० पुसालकर, भास (भारतीय विद्याभवन, बम्बई, प्रथम संस्करण, १९४३), पृष्ठ २०८।

२. भासनाटकचक्रम्, पृष्ठ १६१।

है।[1] अविमारक में कहे पूर्वोक्त विवरणानुसार श्रमणक नग्नक होगा और नाट्यशास्त्र, दशरूपक इत्यादि के द्वारा संकेत न करने पर भी[2] यह असम्भव प्रतीत होता है कि उस काल में प्रेक्षकों के समक्ष कोई पात्र रंगमंच पर नंगा उतरे। स्पष्ट ही प्रतिज्ञायौगन्धरायण का श्रमणक दिगम्बर श्रमणक नहीं हो सकता और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भासोक्त अवैदिक श्रमणकों में एक तो अविमारक के दिगम्बर जैन हैं तथा दूसरे अवैदिक श्रमणक बौद्ध हैं। प्रतिज्ञायौगन्धरायण का श्रमणक बौद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि वह विदूषक को 'बम्हणाउस' (ब्राह्मणोपासक)[3] कहता है। यह सर्वविदित है कि बौद्ध साधु बात-बात में 'उपासक' सम्बोधन देते थे। यही नहीं, विदूषक उसके मतानुयायियों को 'संघआरिणो' (संघचारिणः)[4] भी कहता है। संघचारी के रूप में बौद्ध ही प्रसिद्ध हैं, इसमें सन्देह नहीं। इससे स्पष्ट है कि प्रतिज्ञायौगन्धरायण का श्रमणक बौद्ध भिक्षु था। अविमारक में भी पहले चीवरधारी रक्त-पट का उल्लेख हुआ है। सम्भवतः वहाँ भी बौद्ध की ओर ही संकेत है। वैसे, स्वयं भास ने अपने चारुदत्त रूपक में शाक्यश्रमणक का उल्लेख किया है,[5] जहाँ विदूषक कहता है कि "मजदूरनी के इशारा करने पर शाक्यश्रमणक के समान मुझे भी नींद नहीं आ रही है।"

अहं खु दाव कत्तव्वकरत्थीकिदसंकेदो विअ सक्किअसमणओ णिद्दं ण लभामि।

यहाँ सन्देह का स्थान नहीं है। चतुर्भाणी के समान शाक्यभिक्षुओं की कामलोलुपता पर भी फबती कसी गई है। चारु-दत्त रूपक को आत्मसात् करने पर भी यह वाक्य मृच्छकटिक में प्राप्त नहीं होता। चारुदत्त के ही द्वितीयांक में संवाहक के निर्वेद से प्रव्रजित होने का संकेत प्राप्त होता है जिसकी मदमस्त मंगल हस्ती से वसन्तसेना का सेवक रक्षा करता है।[6] इस प्रसंग का पल्लवित रूप मृच्छकटिक में भी प्राप्त होता है। परन्तु वहाँ हाथी का नाम 'खुण्ट-मोटक' दिया गया है जो अवन्तिप्रदेश की मालवी तथा हिन्दी में भी 'खूँटामोड़' के रूप में आज पहचाना जा सकता है। अर्थात् वह मदमस्त हाथी जो अपने आलान रूप खूँटों को भी मोड़कर उखाड़ दे अथवा तोड़ दे। मालवा के धार जिले में खूँटपला (खूँटपल्लि अथवा खूँटपल्ल) जैसे अब भी ग्राम के नाम उपलब्ध होते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि—

(१) भास की दृष्टि में श्रमणक अवैदिक हैं।

(२) भास-साहित्य में दिगम्बर सम्प्रदाय के श्रमणक तथा निर्ग्रन्थ-श्रमणिका का उल्लेख हुआ है। अतः प्रतीत

---

१. वहीं, पृष्ठ ८६-८८।

२. दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम्।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम्॥
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्।
नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च॥ दशरूपक, ३।३४-३६।

३. भासनाटकचक्रम्, पृष्ठ ८६।

४. वहीं, पृष्ठ ९२।

५. वहीं, पृष्ठ २२८।

६. वहीं, पृष्ठ २२०-२१।

होता है कि भास इसके अतिरिक्त जैनसम्प्रदायों से अपरिचित थे अथवा अन्य सम्प्रदाय स्थिति में ही नहीं आए थे।

(३) चीवरधारी रक्तपटों का जो उल्लेख प्राप्त होता है वे सम्भवतः बौद्ध ही थे।

(४) बात-बात में 'उपासक' सम्बोधन देनेवाले संघचारी शाक्यश्रमणक का भी उल्लेख किया गया है तथा उनके चारित्रिक पतन की ओर भी संकेत किया गया है जो मजदूरनियों से अपनी कामपिपासा शान्त करते हैं। परन्तु साथ ही निर्वेद से प्रव्रजित होनेवाले भिक्षु का भी संकेत प्राप्त होता है।

(५) जैन श्रमणकों के सन्दर्भ केवल 'अविमारक में' ही प्राप्त होते हैं। परन्तु बौद्ध श्रमणकों के उल्लेख इसके साथ ही चारुदत्त एवं प्रतिज्ञायौगन्धरायण में भी प्राप्त होते हैं।

(६) जैन श्रमणकों की बात केवल विदूषक कहता है जबकि बौद्धश्रमणक का उल्लेख अविमारक एवं चारुदत्त में विदूषक, चेटक तथा संवाहक करता है तो प्रतिज्ञायौगन्धरायण में रुमण्वान् प्रच्छन्न रूप में श्रमणक के वेश में आता है।

तात्पर्य यह है कि भास-साहित्य में श्रमणकों को चाहे प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त नहीं हुआ हो और अधिकांश में उन्हें परिहास का भाजन बनाया गया हो तथापि तद्युगीन ब्राह्मण-समाज में श्रमणकों की स्थिति पर विशेष प्रकाश पड़ता है जो स्पृहणीय और अत्याज्य है। वस्तुतः इन संकेतात्मक विवरणों से उस युग की धार्मिक स्थिति की वास्तविकता भी प्रकट होती है।

सनातन एवं जैन योग-मीमांसा

—चन्द्रकान्त दवे

प्राचीन काल ही क्या वर्तमान काल में भी योग देश ही नहीं, अपितु विदेश में भी व्यापक चर्चा का विषय बना हुआ है। चर्चा ही नहीं आज भी सुख और मानसिक शान्ति एवं शारीरिक स्वास्थ्य के लिए एक मात्र दृष्टि योग की ओर ही जा रही है। इसका एक मात्र कारण यही प्रतीत होता है कि जैसे हठयोग के साधन—आसन, प्राणायाम, मुद्रा, वन्ध, नेति, धौति आदि क्रियाएं शारीरिक स्वास्थ्य के सर्वोत्तम उपाय हैं, उसी प्रकार राजयोग अथवा पातञ्जल योग मानसिक स्वास्थ्य और सुख-शान्ति ही नहीं अपितु मोक्ष का भी निरुपम साधन है। क्योंकि शारीरिक स्वास्थ्य का मानसिक स्वास्थ्य पर विशिष्ट प्रभाव सर्वमान्य हैं, इसलिए एक स्वर से शास्त्रकारों ने कहा है :—

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।"

यहाँ धर्म शब्द को सभी अन्य पुरुषार्थों का भी उपलक्षक मानना चाहिए। क्योंकि कहा गया है—

"शरीरस्वास्थ्यात् चित्तस्वास्थ्यम्।"
"स्वस्थे चित्ते बुद्धयः सम्भवन्ति ॥"

स्वस्थ चित्त में ही ज्ञान का उद्भव सम्भव है और चित्त की स्वस्थता शरीर की स्वस्थता पर पूर्णतया अवलम्बित है। यही कारण है कि भगवान् बुद्ध प्रारम्भ में शारीरिककष्टप्रधान तप करते थे, बाद में इस रहस्य को समझ पाये कि शरीर को अधिक कष्ट देना बोधिप्राप्ति में साधक होने की अपेक्षा बाधक हो सकता है क्योंकि मन पर उसका दुष्प्रभाव होता है यह सर्वजनमान्य है। इसलिए महात्मा बुद्ध ने अन्त में 'मध्यम प्रतिपदा मार्ग' स्वीकार किया, उसी का उपदेश किया। भगवान् महावीर स्वामी भी पूर्णतः शरीरकष्टकारी मार्ग की ओर नहीं बढ़े। इसका प्रमाण यही है कि उनके बारह वर्ष, तेरह पक्ष के साधना-काल में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ तब मात्र दो दिन का ही उपवास था और यही कारण है कि जैनाचार्य स्वास्थ्य की दृष्टि से भोजन-विवेक को बड़ा महत्त्व देते हैं। योगी के लिए तो उसका और भी अधिक महत्त्व है, यद्यपि जैनाचार्यों ने योगसाधना में शरीरापेक्षया मन का प्राधान्य स्वीकार किया है। अतः मनःस्वास्थ्य के लिए उपवास (भोजन न करने) का भी बड़ा माहात्म्य है। इससे यही प्रतीत होता है कि न्यूनाधिकरूपेण इस मामले में मध्यम मार्ग का ही अनुसरण जैनमत करता प्रतीत होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी उपवास का महत्त्व है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ २।५९।

शरीर कष्ट जैनाचार्यों को विशेषतः इसलिए भी अनभिमत जान पड़ता है कि उन्होंने हठयोग और प्राणायाम का निषेध किया है—

"न च प्राणायामादि हठयोगाभ्यासश्चित्तनिरोधे परमेन्द्रियजये च निश्चित उपायोऽपि; असासं णाणि सनरं—आवश्यकनिर्युक्तिरित्याद्यागमेन योगसमाधानविघ्नत्वेन बहुलं तस्य निषिद्धत्वात् (—यशोविजय।)

वैसे तो भारतीय दर्शनों की सभी धाराएँ शरीर को नश्वर मानकर उसका महत्त्व स्वीकार नहीं करतीं और यही एक बड़ा भारी व्यावहारिक आरोप भी आलोचक गण भारतीय दर्शन पर लगाते हैं। किन्तु जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में मनःशुद्धि के लिए उपवास का महामाहात्म्य स्वीकार किया गया है, तदनुसार ही जैनाचार्य उसी मनःस्वास्थ्य के अंश पर विशेष जोर देते हुए उपवास की ही सर्वतोभावेन प्रधानता स्वीकार करते हैं क्योंकि केवलज्ञान शुद्ध मन के बिना सम्भव नहीं। इस दृष्टि से भगवान् बुद्ध के निम्न संकल्प के अनुसार ही भगवान् महावीर स्वामी ने भी संकल्प किया कि—"मैं तब तक सब प्रकार के कष्टों को सहन करता रहूँगा जब तक कि केवलज्ञान की प्राप्ति न हो जाए। ठीक ऐसा ही बुद्ध का संकल्प है—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य वोधिं बहु-कल्पदुर्लभां, नैवासनात् स्वल्पमिदं चलिष्यति ॥

घेरण्ड तथा नाथयोगियों ने प्राणायाम का अतिमहत्त्व स्वीकार करते हुए वायुनिरोध के द्वारा ही शरीर को योग के योग्य करने और मनःस्वास्थ्य को वायु के अधीन मानते हुए प्राणायाम को ही एक विशिष्ट साधन के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार—

चले वाते चलेत् सर्वं निश्चले निश्चलं तथा।
यावद् वायुः स्थितो देहे तावज्जीवं न मुञ्चति ॥
मरणं तस्य निष्प्राणस्ततो वायुं निरोधयेत्।
यावद् बद्धो मरुद्देहे तावच्चित्तं निरामयम् ॥

एक और भी समानता हठयोग और पातञ्जलयोग में है कि दोनों में प्राणायाम को योग के एक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है, यद्यपि पातञ्जलयोग के आठ अंग मानते हैं—**यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-सभाध्यष्टांगो योगः**। जब कि नाथयोगी ६ ही अंग मानते हैं—

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥

इसी प्रकार जैन आगम ग्रन्थों में—**आचाराङ्ग' सूत्रकृतांग, उतराध्ययन, दशवैकालिक, मूलाचार** आदि में साधु-चर्या के वर्णनान्तर्गत ही योगाभ्यास के अंगों (पाँच प्रकार के यम, तप, स्वाध्याय आदि नियम, इन्द्रियजयरूप प्रत्याहार आदि योग के विशेष अंगों) को साधु-दिनचर्य के लिए आवश्यक माना है। तदनुसार साधुचर्या के १२ अंग ही योगी में भी कहे जा सकते हैं। अतः—**द्वादशांगो योगः जैनागमानुसारी, श्रीहरिभद्रमते तु पंचाङ्ग योग एव व्यवस्थितः**-इत्यादि कहा गया है। वे द्वादश अंग निम्न हैं—

१—**अनशन**।
२—**ऊनोदरी** (स्वल्पाशन)।
३—**भिक्षाचरी**।
४—**रस-परित्याग** (रसीले पदार्थों के आहार का त्याग, स्वाद राहित्य)।
५—**कायक्लेश** (आसन)।
६—**संलीनता** (इन्द्रियों का बाह्यविषयाभिनिवर्तनपूर्वक अन्तर्मुखीकरण)।

७—**प्रायश्चित्त** (दोषों की शुद्धि)।
८—**विनय**।
९—**वैयावृत्य** (परार्थ कार्य)।
१०—**स्वाध्याय** (शास्त्रपाठ)।
११—**ध्यान** (चित्तवृत्तियों का स्थिरीकरण या निरोध)।
१२—**व्युत्सर्ग** (शारीरिक प्रवृत्तियों को रोकना)।

उपर्युक्त द्वादशांगों में प्रथम छः बाह्य तप एवं अन्य छः आभ्यन्तर तप जैनागमों में कहे गये है।

इस वर्णन से यही प्रतीत होता है कि आगम ग्रन्थों में योग की पृथक् शास्त्ररूपेण व्यवस्थिति नहीं रही, अपितु प्रधानतया तप ही साधुचर्या के प्रमुख अंग के रूप में योग-नाम से व्यवहृत किया गया है। क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार मोक्षार्थी को साधुचर्या का पालन करते हुए आत्मचिन्तन के अतिरिक्त कोई प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए और यदि प्रवृत्ति करनी ही है तो फिर वह सर्वथा निवृत्तिमय ही होगी। इस निवृत्तिमय प्रवृत्ति का परिभाषिक नाम—'**अष्टप्रवचनमाता**' है। साधुचर्या के दैनिकचर्या एव रात्रिचर्या द्विविध विभाग हैं और समग्र अहोरात्रचर्या में तृतीय प्रहर के अतिरिक्त अन्य प्रहरत्रय में मुख्य रूप से स्वाध्याय और ध्यान के परिपालन पर ही अधिक बल दिया गया है। जैसा कि उत्तराध्ययन २६ से स्पष्ट है—

दिवसस्स चउरो भाए, कुज्जा भिक्खु विअक्खणो।
तओ उमरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि॥
पढमं पोरिसि सज्झायं, बिइअं झिआयइ।
तइ आए गोअरकालं, पुणो च उत्थिए सज्झायं॥
रत्तिं पि चउरो भाए भिक्खु कुज्जा विअक्खणो।
तओ उत्तर गुणे कुज्जा रहिमागेसु चउसु वि॥
पढमं पोरिसि सज्झायं बिइअं झाणं झिआयइ।
तइ आए निद्दमोक्खं तु चउलिए भुज्जो वि सज्झायं॥

इन आगमों में प्रधानतः योग है। अर्थ में ध्यान शब्द का ही विस्तृत प्रयोग उपलब्ध होता है। ध्यान के लक्षणों का भेद-प्रभेद, आलम्बन आदि का बड़ा सुन्दर विस्तृत वर्णन-स्थानांग, उद्देश्य, समवायांग, भगवती शतक, उत्तराध्ययन आदि आगमों में ही नहीं अपितु उमास्वाति थे तत्त्वार्थसूत्र में भी विशेषरूप से दृष्टिगोचर होता है। वैसे पतञ्जलिकृत योगचक्षण एवं उत्तराध्ययन आदि के वर्णन में हम विशेष अन्तर नहीं कर सकते क्योंकि ध्यान की ही चरम भूमिका अथवा अन्तिम अवस्था समाधि है। चित्त की एकाग्रता के विना "**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।**" (उमास्वति) की कथमपि सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि मन ही एक प्रकार से शरीर की प्रवृत्तियों में योगदान करता है मनःसंयम के विना सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य सम्भव ही नहीं। इसीलिए गीता में कहा गया है—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो।"

नाथ योगियों में मूर्धन्य गुरु गोरक्षनाथ तथा गोपीचन्द राजा भरतरि (भर्तृहरि) नाथ के वदों में भी मन का महत्त्व विशेष रूप से स्वीकार किया गया है—

मन थिरंता पवन थिर पवन थिरंता बिंद।
बिंद थिरंता जिंद चिर................।।
मंन चलंता पवन चलै पवन चलंता बिंद।
बिंद चलंता कंध पड़े, यूँ भाखे गोपीचंद।।

चित्त शारीरिक प्रवृत्तियों का भी नियंत्रक एवं संचालक है इसलिए पतञ्जलि कहते हैं **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।"** किन्तु जैनाचार्य **"सर्वसंवर"** याने शरीर, वाणी, और मन की प्रवृत्तियों के पूर्ण निरोध" को योग कहते हैं। हेमचन्द्राचार्य ने उमास्वाति के "मोक्षोपायसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्य" को ही योग कहा है। पतञ्जलि के सनातन योग में भी विज्ञानभिक्षु आदि ने योग के द्वारा तत्त्व साक्षात्कार को मोक्षोपाय कहा है। इस दृष्टि के अनुसार **युजिर् योगे** धातु से घञ् प्रत्यय करके यदि योग शब्द की निष्पत्ति करें तो भी सनातन और जैनपक्ष में सामञ्जस्य रहेगा। तदनुसार योग वह हुआ जो मोक्ष से सम्बन्ध कराये। धर्म मोक्ष का साधन है। अतः धर्मकार्य योग हुआ। सनातन दृष्टि में भी गीता के अनुसार योगनिष्ठा में धर्म का परम महत्त्व है और धर्मकर्म से चित्तशुद्धि ज्ञानोदय और तदनु मोक्ष, यही **"कर्मयोगेन योगिनाम्"** का आशय है। **"योगः कर्मसु कौशलम्"** में भी **"मोक्षविषयककर्मसु कौशलम्"** तात्पर्य युक्तियुक्त है और मोक्षविषयक कर्म धर्म ही है। यही कारण है कि गौतम ने धर्म की परिभाषा **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** की है। वैसे पतञ्जलि-योग के सभी व्याख्याकारों ने योग शब्द की निष्पत्ति युज् समाधौ धातु से मानी है किन्तु जैनाचार्य श्रीहरिभद्रसूरि—जिन्होंने पातञ्जल योग को दृष्टि में रखकर तथा यथासम्भव उससे मिलान करते हुए जैनमत में व्यवस्थितरूप से सर्वप्रथम योगशास्त्र की पृथक्‌रूप से रचना की—के मत में योग शब्द जोड़ने अर्थ वाले युज् धातु से बना हुआ ही ग्राह्य प्रतीत होता है, क्योंकि उनके मत में योग वह है जो मोक्ष से सम्बन्ध कराये, अर्थात् धर्ममात्र योग है जो कि मोक्ष का एकमात्र साधन है। अतः मोक्षकारक समस्त धर्म-व्यापार योग हुआ। वैसे देखा जाय तो चित्तवृत्तिनिरोध और मोक्षयोजक धर्म व्यापार में स्थूलदृष्ट्या ही भेद प्रतीत होता है। सूक्ष्मदृष्टि से तो कोई विशेष अन्तर नहीं, क्योंकि चित्तवृत्तिनिरोध का भी तात्पर्य मोक्षानुकूल-व्यापार या क्रिया ही है जिससे शब्दादिविषयक संसाराभिमुख वृत्तियाँ विरत हों और इन्द्रियों की विषयविरति जैनमत में भी मान्य है। अतः फलितार्थ यह निकला कि आत्मोन्मुख चेष्टा उभय सम्मत योग शब्द का तात्पर्य हो सकता है। साथ ही सनातन, जैन, बौद्ध साहित्य में सर्वत्र यत्र: योगप्राध्यान, समाधि आदि शब्द लगभग समान अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जैसा कि श्रीहरिभद्रसूरिकृत योगबिन्दु के अनुसार योग व्याख्यापरक श्लोक है—

अध्यात्मभावनाध्यानं समता वृतिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योग एषः श्रेष्ठो यथोत्तरम्।।

हेमचन्द्रचार्य ने भी योग लक्षण मोक्षोपाय ही कहा है—**"मोक्षोपायो योगो, ज्ञान-श्रद्धान-चरणात्मक"** (अभिधानचिन्तामणि)। इसी से मिलता-जुलता भगवत्पाद शंकराचार्य ने भी पतञ्जलि से भी प्राचीन किसी योगाचार्य के योग-लक्षण का ब्रह्मसूत्रभाष्य में उद्धरण दिया है। सम्भवतः वह **"हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः"** की मान्यतानुसार योग के आदि प्रवक्ता आचार्य हिरण्यगर्भ का ही योगसूत्र हो—**"योगशास्त्रेषु—"अथ तत्त्व-दर्शनाभ्युपायो योगः।" इति सम्यग्दर्शनाभ्युपायत्वेनैव योगोऽङ्गीक्रियते।** (II-i-३) श्रीभगवत्पाद के अनुसार वेदों में भी योग-सम्बन्धी यही धारणा है—**"सम्यग्दर्शनाभ्युपायो हि योगो वेदे विहितः, श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"** इति—

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।" "विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नाम् ।" इति चैवमादीनि ।" ब्रह्म-भाष्य । अब सनातन एवं जैन योग लक्षण में परमार्थतः तत्त्वदृष्ट्या कोई अन्तर स्पष्ट उपलक्षित नहीं होता, क्योंकि तत्त्वदर्शन ही सम्यग्दर्शन कहा गया और सम्यग्दर्शन इतना व्यापक शब्द है कि उसमें सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र स्वतः अनुस्यूत और ओतप्रोत अन्तर्निविष्ट हैं और ये ही वैदिक शब्दों में श्रवण, मनन, निदिध्यासन हैं ।

भगवान् पतञ्जलि ने जिस प्रकार आठ अंग **"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधि"** कहे हैं तथा इनमें प्रथम पांच को बहिरंग साधन एवं शेष तीन धारणा-ध्यान समाधि को योग का अन्तरंग साधन माना है इसी प्रकार आचार्य हरिभद्र सूरि ने जैनागमोक्त प्राचीन योग के द्वादशांग का संक्षेप कर पंचांगवर्णन किया है जिन में प्रथम दो कर्मयोग तथा अन्तिम तीन ज्ञानयोग कहे गये हैं—

(१) **स्थान**—कायोत्सर्ग, पर्यंक, पद्मासन आदि आसन ।
(२) **अर्णवर्ण**—शब्द का उच्चारण, मंत्र जप आदि ।
(३) **अर्थ**—नेत्र आदि का वाच्यार्थ ।
(४) **आलम्बन**—रूपी द्रव्य में मन को केन्द्रित करना ।
(५) रहित—निरालम्ब या निर्विकल्प-चिन्मात्र समाधि रूप ।

यहाँ स्पष्टतया पतञ्जलि का मत अन्तर्निहित है । आसन तो है ही और तृतीय साधन अर्ण वर्ण और चतुर्थ आलम्बन तथा रहित के लिए पतञ्जलि के निम्न सूत्र हैं—

यथाभिमतध्यानाद्वा—यथाभिमत देव पर ध्यान केन्द्रित करे अर्हत् पर, तीर्थंकर पर, विष्णु या शिव किसी पर भी—

तज्जपस्तदर्थभावनम्—उसी का जप करे, उसी अर्थ की भावना करे, समाधिस्थ भगवान् महावीर का ध्यान और अर्हत् नवकारादि मंत्र का जप और उन मंत्रों में भक्तामरस्तोत्र आदि के अर्थ की भावना भी करे । रहित (४) के लिए सूत्र हैं—

तदेवार्थमात्रनिर्मासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

तथा दो प्रकार समाधि के निवीज निर्वज पतञ्जलि मुनि को मान्य हैं ।

आचार्य हरिभद्रसूरि (अष्टम शतक) के अतिरिक्त श्रीहेमचन्द्र सूरि (द्वादश शतक) भी योगशास्त्र प्रणेता रूप से प्रख्यात हैं । उनके ग्रन्थों में पातञ्जल योगसूत्रोंक्त अष्ट योगांगक्रम से साधु एवं गृहस्थ जीवनचर्या एवं आचार-संहिता का जैन परम्परा एवं शैली के अनुसार वर्णन किया गया है । साथ ही आसन प्राणायाम से संबद्ध अनेक बातों का स्वरूप भी वर्णित है, जिससे उस शताब्दी में हठयोग के विशिष्ट प्रचार-प्रभाव का ज्ञान होता है ।

यद्यपि हेमचन्द्राचार्य ने श्रीहरिभद्रसूरि के योगग्रन्थों में निर्दिष्ट नवीन परिभाषा एवं रोचक शैली का जिक्र नहीं किया और न ही उनका अनुसरण किया तथापि एक नवीनता (नयी दृष्टि) उनके ग्रन्थों में है । ध्यान के प्रकारों का विस्तृत वर्णन आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत भेद से स्पष्ट एवं सुन्दररूप से किया है । हेमचन्द्रसूरि की महती विशेषता उनके द्वारा वर्णित मन के विक्षिप्त यातायात, श्लिष्ट एवं सुलीन ये चार भेद हैं जिनका वर्णन उन्होंने अपने निजी अनुभव के आधार पर ही किया प्रतीत होता है । इसीलिए

योगशास्त्रपिपठिपुओं के लिए ही नहीं किन्तु जैनाचार एवं तत्त्वज्ञान जिज्ञासुओं के लिये उनका योगशास्त्र अत्यन्त महत्त्व रखता है।

जैनपरम्परा में सर्वप्रथम एवं सर्वाधिकरूप से योगशास्त्र के व्यवस्थित प्रणेता के रूप में ही नहीं अपितु समन्वयवादी उदार दृष्टिकोण एवं जैनमार्गानुसार वर्णित योग का पातञ्जलसूत्र में वर्णित योग से मिलान करना श्रीहरिभद्र सूरि की महत्ता में चार चाँद लगा देता है। वस्तुतः वे जैन परम्परा में पतञ्जलि के समान ही महनीय योगाचार्य हैं इसमें अत्युक्ति नहीं। उनके द्वारा रचित योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका, योगशतक और षोडशक सभी योगमार्ग-प्रविविक्षु एवं योगजिज्ञासुओं के लिए अवश्य पठनीय हैं।

ऊपर कहा गया है कि जैनागमों में स्वाध्याय और ध्यान जैनयोग के स्तंभ हैं। अतः इन्हें समझना अत्यावश्यक है।

स्वाध्याय के वाचना, प्रच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा एवं धर्मकथा भेद से पाँच प्रकार हैं—

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्यायध्यानसम्पत्त्या परामात्मा प्रकाशते॥

पतञ्जलि के अनुसार ध्यान का पूर्वांग धारणा है जिसका वर्णन जैनयोग में एकाग्रमनः सन्निवेशना के रूप में है क्योंकि "किसी एक आलम्बन को लेकर उसमें मन को स्थापित करना, लगाना, बाँध देना ही एकाग्रमनःसन्निवेशना है और वही **"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा"** पतञ्जलि के अनुसार है। स्वाध्याय का फल ज्ञानावरण क्षय भी सनातन शास्त्रसम्मत है तथा एकाग्रमनःसन्निवेशना का फल है—चित्त-निरोध यही ध्यान है। स्मरण रहे कि यहाँ चित्त एवं निरोध का पार्थक्य है क्योंकि जो अध्यवसाय चल है उसे चित्त कहा गया है और जो स्थिर है उसे ध्यान (एकाग्रचिन्तायोगविरोधो वा ध्यानम्)। और अतः ध्यान के दो रूप हुए प्रथम चित्तनिरोध द्वितीय शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध। पतञ्जलि भी **"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।"** कह कर स्थिरता को ही ध्यान के रूप में इंगित कर रहे हैं तथा असंप्रज्ञात समाधि में पूर्ण निरोध ही कहा है। संप्रज्ञात असंप्रज्ञात दोनों समाधि-प्रकार जैनमतानुसार ध्यान में ही अन्तर्भूत हैं। यहाँ साधनाक्रम के अनुसार ध्यान के धर्म्य और शुक्ल दो भेद किये गये हैं। धर्म्य ध्यान चित्तनिरोध का प्रारम्भिक अभ्यास है शुक्लध्यान उसका परिपाक है, जिसका परिपालन पूर्वधर मुनियों (विशिष्ट ज्ञानियों) द्वारा होता है। धर्म्यध्यान के ४ भेद हैं—(१) आज्ञाविचय—सूक्ष्म पदार्थों का चिन्तन। (२) अपायविचय-हेय का चिन्तन। (३) विपाकविचय-हेय के परिणामों का चिन्तन। (४) संस्थानविपयक-पदार्थों की आकृतियों या स्वरूपों का चिन्तन। इस साधना से विश्व में उत्पादन, व्यय तथा ध्रौव्यशीलता तथा उसके विविध परिणाम परिवर्तन का ज्ञान होता है तदनन्तर मन समग्र विकारों से विरत हो जाता है तब स्थैर्य आता है। शुक्लध्यान की अन्तिम अवस्था में मनःप्रवृत्ति का पूर्ण निरोध, सर्वसंवर या समाधि प्राप्त होती हैं। शुक्लध्यान के भी चार प्रकार हैं, (१) पृथक्त्व वितर्क-सविचारी (२) एकत्व वितर्क-अविचारी, (३) सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाती, तथा (४) समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति।

महर्षि पतञ्जलि ने भी समापत्ति के चार भेद कहे हैं—१—सवितर्का, २—निर्वितर्का, ३—सविचारा तथा ४—निर्विचारा। यहाँ उपर्युक्त शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकारों में और सवितर्क, निर्वितर्क समापत्ति में यही भेद है कि पतञ्जलि के अनुसार सवितर्क निर्वितर्क स्थूल पदार्थ विषयक हैं और सविचार निर्विचार सूक्ष्मविषयक। साथ ही ये

चारों समापत्तियाँ सबीज समाधि हैं। किन्तु जैन मतानुसार सवितर्क निर्वितर्क दोनों के ही स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ आलम्बन हो सकते हैं। तथा यदि मोह शान्त होने पर प्राप्त हों तो इनकी सबीज संज्ञा एवं मोह के सर्वथा क्षय हो जाने पर निर्बीज सज्ञा होती है। तदनुसार यदि पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुतानुसार जिस द्रव्य को ध्यान का आलम्बन बनाता है उसके परिणाम विशेष या पर्याय पर ही स्थिर न रहते हुए विभिन्न परिणामों पर विचरण करे और शब्द से अर्थ पर और अर्थ से शब्द पर मन, वाणी, शरीर में से एक अन्य प्रवृत्ति पर संक्रमण करते हुए अनेक दृष्टियों से पदार्थ पर चिन्तन करे तब वह पृथक्त्व वितर्क सविचारी ध्यान कहलाता है। और यदि उसी द्रव्यरूप आलम्बन के एक ही परिणाम पर चिन्तन स्थिर कर लें और शब्द अर्थ मन, वाणी, शरीर पर संक्रमण न करे तो वह एकत्व वितर्क अविचारी ध्यान कहलाता है। पतञ्जलि भी सूत्रद्वय से कुछ-कुछ इसी आशय को प्रकट करते हैं :—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का।
स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।
एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याताः।

श्री हरिभद्रसूरि ने इसी का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है—

समाधिरेष एवान्यैः सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थ ज्ञानतस्तथा॥ योगबिन्दु ॥४१८॥
असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः।
निरुद्धाऽशेषवृत्त्यादि तत्स्वरूपानुवेधतः॥

अर्थात् शुक्लध्यान के पृथक्त्व वितर्क एवं एकत्व-वितर्क-दो भेद संप्रज्ञात तथा सूक्ष्मक्रिय और समुच्छिन्नक्रिय असंप्रज्ञात कहे जा सकते हैं।

यहाँ यह उल्लेख करना अनिवार्य प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में श्री हरिभद्र सूरि पातञ्जल परिभाषाओं के साथ जैन परिभाषाओं का ही नहीं अपितु बौद्धदर्शन भी परिभाषाओं का भी अप्रतिम समन्वय प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय—ये पाँच योगमार्ग की भूमिकाएं हैं, प्रथम चार संप्रज्ञात और अन्तिम असंप्रज्ञात हैं। (योगबिन्दु ४२८, ४२०) बौद्धों के साथ समन्वय को योगविषयवेत्ता निम्न श्लोकों से सम्यग्दर्शन कर सकते हैं—

यत्सम्यग्दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः।
सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्धन्तैषोऽन्वर्थतोऽपि हि॥यो० बि० १७३॥
वरबोधिसमेतो वा तीर्थकृद्यो भविष्यति।
तथा भव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्व सतां मतः॥यो० बि० २७४॥

केवल समन्वय ही नहीं अपितु सर्वाङ्गपूर्ण योगशास्त्र की रचना कर एक नवीन दिशा भी योगसाहित्य में हरिभद्रसूरि ने प्रदान की है जिसके उदाहरण के लिए योगदृष्टिसमुच्चय में वर्णित योग की आठ दृष्टियों पर दृष्टिपात करना पर्याप्त होगा—

मित्रा, तारा, बला, दीप्ता स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत॥१३॥

यदि योगशास्त्र के अध्ययन में हम हरिभद्रसूरि को छोड़ दें तो शून्यता ही रहेगी। उनके ग्रन्थों के बिना सर्वथा अपूर्ण एवं संकीर्ण दृष्टिकोण ही योगजिज्ञासुओं का रहेगा। पतञ्जलि के समान वे भी विशाल दृष्टि एवं

औदार्य के धनी हैं, यह उनके निम्न श्लोकों से जो कि एक प्रकार से पतञ्जलि के, "यथाभिमतध्यानाद्वा" सूत्र की ही व्याख्या प्रतीत होते हैं, पर ध्यान देने से सम्यक् प्रकट होता है—

पुष्पैश्च बलिना चैव वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः। देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धासमन्वितम् ।।
अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा । गृहिणां माननीया यत्सर्वे देवा महात्मनाम् ।।
सर्वान्देवान्नमस्यन्ति नैकं देवं समाश्रिताः। जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।
चारिसंजीवनीचारन्याय एष सतां मतः । नान्यथात्रेष्टसिद्धिः स्याद्विशेषेणादिकर्मणाम् ।।
गुणाधिक्यपरिज्ञानाद्विशेषेऽप्येतदिष्यते । अद्वेषेण तदन्येषां वृत्ताधिक्ये तथात्मनः ।। यो० बि० १६-२०

सर्वदेव नमस्कार उपासना जनकल्याण का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है । अद्वेष, समभाव यही सच्ची जैनमुनि ही क्या सनातन मुनि की भी आत्मा है । यही विश्व का कल्याण और धार्मिक साहिष्णुता का श्रेष्ठतम उपाय है।

अन्त में संक्षेपतः सनातन योगशास्त्र एवं जैनदर्शन के त्रिविध साम्य को इंगित कर उपसंहार करते हुए यही कहना है कि विस्तृत ज्ञान के लिए पातञ्जल एवं हरिभद्र दोनों योगशास्त्रों का अध्ययन जिज्ञासु जन करें। वह त्रिविध साम्य (१) शाब्दिक (२) विषयका तथा (३) प्रक्रिया का है। पातञ्जलयोग जैनदर्शन में **शब्दसाम्य** का प्राचुर्य है—यथा भवप्रत्यय, सवितर्क, सविचार, निर्विचार वज्रसंहनन केवली, कुशल, ज्ञानावरणीय कर्म, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सर्वज्ञ, क्षीणक्लेश, चरमदेह आदि-आदि।

विषयगत साम्य—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार अवस्थाओं का वर्णन, मोहनीय कर्म की सत्ता उपशम क्षयोपशम, विरोधि प्रकृति के उदयादिकृत व्यवधान और उदयावस्था के रूप में श्री यशोविजयकृत योगसूत्रवृत्ति में वर्णित है। विभूतियों का वर्णन भी जैनशास्त्रों में प्रायः है । अनेक कार्यों के निर्माण का वर्णन भी वैक्रिय आहारक लब्धि रूप से जैन ग्रन्थों में है । सोपक्रम निरूपक आयुष्कर्म का वर्णन सर्वथा योगभाष्यार्थ के समान है। यही नहीं उसके स्वरूप वर्णन परक आर्द्रवस्त्र एवं तृणराशि के दृष्टान्त भी आवश्यकनिर्युक्ति तथा विशेषावश्यकभाष्य आदि ग्रन्थों में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। तत्वार्थभाष्य तो इस विषय में तीसरे गणित विषयक दृष्टान्त का भी उल्लेख करते हुए योगभाष्य के साथ अत्यधिक शाब्दिक एवं अर्थदृष्टि से साम्य रखता है । (तत्त्वार्थ अ० २-५२ देखें)।

प्रक्रिया साम्य—परिणामिनित्यता—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप से त्रिरूप वस्तु मान कर धर्म-धर्मी का विचार जैनशास्त्र भी करता है। यहां वस्तु द्रव्यपर्याय स्वरूप है। उसका लक्षण "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" है। "एतेन भूतेन्द्रियेषु लक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः" तथा "शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।" (यो० सू० ३-१३-१४) सूत्रों में उत्पादव्ययध्रौव्य-त्रिरूपता का ही चित्रण है। भेद केवल यही है कि योगसूत्र "सर्वे एवं परिणामिनो भावा ऋते चिति शक्तेः" कहता है तथा जैन दर्शन "सर्वे भावपरिणामिनः" कहता है। तदनुसार सांख्य-योग-धर्मलक्षणावस्था परिणाम जड़ पदार्थ में ही मानता है चेतन में नहीं जब कि जैनशास्त्र उत्पाद-व्ययरूप परिणामवाद का उपयोग जड़ चेतन दोनों में करता है फिर भी प्रक्रिया साम्य है।

अन्त में श्री हरिभद्र सूरि के श्लोक से योग के महान् आचार्य पतञ्जलि के प्रति आदर आभार प्रकट करते हुए विराम करते हैं—

उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।
भावियोगहितायोच्चैर्मोहदीपसमं वचः ।। योगबिन्दु, ६६ ।।

जैनधर्म में देवियों का स्वरूप

—डॉ० पुष्पेन्द्रकुमार

भारत में जैनधर्म उतना ही प्राचीन है जितना बौद्धधर्म। कुछ क्षेत्रों में हिन्दूधर्म भी अधिक प्राचीन नहीं हैं।

जैनधर्म प्रमुखतया मन्दिरों का धर्म है अर्थात् मन्दिर में उपासना हेतु जाना जैनधर्म का एक प्रमुख अंग है। मन्दिर ही जैनधर्म के संग्रहालय हैं। अतएव असंख्य मन्दिर उपलब्ध होते हैं। जैन साधक मूर्तियों को घरों में स्थापित नहीं करते हैं परन्तु मन्दिरों में ही जाकर पूजा करते हैं। मन्दिरों में देवताओं, तीर्थङ्करों, देवियों, यक्षों आदि की मूर्तियां स्थापित की जाती हैं। देवताओं की मूर्तिस्थापना सम्भवतः हिन्दूधर्म का प्रभाव हो क्योंकि हम यह देखेंगे कि बहुत सारे हिन्दू देवी-देवताओं को जैन-धर्म में स्थान मिला है। इस निबन्ध में हम जैन देवियों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

जैनधर्म में छठीं और सातवीं शताब्दी के उपरान्त देव-समुदाय एक बहुत बड़े स्तर पर विकसित हो चुका था। मूर्तियों की निर्माणविधि, प्रतिष्ठा आदि विषयों पर यथेष्ट मात्रा में ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। पूजित देवताओं में कुछ देवताओं की पूजा केवल श्वेताम्बर सम्प्रदाय या दिगम्बर सम्प्रदाय तक ही सीमित रही है। इसी प्रकार जैन-धर्म में देवियों का एक बहुत बड़ा वर्ग उपलब्ध होता है, इनमें से कुछ श्वेताम्बरपन्थ की हैं, उन देवियों के नाम, लक्षण, पूजाविधि भिन्न होते हैं और कुछ दिगम्बर सम्प्रदाय की देवियां हैं जिनकी पूजाविधि, नाम, लक्षण और स्वरूप भिन्न हैं।

जैनधर्म के प्राचीन ग्रन्थ में देवियों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है[1]—

१. प्रासाद देवियां—जिन देवियों की मूर्तियां मन्दिरों में प्रतिष्ठापित हैं तथा सर्वत्र मिलती हैं।

२. कुल देवियां—वे तान्त्रिक देवियां जिनको भक्तलोग अपने २ कुल की देवता के रूप में पूजते हैं एवं जिनकी पूजा गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्रों द्वारा की जाती है। चण्डी, चामुण्डा, आदि कुलदेवियां हैं।

३. सम्प्रदाय देवियां—किसी सम्प्रदाय की देवियां या जाति की देवी अम्बा, सरस्वती, गौरी, त्रिपुरा, तारा आदि देवियां इस वर्ग में आती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह विभाजन कोई बहुत सैद्धान्तिक नहीं है परन्तु इससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि तान्त्रिक देवियां जैनधर्म में प्रवेश पा गई थीं और पूजा की वस्तु थीं। ये तान्त्रिक देवियां—काली, चामुण्डा, दुर्गा, ललिता, कुरुकुल्ला, कालरात्रि आदि देवियां केवल श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित रहीं।

---

१. तत्र देव्यस्त्रिधा प्रासाददेव्यः संप्रदायदेव्यः कुलदेव्यश्च। प्रासाददेव्यः पीठोपपीठेषु गुह्यस्थिता भूमिस्थिता प्रासाद-स्थिता लिंगरूपा वा स्वयम्भूतरूपा वा मनुष्यनिर्मितरूपा वा संप्रदायदेव्यः अम्बासरस्वतीत्रिपुराताराप्रभृतयो गुरूपदिष्टमन्त्रोपासनीयाः। कुलदेव्यः चण्डीचामुण्डाकन्टेश्वरीव्याधराजीप्रभृतयः॥

—आचारदिनकर—प्रतिष्ठाविधि

जैनधर्म में प्रमुखतया देवियों के तीन वर्ग मूर्तिलक्षणों के आधार पर किये जा सकते हैं।

१. शासन देवियां—ये देवियां जैन धर्म या संघ का पालन करती हैं। विघ्न नाश करती हैं एवं मन्दिरों में तीर्थङ्करों के साथ इनकी मूर्तियां मिलती हैं। ये २४ होती हैं। चक्रेश्वरी, अम्बिका आदि प्रमुख हैं।

या पाति शासनं जैनं संघप्रत्यूहनाशिनी। साभिप्रेतसमृद्धचर्थं भूयाच्छासनदेवता॥ —हेमचन्द्र

२. विद्या देवियां—ये विद्या की अधिष्ठातृ देवता हैं। इनकी संख्या सोलह बतलाई गई है। इन्हें श्रुतदेवियां भी कहा जाता है। इनमें, सरस्वती, काली, ज्वालामालिनी आदि प्रमुख हैं।

३. यक्षिणी देवियां—जैनधर्म में यक्षों एवं यक्षिणियों का देवता पद स्वीकृत किया गया है। ये अधिकतर धन की देवियां हैं। इनमें भद्रकाली, भृकुटी, तारा आदि प्रमुख हैं।

इन देवियों की मूर्ति का निर्माण करते हुए कलाकार देवी के वर्ग का पूरा २ ध्यान रखते थे। अर्थात् शासनदेवी, विद्यादेवी या यक्षिणी के लक्षण या चिह्नों का स्पष्ट एवं सूक्ष्मतर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। मूर्तियां मथुराकाल से लेकर आजतक उपलब्ध होती रही हैं। मूर्तिकला को जीवित रखने का सतत प्रयास कलाकारों ने किया है। इनमें से बहुत सी देवियाँ तो हिन्दू देवियों के समान ही हैं और कुछ ने जैनधर्म की स्पष्ट छाप रखते हुए भी हिन्दू देवियों के नाम, रूप और आयुध आदि धारण किये हैं। बहुत सी मूर्तियां मूर्तिकला की भव्यतम कलाकृतियां है।

तीर्थङ्करों के साथ ही साथ जैन मतानुयायी अन्य देवी-देवताओं की भी पूजा करते थे। इनमें प्रमुख हैं, सरस्वती, अम्बिका और पद्मावती। इसी नाम की हिन्दू देवियों से भिन्नता दिखलाने के लिए इनको विभिन्न तीर्थङ्करों के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। देवी के मुकुट पर उसी तीर्थङ्कर की प्रतिमा होती है जिसके साथ सम्बन्धित हो। इन मूर्तियों के निर्माण में शास्त्रीय विधियों का पालन करते हुए भी कला का पूर्ण ध्यान रखा गया है। ये मूर्तियाँ उच्च भावात्मक कला, भंगिमा एवं अभिव्यक्ति का उदाहरण हैं। कुछ देवियां मान्त्रिक देवियां हैं।

सरस्वती—सरस्वती देवी की मूर्तियां तीन प्रकार की उपलब्ध होती हैं। दो भुजावाली देवी, चार भुजाओं-वाली देवी। चार से अधिक भुजाओं से युक्त। मुख्यरूप से सरस्वती देवी के हाथ में पुस्तक होती है एवं हंस को उसका वाहन दिखलाया गया है।

एक बहुत ही सुन्दर सरस्वती मूर्ति हमें सिरोही स्टेट राजस्थान के एक जैन मन्दिर से प्राप्त हुई है। इसका समय लगभग आठवीं शताब्दी माना जाता है। इसमें सरस्वती देवी पद्मासन पर स्थित है तथा उसके दोनों हाथों में कमल सुशोभित हो रहे हैं।[1]

राजपूताना संग्रहालय में एक पत्थर की सरस्वती मूर्ति बहुत ही सुन्दर है जो बाँसवाड़ा राज्य से प्राप्त की गई है। देवी की चार भुजाएँ हैं। बाईं भुजाओं में पुस्तक एवं वीणा है तथा दाईं ओर की भुजा में माला एवं कमल सुशोभित हैं मुकुट में एक छोटे आकार की शिवमूर्ति जड़ी हुई है।

एक छोटी संगमरमर की सरस्वती मूर्ति अचलगढ से प्राप्त हुई है। इसमें चार भुजाओं वाली देवी के ऊपर के दोनों हाथों में वीणा और पुस्तक है तथा निचले हाथों में माला एवं कमण्डलु हैं। देवी इसमें मयूर-वाहना हैं।[2]

---

1. (Progress report of Archaeological survey west greece) 1905-1906 P. 48.
2. Jainism in Rajasthan. P-133. K. C. Jain.

इसी प्रकार सरस्वती की एक बहुत ही सुन्दर प्रतिमा बीकानेर से प्राप्त हुई है। जिसे मध्यकालीन मूर्ति-कला का अन्यतम उदाहरण कहा जा सकता है। यह सफेद संगमरमर पर बनी है एव सौम्यस्वरूपा है। देवी की चार भुजाएँ हैं। इनकी ऊपर वाली भुजाओं में कमल एवं पुस्तक है और निचली भुजाओं में कमण्डलु और मुद्रा है। देवी खड़ी हुई हैं।

सरस्वती देवी की बहुत ही सुन्दर प्रतिमाएँ आबू के जैन मन्दिर में प्राप्त होती हैं। चार भुजाओं वाली देवी के हाथों में वीणा, पुस्तक, माला और कमल अंकित है। इसी मन्दिर (विमल वसही) में सरस्वती की सोलह भुजा-वाली प्रतिमा भीतरी छत पर अंकित की गयी है। यह विद्या की देवी है भद्रासन में स्थिर है, दोनों तरफ नृत्य करते हुए परिचारक खड़े हैं। आठ भुजाओं के विषय दृष्टिगोचर होते हैं—शेष पहचान में नहीं आते हैं। सिंहासन में हंसकी प्रतिमा दिखाई दे रही है। इसी प्रकार तेजफल द्वारा निर्मित मन्दिर में सरस्वती की सुन्दर प्रतिमा विद्यमान है। भद्रासन पर बैठी हुई देवी के हाथों में पुस्तक के स्थान पर कमण्डलु प्रदर्शित किया गया है।

मथुरा से प्राप्त जैनस्तूप में सरस्वती और अम्बिका की प्रतिमाएँ मिली हैं। सरस्वती की मूर्ति का शिर विद्यमान नहीं हैं। बहुत ही कलात्मक वस्त्र पहने हुए है। दोनों तरफ एक-एक परिचारिका विद्यमान है। इससे यह ज्ञात होता है कि बड़े ही प्राचीन काल से जैनधर्म में सरस्वती की पूजा होती रही है। वैसे भी विद्यादेवियों की पूजा जैनधर्म की अपनी विशेषता है। १६ विद्यादेवियां या श्रुतदेवियां केवल जैन देव परिवार में ही प्राप्त होती हैं।

'श्रुतदेवतां शुक्लवर्णां हंसवाहनां चतुर्भुजां वरदकमलान्वितदक्षिणकरां पुस्तकाक्षमालान्वितवामकरां चेति। पुस्तकाक्षमालिकाहस्ता वीणाहस्ता सरस्वती।

सरस्वती वीणा पुस्तकधारिणी तथा हंसवाहना है। हिन्दू सरस्वती देवी के समान ही है। केवल जिनमूर्ति मुकुट में होने पर पहचान हो सकती है।

अम्बिका देवी

अम्बिका देवी—इस देवी की पूजा बड़े ही प्राचीन काल से जैन लोग करते रहे हैं। यह देवी जैन आम्नाय की देवी स्वीकार की गयी है जिस प्रकार बौद्धों की तारादेवी है। यद्यपि २२वें तीर्थंकर श्री नेमीनाथ के साथ इन्हें सम्बद्ध माना जाता है किन्तु सभी तीर्थंकरों के साथ इनकी प्रतिमाएँ उपलब्ध होती हैं। मथुरा में सबसे प्राचीन मूर्ति इनकी प्राप्त हुई है। यह मूर्ति लाल पत्थर की है। श्री जिनप्रभसूरी अपने विविधतीर्थकल्प में इनको मथुरा तीर्थ की अधिष्ठात्री देवी मानते हैं तथा सिंहवाहिनी बताते हैं। इनके हाथ में प्रायः आम्रफल एवं बालक विद्यमान रहते हैं। एलोरा की प्रसिद्ध गुफाओं में भी अम्बिका देवी की बहुतसी मूर्ति गढ़ी हुई हैं। विशाल मूर्ति-अम्बिका-जी की आम्र के वृक्ष के नीचे बैठी हुई दिखलाई है। श्री नेमिनाथ उनके मुकुट पर विराजमान हैं। सिंह भी विद्यमान है तथा आम्र के वृक्ष पर मयूर भी दिख रहा है।

बहुत से जैन आचार्यों एवं भक्तों ने समय-समय पर विभिन्न उद्देश्यों के लिये अम्बिका देवी की आराधना की है। कभी शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के लिये, कभी अपना सिद्धान्त स्थापित करने के लिए और समाज में सफलता के लिये इनकी पूजा की जाती रही है।

अम्बिका देवी की प्राचीन मूर्त्तियां नवमुनि गुफाओं, खण्डगिरि गुफाओं एवं धाङ्क (काठियावाड) में प्राप्त होती हैं। डा० सांकलिया के अनुसार इनका काल तीसरी या चौथी शताब्दी माना जा सकता है। सरस्वती और

अम्बिका की इन प्राचीन मूर्त्तियों की विशेषता यह है कि ये दोनों देवियां स्वतन्त्र देवता के रूप में प्राप्त होती हैं शासन देवता या या गौणदेवता के रूप में नहीं। इन दोनों देवियों की पूजा प्राचीन काल से चली आ रही है।

इनका वाहन सिंह दिखलाया गया है। दसवीं शती की एक धातु मूर्ति अम्बिका देवी की प्राप्त हुई है। उनकी बांयी भुजा में बच्चा है एवं दायीं में अमलुम्बी है।

बारहवीं शताब्दी की एक विशाल मूर्ति मोरखाना से प्राप्त हुई है। इसमें देवी सिंहवाहिनी प्रदर्शित है। प्रतिमालक्षण की दृष्टि से ये निश्चित रूप से जैनदेवी कही जा सकती हैं। मूर्तिकला का सुन्दर नमूना है।

नरैना के मन्दिर में अम्बिका की तीन मूर्तियां सुरक्षित हैं। इनमें देवी सिंह पर बैठी हुई है।

चौदहवीं शती की धातुमूर्ति जयपुर में सुरक्षित है। देवी सिंह पर आरूढ है एवं शिशु उनकी गोदी में है।

तमिलनाडु के जैन मन्दिर में नीचे में जड़ी हुई विशाल तथा मध्यभाग में स्थित देवी प्रतिमा है। सिर पर मुकुट और कानों में कुण्डल सुशोभित हैं। सिंह पर बैठी हुई है, दो भुजाएँ हैं। एक हाथ से किसी बालिका का स्पर्श कर रही हैं तथा दूसरे में फलों का गुच्छा है

चारण पर्वत पर भी अम्बिका की मूर्ति मिली है। विशाल मूर्ति है, दो भुजाएँ, सिंह आदि सभी कुछ हैं। कहीं-२ इस देवी को नेमिनाथ की यक्षिणी भी बतलाया गया है। प्रारम्भिक काल में तमिलनाडु में इस देवी की काफी पूजा होती रही है।

जैन चित्रकला में भी अम्बिका देवी के बहुत अच्छे चित्र उपलब्ध होते हैं। पद्मावती, ज्वालामालिनी आदि देवियों के २०० वर्ष पुराने सुन्दर चित्र जैन भाण्डागारों में सुरक्षित हैं।

विमलशाह के प्रसिद्ध जैनमन्दिर में २० भुजाओं वाली अम्बिका देवी की मूर्ति, भीतरी छत पर विद्यमान है। ललितासन में देवी सिंह पर आरूढ है। उनकी भुजाओं में खड्ग, शक्ति, सर्प, गदा, ढाल, परशु, कमण्डलु, अभयमुद्रा और वरदमुद्रा दीख रहीं हैं। शेष भुजाओं के पदार्थ टूटे हुए होने के कारण पहचान में नहीं आते हैं। देवी ने सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में मोतियों की माला, कमर में करधनी, हाथों में कंगन, पैरों में नूपुर, अधो-वस्त्र (साड़ी) और स्कार्फ (दुपट्टा) धारण किया हुआ है।

यह यक्षिणी है और आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ के साथ रहती है, इसकी पूजा दिगम्बर सम्प्रदाय में की जाती है। भैंस इनका वाहन है, आठ भुजाएँ हैं जिनमें आयुध हैं। इसके वर्णन के अनुसार यह ज्वालारूप है और बैल इनका वाहन होता है।। दो हाथों में सर्प तथा अन्य आयुध होते हैं। कर्नाटक में एक जैन मन्दिर बेला-गोला में चन्द्रप्रभ के साथ ज्वालामालिनी की प्रतिमा है। केवल दो भुजाएँ हैं एवं सिंह आसन है।

देवी ज्वालामालिनी

जैन देवसमुदाय में ज्वालामालिनी या महाज्वाला नाम की एक देवी हैं। यह देवी भी भैंसे पर बैठती हैं तथा इनके आठों भुजाओं में आयुध होते हैं। पोतूर (तमिलनाड) में एक जैनमन्दिर में इस देवी की मूर्ति है। देवी की आठ भुजाएँ हैं—तथा दाएँ हाथ में चक्र, अभयमुद्रा, गदा, एवं शूल हैं और बायीं भुजाओं में शंख, ढाल, कपाल और पुस्तक विद्यमान हैं। मुखमण्डल ज्वालामय दिखलाया गया है। यह मूर्ति हिन्दुओं की महाकाली से

काफी समानता रखती है। मद्रास में यह प्रचलित है कि जैनमुनि हेलाचार्य (नवमशती) ने ज्वालामालिनी देवी की पूजा प्रचलित की थी। नीलगिरि पर्वत पर अग्नि देवी की स्थापना की गई है। इस देवी के मन्त्र और कल्प स्वतन्त्र-रूप से लिखे गये हैं। इस देवी की पूजा प्रायः तान्त्रिक विधि से होती रही है और यह यक्षिणी पूजा का प्रारम्भ कराती है।

सिद्धायिका देवी (यक्षिणी)

तमिलनाडु में प्राप्त मूर्तियों में एक स्त्री देवता को युद्ध करते हुए दिखलाया गया है तथा वह सिंह पर आसीन है। उसके दो हाथों में धनुष बाण हैं और शेष दो में दूसरे आयुध हैं। देवी के सिंह ने शत्रु के हाथी को धराशायी किया हुआ है। यह सिद्धायिका नाम की यक्षिणी है जो महावीर जी की रक्षा में तत्पर रहती है। इनकी एक मूर्ति अन्नामलाई स्थान से भी प्राप्त हुई है।

नरसिंह पुर के मन्दिर में ज्वालामालिनी की प्रतिमा अष्टभुजा आयुधधारिणी मिलती है। इस देवी की कर्नाटक में पूजा अधिक प्रचलित थीं।

देवी पद्मावती

प्रायः यह देवी पार्श्वनाथ जी के साथ ही पायी जाती है।

बारहवीं शताब्दी की पाषाणमूर्ति बघेरा में पायी गई है।

इसी प्रकार की एक धातु मूर्ति जयपुर के सिरमौरिया मन्दिर में स्थित है। इसका काल १६०० ई० में० बतलाया जाता है। देवी के दोनों हाथों में शिशु हैं और मुकुट पर पार्श्वनाथ की प्रतिमा बनी हुई है।

जयपुर के दूसरे मन्दिर में पद्मावती की पाषाण मूर्ति स्थापित है। देवी की चार भुजाएँ हैं। शान्त-मुद्रा है एवं चारों भुजाओं में चार पदार्थ हैं।

तमिलनाडु में प्राप्त प्रतिमाओं में इनकी मूर्ति भी मिली है। कमल पर स्थित, एक चरण कमल पर स्थित, दूसरा नीचे के ओर लटका हुआ है। सिर पर सर्पफणों का मुकुट है। चार भुजाएँ है, एक में सर्प, दूसरे में फल, एक में गदा तथा एक से दूसरे का स्पर्श है। दो परिचारिकाएँ भी सेवारत हैं।

इस देवी की पूजा प्राचीन काल से कर्नाटक में होती है। नवीं दसवीं शताब्दी के उपरान्त के शिलालेख एवं प्रतिमाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं यद्यपि यह पार्श्वनाथ की यक्षिणी है फिर भी स्वतन्त्ररूप से भी इस देवी की पूजा होती रही है। 'पद्मावती-देवी-लब्ध-वर-प्रसाद' जैसे विशेषण मिलते हैं। कुछ लोग इसको द्वितीय शताब्दी से मानते हैं परन्तु प्रभाव प्रायः दसवीं से १५वीं शती के मिलते हैं। काफी ग्रन्थ, माहात्म्य और लोककथाएँ इसदेवी के बारे में प्रचलित हैं। ग्यारहवीं शती का कल्प मल्लिषेणद्वारा रचित भैरवपद्मावती प्रसिद्ध है। मन्त्रविद्या और तन्त्रसमुदाय की विधि द्वारा इन देवियों की पूजा होती थी। परवर्त्ती काल की बहुत सारी प्रतिमाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं।

पद्मावती देवी के स्वतन्त्र रूप में मन्दिर भी बनाये गये है। नागदा में पद्मावती देवी का प्रसिद्ध मन्दिर विद्यमान है।

पद्मावती देवी के साथ सर्प का सम्बन्ध सदा से रहा है तथा वह पातालवासिनी हैं। मूर्तिकला में सर्प तथा कमल दोनों ही सुस्पष्टतया अंकित किये जाते रहे हैं। बंगाल में मनसा देवी सर्पों की देवी के रूप में पूजी जाती हैं। पर ये दोनों देवी एक ही हैं अथवा भिन्न-२ हैं ऐसा कोई निर्णय अभी नहीं किया जा सकता है।

तथा पद्मावती देवी कुर्कुटोरगवाहना।
स्वर्णवर्णा पद्मपाशभृद् दक्षिणकरद्वया।
फलांकुशधराभ्यां च वामदोर्भ्यां विराजिता ॥ हेमचन्द्र

महाकाली—श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह देवी कमला पर स्थित हैं। चार भुजाओं वाली हैं तथा वरदमुद्रा, अंकुश, पाश और कमल धारण किये हुए है। यह यक्षी भी है। विद्यादेवी के रूप में प्रसिद्ध है तथा मन्दा देवी है। विद्या-देवी के रूप में मुर्गे पर बैठी हुई है तथा वज्र और कमल हाथ में लिए हुए है।

तथोत्पन्ना महाकाली स्वर्णरुक् पद्मवाहना।
दधाना दक्षिणौबाहुः सदा वरदफाशिनौ।
मातुलिङ्गांकुशधरौ परौ बाहू च बिभ्रती ॥ (हेमचन्द्र)

इस देवी का नाम दिगम्बर सम्प्रदाय में वज्रशृंखला भी है। हंसवाहन है तथा उसकी भुजाओं में सर्पपाश, माला एवं फल सुशोभित हैं।

वरदा हंसमारूढा देवता वज्रशृंखला।
नागपाशाक्षसूत्रोरूफलहस्ता चतुर्भुजा ॥ (प्रतिष्ठासारसंग्रह)

यह भी यक्षिणी तथा विद्यादेवी दोनों है।

श्वेताम्बर पन्थ इसको काली, महाकाली, कालिका आदि नामों से पूजा करते हैं। देवी का रंग काला है, कमल पर स्थित है।

कालिकादेवीं श्यामवर्णां पद्मासनां चातुर्भुजाम् वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणभुजां नागाङ्कुशान्वितवामकराम्। निर्वाण कलिका।

तन्त्रों की देवी काली भी इसी प्रकार की है परन्तु वह कमलासना नहीं है।

p. 124-25. जैन इकोनोग्राफी

चक्रेश्वरी—श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में देवी को चक्रधारिणी एवं गरुड़वाहिनी बतलाया गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार देवी अष्टभुजा है तथा बाण, गदा, धनुष, वज्र, शूल, चक्र एवं वरद मुद्रा के चिह्न हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में देवी की या तो चार भुजाओं वाली प्रतिमाएं हैं या द्वादश भुजाएँ होती हैं। द्वादशभुजा देवी की आठ भुजाओं में चक्र विद्यमान है।

यह देवी पहले तीर्थंकर ऋषभदेव की शासन देवता है। गरुड एवं चक्र आदि लक्षणों से एवं नाम से भी यह देवी हिन्दुओं की देवी वैष्णवी से काफी या तो समानता रखती है या बहुत अधिक प्रभावित है। कुछ मूर्तिकारों ने हाथ में पाश अंकित करके इस देवी को यक्षी परिवार की देवता माना है। परन्तु चक्र ही इसका मुख्य लक्षण है। बहुत सारी प्रतिमाएं स्वतन्त्ररूप में या तीर्थंकर के साथ प्राप्त होती हैं। यथा—

१. देवगढ़ से प्राप्त मूर्ति १० भुजाओं वाली है।

२. मथुरा से प्राप्त मूर्ति १० भुजाओं वाली है।
३. उदयगिरि (उड़ीसा) से प्राप्त प्रतिमा द्वादश भुजा है।

(जैन इकोनाग्राफी 8-144 45).

४. शत्रुञ्जय पर्वत पर बने जैन मन्दिरों से प्राप्त संगमरमर की प्रतिमा अष्टभुजा है तथा उपर्युक्त चिह्न वाली प्राप्त होती है।

५. गिरनार पर्वत (गुजरात) पर बने तेजपाल और वस्तुपाल के जैन मन्दिरों में 'चतुर्भुजा' देवी की प्रतिमा स्थापित है। ऊपर के दोनों हाथों में चक्र तथा शेष में माला एवं शंख सुशोभित हैं। देवी का वाहन गरुड भी दिखाई दे रहा है

यह शेष २३ शासन देवताओं की नायिका है, तथा सूरिमन्त्र, पंच परमेष्ठी और सिद्धचक्र 'यन्त्र मन्त्रों की अधिष्ठात्री है। इसके यन्त्रों में श्री, ह्री, कीर्ति, लक्ष्मी आदि देवता भी प्रतिष्ठित होती हैं। भैरव पद्मावती कल्प में दो सूक्तों में इस देवी की स्तुति है तथा दोनों में ही देवी चक्र तथा गरुड सहित ही विद्यमान है।

(p-330-331—Companative entical story of Mantsheste).

यक्षी—ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन में सिंहासन पर बैठी हुई यक्षी की प्रतिमा रखी हुई है। दो भुजाएं है, एक चरण नीचे की ओर है। प्रतिमा बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है।

दूसरी प्रतिमा आठ भुजाओंवाली यक्षी की है। इस पर अंकित लेख में यक्षी का नाम सुलोचना दिया गया है उसके नेत्र सुन्दर हैं तथा उनके ऊपरवाले हाथों में माला है। दायीं ओर का एक हाथ खण्डित है, तीसरे हाथ में चक्र है तथा चतुर्थ हाथ वरद मुद्रा में है। बायीं ओर की दूसरी भुजा में दर्पण है, तीसरे में शंख तथा चौथे में एक प्याला है जो टूट गया है। दोनों ओर चँवरधारिणियां खड़ी हैं। मस्तक के ऊपर जिन की प्रतिमा है।

(मीडिवल इन्डियन स्कल्प्चर p-42)

श्री लक्ष्मी—धन की देवी के रूप में श्री देवी का वर्णन दिगम्बर-सम्प्रदाय में प्राप्त होता है। देवी चार भुजाओं वाली है तथा कमल एवं पुष्प विद्यमान हैं। गौरवर्ण है।

'ओं ह्रीं सुवर्णे चतुर्भुजे पुष्पकमलधनुषहस्ते श्रीदेवि मन्दिरप्रतिष्ठाविधाने अत्रागच्छ ।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यही देवी लक्ष्मी नाम से प्रसिद्ध है। गजवाहिनी है एवं कमल भुजाओं में सुशोभित हैं।

पीतवस्त्रां सुवर्णाङ्गीं पद्महस्तां गजाङ्किताम्। क्षीरोदतनयां देवीं कामधात्रीं नमाम्यहम्। महालक्ष्म्यै नमः।

जैनपांडुलिपि-रामघाट पुस्तकालय।

प्राचीनकाल से ही लक्ष्मी की पूजा जैन धर्म में होती रही है। धनतेरस के दिन लक्ष्मी की विशेष पूजा सम्पन्न की जाती है। उसी दिन जैन महिलाएं अपने आभूषणों को धारण करती है। लक्ष्मी का वर्णन हिन्दू लक्ष्मी देवी से बहुत भिन्न नहीं है। केवल जैन लक्ष्मी गजवाहिनी है जबकि हिन्दुओं के यहाँ कमलासना होती है। बहुत सारी प्रतिमाएं प्राचीनकाल से लेकर अब तक मिलती रही हैं।

(जैन इकानाग्राफी p. 182-183.)

योगिनियाँ—जैन आकर ग्रन्थों में योगिनियों की संख्या ६४ बतलाई गई हैं। इनके अनुसार ये रौद्र देवता हैं तथा जिन की आज्ञानुसार कार्य करती हैं।

योगिन्यो भीषणा रौद्रा देवता: क्षेत्ररक्षका: ।

ये देवियाँ मूलरूप से तान्त्रिक देवियाँ है। अग्निपुराण और मन्त्रमहोदधि में इनका वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु जैन अनुयायी भी क्षेत्ररक्षक के रूप में इनकी पूजा करते हैं। ये अधिकतर भयंकर देवियाँ हैं कुछ इनमें से सौम्यस्वरूपा भी हैं क्षेत्रपालों के अधीन इनको स्वीकार किया गया है। इनकी मूर्तियां तो अधिक प्राप्त नहीं होती हैं परन्तु मन्त्र और स्तोत्र प्राप्त होते हैं। तथा कुछ पाण्डुलिपियों में इनके नाम भी प्राप्त होते हैं।

शान्तिदेवी—ग्रन्थों में इस देवी का वर्णन मिलता है। यह कमल पर बैठी हुई है तथा चार भुजाओं में माला, कमण्डलु वरदमुद्रा एवं घटसुशोभित हैं। गौरवर्ण है।

शान्तिदेवतां धवलवर्णां कमलासनां चतुर्भुजां वरदाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरां कुण्डिकाकमण्डलुवामकराम् ।

यह देवता बिल्कुल नयी है। बौद्धधर्म एवं हिन्दू धर्म में इस प्रकार की किसी देवी का वर्णन नहीं मिलता है। जैन लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि यह देवी जैनसंघ की रक्षा करती है एवं संघ को उन्नत करती है।

श्रीचतुर्विधसंघस्य शासनोन्नतिकारिणी ।
शिवशान्तिकरी भूयात् श्रीमती शान्तिदेवता ।
(प्रतिष्ठाकल्प)

इस देवी की मूर्तियां अधिक संख्या में प्राप्त नहीं होती हैं।

p. 183 जैन इकानाग्राफी

इन देवियों के अतिरिक्त ब्रह्माणी की मूर्ति बघेरा के जैन मन्दिर में मिलती है। इसी प्रकार जयपुर के लूणकरण जी पण्डचा नामक जैनमन्दिर में एक देवी की प्रतिमा है जिसमें देवी महिष पर बैठी हुई दिखलाई गई है। अष्टभुजा देवी की चार भुजाओं में तलवार, धनुष, बाण, और परशु है तथा दूसरी ओर शंख, चक्र एवं दो और वस्तुएं हैं। इन प्रतिमाओं पर निश्चित रूप से तान्त्रिक प्रभाव देखा जा सकता है।

R. Jain. p. 1341.

हिन्दू देवी-देवता भी जैन मन्दिरों में स्थान पा जाते हैं। इस प्रकार जैनधर्म ने हिन्दूधर्म के प्रति उदारता एवं सहिष्णुता का परिचय दिया है। सीता, लक्ष्मी, दुर्गा आदि देवियों की स्थापना एवं पूजा गौण देवताओं के रूप में की गई है। ऐसा करने से जैनधर्म के प्रति विरोध की भावना समाप्तप्राय हो गई एवं जैनधर्म अबतक पुष्पित और पल्लवित होता रहा है।

देवियों की पूजा इतने अधिक परिमाण में जैनधर्म में प्रचलित थी और अभी भी चल रही है। यह इस बात का परिचायक है कि शक्तिपूजा या मत का प्रभाव जैनधर्म पर भी यथेष्ट पड़ा है। भारत में शक्तिपूजा या देवीपूजा जनमानस में हर प्रदेश में व्याप्त हो गई है जैनधर्म लोकधर्म होने के कारण इस धारा को रोक नहीं सका और इसे आत्मसात् कर लिया। जैनधर्म की यही विशेषता उनको अभी तक प्रमुख धर्म के रूप में जीवित रख रही है। विद्या-देवी की विशेष पूजा व्यक्त करती है कि जैन आचार्यों ने भारतीय विधानिधि में अमूल्य योगदान दिया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

१. महाचार्य—जैन इकोनोग्राफी-लन्दन १९३९।
२. कैलाशचन्द्र जैन—जैनिज्म इन राजस्थान-शोलापुर-१९६३।
३. मोहनलाल भगवानदास झवेरी—श्रीभैरवपद्मावतीकल्प, रघुनन्दनप्रसाद तिवारी अहमदाबाद-१९४४।
४. भारतीय चित्रकला और मूलतत्त्व—दिल्ली-१९७३।
५. आचारदिनकर—(१४वीं शती) पाण्डुलिपि।
६. प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ आर्कियोलोजिकल सर्वे—पश्चिम खंड १९०५-६।
७. पी० वी० देसाई—जैनिज्म इन साउथ इन्डिया, शोलापुर-१९५७।
८. एपिग्राफिका कर्णाटिका—खण्ड (ii)।
९. गुप्ते—इकानाग्राफी आफ अजन्ता एण्ड एलोरा।
१०. वेन्जमीन रोलैन्ड—आर्ट एन्ड आर्किटेक्चर आफ इन्डिया।
११. रामप्रसाद चन्दा—वीडिकल इन्डियन स्कल्पच्चर-१२ देहली।

THE ROLE OF MATHEMATICS IN JAINAOLOGY

Prof. L. C. JAIN,

Recently there has been a move for the establishment of Jainaological Research Centres at various centres of learning in India. Yet the mathematical pursuits in the Jaina School of Mathematics have not been given any consideration for being introduced as courses of post-graduate Studies so far. There is practically no field in Jainaology where mathematics has not stood as a crown through its life-blood activity in the cellular mechanism of the philosophy and system of eternal and blissfull life.

The origination and motivation of the unparalleled achievements in mathematical sciences have at their foundation the details of experimental results. The experiments have to be explained to the posterity through a new light requiring new concepts, theorems, postulates, hypotheses, proofs, corollaries and so on. In the darkest period of history of mathematics in India the teams of Jaina ascetics had been active through centuries after Vardhamana Mahavira. They experimented with their 'self' and evolved mathematical formalism of their own, known as "Lokottara Pramana". They gave to the world a set theory, cosmology, and a Karma system theory. All these contributions have been studied in the historical perspective by research scholars. These studies, however, mark the beginning of heavy task that lie ahead in so far as source books, monographs and further extensions as well applications are to be brought forth.

The role of set theory in Jaina Prakrit as well as Sanskrit literature is worthy of comparative studies with the indispensable modern theory of sets which stands at the level of importance as the theory of quanta and that of relativity. The modern set theory in its naive form was originated by Georg Cantor (.845-1918) round about 1860's. Now there is no branch of scientific study where set theory has not been applied The most important achievement in the Jaina theory of sets is that they applied well-ordering theorem as an implied postulate in locating many tiypes of infinities of their theories through divergent sequences, projected by the exponents at combinatorial output locations. There are classifications of sets, set operations, comparabilities and symbolism.

Cosmological details have been commented upon from time to time. Mathematical details contained in Karananuyoga texts have also been traced out. The astronmical material of these texts, however, has not been probed deeply. Theory of the two suns and the two moons of Jambudvipa has something to do with the mathmatical techniques adopted in ancient India and Babylon, China as well as Greece. There is mention of 'counter Jupiter' and 'counter-earth' respectively in China and Greece, where lunar eclipses etc. were explained perhaps on the basis of counter-bodies.

One has to look for more texts still lying unexposed. The division of the celestial cylinder in to 109800 celestial parts half of them (54900) being workable for calendrical purposes are unique in the history of astronomy. The helical (or spiral) and elliptic daily and annual paths of the sun and the moon with constant angular velocities in planes can be located through cylindrical coordinates with point base of the Meru as origin and axial centre. From the data available in texts like the Tiloyapannatti, traces of the paths of heavenly bodies may be drawn for further findings and compartive studies.

Tee system theory is a very recent devlopment in the scientific world. It has attained a set-theoretic base during the last twenty five years. The Jaina Karma theory is a highly developed mathematical system theory based on the powerful tools of their set-theory. The Karma structural sets may be studied through functional analysis. Nimitta may be interpreted in tems of fields. The Yoga (Yoke) ane Moha (Charm) operators from control system, and Adhahkarana, Apurva Karana as well as Anivrtti Karana lead to optimization and realization results of the system theory the theory of a bio-physical automation exists in its paragon form in the Prakrit texts. Apart the theory from inputs, outputs and State transitions, there are following functions and values in such a theory: closure, bond, annihilation, complete emergence and so on.

The system theory includes the theory of neo-quanta so far as the actions of Yoga and Moha are concerned. The least action of Yoga is defined on thc basis of indivisible corresponding sections. The action of Moha is defined on the basis of indivisible corresponding sections of impartation (perhaps touch control) of Karmic particles. Then the motions are defiend on the basis of many to one correspondence between space and time. This is a wonderful secret which explains Heisenberg's uncertainity principles of quantum mechanics.

The purpose of the Jaina ascetics in evolving such theories was to analyse and attain the solutions of the problem of life and death for realization of an endless life full of infinite knowledge, power, and bliss.

Let us hope that these mathematical theories of the observables and the non-observables receive the proper attention of the Governments, the cream of intelligentia and the powerful personalities who are to give shape to the research centres in Jainaology, both at our home and abroad.

जैनसम्प्रदाय में संस्कृत स्तोत्र-साहित्य के प्रथम प्रवर्तक

आचार्यःश्रीसमन्तभद्रः

श्रीमत्समन्तभद्रादि-कवि-कुञ्जर-सञ्चयम् ।
मुनिवन्द्यं जनानन्दं नमामि वचनश्रियै ॥[१]

कु० कुसुम जैन

जैनसम्प्रदाय—

जैनधर्म वस्तुतः शाश्वत सत्य है । यह कोई सम्प्रदाय नहीं; यह तो आत्मा के लिए है; आत्मा द्वारा प्राप्त किया जाता है, आत्मा में प्रतिष्ठित होता है । इसकी स्थापना किसी व्यक्ति-विशेष ने नहीं की इसलिए इसका प्रारम्भ किसी काल-विशेष में नहीं हुआ । यह तो आत्मविजय की चिरन्तन राह है । आत्मा के सच्चिदानन्दरूप की प्राप्ति की सार्वदेशिक और सार्वकालिक जीवन-पद्धति है। यह तो एक ऐसा जीवन-दर्शन है जिस पर चलकर "जिनों" ने आत्म-विजय प्राप्त की है जो आत्मविजय प्राप्त कर लेते हैं उनके अन्तर के विषय-कषाय निर्मूल हो जाते हैं तब आत्मा का शुद्ध सच्चिदानन्दरूप प्रकट हो जाता है वे ही महाभाग "जिन" कहलाते हैं । उन वीतराग "जिन" ने आत्म-विजय का जो उपदेश दिया, जो राह बतलाई वही लौकिक व्यवहार में जैनधर्म कहलाने लगा । (वास्तव में जिनदेव द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही जैनधर्म है) संसार के परिवर्तन के साथ इसमें भी परिवर्तन आया क्योंकि जब विश्व का कोई धर्म, सम्प्रदाय, मत या पन्थ भेद से अछूता नहीं रहा तब जैनधर्म ही कैसे अछूता रहता ? अतः धीरे-धीरे इसने भी एक सम्प्रदाय का रूप ले लिया । तथा यह 'जैनसम्प्रदाय' के नाम से व्यवहृत हुआ । यही नहीं, जैनसम्प्रदाय में भी शाखाएं फूटीं और यह कई शाखाओं में विभाजित हो गया । परन्तु मुख्यरूप से इसमें दो ही सम्प्रदाय दृष्टिगोचर होते हैं एक है दिगम्बर-सम्प्रदाय और दूसरा है श्वेताम्बर सम्प्रदाय । दोनों में गुरुओं के वस्त्र-परिधान को लेकर मतभेद है और इसी मतभेद ने सम्प्रदाय-भेद को जन्म दिया ।[२]

इन दोनों सम्प्रदायों के शास्त्रीय विचारों को पल्लवित एवं पुष्पित करने में क्रमशः अनेक आचार्यों-धर्मगुरुओं ने महान् योगदान किया है । ऐसे आचार्यों में संस्कृत-साहित्य के उत्कृष्ट स्रष्टा **'आचार्य श्री समन्तभद्र'** का परिचय यहाँ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है ।

आचार्य समन्तभद्र का समय—

आचार्य समन्तभद्र एक ऐसे युग एवं जैनजगत् की विमल विभूति थे जिन्होंने अपने युग के जनजीवन को

---

१. अलङ्कारचिन्तामणि का आरम्भभाग ।

२. वस्त्र के अतिरिक्त आगमों की संख्या एवं कतिपय अन्य आचार-व्यवस्थासम्बन्धी मान्यताएँ भी इसमें हेतुभूत मानी गई हैं ।

नया विचार, नई वाणी, और नया कर्म दिया। अपने युग की जनता को भोगमार्ग से हटाकर अध्यात्म मार्ग की ओर लगाया। जिसने नवजीवन के अज्ञान को हटाकर ज्ञान का विमल प्रकाशपुञ्ज दिया। वे अध्यात्म साधना-गगन के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र थे। अपने तप-त्याग की दिव्यप्रभा लेकर जैनजगत् में अवतीर्ण हुए और अपने प्रखर-प्रकाश से जैनसमाज को प्रकाशित और चमत्कृत करते रहे। एक नवचेतना, नवस्फूर्ति एवं नवप्रेरणा का पाञ्चजन्य जनहृदयों में फूंकते रहे। उनके तप और त्याग की सुगन्धि से कई शताब्दियों के बीत जाने पर भी जैन-समाज उसी प्रकार सुवासित है। उनके सद्गुणों की चमत्कृति से आज भी जैनसमाज चमत्कृत है और युग-युग तक रहेगा।

आचार्य समन्तभद्र का समय विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी माना जाता है।[1] उस समय अनेक क्रान्ति-कारी दार्शनिक विद्वान् हुए हैं। श्रामण्य और वैदिक दोनों परम्पराओं में अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, गौतम, जैमिनी आदि विद्वानों का आविर्भाव हुआ और ये सभी अपने मण्डन और दूसरे के खण्डन में लग गए। शास्त्रार्थों की वाढ़ आ गई। असद्वाद, शाश्वतवाद, उच्छेदवाद, अद्वैतवाद—द्वैतवाद, अवक्तव्यवाद और वक्तव्यवाद इन चार विरोधी वातों को लेकर तत्त्व की मुख्यतया चर्चा होती थी और उनका चार कोटियों से[2] विचार किया जाता था।

वंश एवं जीवनपरिचय—

स्वामी जी के गुरु और जीवन आदि के सम्बन्धी परिचय स्वयं उनके ग्रन्थ, शिलालेख तथा अन्य लेखकों की कृतियों में प्राप्त होते हैं। इनका जन्म दक्षिण भारत मे कांजीवरम् के आस-पास 'फणिमण्डल' देश के 'उरग-पुर (उरेपुर) ग्राम में विक्रम सम्वत् १२५ माना जाता है। ये एक क्षत्रिय वंशोद्भव राजपुत्र थे इनके पिता फणि-मण्डलान्तर्गत 'उरगपुर' के राजा थे।[3] वे जहाँ क्षत्रियोचित तेज से प्रदीप्त थे वहाँ आत्महितसाधना और लोकहित की भावना से भी ओतप्रोत थे और इसलिए घरगृहस्थी में अधिक समय तक अटके नहीं रहे थे। इनके बचपन का नाम 'शान्तिबर्मा' था। इन्होंने कहाँ और किससे शिक्षा प्राप्त की इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनकी कृतियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी जैनधर्म में अत्यन्त श्रद्धा थी और इनका उसके प्रति भारी अनुराग था। आचार्य समन्तभद्र ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था या नहीं इस वात को जानने का प्रायः कोई साधन नहीं है परन्तु जब इनका नाम शान्तिवर्मा सिद्ध हो जाता है तो उस आधार पर शान्तिवर्मा और समन्तभद्र दोनों एक ही नाम के व्यक्ति थे ऐसा ज्ञात हो जाने पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि इन्होंने गृहस्थाश्रम को धारण किया था और विवाह भी किया था। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि आपके पिता का नाम काकुत्स्थवर्मा, पुत्र का नाम 'मृगेशवर्मा' और प्रपौत्र का नाम हरिवर्मा था।

---

१. द्रष्टव्य-रत्नरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ की भूमिका तथा Inscriptions at Shruan Belgol नामक पुस्तक की प्रस्तावना में मि० लेविस राइस का अनुमान तथा 'कर्नाटककविचरित्र' नामक कन्नड़ ग्रन्थ के रचयिता आर० नरसिंहाचार्य ने इनका समय शक संवत ६० (ई० सन १३८) के लगभाग माना है।

२. स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक १०१.

३. "इति फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्।

४. जिनस्तुतिशतक का अन्तिम पद्य "शन्तिवर्मकृतं जिनस्तुतिशतम्।"
तथा वंशीधर-रचित अष्टसाहस्त्री की प्रस्तावना।

मुनि दीक्षा एवं गुरुवंश—

आचार्य समन्तभद्र ने सांसारिक वैभव को निस्सार समझकर छोड़ दिया था। एक ओर देश की परिस्थिति ऐसी थी कि लोग एकान्तवाद में फंसे अपने मिथ्यामत को ही पुष्ट करने में लगे थे। समन्तभद्र ने इनको खुली आंखों से देखा और अन्धकार से उन्हें निकालने के लिए इन्होंने मुनिदीक्षा धारण कर[1] दिगम्बर वेष धारण किया। आचार्य समन्तभद्र के दीक्षागुरु कौन थे? यह तथा इनके गुरुवंश का भी परिचय इनकी कृतियों से नहीं होता है। हाँ, अनेक शिलालेखों के द्वारा विद्वानों ने अवश्य ही प्रकाश डाला है और इनको आचार्य कुन्दकुन्द की वंशावली से सम्बन्धित बताया है तथा ये इनके प्रधानशिष्यों में से एक थे।[2] इसके अतिरिक्त कुछ शिलालेखों से भी यह ज्ञात होता है कि आप भद्रबाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चन्द्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्तमुनि के वंशज पद्मनन्दि अपरनाम श्री कोंड्कुन्द मुनिराज उनके वंशज उमास्वाति अपरनाम गृध्रपिच्छाचार्य और उनके शिष्य बलाकपिच्छ इन महान् आचार्यों की वंशपरम्परा में हुए हैं।[3] बलाकपिच्छ को उमास्वाति का शिष्य बताया गया है। इस प्रकार बलाकपिच्छ और कोई नहीं स्वयं समन्तभद्र ही थे, ऐसा शिलालेखों से ज्ञात हो चुका है।[4]

भस्मक व्याधि और उसका उपशमन—

आचार्य समन्तभद्र के बारे में यह प्रसिद्धि है कि मुनि-दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जब ये मणुवकहल्ली स्थान में विचरण कर रहे थे कि उन्हें भस्मक व्याधि नामक भयानक रोग हो गया, जिससे दिगम्बर मुनिपद का निर्वाह उन्हें अशक्य प्रतीत हुआ। अतएव उन्होंने गुरु से समाधिमरण धारण करने की अनुमति माँगी। गुरु ने भविष्णु शिष्य को आदेश देते हुए कहा—"आपसे धर्म और साहित्य को बड़ी-बड़ी आशाएं हैं, अतः आप दीक्षा छोड़कर रोग-शमन का उपाय करें। रोग दूर होने पर पुनः दीक्षा ग्रहण कर लें।" गुरु के इस आदेशानुसार समन्तभद्र रोगोपचार के हेतु नाग्न्यपद को छोड़कर सन्यासी बन गये और इधर-उधर विचरण करने लगे। पश्चात् बाराणसी[5] में शिवकोटि राजा के भीमलिंग नामक शिवालय में जाकर राजा को आशीर्वाद दिया और शिवजी को अर्पण किये जाने वाले नैवेद्य को शिवजी को ही खिला देने की घोषणा की। राजा इससे प्रसन्न हुआ और उन्हें शिवजी को नैवेद्य भक्षण कराने की अनुमति दे दी। समन्तभद्र अनुमति प्राप्त कर शिवालय के किवाड़ बन्द कर उस नैवेद्य को स्वयं ही भक्षण कर रोग को शान्त करने लगे। शनैः-शनैः उनकी व्याधि का उपशमन होने लगा और भोग की सामग्री बचने लगी। राजा को इस पर सन्देह हुआ। अतः गुप्तरूप से उसने शिवालय के भीतर कुछ व्यक्तियों को छिपा दिया। समन्तभद्र को नैवेद्य का भक्षण करते हुए छिपे व्यक्तियों ने देख लिया, समन्तभद्र ने इसे उपसर्ग समझकर चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति आरम्भ की। राजा शिवकोटि के डराने पर भी समन्तभद्र एकाग्रचित्त से स्तवन करते रहे, जब ये चन्द्रप्रभ

---

१. भयात् संसारभीतेः। तन्वा शरीरेण आयातं आगतं (आप्तमीमांसा १६)

२. श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ४० शक सम्वत् १०८५,

३. विन्ध्यगिरि पर्वत के शिलालेख १०८, (२५८) शक सम्वत् १३५५।

४. विन्ध्यगिरि पर्वत के शिलालेख १०५ (२५४) प्रभाचन्द्र के 'आराधना-कथाकोश' और देवचन्द्र कृत 'राजावली कथे' में शिवकोटि को समन्तभद्र का शिष्य कहा है। तथा 'विक्रान्तकौरव' के कर्त्ता आचार्य हस्तिमल्ल ने भी (जो विक्रम की १४ वीं शताब्दी में हुए हैं) समन्तभद्र के दो शिष्यों का उल्लेख किया है जिनमें एक थे शिवकोटि और दूसरे थे शिवायन।

५. यह प्रसंग 'राजावलिकथे' में वर्णित है किन्तु यह स्थान काशी न रह कर काञ्ची ही रहा होगा क्योंकि कांची को दक्षिणकाशी कहा जाता था।

स्वामी की स्तुति कर रहे थे कि भीमलिंग शिव की पिण्डी विदीर्ण हो गयी और मध्य से चन्द्रप्रभ स्वामी का मनोज्ञ स्वर्णबिम्ब प्रकट हो गया। समन्तभद्र के इस माहात्म्य को देखकर शिवकोटि राजा अपने भाई शिवायन सहित आश्चर्यचकित हुआ। समन्तभद्र ने वर्द्धमान पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति पूर्ण हो जाने पर राजा को आशीर्वाद दिया।

भस्मक रोग से सम्बन्धित इस घटना की चर्चा जैन शिलालेख-संग्रह, भाग १ (अभिलेख संख्या ५४ पृ०-१०२) में मुद्रित एक पद्य द्वारा भी पुष्ट होती है। पद्य इस प्रकार है—

> वन्द्यो भस्मक-भस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-
> दत्तोदात्त-पदस्व-मन्त्रवचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः।
> आचार्यस्य समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ,
> जैनं वर्त्म सन्तभद्रमभवद् भद्रं समन्तात् मुहुः॥

मुनिचर्या एवं सिद्धान्त-प्रचार—

आचार्य ने दीक्षा धारण की और जिस कार्य को वे करना चाहते थे वह आरम्भ किया। वे अपनी मुनिचर्या के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक पाँचों महाव्रतों का यथेष्ट पालन करते थे। ईर्या, भाषा, एषणादि पंचसमितियों के परिपालन द्वारा उन्हें निरन्तर पुष्ट बनाते थे। भगवान् महावीर की अहिंसा ही उनका आधार था उसी पूर्ण अहिंसा और परब्रह्म की सिद्धि के लिए उन्होंने अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार के परिग्रहों का परित्याग किया था। उनका जीवन अत्यन्त संयमी था। उन्होंने मुनिजीवन के सिद्धान्तों और नियमों का किस प्रकार से पालन किया यह उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है। स्वयम्भूस्तोत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचारादि ग्रन्थों में उनकी मुनिजीवन-सम्बन्धी विचारधारा का प्रतिपादन मिलता है। वे अपने शरीर से खूब काम लेते थे। घण्टों कायोत्सर्ग में खड़े हो जाते थे, आतापनादि योग धारण करते थे और नित्य ही अपना बहुतसा समय सामायिक, स्तुतिपाठ प्रतिक्रमण, समाधि, भावना, धर्मोपदेश, ग्रन्थ-रचना और परहित प्रतिपादनादि कितने ही धर्मकर्मों में लगाते थे। वे वस्तुतः जैनधर्म-मुनिधर्म की कठोर-साधना को कर रहे थे जिसमें मन, वाणी और काया के सभी दोषों का दमन किया जाता है।

समाजोद्धारक आचार्य

समन्तभद्र केवल अपना उद्धार ही नहीं करना चाहते थे वरन् उन्होंने समाज के उद्धार का भी संकल्प ले रखा था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर भ्रमण किया और लोगों के अज्ञानभाव को दूर करके उन्हें सन्मार्ग की ओर लगाने की शुभभावना की। जैनसिद्धान्तों के महत्त्व को विद्वानों के हृदय-पटल पर अंकित कर देने की सुरुचि उनकी इतनी बड़ी थी कि उन्होंने सारे देश में भ्रमण किया और भारतवर्ष को अपने वाद का विषय बनाया। उनको यह सहन नहीं हो रहा था कि जो अज्ञानाभाव से मिथ्यात्वरूपी गर्तों में गिरकर आत्मपतन कर रहे हैं उन्हें वैसे करने दिया जाये। उन्हें जहाँ कहीं किसी महावादी अथवा किसी वादशाला का पता चलता था तो वे वहीं पहुंच जाते थे और बड़ी ही खूबी के साथ विवेचन करते थे तथा उनके स्याद्वाद-न्याय की तुला में तुले हुए तत्त्वपूर्ण भाषण को सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे और वे उनका कुछ भी विरोध नहीं कर सकते थे। यदि कोई भी मनुष्य अहंकार के वश होकर अथवा नासमझी के कारण कुछ विरोध उपस्थित करता था तो उसे शीघ्र ही निरुत्तर हो जाना पड़ता था। इस तरह समन्तभद्र भारत के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर प्रायः सभी देशों में एक अप्रतिद्वंद्वी सिंह के समान क्रीड़ा करते हुए (करहाटक) पहुँचे। करहाटक पहुँचने से पहले समन्तभद्र ने पाटलिपुत्र, मालवा, सिन्धु, ठक्क, कांचीपुर और वैदिश में प्रधान रूप से विचरणकर वाद की भेरी बजाई थी

और किसी ने भी इनका विरोध नहीं किया था ।[1] समन्तभद्र की इस सफलता का एक समुच्चयोल्लेख श्रवण वेलगोल के शिलालेख से जाना जाता है । यही नहीं, अकलंकदेव जैसे महान् प्रभावक आचार्य ने अपनी 'अष्टशती' में **तीर्थ-प्रभावी काले कलौ'** कहा है ।

महान् साहित्यसर्जक—

आचार्य समन्तभद्र ने जहाँ एक ओर अज्ञानी जनता को मार्ग बताया वहीं दूसरी ओर उनका साहित्य आज भी समाज को प्रकाशपुञ्ज बनकर प्रकाशित कर रहा है ।

आचार्य बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे । एक ओर वे **'आद्यस्तुतिकार'** थे तो दूसरी ओर महान् **'दार्शनिक'** । यही कारण है कि उनकी रचनाओं में विविधता का समावेश हुआ है। इन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों, दर्शनों, धर्मों अथवा मतों का सन्तुलन-पूर्वक परीक्षण कर यथार्थ वस्तुस्थितिरूप सत्य को व्यक्त करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है ।

मानव-जीवन की प्रोज्ज्वल कल्पना को अपनी रचनाओं में मूर्ति-मत्ता देते हुए आचार्य श्री ने निम्नलिखित रचनाओं की सृष्टि की है ।

१—बृहत् स्वयम्भू स्तोत्र
२—स्तुतिविद्या-जिनशतक
३—देवागम-स्तोत्र-आप्तमीमांसा
४—युक्त्यनुशासन
५—रत्नकरण्ड श्रावकाचार
६—जीवसिद्धि
७—तत्त्वानुशासन
८—प्राकृत व्याकरण
९—प्रमाण-पदार्थ
१०—कर्मप्राभृत टीका
११—गन्धहस्ति महाभाष्य ।

१—'बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र'

इस स्तोत्र को **'समन्तभद्र स्तोत्र'** भी कहते हैं । इसके २४ स्तवनों में भिन्न-भिन्न छन्दों के[2] द्वारा २४ तीर्थङ्करों की स्तुति की गई है और ये सभी नाम अन्वर्थ संज्ञक हैं । यह ग्रन्थ भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग की त्रिवेणी है । अन्य ग्रन्थों में भी इस ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है । ९वीं शताब्दी के आचार्य जिनसेन ने अपने हरिवंशपुराण में समन्तभद्र के वचनों को श्रीवीरभगवान् के वचन के समान प्रकाशमान एवं प्रभावादिक से युक्त बताया है । इस स्तोत्रग्रन्थ का एक-एक पद बीजरूप जैसा सूत्रवाक्य है इसलिए इसको जैनमार्ग का प्रदीप ही नहीं वरन् जैनागम कहना चाहिए ।

२—'स्तुतिविद्या'

यह भी स्तोत्रपरक रचना है । यह भक्तिपरक रचना है । इस ग्रन्थ का उद्देश्य प्रथम पद्य से ही सूचित हो जाता है ।[3] यह एक ऐसी रचना है जिससे हृदय में शान्तरस की मधुरधारा बहने लगती है साथ ही इसमें

---

१. श्रवणवेलगोल के शिलालेख नं० ५४

> **"पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता ।**
> **पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।**
> **प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटं ।**
> **वादार्थी विचराम्यहं नरपते ! शार्दूलविक्रीडितम् ॥**

२. द्रष्टव्य—**"आगसां जये"** इत्यादि "स्तुतिविद्या पद्य" १

आत्मा निमग्न होकर हृदय की कालिमा, अपवित्रता, अरोचकता, अपमान, कुध्यान और अज्ञान पलायमान हो जाते हैं और अनन्तर दर्पण की तरह जाज्वल्यमान ज्ञानभानु प्रकाशित हो जाता है पश्चात् अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, दर्शनादि गुण प्रकट हो जाते हैं। आत्मा में आत्मशुद्धि, नियम, जप, तप एवं परीषह सहन की शक्ति उत्पन्न हो जाती है और मनुष्य की विचारधारा में परिवर्तन आ जाता है। स्तुतिविद्या आदि से अन्ततक चित्रमय कविता है। जिसके पद्य "अलंकारचिन्तामणि" के चित्रालंकार प्रकरण में उद्धृत हैं, स्तोत्रप्रणाली से तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिन से कठिन तात्त्विक विवेचनों को योग्य स्थान दिया गया है। वह उनसे पहले ग्रन्थों में नहीं पाई जाती है। कविता करना इनका कार्य नहीं था। इनके ग्रन्थ जहाँ एक ओर स्तुतिपरक हैं वहीं वे दर्शन का प्रतिपादन करने में पूर्णरूप से समर्थ हैं जैन संस्कृत न्याय-विषयक 'आप्तमीमांसा' और 'युक्त्यनुशासन' ये दोनों रचनाएँ प्राप्त होती हैं। ये दोनों कृतियाँ स्तुति के रूप में लिखी हैं। इनमें खण्डन-मण्डन तथा अनेकान्तवाद की पुष्टि की गई है।

३—देवागमस्तोत्र-आप्तमीमांसा—

प्रस्तुत स्तोत्र में तर्क और आगमपरम्परा की कसौटी पर आप्त सर्वज्ञ देव की मीमांसा की गई है। इस मीमांसा में सर्वज्ञाभाववादी मीमांसक, भावैकवादी सांख्य, एकान्तपर्यायवादी बौद्ध एवं सर्वथा उभयवादी वैशेषिक का तर्कपूर्वक विवेचन करते हुए निराकरण किया गया है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव का सप्तभंगी न्यायद्वारा समर्थन कर वीरशासन की महत्ता प्रतिपादित की है और अद्वैतवाद, द्वैतवाद, कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत आदि का निरसन कर अनेकान्तात्मकता सिद्ध की गई है।

४—युक्त्यनुशासन—

वीर के सर्वोदय-तीर्थ का महत्त्व प्रतिपादन करने की दृष्टि से इस स्तोत्र की रचना की गई है। विरुद्ध मतों का खण्डन एवं महावीर के शासन का मण्डन इसमें ६४ पद्यों द्वारा हुआ है। महावीर के तीर्थ को सर्वोदय-तीर्थ कहते हुए कवि ने कहा है—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६२॥

अर्थगौरव की दृष्टि से यह एक उत्तम काव्य है तथा भाव की दृष्टि से गागर में सागर की कल्पना को साकार करता है।

५—रत्नकरण्डश्रावकाचार

यह मुनि जीवन के आचार-विचार का प्रतिपादन करनेवाला श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें गूढ, दर्शन, ज्ञान और चरित्र का निरूपण किया गया है। चारित्र में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रतों का विस्तार से विवेचन है। तत्पश्चात् सल्लेखना का निरूपण किया गया है। इस सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का इनके उत्तरवर्ती ग्रन्थ यशस्तिलकचम्पू, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, चारित्रसागर, उपासकाध्ययन, उपासकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत और लाटिसंहिता आदि पर पूर्ण प्रभाव है। और इस प्रकार यदि उपलब्ध इस साहित्य को प्रथम 'श्रावकाचार' नाम दिया जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका तथा गन्धहस्ति-महाभाष्य ये ६ से ११ तक की कृतियाँ कालकवलित हो गई हैं अतः इनके बारे में कुछ लिख पाना सम्भव नहीं हैं। किन्तु जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि "समन्तभद्र के वचनों की प्रमुख विशेषता यह थी कि वे स्याद्वाद-न्याय की तुला में तुले हुए वचनों का प्रयोग करते थे और इसीलिए उनपर पक्षपात का भूत कभी सवार नहीं

होता था। वे स्वयं परीक्षा-प्रधानी थे, वे कदाग्रह को बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे, उन्होंने स्वयं वीतराग भगवान् महावीर तक की परीक्षा की है और तभी उन्हें आप्त के रूप में स्वीकार किया है। वे दूसरे को परीक्षाप्रधानी होने का उपदेश देते थे, उनकी सदैव यही शिक्षा रहती थी कि—**किसी भी तत्त्व अथवा सिद्धान्त को बिना परीक्षा किए उसे स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए अपितु समर्थ-युक्तियों के द्वारा अच्छी प्रकार से जाँच करनी चाहिए और गुणदोषों का पता लगाना चाहिए।"**

उनकी सदैव यह घोषणा रहती थी कि—

किसी भी वस्तु को एक ही पहलू से एक ही ओर से मत देखो, उसे सब ओर से सब पहलुओं से देखना चाहिए तभी उसका यथार्थज्ञान होगा। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म अथवा अङ्ग होते हैं इसी से वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसके किसी एक धर्म या अङ्ग को लेकर सर्वथा उसी रूप से वस्तु का प्रतिपादक कहना एकान्त है और यह एकान्तवाद मिथ्या है, कदाग्रह है, तत्त्वज्ञान का विरोधी है, अधर्म है और अन्याय है।[1]

ऐसे अत्यन्त प्रतिभाशाली, स्वसमय और परसमय के ज्ञाता होने के कारण ही सभी उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने आचार्य समन्तभद्र के प्रति अपनी अपार श्रद्धा व्यक्त की है और वाक्यपुष्प अर्पित किये हैं। गद्य चिन्तामणिकार ने ठीक ही कहा है—

> **सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः।**
> **जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटयः॥**

---

१. **सर्वथा सदसदेकानेक-नित्यानित्यादि-सकलैकान्तप्रत्यनीकानेकान्ततत्त्व-विषयः स्याद्वादः। —देवागमवृत्ति।**

२०वीं शताब्दी के महान् संस्कृत साहित्यकार
महाकवि उपाध्याय लब्धिमुनिजी

—अगरचन्द नाहटा

जैन तीर्थंकर जनभाषा में अपना उपदेश करते थे कि जिससे सरलता से सभी लोग समझकर लाभ उठा सकें। भगवान् महावीर के उपदेशों की भाषा-वाणी का नाम "अर्धमागधी" दिया गया है। अर्थात् उनकी वाणी प्रधान रूप से मगध प्रदेश में अधिक विचरने से मागधी रही। पर अन्य प्रदेशों में भी उनका पधारना हुआ और मगध प्रदेशों में भी अन्य प्रदेश के लोग रहते व आते-जाते थे इसलिए उन्होंने ऐसी भाषा में अपना उपदेश प्रसारित किया जिसे अधिक से अधिक लोग सुगमता से समझ सकें। भगवान् महावीर के अनुयायी आचार्यों और मुनियों ने भी यही परम्परा चालू रखी इसलिए पहले प्राकृत फिर अपभ्रंश और उसके बाद प्रान्तीय भाषाओं के रूप में विकसित राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओं में जैनसाहित्य विपुल परिमाण में प्राप्त है। उत्तर भारत की ही नहीं दक्षिण भारत की प्रधान भाषा कन्नड और तमिल में भी प्राचीन और महत्त्वपूर्ण रचनाएँ जैन विद्वानों की प्राप्त हैं। इस तरह वे लोकभाषाओं में निरन्तर साहित्य सृजन करते रहे हैं।

संस्कृतभाषा का जब काफी प्रचार हो गया तो जैन विद्वानों ने उसमें भी साहित्य निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। फलतः गत २ हजार वर्षों में रचित विविध विषयक लाखों श्लोक परिमित उल्लेखनीय संस्कृत-साहित्य जैन विद्वानों का लिखा हुआ आज भी प्राप्त है। प्राकृत और संस्कृतभाषा वर्तमान में मृत-प्राय मानी जाती हैं पर जैन आचार्य, मुनि और विद्वान् आज दोनों भाषाओं में यथेष्ट साहित्य निर्माण कर रहे हैं।

बीसवीं शताब्दी के महापुरुषों में "खरतरगच्छ विभूषण श्री मोहनलाल जी महाराज" का स्थान सर्वोपरि है। पू० श्री लब्धिमुनिजी महाराज ने आपके वचनामृत से संसार से विरक्त होकर संयम स्वीकार किया था। लब्धिमुनि-जी का जन्म कच्छ के मोटीखाखर नामक गाँव में हुआ था। आपके पिता का नाम दता भाई देढ़िया वीसाओसवाल था। सं० १९३५ में जन्म लेकर धार्मिक संस्कारों में माता-पिता की छत्र-छाया में पढ़े। आपका नाम लधाभाई था। आपसे छोटे नानजी भाई और रतनबाई नामक बहिन थी। सं० १९५८ में बम्बई पिताजी के साथ जाकर लधाभाई भायखला में सेठ रतनसी भाई की दुकान पर काम करने लगे। थोड़ी दूरी पर भी करमसी की दुकान थी उनके ज्येष्ठ पुत्र के साथ आपकी मित्रता हो गई क्योंकि वे भी धार्मिक संस्कारवाले व्यक्ति थे। सं० १९५८ में प्लेग की बीमारी फैली जिससे सेठ रतनजी भाई चल बसे। उनका स्वस्थ शरीर देखते-देखते चला गया। यह घटना संसार की क्षणभंगुरता बताने के लिए आपके संस्कारी मन को पर्याप्त थी। देवजी भाई से बात हुई, वे भी संसार से विरक्त थे। उसी वर्ष पूज्य श्री मोहनलालजी महाराज का बम्बई में चातुर्मास था, दोनों मित्रों ने उनकी अमृतमय देशना से वैराग्यवासित होकर दीक्षा देने की प्रार्थना की।

पूज्य श्री ने मुमुक्षु चिमनाजी के साथ आपको अपने विद्वान् शिष्य श्री राजमुनि जी के पास आबू के निकटवर्ती पंढार गाँव में भेजा। श्री राजमुनि जी ने दोनों मित्रों को सं० १६५८ चैत्रविदि ३ को शुभमुहूर्त्त में दीक्षा दी। श्री देवजी भाई रत्नमुनि (आचार्य श्री जिनरत्नसूरि) और लधाभाई लब्धिमुनि बने। प्रथम चातुर्मास में पंच प्रतिक्रमण का अभ्यास पूर्ण हो गया। सं० १६६० के वैशाख सुदि १० को उपाध्याय श्री यशोमुनि (जिनयशःसूरि) जी के पास आप दोनों की बड़ी दीक्षा हुई। तदनन्तर सं० १६७२ तक राजस्थान, सौराष्ट्र, गुजरात और मालवा में गुरुवर्य श्री राजमुनिजी के साथ विचरे। उनके स्वर्गवास हो जाने से डग में चातुर्मास करके सं०१६७४-७५ को चातुर्मास बम्बई और सूरत में पं० ऋद्धिमुनिजी और कान्तिमुनि जी के साथ दिये फिर कच्छ पधारकर सं० १६७६-७७ के चातुर्मास भुज व मांडवी में अपने गुरुभ्राता श्री रत्नमुनि जी के साथ किये। सं० १६७८ में उन्हीं के साथ सूरत चौमासा किया। तदनंतर सं० १६७६ से ८५ तक राजस्थान व मालवा में पं० केशरमुनि जी व रत्नमुनि जी के साथ विचरकर चार वर्ष १६८८ तक बम्बई विराजे। सं० १६८६ का चौमासा जामनगर करके कच्छ पधारे और पेराड़, मांडवी, अंजार, मोटी खाखर, मोटा आसंबिया में क्रमशः चातुर्मास करके पालीताना व अहमदाबाद चौमासा करके फिर दो चातुर्मास बम्बई व घाटकोपर में किये। सं० १६६६ में सूरत चातुर्मास करके फिर मालवा पधारे महीदपुर, उज्जैन, रतलाम में चातुर्मास किया, सं० २००४ में कोटा फिर जयपुर, अजमेर, ब्यावर और गढ़ सिवाणा में २००८ का चातुर्मास बिता कर कच्छ पधारे। सं०२००६ में भुज का चातुर्मास कर श्रीजिनरत्नसूरि जी के साथ ही दादावाड़ी की प्रतिष्ठा की फिर मांडवी, अंजार, मोटा अंसंबीया, भुज आदि में विचरते रहे। आप सं० १६७६ से लगाकर २०११ तक जब तक श्री जिनरत्नसूरि जी विद्यमान थे अधिकांश उन्हीं के साथ विचरे केवल दस बारह चातुर्मास अलग किये थे। उनके स्वर्गवास के पश्चात् भी आप वृद्धावस्था में कच्छ देश के विभिन्न क्षेत्रों को पावन करते रहे।

आप बड़े विद्वान्, गंभीर और अप्रमत्त विचरने वाले थे। विद्यादान का गुण आपका बहुत ही जबरदस्त था। काव्य, कोश, न्याय, अलंकार, व्याकरण और जैनागमों के दिग्गज विद्वान् होने पर भी निरहंकार रह कर न केवल अपने शिष्यों को ही उन्होंने अध्ययन कराया अपितु जो भी आया सरलता से खूब विद्यादान दिया। श्रीजिनरत्नसूरि के शिष्य अध्यात्मयोगी सन्तप्रवर श्री भद्रमुनि जी (सहजानंदघन जी) महाराज के आप ही विद्यागुरु थे। उन्होंने एक संस्कृत और छः भाषा में विद्यागुरु की स्तुतियाँ निर्माण को जो "लब्धि-जीवन प्रकाश" में प्रकाशित हैं। जाप में तो आप का अधिकांश समय बीतता ही था पर साहित्य-रचना में आप बड़े सिद्धहस्त थे। सरल भाषा में काव्य-रचना करके साधारण व्यक्ति भी आसानी से समझ सके इसका ध्यान रखते थे और क्लिष्ट शब्दों द्वारा विद्वत्ता प्रदर्शन से दूर रहे।

आप संस्कृत भाषा के बड़े विद्वान् साहित्यसर्जक और आशुकवि थे; सं० १६७० में 'खरतरगच्छपट्टावली' की १७५४ श्लोकों में रचना करने के पश्चात् १६७२ में कल्पसूत्र टीका और १६६० में श्रीपालचरित्र रचा। इतःपूर्व नवपद स्तुति, दादासाहब के स्तोत्र, दीक्षाविधि, योगोद्वहन विधि आदि ग्रन्थों की रचना सं० १६७७-७८ में कर चुके थे। १६६२ में हमारा "युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि" ग्रन्थ प्रकाशित होते ही १२१२ श्लोकों और ६ सर्ग में संस्कृतकाव्य रचा। सं० १६८० में आपने जेसलमेर चातुर्मास में वहाँ के ज्ञान-भंडार से कितनी ही प्राचीन प्रतियों की प्रतिलिपियाँ की थीं। सं०१६६६ में ६३३ पद्यों में श्रीजिनकुशलसूरिचरित्र, सं० १६६८ में मणिधारी श्रीजिनचंद्रसूरिचरित्र, २०१ पद्यों में व सं० २०१५ में श्रीजिनदत्तसूरिचरित्र का निर्माण ४६८ श्लोकों में किया।

सं० २०११ में श्रीजिनरत्नसूरिचरित्र, सं० २०१२ में जिनयशःसूरिचरित्र, सं २०१४ में श्रीजिनऋद्धिसूरिचरित्र, सं २०१५ में श्रीमोहनलालजी महाराज का जीवन-चरित्र श्लोकबद्ध लिखा। इस प्रकार आपने नौ

ऐतिहासिक काव्य रचने के उपरान्त उपरिलिखित काव्यों के अतिरिक्त सं २००१ में आत्मभावना, सं २००५ में द्वादश-पर्वकथा, चैत्यवन्दन चौवीसी, वीशस्थानक चैत्यवन्दन व स्तुतियों एवं पांच पर्व की स्तुतियों की भी रचना की। सं० २००७ में संस्कृत श्लोकवद्ध सुसढचरित्र का निर्माण कर सं० २००८ में सिद्धाचलजी के १०८ खमासमण भी श्लोकवद्ध किये।

आपने जैनमन्दिरों, दादावाड़ियों और गुरुचरण मूर्तियों की अनेक स्थानों में प्रतिष्ठाएँ करवायीं। आपके उपदेश से अनेक नवनिर्माण व जीर्णोद्धार सम्पन्न हुए। सं१९७३ में पप्पसली में जिनालय की प्रतिष्ठा कराई। सं० २०१३ में कच्छ मांडवी की दादावाड़ी का माध विदि २ के दिन शिलारोपण कराया। सं० २०१४ में कच्छ मांडवी की नव्य दादावाड़ी में नव्यनिर्मित श्रीजिनदत्तसूरि मन्दिर की प्रतिष्ठा करवायी एवं धर्मनाथ स्वामी के मन्दिर के पास खरतरगच्छोपाश्रय में श्री जिनरत्नसूरि जी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवायी। सं २०१६ में कच्छभुज की दादावाड़ी में हेमचन्द्र भाई के वनवाये हुए जिनालय में सम्भवनाथ भगवान् आदि जिनविम्बों की अंजनशलाका करवायी। भद्रेश्वर कच्छ-तीर्थ जो ढाई हजार वर्ष प्राचीन और सर्वत्र-सिद्ध है, उसमें श्रीजिनदत्तसूरि आदि गुरुदेवों का भव्यगुरु मन्दिर आप के उपदेश से वना और उसमें वड़े समारोहपूर्वक प्रेममुनि जी श्रीजयानन्द मुनिजी के कर-कमलों से २०२६वै० सु० १० में प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों में आप गुरुमहाराज व श्री जिनरत्नसूरि जी आदि के साथ प्रतिष्ठा शासनोन्नति कार्यों में भाग लेते रहे।

वालब्रह्मचारी, उदारचेता, निरभिमानी, सरलप्रकृति शान्तदान्तदिग्गजविद्वान् उपाध्याय श्रीलब्धिमुनिजी महाराज ६५ वर्ष पर्यन्त उत्कृष्ट समय साधना करते हुए ८८ वर्ष की आयु में सं० २०२३ में कच्छ के मोटा असं-विया गाँव में स्वर्ग सिधारे।

जयन्ति ते सुकृतिनो, रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये, जरामरणजं भयम्॥

भगवान् महावीर की परमतेजस्विता

—यशपाल जैन

भगवान् महावीर के पच्चीस सोवें निर्वाण-महोत्सव वर्ष में देश-विदेश में लोगों का ध्यान महावीर की ओर आकृष्ट हुआ है। वे जानना चाहते हैं कि वर्तमान युग में महावीर को सार्थकता क्या है ? हम उनसे क्या सीख सकते हैं ? उनकी शिक्षाओं से युग-बोध किस प्रकार प्रभावित हो सकता है ?

इस लेख में महावीर के सिद्धान्तों का विवेचन अभीष्ट नहीं है। मैं महावीर के विषय में सोचता हूँ तो कई चित्र उभर कर सामने आते हैं। यहां मैं तीन चित्र प्रस्तुत करूंगा, जिनमें उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर आ जाते हैं। उनमें पहला चित्र है उनके गृह-त्याग के महान् क्रांतिकारी कदम का। संसार के अधिकांश प्राणी धन-सम्पत्ति का संग्रह करते हैं, सत्ता जुटाते हैं, पर महावीर के यहां तो ये चीजें पहले से ही मौजूद थीं। वह राजपुत्र थे। उनके चारों ओर विभव था। कितने आनन्द का जीवन व्यतीत कर सकते थे। अपने धन से कितनों का अभाव दूर कर सकते थे। राजसत्ता से कितने बड़े-बड़े काम सम्पन्न कर सकते थे। दूसरों पर शासन करने का रस भी ले सकते थे। इन भौतिक वस्तुओं का मद और मोह कम नहीं होता। इसलिए मैं मानता हूँ कि इन सबका त्याग महावीर का क्रांतिकारी कदम था। एक क्षण में इस वैभव को उन्होंने ऐसे त्याग दिया, जैसे कोई बालक हाथ के खिलौने को उठाकर फेंक देता है।

राम ने गृह-त्याग किया था, पर उसके पीछे पिता के वचन की रक्षा की भावना थी, फिर उनके साथ लक्ष्मण और सीता भी गये थे। बुद्ध ने घर-बार छोड़ा, पर रात के समय, जब यशोधरा और राहुल गहरी नींद में सो रहे थे। शायद उनके मन में रहा होगा कि दिन में जाने पर कहीं पत्नी, पुत्र और स्वजनों का आग्रह उन्हें विचलित न कर दे। राम और बुद्ध का त्याग कम नहीं था, पर महावीर तो दिन दहाड़े गये और सबसे विदा होकर गये। भरा-पूरा घरबार, अतुल धन-सम्पत्ति और वैभवशाली राजपाट ऐसे छोड़ दिया, मानों उनका मूल्य मिट्टी के ठीकरे के बराबर भी न हो।

इस चित्र को देखकर मेरा मन विस्मय से भर उठता है। क्या महावीर धन-सम्पत्ति के महत्त्व को नहीं जानते थे ? क्या राजपाट की महत्ता उनसे छिपी थी ? नहीं, वह इस सबसे भली भांति परिचित रहे होंगे, पर इससे भी अधिक उन्होंने इस सनातन सत्य को माना होगा कि जो नश्वर है, वह कभी स्थायी सुख नहीं दे सकता। धन आता है, चला जाता है, राज उठते हैं, गिर जाते हैं, और वह समाज मानव के लिए कैसे स्पृहणीय हो सकता है, जिसमें राजा और रंक की चौड़ी खाई हो, एक देने का गर्व करे, दूसरा लेने का अपमान करे ? मानव के गौरव को स्थापित और प्रतिष्ठित करने के लिए महावीर के अंतर में गहरी भावना रही होगी और उसी से प्रेरित होकर उन्होंने मोह-माया के दुर्ग को एक ठोकर में भूमिसात कर दिया होगा।

दूसरा चित्र है एक निर्भीक परम तेजस्वी विभूति का। घरबार तथा राजपाट के सारे वैभव को तृणवत् त्याग कर महावीर साधना के मार्ग पर चल पड़े हैं। न उनके पास कोई भौतिक साधन है, न कोई संगी-साथीयों। वह

एकाकी दीख पड़ते हैं, पर 'स्व' का विसर्जन हो जाने से अब उनके लिये कुछ भी पराया नहीं रह गया है। सब कुछ उनका अपना हो गया है, सब उनके अपने बन गये हैं।

अनेक स्थानों में घूमते हुए वह अस्थिग्राम पहुँचते हैं, और वहाँ से कुछ दूर शूलपाणि यक्ष के मंदिर में ध्यान के लिए ठहरते हैं। ग्रामवासी यह देखकर कांप उठते हैं। अरे, यह स्थान तो बड़ा भयंकर है। वे यक्ष की विनाशकारी शक्ति को जानते हैं। महावीर से निवेदन करते हैं, 'मुनिवर' यहाँ मत ठहरिये। यहाँ जो भी कोई रात बिताता है, उसे यक्ष जीवित नहीं छोड़ता। आप गांव में चलिए और वहीं रात्रिवास कीजिये।

ग्रामवासियों के भय का उनके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं होता। वह बड़े ही निर्भीक, पर मधुर शब्दों में कहते हैं, "मैं गांव" चल सकता था, पर अब कैसे जाऊं? स्वतंत्रता की साधना में अभय का होना अनिवार्य है। में इस सुनहरे अवसर को नहीं छोड़ सकता। मेरी कसौटी यहां है, मैं उससे पीछे नहीं हट सकता।

ग्रामवासी बेचारे निरुत्तर हो जाते हैं और चिन्तित अपने-अपने घरों को लौट जाते हैं।

रात्रि का आगमन होता है। वह सुनसान, बियाबान वनस्थली एकदम निस्तब्ध हो उठती है। चारो ओर सन्नाटा छा जाता है। उस निविड़ अंधकार में हाथ से हाथ नहीं सूझता।

महावीर ध्यान में निमग्न हो जाते हैं। अकस्मात् भयंकर कोलाहल होता है। किसी के अट्टहास से सारा वनकान्तर गूंज उठता है, पर महावीर अपने ध्यान में लीन रहते हैं। उनकी एकाग्रता भंग नहीं होती। थोड़ी देर में एक भीमकाय हाथी आता है। बड़ी क्रूरता से वह महावीर पर प्रहार करता है। अपने तीव्र दांतों से उन्हें सताता है। पर महावीर को उसका पता भी नहीं चलता। आखिर हाथी हताश होकर लौट जाता है।

फिर आता है एक भयंकर विषधर नाग, जिसकी फुंकार से सारा सोता वन जाग उठता है। पक्षी चीत्कार करने लगते है। वह फन उठाकर महावीर पर आक्रमण करता है, उन्हें डसता है, लेकिन महावीर निश्चल खड़े रहते हैं तब हाथी की भांति सर्प भी अपने मुंह की खाकर चला जाता है।

यक्ष पराभूत हो जाता है।

इस प्रकार की एक नहीं, सैकड़ों घटनाएं महावीर के साधना-काल में घटीं पर महावीर इतने निर्भय, इतने एकाग्रचित्त और इतने तेजस्वी थे कि उनके पैर कभी डगमगाये नहीं। वह निरंतर आगे ही बढ़ते गये।

मैं इन घटनाओं को प्रतीक रूप में मानता हूँ। मानव का सबसे बड़ा शत्रु उसके अंतर में बैठा है। बाहरी शत्रु पर विजय पाना आसान होता है, किन्तु इस भीतर बैठे शत्रु को जीतना बड़ा कठिन होता है महावीर द्वारा अभय की सिद्धि का रहस्य इस बात में है कि उन्होंने अपने अंतर के शत्रु को जीत लिया था।

उनका तीसरा चित्र उभरता है प्रेम और अहिंसा के महान् पुजारी का। उनका प्रेम असीम था। वह मानव-मात्र को ही प्रेम नहीं करते थे, उनके प्रेम की परिधि में सभी जीव-धारी आते थे। इसकी साधना उनके जीवन में बचपन से ही आरम्भ हो गयी थी। एक दिन अपने साथियों के साथ वह खेल रहे थे कि अचानक एक साँप आ गया। सारे संगी-साथी डर के मारे कांपने लगे, लेकिन महावीर को तनिक भी हैरानी न हुई। उन्होंने साथियों को समझाया, "घबराने की जरूरत नहीं है" पर उनमें से एक भी बालक न रुका। महावीर अडिग खड़े रहे। उन्होंने बड़े प्यार से सांप को पकड़ लिया और दूर ले जाकर छोड़ आये।

कहा जाता है कि उनकी इस प्रकार की बहादुरी की घटनाओं के कारण ही उनका नाम 'महावीर' पड़ा। उनमें इतना साहस उनके असीम प्रेम में से उपजा था। प्रेम, मैत्री और समता को जन्म देता है। जिसमें राग-द्वेष नहीं है, जिसका हृदय प्रेम से छलछलाता है, वह सबके प्रति अपनत्व का भाव रखता है। प्रेम और अहिंसा पर्यायवाची हैं।

इस संदर्भ में मुझे 'चंडकौशिक' की कथा बड़ी प्रेरणादायक लगती है। अपनी साधना के दूसरे वर्ष में महावीर एक दिन उस स्थान पर ठहरे, जो भयंकर विषधर चंडकौशिक का निवास-स्थान था लोगों ने उन्हें बहुत रोका, पर महावीर कहां मानने वाले थे।

चंडकौशिक के भय से लोग उस स्थान को छोड़कर चले गये थे। उस नाग की दृष्टि में इतना तीव्र विष था कि वह जिसकी ओर देख लेता था, वही भस्म हो जाता था। जब वह वन में घूमकर लौटा तो देखता क्या है कि उसके घर में एक व्यक्ति खड़ा है। किसका इतना दुस्साहस कि उसके घर के अंदर प्रवेश करे। महावीर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े थे। चंडकौशिक ने क्रोध से उनकी ओर देखा, पर यह क्या ? महावीर पर उस दृष्टि का कोई प्रभाव न पड़ा। वह ज्यों-के-त्यों खड़े रहे। तब नागराज आपे से बाहर हो गये। उनकी आँखों में तीव्रतम विष भर आया लेकिन महावीर पर उसका भी कोई असर नहीं हुआ। अपनी विफलता पर चंडकौशिक का पारा अब आसमान पर पहुंच गया। उसने आगे बढ़कर पूरी शक्ति से महावीर के बाएं पैर के अंगूठे पर मुँह मारा, लेकिन ध्यान की शक्ति के आगे उसका विष व्यर्थ हो गया। फिर क्या था, उस विषधर ने दूसरी बार उनके पैर को डसा और जब उसका भी कोई परिणाम न निकला तो वह उनके पैर में लिपट कर गले पर पहुँचा और वहां जाकर मुंह मारा, लेकिन महावीर चट्टान की तरह अडिग खड़े रहे उनका बाल भी बांका न हुआ।

चंडकौशिक अपने आवेग और पराजय की निराशा से थक कर चूर हो गया और असहाय दृष्टि से महावीर की ओर देखा और कुछ दूर पर जाकर चुपचाप बैठ गया।

जब महावीर की ध्यान-प्रतिमा सम्पन्न हुई तो उनकी निगाह विशालकाय चंडकौशिक पर गयी। उन्होंने बड़े प्रेम और आत्मीयता से उसकी ओर देखा। एक क्षण में नागराज का विष उतर गया और जो दृष्टि अपने भयंकर विष के कारण दूर-दूर तक के लोगों के लिए आतंककरी बनी हुई थी, वह अमृत से भर उठी। यह था प्रेम और मैत्री का प्रभाव, अहिंसा का पराक्रम।

नहीं जानता कि यह घटना सत्य है या नहीं, पर मेरा मन इस घटना से अधिक उसके पीछे की भावना पर जाता है और मैं मानता हूं कि यदि अहिंसा के प्रति हमारी निष्ठा अडिग है, यदि सबके प्रति हमारा प्रेम निस्स्वार्थ है, यदि सबके प्रति हमारे हृदय में समानता का भाव है, तो हमारे सामने का उग्रतम विरोध भी स्वतः ही पराजित हो सकता है।

वर्तमान युग में महावीर की तेजस्विता मानव-जीवन में प्रकट हो जाय तो देश का कायाकल्प हो सकता है। महावीर को पूजकर हम अपना जितना भला कर सकते हैं, उससे कहीं अधिक भला उनके मार्ग पर चलकर हो सकता है। वह दिन कितना धन्य होगा, जबकि मानव-जाति उसके अनुरूप अपने जीवन को ढालने के लिए कृत-संकल्प होगी।

जैन मन्त्र-साहित्य एवं मान्त्रिक स्तुतियाँ

—डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

मानव की सहज अभिरुचि—

संसार में मातृगर्भ से मुक्त होकर आया हुआ प्रत्येक प्राणी अपने ज्ञान-तन्तुओं के विकास की पहली सीढ़ी पर पहुँचते ही सुख की अभिलाषा करता है। जैसे-जैसे उसकी प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं, वैसे ही मानव के मानस-मृग की तृष्णाएं बढ़ने लगती हैं। अणु-अणु में सुख का सौरभ, स्वार्थ का पराग और मानसिक-पिपासा की शान्ति खोजता हुआ वह चारों ओर दिग्भ्रान्त के समान घूमने लगता है। किन्तु जैसे खेलकूद में एक बालक दूसरे बालक को नहीं पकड़ पाता अथवा "तू डाल-डाल मैं पात-पात" की कहावत को चरितार्थ करता है; वैसे ही सुख भी अपने चातुर्य से मुग्ध तो करता है किन्तु हाथ नहीं आता। तब सुख किस तरह वश में हो? इस आशा से गुरु की शरण में पहुँचा हुआ मानव उनकी अनुकम्पा से उसके उपाय समझकर तदनुकूल प्रयास करता है।

सुख प्राप्ति के साधन—

आधिदैविक, अध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप त्रिविध-तापों[1] के शमन से सुख मिलता है ऐसी धारणा से विविध आचार्यों ने मार्ग-दर्शन करवाया है जिसे मनुष्य अपनाता है। 'स्वार्थी दोषान् न पश्यति' के अनुसार मनुष्य को जिस ओर प्रेरित किया जाय वह जाता है। इसी कारण उसका मन विविध प्रक्रिया वाले यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, योग अथवा स्वरोदय में भी संलग्न हो जाता है। अन्ततोगत्वा कटु औषधिरूप अन्य मार्गों को छोड़ कर उसका मन इस मीठी औषधि में इस तरह रम जाता है कि फिर छोड़ नहीं पाता। यद्यपि इस मार्ग के अनुयायी का सिद्ध-पथ इतना विकट है कि कहीं भी फिसलना-गिरना सहज है। पर साथ ही इसकी यह भी विशेषता है कि जिसने इसकी राह ली, वह वापस लौटने की कभी इच्छा नहीं करता।

मन्त्र तन्त्र और यन्त्र—

इस मार्ग की तीन धाराएँ प्रधान रूप में उपलब्ध होती हैं, और वे तीनों ही जैन श्रमणों को प्रिय हैं। किसी स्थान पर एक तन्त्र से और कहीं पृथक्-पृथक् रूप में प्रयोग करने की आज्ञा जैनाचार्यों ने की है। जैन शास्त्रों में योग को भी तन्त्र नाम से ही सम्बोधित किया है। समाज की अभिरुचि जब मन्त्र-तन्त्र की ओर अधिक जागरूक रहने लगी तो जैन श्रमणों ने अपने एतद्विषयक ज्ञान के अक्षय-कोष का अनावरण किया और समाज को इस ओर

---

१. आधिदैविक दुःख—भूत, प्रेत, पिशाचजन्य बाधा तथा शीत, ग्रीष्म, वर्षा और बिजली गिरना आदि। आध्यात्मिक दुःख—शरीर में उत्पन्न वात, पित्त, कफ के विकार से उत्पन्न ज्वर, अतिसार आदि। तथा मानसिक दुःख—संयोग-वियोग जन्य। आधिभौतिक दुःख—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जरूप चतुर्विध-सृष्टि के मनुष्य, पशु, वृक्ष और मशक-दंशादि से उत्पन्न दुःख। विशेष के लिए देखिये—सांख्यकारिकारिका—गौडपादभाष्य सूत्र १।

प्रवृत्त किया अथवा 'कुलार्णव-तन्त्र' या "महानिर्वाण-तन्त्र" की उक्ति[1] "कलियुग में[2] आगमों के अनुसार किये गये पूजा-विधान फलदायी होते हैं। कलिकाल में आगमों के विना कहीं गति नहीं"—के अनुसार समस्त जैनधर्मावलम्बियों को मान्त्रिक उपासना में प्रवृत्त किया। इसमें सृष्टि, प्रलय, देवपूजा, सर्वसाधन पुरश्चरण, षट्कर्म—(१) शान्ति, (२) वशीकरण, (३) स्तम्भन, (४) विद्वेषण, (५) उच्चाटन तथा (६) मारण साधन तथा ध्यानयोग की प्रमुखता को लक्ष्य में रखकर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इतना ही नहीं, अपितु शास्त्रीय पद्धति से भी विचार किया गया। जैनाचार्यों ने अनेक नवीन पद्धतियाँ प्रस्तुत कीं, जिनमें कुछ विद्याएँ, नखदर्पण के विविध प्रकार, अञ्जन के सर्वथा नवीन प्रयोग, रोगों के निवारणार्थ अनेकविध औषध और मूलिकाएँ, पताकायन्त्र, अङ्कयन्त्र, रेखायन्त्र, अक्षर यन्त्र एकाक्षर से शताक्षर तक तथा उससे भी अधिक अक्षरदेहवाले मन्त्र, बीजमन्त्र, त्राटकादि तान्त्रिक प्रयोग और छोटे-बड़े पारद-गुटिका प्रयोगों का बाहुल्य जैनाचार्यों की विद्यानुरागिता का प्रतीक है और जिसे ग्रन्थबद्ध कर आचार्यों ने लोककल्याणार्थ पुरस्कृत किया है।

सिद्धि और उसके प्रकार

योगशास्त्र में सिद्धि का व्याख्यान करते हु महर्षि पतञ्जलि ने कहा है[3] कि—१-जन्म, २-औषधि, ३-मंत्र, ४-तप और ५-समाधि से उत्पन्न फल सिद्धि कहलाता है। इसके अनुसार कुछ साधक पूर्वजन्म के संस्कारों से जन्म लेते ही सिद्ध बन जाते हैं, कुछ औषधि अथवा चूर्णादि के प्रयोग से सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, कुछ व्यक्ति मन्त्रादि की उपासना से अपने तथा दूसरे के कष्टों को दूर करके अभीष्टप्राप्ति करते हैं। बहुत-से मनुष्य तप के द्वारा स्व-पर के कल्याण करने की शक्ति उपलब्ध कर लेते हैं तथा अन्य सभी भूमिकाओं से ऊपर उठकर—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा आदि सिद्धियों में अपने जीवन को व्यतीत करते हैं और कतिपय महापुरुष समाधि में विघ्नरूप उपर्युक्त सभी सिद्धियों को छोड़कर समाधि द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार करते हैं।

जैन श्रमणों की शक्ति-पूजा

जैनधर्म में भी शक्तिपूजा तथा शाक्ततन्त्रों को समुचित स्थान प्राप्त हुआ है। आचार्य हेमचन्द्र-रचित "योग शास्त्र" के सातवें और आठवें प्रकाश में धर्म ध्यान के के सङ्ग "पदस्थ" नामक ध्यान में अन्य धर्मानुयायियों के समान ही षट्चक्रवेध की पद्धति के अनुसार वर्णमयी देवता का चिन्तन किया गया है। वहां मातृका ध्यान का

---

१. तुलना कीजिये—
कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृति सम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्मतः ॥ —कुलार्णवतंत्र
विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये! ॥—महानिर्वाण तन्त्र

२. आगम की व्याख्या इस प्रकार मिलती हैं—
सृष्टिश्च प्रलयश्चैव, देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः ॥—वाराही तन्त्र

३. जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।—(योगसूत्र, विभूतिपाद)

वर्णन बहुत ही रोचक है[1] तथा अनेक मन्त्रों की परम्परा से शक्तियुक्त आत्मस्वरूपकी भावनाओं का विधान दृष्टिगत होता है। जैनमन्त्रों में प्रणव (ॐ), माया (ह्रीं), कामनाबीज (क्लीं) आदि बीजाक्षरों की शक्ति जैसी अन्यत्र वर्णित है वैसी ही बतलाई गई है। केवल प्रधान देवता के रूप में 'अरिहंताणं' की मान्यता है। इसमें पञ्चाक्षरी अथवा पञ्चनमस्कार-महामन्त्र के पाँचों मन्त्र लिये गये हैं, तथा श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुसार तो प्रत्येक तीर्थङ्कर की शासन-देवता चक्रेश्वरी, अजिता दुरितारि, कालिका, वैरोटचा आदि मानी गई हैं। धरणेन्द्र पद्मावती की उपासना तो वस्तुतः शाक्त-सम्प्रदायानुकूल ही है। सनातनी उपासकों में जो 'श्रीविद्याराधना' प्रसिद्ध है और बौद्ध-सम्प्रदाय में जो महत्व तारादेवी को प्राप्त है ठीक वैसी ही श्रीपद्मावती की मान्यता है। इस मार्ग के मर्मज्ञों का कथन है कि श्री देवी की तारा और पद्मावती उपदेवियाँ हैं। ये सरस्वती के सोलह विद्याव्यूह मानते हैं जो कि रोहिणी, प्रज्ञप्ति, शृंखला आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि जैनधर्मानुयायी शक्ति-पूजा में पूर्ण विश्वास करते हैं और वे एक प्रकार से शाक्त हैं। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि जैनों में हिन्दुओं के वामाचार अथवा बौद्धों के हीनयान जैसा कोई मार्ग नहीं है।

मन्त्रोपासना में गुरु और दीक्षा

जब कोई उपासक किसी भी देवी-देवता की उपासना में प्रवृत्त होता है तो उसे गुरु की आवश्यकता होती है और वे गुरु अपने आचार के अनुरूप दीक्षित करते हैं, तभी आराधक की साधना फलवती होती है और यह उचित ही है। आद्य शङ्कराचार्य ने कहा है—मुनिर्न व्यामोहं भजति गुरुदीक्षाक्षततमाः"—गुरुदीक्षा से जिसका अज्ञान नष्ट हो चुका है ऐसा मुनि मोह को प्राप्त नहीं होता। जैनाचार्यों को भी यह बात सर्वथा अभीष्ट है, इसीलिये वहाँ पञ्चनमस्कार-मन्त्र में—आचार्य, उपाध्याय और साधु को महत्त्व दिया गया है। आजकल भले ही मुद्रित पुस्तकें पढ़कर प्रस्तुत शास्त्रों के ज्ञाता बन जाएँ; किन्तु गुरुगम्य सम्प्रदायक्रम का ज्ञान न होने से सफलता नहीं मिल सकती तथा दुराग्रही साधकों को कभी-कभी ऐसा फल भी मिल जाता है कि वे जीवन भर कष्टानुभव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर पाते। मानव भूलों का पात्र है; जब कि साधनामार्ग असिधारा तुल्य दुरूह है। अतः दीक्षा लेकर ही आगे बढ़ना चाहिए। दीक्षा एक प्रकार से गुरुद्वारा प्रदत्त अनुग्रह शक्ति है। आचार्य अभिनवगुप्त "तन्त्रालोक" नामक ग्रन्थ में दीक्षा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए कहते हैं कि—

"दीक्षा द्वारा ज्ञान की वास्तविकता दी जाती है और पाशविक बन्धन काट दिये जाते हैं अर्थात् दान और क्षपण-क्षयके आद्याक्षरों से दीक्षा शब्द का निर्माण हुआ है।"[2] इसी तरह अन्य तन्त्रग्रन्थों में भी दीक्षा के माहात्म्य का वर्णन उपलब्ध होता है। अतः दीक्षित होकर ही साधना मार्ग में प्रवेश करना श्रेयस्कर है।[3]

---

१. तुलना कीजिये।
क्षीराम्भोधेर्विनिर्यान्तीं प्लावयन्तीं सुधाम्बुभिः।
भाले शशिकलां ध्यायेत्, सिद्धिसोपानपद्धतिम्॥ इत्यादि (हेमचन्द्राचार्य)

२. दीयते ज्ञानसद्भावः, क्षीयते पशुबन्धनम्।
दानक्षपणसंयुक्ता, दीक्षा तेनेह कीर्तिता॥ (तन्त्रालोक)

३. दीक्षा के सम्बन्ध में विशेष जानने के लिये देखिये म० म० श्री गोपीनाथजी कविराज का लेख "दीक्षा-रहस्य" कल्याण भाग १५, संख्या ४।

साधना में आचार-विचारका स्थान

देश, काल और पात्र का विचार करके जो कार्य किया जाता है वह पूर्ण सफल होता है। साधक को साधना-मार्ग में प्रविष्ट होने के पश्चात् अनेकानेक बातों पर ध्यान रखना चाहिये, नहीं तो वर्षों का परिश्रम क्षणों में निष्फल बन जाता है। "आचारः प्रथमो धर्मः"—आचार पहला धर्म है तदनुसार प्रातःकाल से लेकर शयनकाल तक कायिक, वाचिक और मानसिक; बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रक्रियाओं में विशेष सजग रहना चाहिए। उपासता के दो प्रकार हैं—१—बाह्य और २—आभ्यन्तर; इसी को यदि दूसरे रूप में कहा जाय तो बहिर्याग और अन्तर्याग कह सकते हैं। अतः शय्यात्याग, मल विसर्जन, दन्तधावन, स्नान, वस्तु-प्रक्षालन, उपासना गृह, आसन, दिशामुख, साधनानुरूप वस्तु धारण, गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, फल, ताम्बूल, दक्षिणा आदि तथा अपने-अपने आराध्यकी प्रतिमा, मन्त्र, चित्र अथवा ग्रन्थरूप इष्टदेव की उभयविध पूजा का विचार अवश्य रखना चाहिये। क्योंकि शान्ति कर्म में उग्रकर्म की वस्तुओं का मिश्रण अथवा प्रकार-वैषम्य साङ्कर्य दोषवाला होता है, तथा इस वैपरीत्य से फलवैषम्य भी होता है। साधक को परस्पर सम्भाषण, ब्रह्मचर्य-पालन तथा अपनी दैनिक-चर्या पर अत्यन्त सूक्ष्मरूप से ध्यान रखना चाहिये। सात्त्विक और मर्यादित आहार, साधनानुकूल वातावरण की स्थिरता के लिए अपना स्वाध्याय, वाचन अथवा मनन निरन्तर चालू रखना चाहिये।

माला, मन्त्र और उनके अर्थ

"मननात् त्रायत इति मन्त्रः" जो मनन करने से साधक की रक्षा करे वह मन्त्र है। इस सामान्य अर्थ को ध्यान में रख कर किसी भी मन्त्र का जप करना चाहिए। जप करने की अथवा मनन करने की प्रणाली भिन्न-भिन्न होती है। वाचिक और मानसिक जप के भाष्य या, उपांशुरूप का शक्ति के अनुसार प्रयोग करना चाहिये।[1] प्रजप्त मन्त्रों की गणना के लिए अधिकतर मालाओं का प्रयोग होता है और वे मालाएँ अपने-अपने प्रयोग के अनुसार रुद्राक्ष, तुलसी, सूत्र, रेशम, मोती, मूंगा आदि की मणियों से बनती प्रायः ६, ११, २४, २८, ५१ अथवा १०८ मणियों की बनती हैं, उनमें वैज्ञानिक दृष्टि से नवग्रह, द्वादशराशियां, २४ अवतार अथवा तीर्थङ्कर, २८ नक्षत्र आदि का समावेश माना गया है। किन्तु उच्चाटन, मारण, मोहन अथवा वशीकरण में विचित्र प्रकार की मालाओं का उल्लेख मिलता हैं जैसे कि माष—उड़द के दानों की माला, कमलगट्टे, जहरीले वृक्ष के बीज, अश्व अथवा गधे के दांत या हलदी के मनके बनाकर माला निर्माण करना।[2] इसी प्रकार करमाला का उपयोग भी मिलता है जिसके प्रकार जैनचार्यों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। जैसे—ह्रींवर्त, ॐवर्त, श्रीवर्त, नन्द्यावर्त, भद्रावर्त, शङ्खावर्त आदि।[3] बौद्ध सम्प्रदाय में "मणिपद्मे हुं" इस मन्त्र के जप के लिए चकरी का उपयोग भी होता है।

किसी भी मन्त्र का अर्थ ज्ञान नितान्त आवश्यक है। अर्थज्ञान-शून्य जापक की मानसिक-स्थिरता अशक्य है। हम अपने सामान्य ज्ञानके आधार पर संस्कृत अथवा प्राकृत भाषा के मन्त्र का अर्थ लगा सकते हैं किन्तु वह अर्थ-

---

१. जप के विविध प्रकारों को जानने के लिए गुजराती में लिखित—'प्रतिक्रमण सूत्र की प्रबोध टीका' के भाग १-२-३ के परिशिष्ट देखिये। जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई से प्रकाशित।

२. माला के विविध मनकों के सम्बन्ध में देखिये—"शब्द कल्पद्रुम कोष" माला शब्द।

३. करमाला के विविध प्रकार देखिये—चन्दनमल नागोरी द्वारा लिखित ग्रन्थ—नमस्कार मन्त्र अथवा नवकार-मन्त्र।

ज्ञान अपूर्ण है; क्योंकि मन्त्रों की भाषा का प्रकार भिन्न ही होता है। अतः एकाक्षरी कोष, और मन्त्रकोष, सम्प्रदाय-प्रचलित अर्थ आदि गुरुकृपा से समझने चाहिये।

जैसे—जैन धर्म के पंच-नमस्कार मन्त्र का समावेश केवल 'ओम्' में असिआउसा के अक्षर क्रम से सिद्ध किया जाता है। तथा सनातनियों में ॐ में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की स्थिति सिद्ध की गई है। किन्तु शाक्त, गाणपत्य, शैव आदि क्रमशः शक्तिस्वरूप, गणपति स्वरूप, और शिवस्वरूप की ओङ्कार में प्रतिष्ठा करते हैं। अतः सांकेतिक, साम्प्रदायिक, व्याकरणनिष्ठ, गुरूपदिष्ट, निरुक्तप्राप्त आदि अर्थों का विचार आवश्यक है। हम केवल 'अहम्' शब्द के अर्थ का ही विचार करें तो साधारण अर्थ—"मैं" अथवा "ममत्व" अर्थ प्राप्त होता है जबकि नाथसम्प्रदाय में अकार से हकार पर्यन्त के वर्णों की गणना करके उनसे रहित स्थिति का निर्देश प्राप्त होता है।[1] इसी तरह "कुल" शब्द का अर्थ वंश अथवा समुदाय तो हमारी समझ में आता है किन्तु—"कौ पृथिव्यां लीयन्ते इति कुलम्" —पृथिवी में जो लीन हों, वह कुल अर्थात् मूलाधार, यह अर्थ सम्प्रदाय सिद्ध है[2]। इन सब का विचार किये बिना सिद्धि दुर्लभ है। जैन श्रमणों में हेमचन्द्राचार्य, मल्लिषेण, मानतुंग आदि आचार्यों ने इस विषय में पूर्ण साहित्य लिखा है।

मन्त्रसिद्धि के उपाय तथा जैनमन्त्र ग्रन्थ

बहुत बार ऐसा होता है कि हमें मन्त्र प्राप्त हो जाता है, हम विधिपूर्वक आराधना में लीन हो जाते हैं, किन्तु अभीष्ट सिद्धि नहीं मिलती। एतदर्थ आचार्यों ने कुछ अन्य बातों पर ध्यान देने का आदेश दिया है। जैसे—किस देवता की आराधना किस मन्त्र से किस व्यक्ति को सिद्ध होती हैं? इसके लिए षट्चक्रशोधन होना चाहिये तथा बाद में "अकडमचक्र" द्वारा सिद्धि, साध्य, सुसिद्ध और अरि का ज्ञान करने के लिये साधक के नामाक्षर तथा देवनामाक्षरों की गणना करना भी आवश्यक है। जिस मन्त्र द्वारा हम साधना करना चाहते हैं वह मालामन्त्र है अथवा लेखन-मन्त्र? पूजामन्त्र है अथवा पाठमन्त्र? अथवा किसी अन्य प्रकार का है? यह जानना अपेक्षित है। वह मन्त्र दश दोषों से रिक्त है या नहीं?,[3] वह कीलित अभिशप्त, सुप्त, प्रसुप्त, अथवा खण्डित तो नहीं है? उसका अभिषेक मार्जन, अधिश्रयण अथवा अन्य संस्कार किया जा चुका है या नहीं? इन दोषों के निवारणार्थ 'पचाङ्ग विधान—रहस्य, स्तोत्र, कवच, पञ्चरत्न, गीता, न्यास, ध्यान, हृदय आदि का ज्ञान करना भी हितकर है। तथा तत्त्व, मुद्रा, मण्डल, स्वर आदि जप-रहस्य के ३८ अंगों और प्रातःकाल से लेकर सायंकाल और शयन काल तक की ८४ प्रक्रियाओं को समझ लेना साधक के लिये आवश्यक है। मन्त्रमेलन, पाञ्चभौतिक-चक्र, द्वादशारचक्र, ऋणधन-शोधनचक्र, नक्षत्रचक्र, कूर्मचक्रादिके लिये दक्षिणामूर्तिसंहिता और आर्षविद्यानुशासन का आधार ग्राह्य है। साथ ही यह भी जान लेना चाहिये कि प्रस्तुत मन्त्र का उपयोग किस प्रकार किया जाय? क्योंकि हम देखते हैं कि अनेक मन्त्रज्ञ मन्त्र को लिखकर कील ठोक देते हैं, अथवा जूते से पीटते हैं, पानी में डुबो देते हैं अथवा लिखकर किसी स्थान पर बांध देते हैं तथा ऐसा करने से उन्हें सफलता भी प्राप्त होती है। मन्त्रसिद्धि के इन उपायों को विस्तार से जानने के लिए हमारे ग्रन्थ—'मन्त्र-शक्ति' तथा 'तन्त्र-शक्ति' द्रष्टव्य हैं।

---

१. "अहं" का अर्थ देखिये—"कामकलाविलास तन्त्र" के परिशिष्ट में मुद्रित "नवनाथस्मरण-स्तोत्र" का भाष्य।

२. "कुल" का अर्थ देखिये—ललिता-सहस्रनाम—सौभाग्यभास्कर-भाष्य।

३. देखिये—रामनाम सब कोई कहे दशरित कहे न कोय।

एक बार दशरित कहे कोटियज्ञ फल होय॥—कल्याण-साधनाङ्क, जप व्याख्या।

जैन मन्त्रों में "पञ्चनमस्कार" को महामन्त्र माना है। किसी भी मन्त्र की साधना से पूर्व नमस्कार श्रुत-स्कन्ध की प्रधानता के बिना सिद्धि दुर्लभ है। तदर्थ—निशीथसूत्र नवस्मरण, नमस्कार-मन्त्र, योगशास्त्र आदि ग्रन्थों में पर्याप्त लिखा गया है। कुछ वर्ष पूर्व 'जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई' द्वारा 'नमस्कार-स्वाध्याय' नामक विस्तृत ग्रन्थ ३ भागों में प्रकाशित हुआ है जिसमें शतावधानी पं० धीरजलाल टोकरशी शाह और इन पंक्तियों के लेखक द्वारा संगृहीत मन्त्रतन्त्र सम्बन्धी साहित्य को प्रचुरमात्रा में पुरस्कृत किया गया है।

जैन धर्म में यन्त्रबाहुल्य

"यमनाद् यन्त्रमित्याहुः" आराध्यदेव की शक्ति को एक स्थान पर केन्द्रित करके रखने से यन्त्र नाम सार्थक होता है। प्रत्येक देवता की शक्ति अनन्त होती है उसमें से हमें कैसी शक्ति अभीष्ट है शान्तिकारिणी अथवा विनाशक ? इसका निर्णय करके तदनुसार वर्णस्थापना, अंकस्थापना, सृष्टि, स्थिति, संहार क्रम से आलेखन और तदनुकूलालेख्यसामग्री का उपयोग कुछ रेखाओं में करने पर शक्ति केन्द्रित हो जाती है, यह यन्त्र की विशेषता है। जैसे मन्त्रों का वैविध्य है उसी प्रकार यन्त्र भी अनेक हैं। सामान्यतः यन्त्र तीन प्रकार के होते हैं—(१) भूपृष्ठ-यन्त्र, (२) पाताल यन्त्र और (३) सुमेरु-यन्त्र। भूपृष्ठयन्त्र में लेखन-प्रकार सामान्य रहता है। पाताल यन्त्र में अक्षरों अथवा अंकों की खुदाई की जाती है, सुमेरु-यन्त्र में अक्षरादि उभरे हुए होते हैं। ऐसे ही पीठयन्त्र में यन्त्र के लिए पीठ के रूप में आधार बनाकर उस पर समतल भाग में यन्त्र बनाया जाता है। अपने अभिलषितार्थ के आधार पर आलेख्य सामग्री का चयन जैसे—भूर्जपत्र, कमलपत्र, बिल्व अथवा पीपल आदि वृक्षों के पत्र, सुवर्ण-रजत-ताम्र-लोहादि के पत्र, लक्षण या आलेखनार्थ शास्त्रज्ञानुसार धातुनिर्मित लेखिनी—आम्र, दाडिम, बिल्व, कण्टक, सूची अथवा अन्य अपेक्षित वस्तु का उपयोग होना चाहिये। साथ ही अष्टगन्ध, केशर कस्तूरी कपूर, हस्तिमद, श्वेत-रक्त चन्दन, कज्जल आदि की भी प्रधानता होती है। सबसे महत्त्व की बात यह है कि वह यन्त्र भव्य, अतिभव्य, सर्वतोभद्र अथवा महासर्वतोभद्र है? इसका ज्ञान करना चाहिये। इस विषय का वैज्ञानिक-पद्धति से विवेचन श्रीदेवेन्द्रगणि ने "कोष्ठक-चिन्तामणि" नामक ग्रन्थ में किया है।[1] एक स्थान पर २५ कोष्ठक के ६५ अंक वाले यन्त्र को "महासर्वतोभद्र यन्त्र" बतलाकर गणिवर्य ने कहा है कि—"पञ्चसप्ततिप्रकारेण महासर्वतोभद्रयन्त्रोऽयं शोध्यः—अर्थात् पैंसठिया यन्त्र ७५ प्रकार से शोधना चाहिये।[2] यह महासर्वतोभद्र यन्त्र है। इसी प्रकार पन्द्रह या बीसका यन्त्र भी अनेकशः शोधित होता है। अंक के स्थानपरिवर्तन से अनेक प्रकार बन जाते हैं जिसका निर्देश हम—"अर्जुन-पताका" में देख सकते हैं। ऐसे नितान्त शुद्ध यन्त्र की शक्ति यदि परमाणु-बम की शक्ति से भी हजारों गुना अधिक हो, तो क्या आश्चर्य ? पंचदशी, बीसा, चौबीसा, तीसा, बत्तीसा, चालीसा, पैंसठिया, शतांक, अष्टोत्तरशतांक और इससे अधिक अंक वाले यन्त्रो की योजना के साथ-साथ आकार भेद से—चतुरस्र, त्रिकोण, षट्कोण, कलशाकार, त्रिवृत्त, वृत्त, अर्धवृत्त, कमलाकृति, ताम्बूलपर्णाकार, हस्ताकार और अस्त्र-शस्त्राकृतिमूलक यन्त्र बनते हैं। जैनधर्म में ऋषिमण्डल[3], नमस्कार चक्र, कलिकुण्डयन्त्र आदि भव्ययन्त्र प्राप्त होते हैं। विजययन्त्र और विजय-पताका यन्त्र के कोष्ठकों की संख्या तो ६२७१ तक है।

---

१. "कोष्ठक-चिन्तामणि" का सम्पादन इन पंक्तियों के लेखक ने किया है जिसकी पाण्डुलिपि जैन साहित्य विकास मण्डल—बम्बई, में सुरक्षित है।

२. पचहत्तर प्रकार से परीक्षित उपर्युक्त यन्त्र भी उपर्युक्त स्थान पर ही सुरक्षित है।

३. श्री श्रीधर्म धुरन्धरविजय जी ने ऋषिमण्डल यन्त्र का प्रकाशन किया है।

यन्त्रों की प्रतिष्ठा आदि पद्धतियां

उत्तम योग और उत्तम मुहूर्त में यन्त्रलेखन कर लेने के पश्चात् उसकी प्रतिष्ठा होना आवश्यक है। प्राण-प्रतिष्ठा के बिना यन्त्र का कोई महत्त्व नहीं रहता। जो यन्त्र लिखा गया है वह वारुण-मण्डल में है अथवा अग्नि-मण्डल में ? भूमण्डल में है अथवा आकाशमण्डल में ? कितने आवर्तन उसमें हैं ? उसके अधिष्ठातृ देव, अधिष्ठात्री देवी, उपदेव, गण और पीठ कौन-कौन हैं ? इन सब की खोज करके प्रतिष्ठा के लिये पुरश्चरण, पूजा, अभिषेक, हवन, तर्पण, मार्जन, दान, पुष्पसमर्पण आदि शास्त्रीय प्रक्रिया की जाय तभी सफलता मिलती है। यन्त्रलेखन तथा अन्यान्य तत्सम्बन्धी ज्ञातव्य साहित्य—शारदातिलक, ताण्डवतन्त्र, योगिनीतन्त्र, रुद्रयामल, प्राणतोषिणी, वामकेश्वर तन्त्र, पंचनमस्कृतिदीपक,[1] कोष्ठकचिन्तामणि, आर्षविद्यानुशासन, तन्त्रप्रकाश और कक्षपुटी आदि ग्रन्थों के आधार पर संकलित करना चाहिये।

यहां इतना कहना आवश्यक है कि यन्त्रों की विविधता में जैन श्रमणों ने पर्याप्त परिश्रम किया है। यही कारण है कि इस सम्प्रदाय में घण्टाकर्ण, मणिभद्र, कलिकुण्ड, रावण-पताका,[2] अर्जुनपताका, विजयपताका, शनियन्त्र, हस्ति-अश्व-यन्त्र, पक्षी-पक्षिणीयन्त्रादि आकारयन्त्रों का बाहुल्य है।[3]

तान्त्रिक प्रयोग तथा उनका उपयोग

कामिक-आगम में तन्त्र की व्याख्या—"विपुल अर्थों का विस्तार तन्त्र-मन्त्र द्वारा किया जाता है तथा साधकों का त्राण किया जाता है अतः उसे तन्त्र कहते हैं" ऐसी की गई है। यद्यपि शास्त्रों में तन्त्र के अर्थ—शास्त्र, अनुष्ठान, विज्ञान, दर्शन, आचार-पद्धति, सांख्य, न्याय, धर्मशास्त्र, स्मृति आदि किये गये हैं और जैनधर्म में योग को ही तन्त्र कहा गया है, तथापि यहां यन्त्रमन्त्रादि समन्वित एक विशिष्ट साधन-मार्ग का नाम तन्त्र माना जाता है।

महान् तन्त्रज्ञ नागार्जुन ने अपनी माता नागमती की कृपा से अर्बुदाचल (आबू पर्वत) पर औषधि विज्ञान को पहिचाना। बाद में पादलिप्त सूरि के पास जाकर आकाशगामिनी विद्या का अध्ययन किया। तब से ही अपने द्वारा सगृहीत सिद्ध प्रयोगों की पुस्तिका को लिखकर कोई अन्य व्यक्ति इस संग्रह को चुरा न ले इस धारणा से अपनी कोख में हीं उसे रखने लगा। जिसे उत्तर काल में "कक्षपुटी" नाम से सम्बोधित किया गया। इस प्रकार जैनाचार्यों ने तन्त्रसाधना में किसी तरह की कमी नहीं रखी है। यही कारण है कि—जांगुलिमन्त्र, औषधिमन्त्र, सर्प और बिच्छु क विषापहार मन्त्र, वशीकरण की औषधियां, श्वेतार्क, श्वेतगुंजा, अपराजिता, मूली, श्वेतपुष्पी,

---

१. "पंचनमस्कृति दीपक" और आर्षविद्यानुशासन आदि १६ तांत्रिक ग्रन्थों की प्रेसकापियां इन पंक्तियों के लेखक ने 'जैन-साहित्य-विकास-मण्डल' बम्बई में (सम्पादन सहित) की हैं।

२. पताका-यन्त्रों के लिए यति श्री हीराचन्द्रजी के वाराणसी रामघाट पर स्थित प्राचीन भण्डार में अच्छा संग्रह है। अन्य आकार यंत्रों की फोटोकापी—'रत्नचिन्तामणि' में देखिये—जै० सा० वि० मं० बम्बई।

३. दिल्ली में रेशमी कटरा स्थित जैन मन्दिर में एक यतिवर्य से चर्चा करते समय लेखक को बतलाया गया था कि 'समस्त जैन यतियों द्वारा एक संस्था जयपुर में स्थापित की जा रही है जिसमें एक विशाल संग्रह यन्त्र-मन्त्र साहित्य का रहेगा' आदि। जयपुर में पं० भगवानदास जैन भी इस विषय के अच्छे ज्ञाता हैं। उनके द्वारा अनेक यन्त्र तयार करवा कर अनेक स्थानों पर मंगवाये जाते हैं।

शङ्खपुष्पी आदि वृक्षों के मूल तथा अपराजिता, रुदन्ती, मयूर शिखी, सहदेवी सियार-सिंगी, मार्जारी, सर्पप आदि का प्रयोग, रविपुष्य, गुरुपुष्य, होली, दिवाली, नवरात्रि आदि दिनों में लाकर किया जाता है। इनके द्वारा सुखप्रसव, गर्भ-बाधा, मृतवत्सात्व, काकवन्ध्यादि दोष दूर किये जाते हैं। साथ ही ज्वर—एकाहिक, द्व्यहिक, त्रिदिवसीय, चतुर्दिनात्मक भी उपर्युक्त औषध-मूलिकाओं के बांधने से दूर हो जाते हैं। पीलिया, गोला, नाभिस्खलन आदि के लिए भी वैद्यक एवं ग्रामीण प्रक्रिया से उपयोग किया जाता है।

एक ओर पारद के प्रयोग तथा सुवर्ण बनाने की विधियों का प्रदर्शन भी पर्याप्त मात्रा में जैन-श्रमण अथवा जैन यतिवर्ग ने उपस्थित किया है। एकाक्षि-नारियल, दक्षिणावर्त शंख,[1] एक नेत्र वाला रुद्राक्ष, दक्षिण शुण्डा वाले गणपति, श्वेतार्क के गणिपति जैसी वस्तुओं की सिद्धि के लिये निदिष्ट कल्प-विधान का निर्माण भी हमें लौकिक अभिरुचि के अनुरूप तान्त्रिक प्रयोगों की विपुलता से परिचित करवाता है। हम देखते हैं कि भारतवर्ष में जादूगिरी, यक्षिणीसाधन, प्रेतसिद्धि, श्मशान-साधन, वेताल-सिद्धि, परकाय-प्रवेश, मृत-व्यक्ति दर्शन, इन्द्रजाल-प्रदर्शन, हिप्नोटिज्म, मेस्मेरिजम, प्लांचेस्टर आदि आश्चर्यपूर्ण वस्तुओं का भी यत्र-तत्र प्रयोग मिलता ही है। जिनकी गणना भी तन्त्र में ही की जाती है।

योग और स्वरोदय

चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है—इस परिभाषा के आधार पर पतञ्जलि मुनि ने योग का परिचय दिया है। इस में राजयोग और हठयोग की दो क्रियाएँ हैं। साधक यदि आध्यात्म मार्ग से आगे बढ़ना चाहता हैं तो वह हठमार्ग का अनुसरण कर आसन-प्राणायामादि से मूलाधार से सहस्रार तक व्याप्त साढ़े तीन आवर्तन वाली तन्द्रिल कुण्डलिनी को जागृत कर कैवल्य प्राप्त करता है, राजमार्गानुयायी अणिमा-महिमादि सिद्धियों के सहारे आकाशगमन, गुरुत्व धारण तथा अग्नि, वायु, जल आदि वस्तुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस मार्ग में कैवल्यानुरागा को योगी और सिद्धि के अभिलाषी को मध्यमयोगी कहा जाता है।

स्वरशास्त्र भी योग के साथ-साथ उपयोगी है। श्वास और प्रश्वास के आगमन, तीव्र अथवा शिथिलगति तथा उष्ण, शीत श्वास की प्रक्रिया द्वारा ऐहिक क्रिया-कलाप के फलों को जानने का यह साधन माना गया है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा, सूर्यनाड़ी चन्द्रनाड़ी आदि नामों से भी इन्हें सम्बोधित किया गया है। इस मार्ग का आरम्भ गोरखनाथ सम्प्रदाय में अधिक हुआ। अनेक साधुओं ने अपने-अपने गुरुगम्य ज्ञान के आधार पर स्वरोदय-शास्त्र का प्रणयन किया। अध्यात्मज्ञान के धनी जैनाचार्यों ने भी स्वरोदय शास्त्र के कुछ प्रयोगों द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। मानव शरीर में जितनी नाड़ियां हैं उनकी गति का ज्ञान करते हुए संसार की गति को करामलकवत् देखने की अपूर्व क्षमता स्वरोदय से उपलब्ध होती है। इस विषय का साहित्य संस्कृत भाषा के अतिरिक्त प्रान्तीय भाषाओं में भी बहुत मिलता है।

जैनाचार्य और उनके ग्रन्थ

उपर्युक्त विषयों पर लिखे हुए जैनाचार्यों के ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। वैसे इस धर्म में मन्त्र-तन्त्र सम्प्रदाय का प्रवर्तन तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ से ही माना जाता है। निशीथसूत्र में मुख्यतया और कुछ अन्य आगमों में नमस्कार-मन्त्र और सूरि-मन्त्र के उल्लेख के साथ-साथ उनकी विद्याओं का निर्देश प्राप्त होता है। विद्याओं

१. ऐसे प्रयोगों के लिये देखिये 'तन्त्रशक्ति' ले० डॉ० रुद्रदेवत्रियाठी, रञ्जन प्रकाशन, दरीबा, दिल्ली।

के सम्बन्ध में पञ्चम चरित्र, वसुदेवहिंडी, त्रिषष्टिशाला का पुरुष चरित आदि ग्रन्थों में अधिक मिलता है जिसकी गणना "एन्सेण्ट इण्डिया—जैन गाडेस" मे एकत्र देखी जा सकती है। दिगम्बर-सम्प्रदाय का प्रवर्तन प्रधानतः दक्षिण मे होने से वहां के जैन ब्राह्मणों ने भी इस दिशा में अत्यधिक सहयोग दिया है। श्रीसिंह तिलक सूरि के—'मन्त्रराज-रहस्य' और 'तन्त्र-लीलावती', भट्टारक अकलंकदेव के स्तोत्र ग्रन्थ, श्रीसिद्धसेन दिवाकर, जिन प्रभसूरि, जिनदत्त सूरि, मुनि गुणाकर, कुन्द-कुन्दाचार्य और हेमचन्द्राचार्य के ग्रन्थो ने जैन तन्त्र-साहित्य में अत्यन्त महनीय योगदान दिया है। केवल पद्मावती के आराधकों ने ही—धरणेन्द्र-पद्मावती, रक्त पद्मावती, हंस पद्मावती, सरस्वती पद्मावती, शबरी-पद्मावती, कामेश्वरी पद्मावती, पुत्रकर पद्मावती, स्वप्नसाधन पद्मावती महामोहनी पद्मावती, घटावतार, कज्जलावतार आदि नाम निर्देश द्वारा पद्मावती आराधना के लिए विद्या, कल्प अथवा मन्त्र तन्त्र लिखे हैं। इसी प्रकार पार्श्वविद्या, सूरिविद्या, गान्धारविद्या, वर्धमानविद्या, चतुर्विंशति तीर्थंकर विद्या आदिका भी प्रणयन हुआ है।

कर्णपिशाचिनी, कुरुकुल्ला, प्रत्यङ्गिरा, उच्छिष्टचाण्डाली, ज्वालामालिनी, कूष्माण्डी तथा अम्बिका आदि देवियों की साधना के लिए कल्प, विद्या और मन्त्र-तन्त्रों का निर्माण भी जैन श्रमणों की अपूर्व देन है।

हमने मालकांगनी के तेल को किसी कुमारी वालिका अथवा चरणाग्रजनित वालक के अंगूठे पर लगाकर हाजरात के प्रयोगों को वहुधा देखा है। पर जैन सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसी हाजरात को नखदर्पण, घटदर्पण, खड्ग, दीप और कज्जल में दिखाने के लिए भी तत्तत् पद्मावती मन्त्र का विधान किया है। आराध्य की पूजा से सिद्ध वने हुए आचार्यों का भी मन्त्र-साधन इस सम्प्रदाय में प्रचलित हो गया जिसके फलस्वरूप श्रीजिनदत्तसूरि (दादा) मन्त्रसाधन, जिनकुशल सूरि मन्त्रसाधन, जिनचन्द्र सूरिमन्त्र साधन का भी आविर्भाव हुआ।

स्तुति-साहित्य—

यद्यपि 'साहित्यशब्द किसी रसात्मक-कृति के लिए प्रयुक्त होता है और उसके मूल में आनन्द का तत्त्व निहित माना जाता है किन्तु सहभाव की व्युत्पत्ति के द्वारा 'साहित्य' समस्त वाङ्मय की धाराओं में वहने वाले विषय-विशेष के लिए उपयुक्त माना गया है। ऐसे साहित्य में हमारा **'मन्त्र-साहित्य'** वैदिक-काल से भी पूर्ववर्ती और उत्तरकाल का एक वेजोड़ साहित्य कहा गया है।

मन्त्रसाहित्य ने अपनी विभिन्न लघु-दीर्घ धाराओं से जनगणना को आप्यायित ही नहीं किया है अपितु अकर्मण्य को कर्मनिष्ठ, नास्तिक को धर्मनिष्ठ, प्रपञ्चशील को संयमशील आदि वनाने में भी पूरा योग दिया है। इस साहित्य में अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग ऐसे उपासना के दो मार्ग हैं। सामान्य साधक पूर्वभूमिका को दृढ़ करने के लिए पूजन, यजन आदि का आश्रय लेता है जब कि दूसरी कोटि का साधक अन्तर्याग द्वारा उपासना की क्रिया को सफल बनाता है। इन उपासना-क्रियाओं का 'स्तुति' भी एक आवश्यक अङ्ग है। स्तोतव्य देवता के गुणों का आख्यान स्तुति का मुख्य लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कनिष्ठ साधक पूर्वाचार्य विरचित स्तुतियों का पाठ करता है, जब कि उत्तम साधक स्वयं स्तुतियों का निर्माण करके अपने भाव-पुष्प इष्टदेव के चरणों में समर्पित करता है।

स्तुतियों के प्रकार—

स्तुति को अग्निपुराण में एक अलङ्कार कहा गया है जब कि 'विष्णुसहस्रनाम' और 'ललितासहस्रनाम'

आदि में तत्तद्देवता के नाम से ही अभिहित किया है। पूर्वाचार्यों ने 'स्तुति' के प्रकारों को इतना विस्तार दिया है कि उनका इदमित्थं के रूप में आकलन करना एक कष्टसाध्य कार्य हो गया है। भगवदनुग्रह के लिए किये गये वाग्विकल्पों का आनन्त्य अवश्य ही श्लाघनीय है क्योंकि स्तोता अपनी प्रतिभा के आधार पर नित्य नये-नये प्रकारों से इष्टदेव को रिझाता रहा है। इस रिझाने की प्रक्रिया में कहीं आग्रह है तो कहीं विग्रह है, कहीं मनौती है तो कहीं चुनौती है, कोई प्रार्थना करता है तो कोई उदाहरण दे दे कर कदर्थना भी करता है। अपेक्षा और उपेक्षा की तरङ्गों में तैरता हुआ भक्त भावना की भूमिका से ऊपर उठकर कल्पना के आकाश में उड़ने लगता है, अलङ्कारों के उदार प्रयोगों से वाणी में औज्ज्वल्य और झङ्कार लाने का प्रयास करता है तथा आन्दोलन-माधुरी में झूम झूम कर इष्टदेव को अनुकम्पा-कणिका बरसाने के लिए झकझोर देता है। तब गुरुकृपाऽभिषिक्त साधक इष्टमन्त्र के अनवरत जप से तदाकार बना हुआ स्तुतियों को मन्त्रमय बनाता है। यह मन्त्रग्रथनकौशल कभी प्रयत्नसाध्य होता है तो कभी अनायास प्रविष्ट होता है। ऐसा स्तुतिप्रवाह सर्वतोमुख होने के कारण सभी सम्प्रदाय के साहित्य में उपलब्ध होता है। प्रस्तुत लेख में हम केवल जैन सम्प्रदाय में उपलभ्यमान कतिपय मन्त्रगर्भ स्तुतियों का अनुशीलन प्रस्तुत करेंगे।

मन्त्रगर्भ-स्तुतियाँ—

यह सर्वथा निर्विवाद है कि साहित्य किसी एक सङ्कुचित रूप में आबद्ध रह कर नहीं रह सकता। वह तो एक अजस्र-प्रवहमान निर्झर की भांति अनन्त मार्गों से बहता रहता है और उसके प्रवाहों में अनेक नदियां स्वयं आ मिलती हैं तो कहीं वे स्वयं उनसे गले मिलने के लिए आतुर दिखाई देते हैं और अन्त में **'नदी मुखेनेव समुद्रमाविशत्'** की स्थिति को पा लेते हैं। अतः किसी भी सम्प्रदाय में प्रचलित मन्त्रगर्भ-स्तुतियां उसकी अपनी मौलिक हैं यह कहना असङ्गत है। हम देखते हैं कि सनातन धर्मानुयायी आचार्यों ने मन्त्रगर्भ स्तुतियों की रचना बहुत विशाल परिमाण में की हैं। यहाँ एक नाम से लेकर सहस्रनाम तक, बीज मन्त्र से लेकर मालामन्त्र तक, विविध निर्देश से लेकर सम्पूर्ण पूजादि पद्धति तक और यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, योग, औषधि वेदपाद आदि से लेकर आभाणक आदि अन्यान्य अनेक बातों को स्तुतियों में गुम्फित किया हैं। इसी प्रकार जैन सम्प्रदाय में भी आचार्यों ने मन्त्रादि-विषयों से गर्भित-स्तुतियों का निर्माण किया है।

इस प्रकार की स्तुतियाँ जैन सम्प्रदाय के आचार्यों ने कई रूपों में प्रस्तुत की हैं, जिनमें १—स्तुतिकदम्बगत, २—मुक्तकरूप, ३—प्रबन्धकाव्यान्तर्गत, ४—स्तुतिकाव्यान्तर्गत आदि प्रमुख हैं। प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत भाषा इनके आधार हैं। स्तुतिनिष्ठा और **'काव्यं यशसे'** की पूर्ति इसके प्रेरकतत्त्व हैं तथा वैदुष्य-विलास एवं रुचिवैचित्र्य इसके साधकतत्त्व हैं और 'सद्यः परनिर्वृतये' इन का लक्ष्य है। मध्यकालीन श्रेण्य साहित्य की रचना में स्वीकृत अङ्कन-प्रणाली जिसमें कवि अपनी रचना को काव्यचौर्य से बचाने अथवा आत्मख्याति से संयुक्त करने के लिए नाम-धाम गुप्ति का प्रयोग करता था उसका भी आश्रय लिया गया है तथा **'गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः'** इस आगमिक आदेश का भी यथावत् पालन हुआ है।

कतिपय आदर्श मान्त्रिक स्तुतियाँ

जैनधर्म के सर्वस्वभूत 'पञ्चनमस्कार-मन्त्र', चौबीस तीर्थंकर, धरणेन्द्र यक्ष और पद्मावती तथा मणिभद्र, घण्टाकर्ण आदि की स्तुतियों में आचार्यों ने मन्त्रयन्त्रादि को गर्भरूप में स्थापित करने का प्रयास करते हुए जो स्तुतियाँ लिखी है, उनमें से कुछ की तालिका इस प्रकार है—

इसके अतिरिक्त कवच, पंजर, रक्षा, शान्ति, सहस्रनाम, भेपजादि गर्भस्तोत्र भी अनेक प्राप्त होते हैं। यह एक अति संक्षिप्त तालिका है।

रचना पद्धति और कुछ उदाहरण

मान्त्रिक स्तुतियों में कर्ता अनेक पद्धतियों से मन्त्रादि का निर्देश करते हैं। उदाहरणार्थ कुछ स्तुतियों का विवेचन इस प्रकार है—

१—नमस्कार-स्तवनम्

समस्त जैनधर्म का मूलमन्त्र पञ्चनमस्कार-मन्त्र है। इसमें १-अरिहंत, २-सिद्ध, ३-आचार्य, ४—उपाध्याय एवं ५-साधु को प्रणाम किया गया है। यह भक्तिपूर्वक की जाने वाली प्रणति ही स्तुति है और धीरे-धीरे मन्त्रत्व को प्राप्त हुई है। नमस्कार-सम्बन्धी स्तोत्रों की संख्या पर्याप्त विस्तृत है। इसकी मन्त्र-तन्त्रात्मकता को ख्यापित करने वाली स्तुतियां भी विभिन्न भाषाओं में प्राप्त होती हैं। प्राचीन आचार्यों ने इस दृष्टि से विशेष लिखा है। **नमस्कार-स्तवनम्'** नाम से प्राकृत भाषा में निबद्ध एक स्तोत्र में नमस्कार मन्त्र की महत्ता प्रदर्शित करते हुए इसे समस्त उपसर्गों का नाशक मन्त्र व्यक्त किया है और मन्त्र के ध्यान की प्रक्रिया दिखाते हुए कहा है कि—

पच्चूस-पओसेसुं सययं भव्वा जणो सुहज्झाणो।
एयं झायमाणो मुक्खं पइ सावगो होई ॥१७॥

इसी प्रकार आगे की गाथाओं में नमस्कार-विद्या एवं अष्टार-चक्ररूप यन्त्र की चर्चा भी **'अट्ठारं अट्ठवलयं पंचनमुक्कार चक्कमिणं** आदि कहते हुए की गई है। आचार्य ने न केवल इसकी मन्त्रमयता ही व्यक्त की है अपि तु उनका कथन है कि—

एसो परमो मंतो परमरहस्सं परंपरं तत्तं।
नाणं परमं नेयं सुद्धं झाणं परं झेयं॥३४॥[1]

२—मन्त्राधिराजस्तोत्र

इसी प्रकार **'मन्त्राधिराज-स्तोत्र'** में स्तुति के साथ-साथ 'वज्रपञ्जर-नामक जैन कवच' का आख्यान किया गया है।[2] ऐसे स्तोत्रों के बारे में यह भी प्रसिद्धि है कि ये उपास्यदेव की कृपा से स्वप्नादि में उपलब्ध होते हैं। प्रस्तुत स्तोत्र में लिखा है कि—

यश्चैनां दृष्टवान् स्वप्ने जैनरक्षामिह प्रभुः।
जिनेन्द्राख्यगुरुः प्रातः प्रबुद्धस्तां तथाऽलिखत्॥१७॥

इसी स्तोत्र में आगे मन्त्र का भी निर्देश किया गया है जो कि 'ॐ ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः यः क्षः फुट् स्वाहा' इस रूप में वर्णित है। २४ पद्यों से निर्मित इस स्तोत्र के रचयिता का नाम अज्ञात है किन्तु यदि **'जिनेन्द्राख्यगुरुः'** पद को ही रचनाकार के नाम का संकेतक माना जाय तो यह 'जिनेन्द्रसूरि के शिष्य' की रचना हो सकती है।

ऋषिमण्डल-स्तोत्र,

यह स्तोत्र वृहद् और लघु रूप से दो तरह का प्राप्त होता है। वृहत् स्तोत्र में १०१ तथा लघुस्तोत्र में ६३ पद्य हैं।[3] इसके रचयिता गौतमर्षि माने जाते हैं। प्रारम्भ में **'अर्हं'** पद की महत्ता दिखाई गई है जब कि आगे पञ्चपरमेष्ठी आदि का नमन करके कवच के रूप में अंगरक्षात्मक पद्य दिये गये हैं। तदनन्तर ऋषिमण्डल-यन्त्र की निर्माण विधि अङ्कित है। तथा जिनोत्तम, डाकिनी, शाकिनी आदि से आत्मरक्षा की प्रार्थना की गई हैं। इस प्रकार प्रस्तुत स्तव को अतिगोप्य तथा दुष्प्राप्य बतलाकर **भाषितं तीर्थनाथेन जगत्त्राण—कृतेऽनघः॥४६॥** कहा है और अन्त में फलश्रुति वर्णित है। श्री सिंहतिलक सूरि ने इस स्तव को आधार मान कर **'श्रीऋषिमण्डलस्तव-यन्त्रालेखनम्'** कृति का निर्माण किया है जब कि अन्य आचार्यों ने भी इस स्तव से सम्बद्ध मान्त्रिक आम्नायों का उल्लेख-आलेखन किया है। एक स्तुतिकार ने तो कहा है कि—

मायाबीजसकूटवादिवलयैर्युक्तं जिनेन्द्राङ्कितं,
ह्लीमूर्ध्वप्रभुगौतमादिऋषिभिः सिद्धचं समाराधितम्।
सम्यग्दृष्टिसुरासुरैः परिवृतं सर्वार्थसंसाधकं,
यन्त्रं श्रीऋषिमण्डलाभिधमिदं ध्यायामि नित्यं हृदि॥

---

१. विशेष के लिये द्रष्टव्य, जैन स्तोत्र सन्दोह, भाग १, पृ० ४६ से ५२।

२. **वज्रपञ्जरनामेदं यो जैनकवचं पठेत्।**
अव्याहताङ्गः सर्वत्र लभते जयमङ्गलम्॥१२॥ वहीं पृ० ३७६।

३. इस स्तव की विस्तृत गुजराती व्याख्या एवं मूल का प्रकाशन शतावधानी पं० धीरजलाल शाह ने बम्बई से किया है।

उवसग्गहर-स्तोत्र

यह स्तोत्र मूर्तिपूजक समुदाय में नित्यकर्म के रूप में प्रयुक्त होता है। यह पार्श्वनाथ की उपासना से सम्बद्ध है और इसकी मूलतः ५ गाथाएँ हैं जबकि १७ गाथाओं तक का भी यह स्तोत्र मिलता है। इसकी रचना के बारे में यह प्रसिद्धि है कि श्री भद्रबाहु स्वामी के भाई वराहमिहिर ने व्यन्तर होकर अपने पूर्वजन्म के रोष के कारण श्रीसंघ में महामारी का उपद्रव किया था उसे शान्त करने के लिये इस स्तोत्र की श्रीस्वामी जी ने रचना की थी। प्रियंकरनृपकथा में कहा गया है कि—'यह स्तोत्र अति चमत्कारपूर्ण है उसमें भी पहली गाथा अधिक चमत्कृतिपूर्ण है। इस स्तोत्र की प्रत्येक गाथा से सम्बन्धित कुछ यन्त्र और मन्त्र प्रचलित हैं, जिनका स्रोत वृद्ध सम्प्रदाय है। श्री जिनप्रभ सूरि ने **'अर्थकल्पलता'** में इन गाथाओं से सम्बद्ध मन्त्र-यन्त्रों का उल्लेख किया है। श्रीपार्श्वदेवगणि और श्रीपूर्ण चन्द्राचार्य विरचित लघुवृत्तियों में उनका स्वरूप दिखाया गया है। स्तोत्र की प्रथम गाथा से आठ यन्त्रों की रचना का विधान है जिनमें जगद्वल्लभकर यन्त्र, सौभाग्यकरयन्त्र आदि प्रमुख हैं। द्वितीयगाथा से वृहच्चक्र और चिन्तामणिचक्र आदि बनते हैं। इसी प्रकार अन्य गाथाओं से यन्त्र-मन्त्र निकालने का विधान प्राप्त होता है और इन्हीं गाथाओं से ध्यान की विविध प्रक्रियाओं का भी संकेत सिद्ध किया गया है।[1] वस्तुतः इस स्तोत्र की रचना से "श्रीभद्रबाहु स्वामी" ने जगत् पर बड़ी दया की है जिसका उल्लेख निम्न गाथा में मिलता है—

उवसग्गहरं थोत्तं, काऊणं जेण संघ कल्लाण।
करुणायरेण विहियं, स भद्दबाहु गुरू जयउ॥

अन्य स्तोत्रों की विशिष्टताएँ

वैदिक सम्प्रदाय में दशमहाविद्या की उपासना के लिये ऐसे अनेक स्तोत्र बने हुए हैं जो न केवल स्तुतिमत्त्व से ही पुष्ट हैं अपि तु उनमें मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, योग आदि विषयों के भी संकेत प्राप्त होते है और उन स्तोत्रों के टीकाकारों ने विषय को नितान्त स्पष्ट करने का प्रयास भी किया हैं।[2]

जैनाचार्य भी इस पद्धति से अपरिचित नहीं थे। उन्होने भी ऐसे ही अनेक स्तोत्र प्रस्तुत किये जो कि स्तुति के साथ ही अन्य मन्त्रतत्त्वों को पूर्णरूपेण व्यक्त करते हैं। 'मन्त्र यन्त्रमय महाप्रभाविक पद्मावती स्तोत्र' (३३पद्यमय) इस दिशा में मननीय स्तोत्र है। इसमें प्रत्येक पद्य के साथ 'सम्प्रदाय' के आधार पर मन्त्र, यन्त्र एवं अन्य विधान दिखलाये हैं। इसी प्रकार—**कल्याण मन्दिर** और **भक्तामर** के पद्यों के साथ विभिन्न बीजमन्त्र और मन्त्रों की योजना करके अनेक यन्त्र बनाये गये हैं। **भत्तिब्भर-स्तोत्र** में पंचरमेष्ठी के नाम से ॐकार-मन्त्र का स्वरूप-संकेत करते हुए वर्ण, रंग, आकार, जाति, स्थान, मण्डल, स्वाद, ग्रह, तिथि, मास, राशि, दिशा आदि का वर्णन किया गया हैं। ३५गाथाओं से सम्बन्ध यह स्तोत्र मन्त्र शास्त्र की विभिन्न परम्पराओं का निर्देश करने से महत्त्वपूर्ण बन गया है। **लघुशान्तिस्तव** में तो मन्त्र साक्षात् ग्रथित हैं ही। श्री पादलिप्तसूरि ने इस दिशा को मोड़ दिया है तथा **महावीर-स्तवन** में स्वर्णसिद्धि की प्रक्रिया को गर्भित किया है। इस पर श्रीजिनप्रभसूरि ने सं० १३८० में एक अवचूरि लिखी है। सम्भवतः इसकी प्रेरणा आचार्यश्री को वैदिक **'श्रीसूक्त'** से मिली होगी, क्योंकि उसमें भी स्वर्ण निर्मिति के प्रकारों का निर्देश एवं लक्ष्मी की स्तुति का समन्वय है। इसी प्रसंग में यह भी कह देना अनुपयुक्त न होगा कि

---

१. 'जैन साहित्य विकास मण्डल-बम्बई' से ध्यानस्मरक तत्त्व को समझाने वाला उपसग्गहर-स्तोत्र का गुजराती भाष्य प्रकाशित हुआ है।

२. श्रीशङ्कराचार्य कृत सौन्दर्यलहरी, कर्पूरस्तवराज, पञ्चस्तवी आदि इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व रखते हैं।

श्री जिनप्रभसूरि का यह प्रति दिन का नियम था कि वे प्रतिदिन एक स्तोत्र की रचना करके ही आहार ग्रहण करते थे। निरवद्य आहार-ग्रहण के इस अभिग्रह के कारण उन्होंने प्रायः ७०० स्तोत्रों का एक संग्रह श्रीसोमतिलक सूरि को अर्पित किया था।

इस रचना-पद्धति में एक नया पृष्ठ जोड़ने का श्रेय हम श्रीलक्ष्मीसागर सूरि के शिष्य शुभसुन्दर मुनि को देंगे, क्योंकि मुनिवर ने **'दउलवाड़ामण्डन ऋषभजिनस्तवन'** में यन्त्र, मन्त्र और औषधिप्रयोग से गर्भितता का प्रयोग किया है। चूँकि ऐसी रचनाओं का महत्त्व टीका के बिना स्पष्ट नहीं होता अतः रचयिता ने स्वयं स्वोपज्ञटीका भी बनाई है। सं० १५३० के निकट की यह रचना अपने ढंग की अनूठी ही कही जाएगी। इन्हीं मुनि ने उक्त प्रकार से मिलता-जुलता एक अन्य **'युगादि देवस्तव'** भी बनाया है। श्रीपूर्णकलशगणि-प्रणीत **मन्त्र यन्त्रादि गर्भित श्रीस्तम्भनपार्श्वजिनस्तवन', 'अट्टे मट्टे' मन्त्रगर्भित श्रीपार्श्वस्तोत्र** (श्री अजितसिंहाचार्य रचित तथा श्रीमेरुतुंग सूरि रचित), श्रीजिनपति सूरि विरचित **'चिन्तामणिपार्श्वमन्त्रगर्भित-चिन्तामणिपार्श्वनाथ स्तोत्र'**, श्रीधर्मघोषसूरि कृत **'महामन्त्रगर्भित श्री अजित शान्तिस्तव'** श्रीजिनप्रभसूरि कृत **'मन्त्रगर्भित श्रीगौतमस्तोत्र'** आर्यनन्दिल कृत **मन्त्रमय वैरोटचास्तव**, श्री कमलप्रभाचार्य विरचित **'मन्त्रगर्भ पार्श्वप्रभुस्तवन'** तथा रत्नकीर्ति सूरि प्रणीत **'मन्त्रगर्भ श्रीपार्श्वस्तवन'** इस प्रक्रिया के उत्तम उदाहरण कहे जा सकते हैं।

महत्त्ववृद्धि के मूलतत्त्व

जो साधक जिस साधना से साध्य को हस्तगत करता है वहीं औरों के लिए साधन बन जाता है। इस दृष्टि से अनेक आचार्यों ने स्वस्वसम्प्रदायानुसार गुरुपरम्परा से प्राप्त पद्धति को अपनाया और उससे लाभान्वित होने पर उसे इस प्रकार गुरुगम्य-पद्धति से ग्रथित कर आगामी पीढ़ी के लिए धरोहर के रूप में छोड़ दिया। आज प्राचीन भण्डारों में ऐसे साहित्य की कमी नहीं है किन्तु उनकी जो कुंजी है वह तो कहीं और ही स्थान पर रखी हुई है। कतिपय आचार्यों ने स्वयं अपनी रचना पर टीका लिख दी है, तो कुछ आचार्यों ने अपनी शिष्य-परम्परा में वितरित ज्ञानगरिमा को ही महत्त्वपूर्ण समझा और वही ज्ञान टीकाकार के रूप में झलक आया। छोटे-छोटे संघों के आचार्यों ने अपनी रचना को स्वयं महत्व देते हुए केवल कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित रखा। फलतः उस रचना की प्राप्ति के लिए अन्य भक्त आतुर हो उठे तथा उसकी समाप्ति के पश्चात् उन्होंने भक्तिभावना से यतस्ततः उसकी प्रक्रिया का ज्ञान किया और उसी ज्ञान का आलेखन परवर्ती जिज्ञासुओं के लिए कर दिया। वह 'वृद्धसंप्रदाय के नाम से आज धरोहर के रूप में उपलब्ध है। शास्त्र, गुरु और किंवदन्ती की त्रिवेणी से आप्यायित हमारा मान्त्रिक वाङ्मय आस्तिकजनों के लिए एक अमूल्यसम्पदा बना हुआ है। गीता में कथित—**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। चतुर्विधा भजन्ते मां०'**—के अनुसार आज पीडित, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चारों ही इस मन्त्र-साहित्य का अनुशीलन कर रहे हैं और अधिकारि भेद से वे फल के भागी भी बन रहे हैं यही कारण है कि आज ऐसी मान्त्रिक स्तुतियों का महत्त्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

स्तुतियों में मन्त्रमयता क्यों और कैसे ?

स्तुति में मन्त्रमयता क्यों लाई जाती है ? यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। किन्तु इसका समाधान भी इतना ही सरल है और वह यह कि अन्य मन्त्रों की साधना में उपासक को आह्निक कृत्यों की जटिलता इस प्रकार आबद्ध कर लेती है कि वह उससे तनिक भी विचलित हुआ तो सब किया हुआ निरर्थक बन जाता है, जब कि

स्तुति केवल पाठ पर आश्रित होती है, इसमें अन्यान्य प्रतिबन्ध भी नहीं रहते तथा यदि स्खलना हुई भी तो वह— **"भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेवावलम्बनम्"** की तरह किसी अनिष्ट की उत्पादिका नहीं बनती। अब दूसरा प्रश्न उठता है कि यह मन्त्रमयता स्तुतियों में कैसे आती हैं ? इसका उत्तर है—'जब स्तोता अपने इष्ट की स्तुति करता है तो वह उसके उन विशिष्ट गुणों की उसमें आराधना करता है जिसका आशय फल-प्राप्ति से सम्बद्ध रहता है। इसी लिए हमें कुछ स्तुतियां **'अनुग्रहमूलक'** मिलती है तो कुछ **'निग्रहमूलक'**, कुछ के आराध्य में सौम्यकर्मों का वर्णन रहता है तो कुछ में क्रूरकर्मों का। काम्यकर्मों के लिए किए जाने वाली स्तुतियों में ऐसे सभी तत्त्व समाविष्ट रहते हैं जो उन-उन कामनाओं की पूर्ति में सहायक हो और फिर मनन तथा त्राण-धर्म की पूर्ति से उसमें मन्त्रमयता आ जाती है। वैसे मन्त्रशास्त्रों में तो यह भी कहा गया है कि **'नास्ति मन्त्रमनक्षरम्'** अतः उनकी मन्त्रमयता सिद्ध है ही।

मान्त्रिक स्तुतियों के प्रयोग

मन्त्रशास्त्र के आचार्यों ने स्तोत्र के छह प्रकार बताये हैं—

नमस्कारस्तथाशीश्च सिद्धान्तोक्तिः पराक्रमः।
विभूतिः प्रार्थना चेति षड्विधं स्तोत्रलक्षणम् ॥

१-नमस्कार, २-आशीर्वाद, ३-सिद्धान्तप्रतिपादन, ४-पराक्रम वर्णन, ५-विभूति वर्णन तथा ६-प्रार्थना। और मन्त्र का लक्षण 'ललितासहस्रनाम' के 'सौभाग्यभास्कर' नामक भाष्य में—

पूर्णाहन्तानुसन्ध्यात-स्फूर्जन् मननधर्मतः।
संसारक्षयकृत् त्राण-धर्मतो मन्त्र उच्यते ॥

अर्थात् जो मनन धर्म से पूर्ण अहन्ता के साथ अनुसन्धान करके आत्मा में स्फुरणा उत्पन्न करता है तथा जो संसार का क्षय करने वाले त्राण-गुणों से युक्त है, वह मन्त्र कहलाता है—इस प्रकार कहा है। मान्त्रिकस्तुतियाँ इन दोनों लक्षणों की पूर्ति करती हैं। ऐसी स्तुतियों का यदि आत्मकल्याण के लिए ही प्रयोग करना हो तब तो प्रातः नित्यकर्म से निवृत्त होकर यथानिर्दिष्ट पाठ करना चाहिए। अर्थानुसन्धान पूर्वक किया जाने वाला पाठ अधिक लाभकारी होता है। यदि काम्यकर्म की दृष्टि से किसी मन्त्रगर्भस्तुति का प्रयोग करना हो तो आचाम्लादि तप और जिनावली पूजन करके निश्चित संख्या में पाठ करना चाहिये। यदि स्तुति के आम्नाय उपलब्ध हों तो उसका पालन अवश्य किया जाय तथा मन्त्राधिराज-कल्प में श्रीसागरचन्द्र सूरि द्वारा निर्दिष्ट निम्नलिखित षट्कर्मों का प्रयोग करे—

आदौ जिनेन्द्र-वपुरदभुतमन्त्रयन्त्राह्वानासनानि सकलीकरणं च मुद्राम्।
पूजां जपं तदनु होमविधिं षडेव, कर्माणि संस्तुतिमहं सकलं भणामि ॥८॥

इस कथन का पालन हमें मालामन्त्र रूप स्तुति मानकर करना चाहिये। स्तुति में निर्दिष्ट इष्टदेव के बीज-मन्त्र अथवा मन्त्रविशेष का पल्लव अथवा सम्पुट लगाकर पाठ करने का विधान भी शास्त्रों में प्राप्त होता है।

जैन सम्प्रदाय में स्तुतियों के मान्त्रिक प्रयोग बहुधा प्रचलित हैं[1] और जो गुरुगम से ऐसी स्तुतियों द्वारा आराधना करता है वह अवश्य ही सफलता प्राप्त करता है।

---

१. स्तुतियों के पाठ प्रकारों को जानने के लिये हमारे द्वारा लिखित—**'भैरव-नित्यकर्मविधि'** की भूमिका देखें।

श्रुति-स्मृति-पुराणेतिहासेषु जैनतीर्थङ्कराणां चर्चा

—श्री अमीरचन्द्रशास्त्री

श्रीहेमचन्द्राचार्यकृताभिराभिष्टिप्पणीभिश्चतुर्विंशतेस्तीर्थङ्कराणां ऋषभाजितसम्भवाभिनन्दन सुमतिपद्मसुपार्श्व-चन्द्रप्रभसुविधिशीतलश्रेयांसवासुपूज्यानन्तवीर्यविमलधर्मशान्ति-कुन्थु-अमर-मल्लिसुव्रतनमिनेमिपार्श्ववर्धमानानां नामानि सङ्कलितानि भवन्ति । तेषु च ऋषभस्य प्रथमत्वम्, अभिनन्दनस्य चतुर्थत्वम्, शीतलस्य दशमत्वम्, अनन्तवीर्यस्य त्रयोदशत्वम्, अरनाथस्याष्टादशत्वम्, मल्लिनाथस्योनविंशत्वम्, पार्श्वनाथस्य त्रयोविंशत्वम्, वर्धमानस्य च चरमत्वं चतुर्विंशत्वं वा शब्दनिवेदितमवगम्यान्येषामपि क्रमो निर्धार्यते । अपि चैतेषु केषाञ्चिद्वर्तमानकल्पीयार्हत्त्वं केषाञ्चिच्च भूत(वृत्त)कल्पीयार्हत्त्वमपि शब्दतः प्रतिपादितमवबुध्यते । तथैव केषाञ्चिच्चक्रवर्तित्वमपि विज्ञायते ।

इह विद्वांसो वस्तुनः प्राचीनतमत्वं साधयितुं श्रुतिषु तद्दर्शयितुं प्रयतन्ते, प्राचीनतरत्वञ्च स्मृतिषु, प्राचीनत्वं पुनः पुराणेषु, अतीतत्वञ्चेतिहासेषु । तत्र श्रुतिषु मुनिनग्नादिशब्दप्रयोगाश्रयेण सामान्येन, ऋषभारिष्टनेमिसुमति-श्रेयांसानन्तधर्मनमिनेमिपार्श्ववर्धमानानां तीर्थङ्करनाम्नां प्रयोगाश्रयेण च विशेषेण जैनधर्मस्य मूलं दर्शयितुमपि केचिद्यतन्ते, तदत्र परीक्षिष्यामहे ।

मुनिपदं तावद् ऋग्वेदे पञ्चकृत्वः प्रयुक्तम् ।

तत्र ७.५६.८ इति सङ्ख्याके मन्त्रे—

'शुभ्रो वः शुष्मः क्रुध्मी मनांसि धुनिर्मुनिरिव शर्धस्य धृष्णोः ।' इति मन्त्रे उपमानतया प्रयुक्तो मुनिः स्तोता भवति, न तु जैनमुनिः । अत्र हि उपमेयभूतो धुनिः वृक्षादीनां कम्पयिता वेगो बहुविधशब्दोत्पादकत्वधर्मेण मुनिना स्तोत्रा सहोपमीयते, न तु मौनामलम्बिना तेन । एवमेव ८.१७.१४ इति सङ्ख्याके—

'वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्रं सोम्यानाम् ।
द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा ।'

इत्यत्र मन्त्रे सोम्यानामिति विशेषणेन शान्तस्वभावानामित्यर्थकेन मुनीनां जैनमुनित्वं सम्भावयितुं शक्यते । किन्तु बह्वीनामसुरपुरीणां भेत्तुरिन्द्रस्य हिंसापरस्य तैरहिंसापरायणैः सह सख्यं न युज्यते—'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' इति नियमात् । तस्मादत्रापि सोम्यानामित्यस्य विशेषणस्य सोमार्हाणां सोमसम्पादिनां वा वाचकत्वं व्याख्यातं सायणाचार्यैः, विशेष्यस्य मुनीनामित्यस्य च ऋषीणाम् । किन्तु १०.१३६.२३,४,५ इति सङ्ख्याकेषु—

'मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला ।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ।।
उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आतस्थिमा वयम् ।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ ।।

अन्तरिक्षेणपतति विश्वा रूपावचकाशत् ।
मुनिर्देवदेवस्य सौकृत्याह सखा हितः ॥
वातस्याश्वो वायोः सखायो देवेषितो मुनिः ।
उभौ समुद्रावाक्षेति यश्च पूर्व उतापरः ॥

इत्येतेषु चतुर्षु मन्त्रेषु हठाद् वातरशनत्वाद् दिगम्बराणां, पिशङ्गमलिनवसनत्वाच्च श्वेताम्बराणां वाताशित्वाद् वातानुगतिजुषां देवत्व प्राप्य मोक्षपदे प्रविशतां जैनमुनीनां तीर्थङ्कराणां वार्थो मतिमारोहति । मुनिव्रतेन चोन्मत्तानां वातमास्थितवतां च तेषां सामान्येषु मनुष्येषु शरीरमात्रदृष्टिषु 'शरीरमेवास्माकं यूयं मर्त्या अभिपश्यथ' न सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणीति कश्चिदुपालम्भोऽपि तेषामेव युज्यते । अथ तेषु कस्यचित् मुनेः सिद्धिं प्राप्तस्यान्तरिक्षेण गमनं, विश्वरूपावलोकनं, सर्वदेवसखित्वं, सुकृतार्जनहितत्वं चेत्यपि सङ्गच्छते । अपरस्य तु मुनेर्वाताशिनः सतो वातेन सह सखित्वम्, पूर्वापरसमुद्रपर्यन्तगामित्वम्, देवप्रेषितत्वमित्याद्यपि सम्भाव्यते । इत्यस्ति जैनधर्मस्यापि किञ्चिन्मूलं श्रुताविति स्वीकारे न दूषणं पश्यामः । प्रत्युत भूषणमेव तच्छ्रुतेर्भविष्यति—

'भूतं भवद्भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति' इति वचनात् ।

तथैव ऋग्वेदे नग्नादीनि यानि पदान्तराणि कैश्चित्प्रदर्श्यन्ते तान्यपि परीक्षणीयानि । यथा ४.२५.७ इति सङ्ख्याके—

न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः संगृणीते ।
आस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नं विसुष्वये पक्तये केवलो भूत् ॥

इत्यत्र सोमपायिन इन्द्रस्य धनवतापि सता सोमरसं नोत्पादयता वणिजा सह सख्यं न भवति, प्रत्युतेन्द्रोऽस्य धनं ज्ञानं वा अखिदति आच्छिनत्ति, तं च नग्नं कृत्वा हन्ति । सोमरसोत्पादकाय हविः पाचकायैव चेन्द्रो विभवति, वैभवमातनोतीत्यर्थके मन्त्रे नग्नपदेन यज्ञकर्मत्यागिनो दशान्तर-वर्णनात्कञ्चिच्छिलष्टमिवार्थमवलोकयामः । किंतु ८.२.१२ संख्याके—

'हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम् ।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते ।'

इत्यत्र मन्त्रे नग्नाः स्तोतारः पयसा पूर्णं गवारुध इव सोमपूर्णं त्वां स्तुवन्तीति व्याख्यानमुपयुज्यते न श्रमणा जैनमुनयो वेति । अपि च १०.३३.२ इति सङ्ख्याके—

सं मातपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः :
विबाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेन वेवीयते मतिः ॥

इत्यस्मिन् मन्त्रे नग्नता विवसनतामात्रं वक्ति न मुनिताम् । १०.६१.६ सङ्ख्याके—

मक्षू न वह्निः प्रजाया उपब्दिरग्निं न नग्न उपसीदद्दूधः ।
सनितेध्मं सनितोतवाजं सधर्ता जज्ञे सहसा यवीयुत् ॥

इत्यत्र वह्निः ऋत्विगादिरूपायाः प्रजाया मक्षू सहसा उपब्दिः उपपीडको न भवति, नग्नस्तु ऊधो नक्तमपि अग्निं न उपसीदद् नोपसन्नो भवतीत्याद्यर्थके मन्त्रे नग्नपदं विवसनवाचकं सज्जैनमुनावपि श्लिष्यति, तस्याग्न्युपसत्तेरभावस्य विख्यातत्वात् ।

इत्थं च सामान्येन मुनिनग्नवातरशन-पिशङ्गमलिनवसनादि-शब्देषु श्लिष्टतया श्रमणार्थप्रतीतिर्दुर्वारेति स्वीकर्तव्यम् । अथ च ऋषभादीनां तीर्थङ्करविशेषप्रतिपादकानां शब्दानामपि परीक्षाऽवश्यं कर्तव्या । तत्र ६.१६.४२० संख्याके—

आते अग्न ऋचा हविर्हृदा तष्टं भरामसि ।
ते ते भवन्तूक्षण ऋषभासो वशा उत ॥

इत्यत्रोक्ष्णां सेचनसमर्थानामिति विशेषणबलात् वशानां साहचर्याच्च 'सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहण'मिति न्यायाद् ऋषभपदेन वृषभा एव गृह्यन्ते । ६.२८.८ सङ्ख्याके—'उपेदमुपपर्चनमित्यादि मन्त्रेऽपि गवां साहचर्येण ऋषभपदं वृषभस्यैव वाचकम् । १०.१.१४ इति सङ्ख्याके मन्त्रे 'यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवमृष्टास आहुताः ।' इत्यादिकेऽपि सहचरितपरिभाषया ऋषभपदं वृषभाणामेव ग्राहकम् । १०.१६६.१ इति सङ्ख्याके—

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम् ।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम् ॥

इत्यस्मिन् मन्त्रे तु भगवता सायणाचार्येण 'हे सपत्ननाशनाभिमानिन् इन्द्र! मा मां समानानामस्मत्कुलीनानां मध्ये ऋषभम् ऋषभवत् प्रशस्तं कृधि कुरु । तथा सपत्नानां शत्रूणां विषासहिं विशेषेणाभिभवितारं कुरु । येऽस्मत्कुल एव जाता अस्माकमेवानिष्टमाचरन्ति ते सपत्नाः । अपि च शत्रूणाम् अन्येषामपि शातयितॄणां वैरिणां हन्तारं हिंसितारं कृधि कुरु । तथा विराजं विशेषेण राजमानं गोपतिं गोस्वामिनं च कुरु । न केवलमेकस्या एव गोः पतिम्, अपितु सर्वासामित्याह गवाम् इति ।' इत्येतद् व्याख्यानमातन्वता भगवदवतारतया श्रीमद्भागवते वर्णितचरित्रस्य ऋषभस्य स्मारिताः स्मः । तमेव भगवन्तं जैनधर्माणः प्रथमं तीर्थङ्करं मन्यन्ते । 'ऋषभम् ऋषभवत्प्रशस्तं कृधि कुरु' इत्यस्यां प्रार्थनायामाध्यात्मिकार्थपक्षे केषाञ्चिदान्तरिकशत्रूणामभिभवनीयत्वं केषाञ्चिच्च वध्यत्वं विचिन्त्य 'सपत्नानां विषासहिं, शत्रूणां च हन्तारम्' इत्युभयमुक्तम् । तत्र कामक्रोधलोभमोहमानमदमत्सरादयोऽभिभवनीयाः सपत्नाः स्युः । निद्रातन्द्राभयक्रोधालस्यादयस्तु वध्याः शत्रव इति विवेकः । भगवान् ऋषभोऽपि पूर्वानभिभूय परांश्च हत्वा विराट् सम्राट् सन्नपि सर्वासां गवामिन्द्रियाणां गोपतिः गोस्वामी जितेन्द्रियोऽभूत् । साम्राज्ये सत्यपि जितेन्द्रियत्वम् 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' इति कालिदासोक्त्या परमधीरत्वं तस्य भगवतो व्यनक्ति । निगमकल्पतरोर्गलिते फले श्रीमद्भागवते ह्यनिगमोक्तोऽर्थो न सम्भाव्यते, ततोऽयमर्थो निगमोक्त एवेत्यपि सिद्ध्यति ।

किञ्च कार्यतः कारणानुमानपद्धत्यापि भगवत ऋषभस्य निगमोक्तत्वं प्रसिद्ध्यति । श्रीमद्भागवते भगवान् ऋषभो भरतादीनां सुपुत्राणां जनकतया जेगीयते, ऋग्वेदे च ऊर्ज ओजस्विनोऽस्य ऋषभस्य पुत्रो भरतोऽप्यनुश्रूयते । यथा—

तमीळत प्रथमं यज्ञसाधं विश आरीराहुतमृञ्जसानम् ।
ऊर्जः पुत्रं भरतं सृप्रदानुं देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् ॥

ऊर्जः पुत्रं भरतं सृप्रदानुं देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् । इत्यस्मिन् १.९६.३ सङ्ख्याके मन्त्रे आरीः आर्याः विशः प्रजाः (सम्बोध्यन्ते) यूयम् तं प्रथमं यज्ञसाधं यज्ञानां सम्पादकम्, आहुतम् अभ्वितम्, ऋञ्जसानम्,

स्तोत्रैः प्रसाध्यमानम्, ऊर्जः ओजस्विनः ऋषभस्य पुत्रम्, सुप्रदानुमविच्छेदेन दान-परायणम्, द्रविणो दाम् द्रव्यानां दातारं भरतम् ईडत पूजयत। के कमिव ? देवाः यथा प्रथमेत्यादिपूर्वोक्तसकलविशेषणविशिष्टम् ऊर्जः अन्नस्य पुत्रम् अग्निं धारयन्ति तथेति।

१.१०६.७ सङ्ख्याके—'आ भरतं शिक्षितवज्रबाहू' इत्यादि-मन्त्रे तु आ भरतमित्याहरतमित्यर्थे क्रियापरम्। किन्तु ३.५४.२४ सङ्ख्याके—

'इम इन्द्र भरतस्य पुत्रा अपपित्वं चिकितुर्न प्रपित्वम्।
हिन्वन्त्यश्वमरणं न नित्यं ज्या वाजं परिणयन्त्याजौ॥

इत्यत्र मन्त्रे तु (हे इन्द्र, भरतस्य पुत्राः भरतवंश्या विश्वामित्राः अपपित्वम् अपगमनं वसिष्ठेभ्यः चिकितुः जानन्ति, 'प्रपित्वं प्रगमनं न जानन्ति' इत्यादौ सायणाचार्यभाष्ये तस्य भरतस्यापि पुत्राणां तद्वंश्यानां वा गुणदोषौ जेगीयमानौ पठ्येते।

अन्येष्वप्येकादशसु आर्चेषु मन्त्रेषु भरतस्य नामानुश्रूयते किन्तु प्रबन्धविस्तरभयाद्भरतस्यातीर्थङ्करत्वेन प्रकृतानुपयोगाच्च तन्नात्र व्याख्यायते। ऋषभात्परो द्वितीयस्तु तीर्थङ्करोऽजितः, तस्यापरं नामारिष्टनेमिरिति। अरिष्टनेमिपदं च ऋग्वेदे चतुरनुश्रूयते। तत्र १.८९.६ सङ्ख्याके—स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः' इत्यादौ प्रसिद्धे स्वस्तिवाचनमन्त्रे 'स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः' इत्यत्र तृतीये चरणे 'अरिष्टोऽहिंसितो नेमिरायुधविशेषः, रथचक्रस्य धारा वा यस्य सः तार्क्ष्यः तृक्षस्य पुत्रो गरुत्मान्। स्वस्तिविधानायाभ्यर्थ्यते, इति न तत्र मुन्यर्थः। केवलमरिष्टपदेन हिंसाप्रतिषेधाद् अरिष्टनेमिरिति तार्क्ष्यविशेषणम्, तथैव १.१८७.१० सङ्ख्याके ३.५३.१७ सङ्ख्याके च मन्त्रे तद्रथस्य विशेषणम्।

१०.१७८.१ सङ्ख्याके तु मन्त्रे तार्क्ष्यपुत्रोऽरिष्टनेमिनामा ऋषिस्तार्क्ष्यमेव देवतामभिष्टौति—

'त्यमूषु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारंरथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥ इति॥

अत्र मन्त्रे तार्क्ष्यस्य देवजूतमिति विशेषणं केशिसूक्तस्य ऋषिषु जूतिदेवजूतिविप्रजूतिवृषाणककरिक्रतैतशऋष्यशृङ्गेषु वातरशनतया पिशङ्ग-मलिनवसनतया च मुनित्वेन निरूपितेषु देवजूतिं नाम मुनिं स्मारयति। अस्यार्चस्य मन्त्रस्य भाष्ये सायणाचार्यकृता विकल्पा अपि मुन्यर्थानुकूला भवन्ति। तथाहि—'त्यमुतं प्रसिद्धमेव तार्क्ष्यं तृक्षपुत्रं सुपर्णम्। स्वस्तये क्षेमाय इह अस्मिन् कर्मणि हुवेम भृशमाह्वयेमहि। कीदृशम् वाजिनं बलवन्तमन्नवन्तं वा देवजूतं देवैः प्रेरितम्, देवैः प्रीयमाणं तर्प्यमाणं वा। यदाह यास्कः—जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा देवजूतं देवगतं देवप्रीतं वा (निरु० १०.१८) सहावनं सहस्वन्तं बलवन्तमभिभवनवन्तं वा अत एव रथानाम् अन्यदीयानां तरुतारं संग्रामे जेतारम्। यद्वा रंहणशीला इमे लोका रथाः। तान् शीघ्रं तरीतारम्। श्रूयते हि—एष हीमाँल्लोकान् सद्यस्तरति (ऐ. ब्रा. ४.२०) इति। अरिष्टनेमिम् अहिंसितरथम्। यद्वा नेमिर्नमनशीलमायुधम्। अहिंसितायुधम्। अथवा। उपचाराज्जनके जन्यशब्दः। अरिष्टनेमेर्मम जनकम्। पृतनाजं पृतनानां शत्रुसेनानां प्राजितारं प्रगमयितारं जेतारं वा। आशुं शीघ्रगामिनम्।' इत्यस्ति प्रतिपदभाष्यम्। अत्र देवजूतमित्यस्य देवैः प्रीयमाणमिति, सहावानमित्यस्याभिभवनवन्तमिति, रथानामित्यस्य रंहणशीला इमे लोका रथाः। तान् शीघ्रं तरीतारन्निति। अरिष्टनेमिमित्यस्यारिष्टनेमेर्ममजनक-

मिति, पृतनाजमित्यस्य शत्रुसेनाजेतारमिति विकल्पपक्षीयं भाष्यं देवजूतिनामकस्य मुनेरनुकूलम् । मुनयो हि कामादीनां शत्रूणामभिभवनवन्तो निद्रादिशत्रुसेनानां च जेतारो भवन्ति । तेषां नमनशीलमायुधं क्षमेति प्रसिद्धमेव । अस्य देवजूतेर्मुनेररिष्टनेमिजनकत्वं वृक्षपुत्रत्वं चाद्यापि मृग्यमेव ।

अथ पञ्चमस्य तीर्थङ्करस्य सुमतेरपि नामसंकीर्तनम् ऋग्वेदे सम्भाव्यते, सुमतिशब्दस्यैकवचने हि भूयांसः प्रयोगाः श्रूयन्ते ऋग्वेदे । १०.४०.१२ सङ्ख्याके च मन्त्रे—

आवामगन्त्सुमतिर्वाजिनीवसून्यश्विना हृत्सु कामा अयंसत ।
अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्यां अशीमहि ॥ इत्यत्र

अश्विनोः सुमतेः सत्सङ्गाद्रत्नत्रितयस्य विशेषतः सम्यक्चारित्रस्य लाभः समभवदिति प्रतीयते । वा युवां सुमतिस्तन्नामको मुनिः आ अगन् आगतः समागतश्च । तत एव युवाम् मिथुना मिथुनौ परस्परेण सहितौ अश्विनौ वाजिनीवसू अन्नधनौ सन्तौ अन्नं जीवानां वासाय जीवनाय कल्याणावादधतौ ददतौ च प्रसिद्धौ 'एतेनाश्विनोरपरिग्रहः कीर्तितः ।' युवयोश्च हृत्सु कामा अयंसतेति तयोर्ब्रह्मचर्यमस्तेयं च व्याख्यातं, कामिनी-काञ्चनयोर्विषये कामानां नियमनात् । अपि च युवां गोपा गोपायितारौ शुभस्पती श्रेयस्करौ प्रिया प्रियौ च अभूतम् । एतेन तयोरहिंसासत्यनिष्ठत्वं सूच्यते । प्रार्थ्यते च यद्यथा युवामूर्ध्वगती संवृत्तौ तथा वयमपि अर्यम्णः सूर्यस्य दुर्यान् गृहान् अशीमहि प्राप्नुयामेति । ये तु सुमतिः शोभना मतिरिति व्याख्यान्ति, तैरपि तस्याः प्राप्तये किमपि साधनं द्वारं वा कल्पनीयमेव । तच्च सत्सङ्गतेरतिरिक्तं न भवति ।

एकादशस्य तीर्थङ्करस्य श्रेयांसस्यापि नाम ऋग्वेदे १०.३१.२ सङ्ख्याके मन्त्रेऽनुश्रूयते—

परिचिन्मर्तो द्रविणं ममन्यादृतस्य पथा नमसा विवासेत् ।
उतस्वेन क्रतुना संवदेत श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात् ॥ इति ।

अत्र मर्तः मनुष्यः परिचित्सर्वतः द्रविणं धनं ममन्यात् लब्धुमिच्छेत्, लब्धं च तदृतस्य सत्यस्य पथा मार्गेण नमसा विनयेन सह विवासेत् वितरेदर्थिभ्यः । उत अथ स्वेन स्वकीयेन क्रतुना व्यवसायेन संवदेत तद्धनं संयोजयेत् । अत्राजितस्य धनस्य देयमंशं दत्त्वैव शेषं व्यवसायेन योजयेदिति वेदाज्ञा । एवं मनसाऽऽचरितेन शुभेन क्रमेण दक्षं कुशलं श्रेयांसं नाम मुनिं जगृभ्यात् गृह्णीयाद् अनुकूलयेत् ।

त्रयोदशस्य तीर्थङ्करस्यानन्तनाम्नोऽपि तत्र चर्चा सम्भाव्यते । ४.१.७.३ सङ्ख्याके ह्याचर्चे मन्त्रे आधिभौतिकरूपेण दिव्यन्तरिक्षे पृथिव्याञ्च क्रमेणादित्यविद्युदग्निरूपाणि सन्त्येवाग्नेस्त्रीणि जन्मानि । तथैवाध्यात्मिकक्षेत्रेऽपि—

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः ।
अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः ॥

इत्यत्रोक्तान्यग्नेस्त्रीणि परमसत्यानि स्पृहणीयानि च जन्मानि सन्ति । तेषु प्रथमं सांख्यशास्त्रप्रणेतुः कपिलस्याग्न्यवतारतया प्रसिद्धस्याद्वितीयं तु 'अन्तः परिवीतः स्वतेजसा परिवेष्टितः शुचिः सर्वस्य शोधकः शुक्रो दीप्तियुक्तोऽत एव रोरुचानो भृशंरोचमानोऽग्निः 'अनन्ते' तन्नाम्ना प्रसिद्धे मुनौ आगात् । इत्युत्तरार्धेन वर्ण्यते । तृतीयन्तु वैष्णवाचार्येषु वैश्वानरावतारतया प्रसिद्धस्याचार्यविशेषस्य । त्रयाणामप्यमीषां विचारसाम्यं सान्द्रष्टिकत्वं वाऽस्मत्कल्पनां पोषयति ।

पञ्चदशस्य धर्मस्याप्यर्हन्निति प्रसिद्धस्यापि सम्भवत्युपलम्भो ऋग्वेदे। यथा २.३३.१० सङ्ख्याके—

अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्रत्वदस्ति॥

इत्यस्मिन् मन्त्रे रुद्रस्य रौद्रविषयत्वं शृङ्गारविषयत्वं च पूर्वार्धेनोक्तम्-त्वमेव राजभावेनार्हन् सन् धन्वा सह सायकानि बिभर्षि त्वमेव चार्हन् सन् पूजनीयं बहुरूपं हारं बिभर्षीति। उत्तरार्धेन तु त्वत्तः पर ओजस्वितरो-ऽन्यो नास्तीति पूर्वार्धार्थमनूद्यान्ते 'त्वमेव चार्हन् सन् इदमतिविस्तृतं विश्वं प्रति दयसे दयावान् भवसि, अहिंसाञ्च प्रतिष्ठापयसि' इति विधीयते।

यद्यपि नमिनेमि पार्श्ववर्धमानानामेकविंशादिचतुर्विंशान्तानां तीर्थङ्कराणामपि नामानि ऋग्वेदे समुपलभ्यन्ते, शक्यन्ते च तान्यपि त्रिकालज्ञानां महर्षीणां मन्त्रेषु दर्शमानानि तान्यैतिहासिकानां वैदिकं कालमर्वाचोऽप्यर्वाञ्चं पञ्च-सहस्रवर्षात्मकं निर्धारितवतां महते क्षोभाय स्युरिति नातिप्रतन्यते सन्दर्भोऽयम्।

विम्बस्य प्राचीनतमे च ग्रन्थे ऋग्वेदे दर्शितनाम्नां तीर्थङ्कराणां विशेषेण, सामान्येन च दर्शितस्वरूपाणां जैनमुनीनां विषये स्मृतिभ्य इतिहासेभ्यो वाल्मीकीयरामायणमहाभारतादिभ्योऽपि किञ्चिन्निर्देष्टव्यमेवेति नापेक्षितम्। तथापि भगवता मनुना—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हिताः स्मृताः॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥

इत्याभ्यां श्लोकाभ्यां कासांचित् स्मृतीनां वेदवाह्यत्वं केषाञ्चिच्च दर्शनानां कुदृष्टित्वं सूचयता तासां तेषां च निष्फलत्वं तमोनिष्ठत्वं च प्रतिपादितम्। उत्पादविनाशभाजां च शास्त्राणामर्वाक्कालिकतां प्रतिपादयता निष्फल-त्वमनृतत्वञ्चाम्नातम्। इत्यस्माभिरेतावतां तीर्थङ्कराणामवेदबाह्यत्वप्रतिपादनद्वारा तत्स्मृतीनामप्यवेदबाह्यत्वं साधनाय प्रयत्नोऽयमादृतः। एतेषामुपदेशानाञ्च तावदर्वाक्कालिकत्वे निवार्यमाणे सफलत्वं च साधितम्। इत्यलम्।

श्री महावीर की समता-दृष्टि

—कु० निर्मल जैन

जैन-धर्म के प्रवर्तक श्री भगवान् महावीर भारतीय आकाश के एक उज्ज्वल रत्न हैं। इनके समूचे धर्म का प्रतिनिधि शब्द हैं '**सामायिक**'। सामायिक का अर्थ है 'समता की प्राप्ति'। सब जीव समान है, इस धारणा से परत्व और ममत्व दोनों मिटते हैं और समत्व का विकास होता है।

जैन-धर्म का सामायिक-धर्म बहुत विराट् एवं व्यापक धर्म है। यह आत्मा का धर्म है, अतः सामायिक न किसी की जात पूछता है, न देश पूछता है, न रंग-रूप पूछता है, और न मत एवं पन्थ ही। जैनधर्म का सामायिक साधक से विशुद्ध जैनत्व की बात पूछता है, उस जैनत्व की जो जातपाँत से देश और पंथ से ऊपर की भूमिका है। यही कारण है कि माता मरुदेवी ने हाथी पर बैठे हुये सामायिक की साधना की और मोक्ष में पहुंच गई।

इला-पुत्र एक नट था, जो बाँस पर चढ़ा हुआ नाच रहा था। उसके अन्तर्जीवन में समभाव की एक नन्हीं-सी लहर पैदा हुई, वह फैली और इतनी फैली कि अन्तर्मुहूर्त में ही बाँस पर चढ़े-हुए केवलज्ञानी हो गया। यह चमत्कार है 'सामायिक' का।

सामायिकरूप जैनत्व वेप में नहीं, समभाव में हैं, माध्यस्थभाव में है। रागद्वेप के प्रसंग पर मध्यस्थ रहना ही सामायिक है और यह मध्यस्थता अन्तर्जीवन की ज्योति है इसके बिना सब शून्य है, अन्धकार है। 'सम' का अर्थ एकीमाव है और 'अय' का अर्थ गमन है, अस्तु जो एकीभाव के द्वारा वाह्य परिणति से वापस मुड़कर आत्मा की ओर गमन किया जाता है उसे '**समय**' कहते हैं, 'समय' का भाव 'सामायिक' होता है।

सामायिक करने वाला साधक वाह्य सांसारिक दुर्बलताओं से हटकर आध्यात्मिक केन्द्र की ओर मन को वश में कर लेता है, वचन को वश में कर लेता है, कपायों को सर्वथा दूर करता है, रागद्वेषों के दुर्भावों को हटाकर शत्रु-मित्र को समान दृष्टि से समझता है, न शत्रु पर क्रोध करता है न मित्र पर अनुराग करता है उसका जीवन सर्वथा निर्द्वन्द्व होकर शान्ति एवं समभाव की लहरों में बहने लगता है। श्री महावीर ने कहा है कि—

लाभालाभे सुखेदुःखे, जीवने मरणे तथा।
समोनिन्दा-प्रशंसयोस्तथा मानापमानयोः॥

समयोगी लाभ और अलाभ, सु:ख और दु:ख, जीवन और मरण, प्रशंसा और निन्दा, मान और अपमान में सम भाव रहे।

पापकर्मों से अपनी रक्षा करने के लिये पूर्णकालिक समता ही प्रशस्त है। गृहस्थों के लिए भी वह परम-धर्म है। हृदय में ममत्वभाव का प्रसार रखकर, समता के बिना की गई सामायिक वास्तव में 'मायिक' अर्थात्

'दम्भ' है। समतायुक्त साधुजनों के समान सद्गुणों का लाभ हो जाने पर ही सामायिक शुद्ध कही जाती है। जैसा कि कहा भी है—

बिना समत्वं प्रसरंस्तमत्वं, सामायिकं मायिकमेव मन्ये।

यह सामायिक समस्त धर्म-क्रियाओं, साधनाओं, उपासनाओं एवं सदाचरणों के लिए उसी प्रकार आधार-भूत है जिस प्रकार कि आकाश और पृथ्वी चराचर प्राणियों के लिये आवश्यक है।

जैन-संस्कृति समप्रधान संस्कृति है उसके यहाँ तपश्चरण है, परन्तु वास्तविक महत्त्व संयम का है, समता का है, सामायिक का है। भगवान् महावीर जातिवाद का खण्डन करने नहीं चले। यज्ञ-हिंसा और दास-प्रथा का विरोध करना भी उनका मुख्य लक्ष्य न था। उनका ध्येय था **'समता:धर्म' की स्थापना**। यह खण्डन और विरोध तो उनका प्रांसगिक परिणाम था। भगवान् ने सत्य को अनेकान्त की दृष्टि से देखा और उसका प्रतिपादन स्याद्वाद की भाषा में किया। इसका हेतु भी समता की प्रतिष्ठा है।

जब तक **'समभाव-रूप'** सामायिक न हो, तब तक कोटि-२ वर्ष तक तप करने वाला अविवेकी साधक भी कुछ नहीं कर पाता है।

यह समता वस्तुतः सब मंगलों का विधान है। **"जो य समभावो सो वहं सव्वमंगल-निधाणं न भविस्सति"**।

उच्चविचार और उच्च आधार का जीवन अपनाना ही समता का दुन्दुभिनाद है। अतएव वाचक यशोविजयजी सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशाङ्गी रूप जिनवाणी का सार बतलाते हुए कहते हैं:—

"सकलद्वादशाङ्गोपनिषद्भूतसामायिकसूत्रवत्।"

ETHICAL CODES IN MANUSMṚTI AND JAINA LITERATURE

—Dr. Vachaspati Upadhyaya

Ethics as it has been defined by Western Philosophers, deals with those standards by means of which the behaviour of normal human beings is to be judged. The Indian ethics is not only limited to the principle by reference to which the value of the actions may be determined, but over and above this, it also deals with a serious philosophical enquiry regarding the nature of ultimate reality. As it has been asserted 'the Hindus not only aimed at leading a moral life, but also raised and sought to answer the important question as to what constitutes the essential basis of morality itself.'[1] Accordingly all systems of thought have dwelt upon laying down ethical codes in the wider perspective. Here we shall deal mainly with Jaina ethics in comparison with ethical notions propounded by Manu, the foremost law-giver of ancient India.

It may be mentioned at the very outset that the ethical virtues preached by Lord Mahavira also find place in the law-book of Manu. The major point of difference lies in the fact that whereas Jainism prefers the path of renunciation to the other that considers active social life desirable,[2] while the Smṛti view point lays emphasis on the latter. The Jainas advocate a direct adoption of ascetic life because in their opinion it is only an ascetic who has completely renounced worldly attachments and he alone can practise the strict code of conduct inclusive of five great vows (*mahāvratas*), three implied rules (*guptis*), five co-rules called Samiti, ten excellent qualities etc. Those who are unable to endure the hardships of the life of an ascetic, may, for a short while, practise the partial observation of the vows laid down for a householder and thereby prepare himself for pursuing asceticism. While Jaina tradition looks upon the stage of householder merely as a means to achieve monkhood, Manu Smṛti speaks of it in terms of most excellent order of life. The society was divided in four classes on the basis of their occupational ability. These are Brāhmaṇa, Kṣatriya, Vaiśya and Śūdra. The first three groups generally known as 'twice-born' had to pursue the four orders of life in gradual succession. Manu's main objective consists in mapping out the course of an individual's life by narrating Varnadharmas and Āśramadharmas which prescribe a balanced code of conduct. The first stage of life viz. Brahmacharya is devoted to the acquisition of

---

1. Prof. Balbir Singh : Foundations of Indian Philosophy, p. 164
2. Cf· एवं प्रणम्य सिद्धान् जिनवरवृषभान् पुनः पुनः श्रमणान् ।
   प्रतिपद्यतां श्रामण्यं यदीच्छति दुःखपरिमोक्षम् ।।

   Pravacanasāra, Gāthā 20.

learning. The disciple has to reside for a fixed period in the house of his teacher. He should always exert himself in studying the Vedas and in doing what is serviceable to his preceptor[1]. The second order of life is that of a householder in which an individual is encouraged to enter the married life. The outstanding duty of a householder consists in keeping the fire with which marriage ceremony begins, burning throughout his life by means of the performance of daily sacrifices devised for expiating the fivefold injury involved in the household.[2] The major part of the life of a householder is devoted to the enjoyment and fulfilment of desires. The third stage arises when one quits the responsibilities of household and retires to the forest and is thus significantly termed Vānaprastha. According to Manu one must enter this stage when he sees his skin wrinkled and his hair white and when he becomes grandfather.[3] The main objective of this stage wherein a hermit is absolutely devoted to the inclination of moral duty, is to prepare him for leading the life of renunciation in the final stage. The task which is meant for the Vānaprasthin of Manu is well accomplished by the householder of Jainas. The fourth stage of life viz. *Sanyāsa* consists in complete renunciation of worldly life. It is devoted mainly to the attainment of the highest aim of one's life. Although it is undoubtedly true that the ultimate end is to be realized through the order of *Sanyāsa*, yet for this reason rest of the *āśramas* must not be overlooked. Therefore Manu declares—'Having studied the Vedas in accordance with the rule, having begotten sons according to the Sacred Law, and having offered Sacrifices according to his ability one should direct his mind to the attainment of final liberation.'[4] The force of Manu's contention is enhanced by the illustration given by Dr. Radhakrishnan, "The blossom does not deny the leaf and the leaf does not deny the stalk, nor stalk the root."[5] Thus the social scheme laid down by Manu recommends one's entry into life of asceticism only after he has fulfiflled his obligations to his fellowmen as a student and as a householder. The gradual march towards renunciation and detached life is not acceptable to Jaina acharyas. The reason behind this

---

1. चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
   कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेपु च ॥
   Manu S. II. 191.
2. तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
   पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥
   Manu S. III. 69.
3. गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
   अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥
   Manu S. VI. 2.
4. अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
   इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशये ॥
   Manu S. VI. 36.
5. Dr. S. Radhakrishnan : The Hindu View of Life, p. 65.

may be that the pursuit of the fourfold scheme requires a life of hundred years at least. But the life is as uncertain as a bubble of water. It may end at any moment. In view of the transitoriness of life, having once missed the opportunity one may have to revolve for ages in the dreadful cycle of birth and rebirths. Therefore in view of the Jainas one should abruptly begin with the life of asceticism. Moreover, it is very laborious task to renounce worldly ties after getting accustomed to active worldly life in the āśrama of Gṛhastha. For this reason the Jaina householder is afforded opportunities to rise to the lofty heights of monkhood by way of comparatively easy steps.

The fundamental ethical discipline of Jaina Philosophy comprises of five vows which are quite strict and rigorous in case of monks but are relaxed and modified for a lay man. The five vows of the monks are termed 'great vows' (Mahavratas) and those of the householders are known as 'small vows' (Anuvratas). The five great vows are non-violence, truthfulness, non-stealing, celebacy and non-possession.[1] These exactly correspond to the Yamas of Patañjali.[2] Manu also refers to these under Yamas and Upavratas replacing Aparigraha by Akalkatā.[3] The first of these viz. non-violence has been imparted Supreme Value in Jainism. For ages Jaina monks have adopted the path of non-violence with remarkable vigilence, and are still applying this ideal to their practical lives in the contemporary age. This mahavrata implies non-injury in thought, word and deed including both negative abstention from inflicting injury on any being superior or inferior, and positive help to any suffering creature.[4] The negative aspect of non-violence has been emphasized by Manu when he says that 'in order to preserve living creatures, let one alwoys by day and by night, even with pain to his body walk carefully scanning the ground.[5] Jaina acharyas also carefully prescribe rules for movement, speech, thinking, begging etc. The great vow of truthfulness

---

1. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।
   Tattvārtha Sūtra VII. 1.

2. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ।
   Yoga Su. II. 30.

3. अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता ।
   अस्तेयमिति पञ्चैते यमाश्चोपव्रतानि च ॥
   Manu S. IV. (11).

4. कायेन्द्रियगुणमार्गणा कुलायुर्योनिषु सर्वजीवानाम् ।
   ज्ञात्वा च स्थानादिषु हिंसादिविवर्जनमहिंसा ॥
   Mulachara I. 5.

5. संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ।
   शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥
   Manu S. VI. 68.

is not only confined to the conformity of words and thoughts to the actual facts, but is taken to mean a thoughtful speech that is beneficial to all.[1] Non-truth on the other hand is the speech that causes pain to others. Apart from telling lies, it also includes insulting speech, teasing speech, harsh words, expressions of a householder and exciting words: The negation of all these falls within the purview of Satya Mahāvrata. Manu also holds that any statement which hurts the feelings of an individual is regarded as sin even though it may be objectively true. Therefore one should speak what is true and pleasing. Neither should we utter disagreeable truth nor agreeable falsehood; this is the eternal law.[2] As regards the vow of non-stealing, what is expected of a monk is not only abstaining from taking belongings of others but also avoiding whatever is not offered to him in a village.[3] This vow further implies that he should never quarrel with his fellow monks over any of his possessions. Manu's concept of steya is also inclusive of telling lies in addition to the idea of robbing others of their property. He who hides his real identity incurs a great sin and is a thief who makes away with his own self.[4] The Sanyasin is to observe the vow of celebacy which implies absence of sexual desires. The womenfolk should be looked upon in the form of mother, sister or daughter and even talking about women is prohibited.[5] Manu also imposes restriction on the conduct of a celibate (Brahmachari) indulged in studying the Vedas. The last of the Mahavratas laid dowd by Jaina acharyas is that of non-possession or Aparigraha. The expression Parigraha indicating attachment, the vow of non-possession has been rightly defined in Mulachara as renunciation of sentient and insentient paraphernalia and non-attachment towards such objects as are allowed by Scriptures.[6] Manu also likewise advises a person

---

1. रागादिभिरसत्यं त्यक्त्वा परतापसत्यवचनोक्तिम् ।
सूत्रार्थानामपि कथने अयथावचनोज्झनं सत्यम् ॥
Mulachara I. 6.

2. सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥
Manu S. IV. 168.

3. ग्रामादिषु पतितादि अल्पप्रभृति परेण संगृहीतम् ।
न आदानं परद्रव्यं अदत्तपरिवर्जनं तत्तु ॥
Mulachara I. 7.

4. योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥
Manu S. IV. 255.

5. मातृसुताभगिनीः इव दृष्ट्वा स्त्रीत्रिकं च प्रतिरूपम् ।
स्त्रीकथादिनिवृत्तिः त्रिलोकपूज्यं भवेद् ब्रह्म ॥
Mulachara I. 8.

6. जीवनिबद्धा बद्धाः परिग्रहा जीवसम्भवाश्चैव ।
तेषां शक्यत्यागः इतरजित् च निर्ममोऽसङ्गः ॥
Ibid. I. 9.

to accumulate only that much wealth which is required for his bare subsistence, by following irreproachable occupations.[1] These are the five great vows. The Anuvratas implying the observance of these on a smaller scale are in fact a preparation for ascetic life. These on the one hand cause self-purification of the householder and on the other make an attempt to build an exalted character of him.

Besides the five great vows the ethical code of Jainas also embodies five Samitis and three Guptis or implied rules which an ascetic must observe. Samitis which are a mode of stopping the inflow of Karman refer to the outward behaviour of a monk. These, however are expressions of the detailed rules of behaviour showing with what exactness a monk is required to be vigilant in observing moral virtues. The five Samitis are—the observance of the rules of walking (Irya Samiti), observance of the rules of speech (Bhāṣā Smiti), that of the rules of begging alms (Eṣaṇā Samiti), rules of depositing some portion of alms for the performance of religious duties (Adananiksepa Samiti) and refusing gifts or alms under certain conditions (Pratiṣṭhapanā Samiti).[1] The purpose of Irya Samiti is to regulate the movement in such a manner that no living creature is injured through carelessness. The Bhāṣā Samiti supplements the vow of truthfulness. Concise and truthful speech is to be adopted

---

1. यात्रामात्रप्रसिद्धचर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
   अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ।।
   Manu S. IV. 3.

2. Mulachara defines these Samitis as—
   मार्गोद्योतोपयोगालम्बनशुद्धिभिः ईर्यतो मुनेः ।
   सूत्रानुवीच्या भणिता ईर्यासमितिः प्रवचने ।।
   V. 105.

   सत्यमसत्यमृषा अलीकादिदोषवर्ज्यमनवद्यम् ।
   वदतः अनुवीच्या भाषासमितिः भवेत् शुद्धा ।।
   V. 110.

   उद्गमोत्पादनैषणैः पिंडं च उपाधिं शय्यां च ।
   शोधयतश्च मुनेः परिशुध्यति एषणासमितिः ।।
   V. 121.

   आदाने निक्षेपे प्रतिलेख्यचक्षुषा प्रमार्जयेत् ।
   द्रव्यं च द्रव्यस्थानं संयमं लब्ध्वा स भिक्षुः ।।
   V. 122.

   प्रतिष्ठापनासमितिरपि च तेनैव क्रमेण वर्णिता भवति ।।
   व्युत्सर्जनीयं द्रव्यं तु स्थण्डिले व्युत्सृजतः ।।
   V. 128.

and anger, pride, deceit, greed, laughter, fear and gossip etc. are to be carefully avoided. These regulations of movement and speech have been referred to by holy Manu in the context of bodily and verbal purity.[1] The Eṣaṇā Samiti of Jainas bears close affinity with the rules of begging laid down by Manu.

The three Guptis as such stand for threefold discipline pertaining to mind, body and speech. Derived from the root gup 'to protect' guptis signify those means by which the soul receives protection against the circle of births and deaths.[2] Manogupti means freedom from thoughts of passion, delusion, attachment, aversion and such other impure thoughts,[3] Vāggupti means to refrain from talks about women, politics, theft, food etc. and also from telling lies.[4] The third implied rule viz. Kāyagupti means abandonment of such violent actions as piercing, beating, contracting, expanding, etc.[5] Thus these Guptis lay stress upon the control of body, mind and speech. Manu also emphasizes the need for self-restraint and the above mentioned three Guptis have been specially mentioned by him. The terminology of both Jainas and Manu is quite different, one calling these Guptis and the other Daṇḍas. Yet the implication of Tridaṇḍa mentioned by Manu is the same as that of the Guptis. Advising the means for acquiring the three controls Manu says that control of speech may be gained by observing silence, that of mind by abandoning food; and for the control of body one has to excercise breath control.[6] A Sanyasin who has cultivated these three daṇḍas or

---

1. Cf. दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥
Manu S. VI. 46.

2. यतः संसारकारणादात्मनो गोपनं भवति ।
Pūjayapāda on Tattavartha Su. IX. 2.

3. कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम् ।
परिहारो मनोगुप्तिः व्यवहारनयेन परिकथिता ॥
Niamasāra 66.

4. स्त्रीराजचौरभक्तकथादिवचनस्य पापहेतोः ।
परिहारो वाग्गुप्तिरलीकादिनिवृत्तिवचनं वा ॥
ibid. 67.

5. बन्धनछेदनमारणाकुञ्चनानि तथा प्रसारणादीनि ।
कायक्रियानिवृत्तिः निर्दिष्टा कायगुप्तिरिति ॥
Niamasāra 68.

6. वाग्दण्डोऽथ भवेन्मौनं मनोदण्डस्त्वनाशनम् ।
शरीरस्य हि दण्डस्य प्राणायामो विधीयते ॥
Manu S. XII. (4)

controls is significantly known as Tridaṇḍin.[1]

Over and above these a Jaina monk is to develop ten cardinal moral virtues termed excellent qualities (uttama guṇas) in him. These are—foregiveness, humility, straightforwardness, contentment, truth, restraint, penance, renunciation, detatchment and celibacy.[2] These have been purposely called 'excellent' because these are to be cultivated for spiritual development alone, and not with some worldly end in view. A parallel to these is observed in the Daśalakṣanadharma mentioned by Manu which also aims at unfolding latent moral values. It has been declared that contentment, forgiveness, self-control, abstention from unrighteously acquiring anything, obedience to the rules of purification, control of the organs, wisdom, knowledge of the Supreme Soul, truthfulness and absence of anger form the tenfold law.[3] Thus both Jaina thinkers and Manu insist upon the cultivation of certain ethical virtues which are necessary for self-purification and spiritual advancement.

Moreover, both Jainism as well as Manu Smṛti accept the underlying doctrines of karma and rebirth. The moral and spiritual perfection being difficult to be obtained in one existence, they believe in the doctrine of rebirth which provides an opportunity to achieve perfection in more than one lives. The ascetics can destroy their karmas through penances.[4] Such penances are, according to Jaina tradition, twelve-fold, six of these being external and the other internal. The six external austerities are fasting, regulation of diet, limiting the quantity of food, abstaining from enjoying any particular taste in food, sitting and lying in solitary place, and torturing the body.[5] The six internal penances on the other hand are confession of crime and its expiation, reverence, service to ascetic, study of scriptures, giving up the objects and thoughts of mundane world, and meditation.[6] Thus having destroyed the

---

1. वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
   यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥
   Manu S. XII. 10.
2. उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ।
   Tattvārthasūtra IX. 6.
3. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
   धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
   Manu S. VI. 92.
4. तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ।
   ibid. XII. 90.
5. अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः ।
   Tattavārtha Sūtra IX.9.
6. प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्यन्तरम् ।
   ibid. IX. 20.

karmas and stopping the inflow of fresh karmas, an ascetic becomes fit for obtaining release.

All the above-mentioned disciplines and rules of conduct are comprised in ethics. Ethics in its broad perspective is not an end in itself. It is rather a means to the realization of transcendental reality. According to Jainas, the state called Mokṣa could be obtained through the three principles of right faith, right knowledge, and right conduct. These are also known as the path of three jewels. Jainism primarily being an ethical system, lays supreme stress on right conduct. It is true that right conduct is the direct means of liberation,[1] but right conduct with right knowledge and right faith can lead to liberation.[2] Whereas Jainism emphasizes right conduct, Manu regards it as an auxiliary. Of the six means of obtaining Nihśreyasa it is only the knowledge of Self that is considered as the best means.[3] Elsewhere Samyagdarśana has also been elevated to the same level when it is said that one who is possessed of it, is not bound by actions.[4]

In this manner we observe how the ethical doctrines of Jainas and Manu tend to accomplish the gradual upward movement towards the highest aim of life.

---

1. चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्षप्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञापनार्थम् ।

   Pūjyapāda on Tattvārtha Su. IX. 18.

2. अतः सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येतत्-
   त्रितयसमुदितं मोक्षस्य साक्षान्मार्गो वेदितव्यः ।

   ibid. I. 1.

3. सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ॥

   Manu S. XII. 85.

4. सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ॥

   ibid. VI. 74.

CONCEPT OF GUṆASTHĀNA IN THE JAIN METAPHYSICS

—Gopilal Amar

GUṆASTHĀNAS : THE SPIRITUAL STAGES

The man as we see him, is obviously a combination of two distinct substances, namely living and non-living. The living substance may be known as soul or spirit in English and as *Jīva* or *Ātman* in Sanskrit, whereas the non-living may be known as matter in English and generally as *pudgala* and particularly as *karman* in Sanskrit.

Living substance has to rise higher and higher towards the condition of matterless living, and ultimately, get rid of matter. It should attain an eternal condition of pure life in self-absorption and would by nature ascend upwards to the top of the universe. In this very process the living substance, i.e., the soul should pass through the fourteen spiritual stages, in which the progress of the soul from ignorance and delusion to perfect self-absorption is traced. Each of these spiritual stages, in Jain metaphysics, is termed as Guṇasthānas.

THE FOURTEEN STAGES : A BIRD-EYE-VIEW

1. The soul has delusion, say wrong belief (Mithyātva).
2. It had right belief, but is falling from that to wrong belief. This is the downfall stage. (Sāsādana).
3. It is in a stage of mixed-right-and-wrong belief (Miśra).
4. It has right belief, but can neither act upon it nor resolve to follow it in actual life. It is vowless right belief (Aviratasamyaktva).
5. It may follow the right belief by partial vows to enter the partial-vow stage (Deśa-virata).
6. It may be with all possible vows, but may keep them imperfectly, owing to negligence or illness (pramāda), when in the imperfect-vow-stage (Pramātta-virata).
7. If it has all vows and keeps them perfectly, it has the perfect-vow-stage (Appamatta-virata).
8. When all vows are kept perfectly, then inner progress begins. The soul has a new inner thought-activity, which may be called the new-thought-activity-stage (Apūrva-karaṇa).
9. Further advance results into the advānced-thought-activity-stage (Anivṛtti-karaṇa).

10. The soul then may near the goal when it is all but left for the delusion, the stage of slightest delusion is consequent then. (Sūkṣmasamparāya).
11. If all delusion is entirely subsided, the stage one of subsided delusion is the result (Upaśānta-moha).
12. When all delusion is destroyed, the soul enters the stage of destroyed delusion (Kṣīṇa-moha).
13. Then the soul knows all and perceives all, still, it has the body of its last incarnation and it vibrates as everybody does it every instant, in the stage of vibratory-omniseience (Sa-voga-kevalin).
14. When the body-vibrations stop, the stage is of non-vibratory-omniscience (A-yoga-kevalin), being of a short duration.

Then the soul is at the end of its mudane existane and becomes liberated from all non-living matter (Karman) for ever : and rushes upward to enjoy its own eternal, supra-sensual, undisturbable, infinite bliss along with infinite knowledge, perception, perfect right belief and power.

Five kinds of thought-activity are recognised in Jainism.

1. Subsidential (*Aupaśamika*). This arises by the subsidence *upaśama* of the deluding matter-*Mohanīya Karmane*. It is of two kinds.
2. Destrutive *Kṣāyika* arises from the destruction of the four obstructives *Ghātiyā Karmans*, and is of nine kinds.
3. Destructive-subsidential *Kṣāyopaśamika* arises by partial destruction, partial subsidence and partial operation of the four destructives. It is of eighteen kinds.
4. Operative (Audayika). It arises by the operation of the matter and is of twenty-one kinds.
5. Natural *Pāriṇāmika*. This activity consists of the self-modification of the soul. It is of three kinds.

THE FUNDAMENTAL OF SPIRITUAL PROGRESS

To proceed on we again are needful of the knowledge of what is the basis of Jaina belief.

Clear, reasoned argument is but sure to be at the basis of Jain belief. Not only right belief is necessary, but it must be based on right reasoning.

1. One-sided Belief

Buddhism believes that every thing is transient *Kṣaṇika* ; this is perfectly true so far as the everpresentmodification. *Paryāyas* of substances are concerned, but these modifications must depend upon something in which they are going on. That some thing remains on through out its modification.

Every substance is characterised by a number of attributes and modifications. Its modifications are always changing, but its attributes, which make it the particular individual substance, last throughout all these changes. The substance is known as *Dravya,* its attribute as *Guṇa*, its modification as *Paryāya* The coming in of the new modification is *Utpāda,* the going out of the old one is *Vyaya* and, the lasting sameness which always remains in the thing modified is called *Dhrauvya.* But it ignores the permanence of the substance upon which the modifications depend. This is what is ment by saying that Buddhism is only a one-sided and therefore, a kind of wrong belief.

2. Perverse Belief

The Vedas are the most ancient and most authoritative revealed sacred books of the Hindus. Also they are characterised by the great importance of *'Yajñas'*. The sacrifices of many kinds. Goats, sheep, horses, etc., were brought to the sacrificial alter to gain merit and reward in this world and in the next. The great perversity and ignorance of this kind of the belief is obvious.

The first thing to realise in that there is a common or similar current of life in all living beings, and that any injury to the vitality of the lowest animal is as hurtful and painful to it as to the highest human being. Then it would be conceded that it is the duty of every thinking spiritual being not to hurt anything that lives, and that it is the greatest sin to neglect this first precept of life. How can then killing animals for sacrifice bring any good here or hereafter to the killar or killed or indeed to anybody else ? No example could be a more patent illustration of perverse belief.

Much less justifiable and much more sinful and censurable, then, is the killing of animals for food or sport. Belief that such taking of life is right or excusable is certainly a perverse belief. The enormity and sinfulness of modern wars is obvious.

3. Veneration of False Creeds

True veneration is always the due of real and universal truth, and of those who have realised it themselves, and are willing and capable of helping others to realise it. When this veneration is paid to a lesser doctrine or person, it is a sin that the belief which inspires it, is not right. When ignorant or superstitious people worship the goddess *Mātā Śītalā,* to remove their small pox or to give them children, or even educated or scientific people claim provisional or incomplete truth to be whole and eternal truth, and venerate it, as such their veneration connot be called right because it is directed towards a partially or wholly wrong matter.

4. Doubtful Belief

When a man is not sure about the ultimate right or wrong of his belief, he is said to have wrong belief due to doubt.

5. Indiscriminate Belief

People, who mortify the flesh to save the soul, venerate and follow the wrong. The flesh must be sabordinated to the soul, but blind hurting of the flesh is not the true path to the liberation of the soul. Right belief is belief in things as they really exist. It involves a true knowledge of these things. Any indiscrimination or absence of knowledge to whatever cause it may be due, prevents the belief from being complete and right. Then the 'Ājñāna' kind of wrong belief is said to arise.

First, the Delusion Stage (Mithyātva Guṇasthāna) and is known only to those who possess direct knowledge (Pratyakṣa Jñāna).

6. Twenty-eight root-qulities are the assential qualities of a saint, even of the lowest degree, viz

Firstly, the five great vows

1. non-injury to any of the ten vitalities (Ahiṃśā)
2. truth in speech, thought and deed (Satya),
3. to take nothing unless and except it is given (Achaurya)
4. chastity (Brahmacharya),
5. renunciation of worldly attachment (Parigraha-tyāga) secondly, the five carefulnesses (Samitis) about,
6. walking (Īryā),
7. speech (Bhāṣā),
8. taking only pure food, and that also when it is not specially prepared for the saint (Eṣaṇā),
9. handling and putting the things as water-bowl, peacock-brush and scripture which saints may keep (Ādāna-nikṣepaṇa),
10. answering calls of nature (Pratiṣṭhāpanā), thirdly, the six daily duties (Āvaśyakas),
11. practising equanimity (Sāmāyika),
12. Obeisance to perfect souls and high saints and the holy images (Vandanā), and
13. praising their qualities (Stuti),
14. repentance for faults already attached to the soul (Pratikramaṇa)
15. fore-thought and endeavour so that in future no faults may attach to the soul (Pratyākhyāna),
16. giving up attachment to the body and practising contemptation (Kāyotsarga)

17-21. (fourthly) self-restraint of five senses, and fifthly, the seven other duties,

22. not to bathe,
23. sleeping on the ground,

24. nakedness
25. pulling the hair out with one's own hands,
26. taking only little food once a day,
27. not to rub and cleanse the teeth, and
28. taking food standing and only in hollow of the folded hands.

SUM AND SUBSTANCE

Soul and matter both have the capacity of modification, which, however, would not go beyond the scope of their respective attributes. A soul would in spite of all modifications remain a soul, and would never get modified into matter; and so would matter never get modified into soul. But there is a sort of reciprocal connection of cause and effect between them, in as much as the impure thought-activity of a soul is an auxiliary cause to the convertion of material molecules into 'Karmans', and the operation of bound-up 'Karmans' becomes an auxiliary cause for the impure thought-activation of a soul. This reciprocal action is the cause of the even-continuous existence of soul in munane condition. Matter existing by itself could never have been capable of turning into '*Karmans*', if there were no stimulus of the impure thought-activity of a soul ; and a soul could never entertain an impure thought-activity if there were no 'Karman' affecting it.

The continuance of such action is transmigration (Saṁsāra) and its discontinuance is liberation (Mokṣa).

The spiritual stages are only way to liberation. First and the formost step in this very way, is nothing but the right belief, the acquisition of which is essentially necessary consequence of right knowledge of both the real (Niścaya) and Practical (Vyavahāra) aspects of the self.

CIRCUMFERENCE OF THE JAMBŪDVĪPA IN JAINA CONSMOGRAPHY

RADHACHARAN GUPTA

1. *INTRODUCTION*

According to Jaina cosmography, the Jambūdvīpa (Jambū Island) is circular in shape and has a diameter of 100,000 *yojanas*. Umāsvāti's Tattvārthādhigama-sūtra (=TDS), III, 9, for example, states.[1]

...योजनशतसहस्रविष्कम्भोजम्बूद्वीपः ॥९॥

'The Jambūdvīpa is of diameter one hundred thousand *yojanas*' That is

$$D = 100{,}000 \text{ yojanas} \quad \ldots \quad (1)$$

Some other explicit references are :

गोयमा ! अयण्णं जंवुदीवे...पट्टे...एगं जोयणसयसहस्सं आयाम विक्खंभेणं
चरणां, धर्मानु, गणितानुयोगः ।

(जम्बूद्वीप प्र० गणिता०)

(i) *Tiloya-Paṇṇatti* (=TP), IV, 11 (Vol. I, p. 143) of Yativṛṣabha[2]

(ii) *Tiloya-Sāra* (=TS), *gāthā* 308 (p. 123) of Nemicandra (10th century A.D.)[3]

---

1. The *Sabhāṣya-TDS* edited with the Hindi translantion of Khubacandra, p. 163. Bombay, 1932 (Paramasruta Prabhavaka Jaina Mandala).

   The date of Umāsvāti (or Umāsvāmin) is about 40-90 A.D. according to J. P. Jain, *The Jaina Sources of the History of Ancient India*, p. 267, Delhi, 1964 (Munshi Ram Manohar Lal) ; and about 4th or 5th century according to Nathuram Premi, *Jaina Literature and History* (in Hindi), p. 547, Bombay, 1956 (Hindi Grantha Ratnakara).

2. The TP (Sanskrit, Triloka-Prajñapti) in two vols. Part I (2nd ed., 1956) ed. by A.N. Upadhye and Hiralal Jain ; Part II (1st ed., 1941) ed. by Jain and Upadhye. Both published by the Jain Samskriti Samrakshaka Samgha, Sholapur (Jivaraj Jain Granthmālā No. 1).

   According to Dr. Upadhye (TP, Vol. II, Intr., p. 7), the TP is to be assigned to some period between 473 A.D. and 609 A.D. However, the work may have acquired its present form as late as about the beginning of the ninth century (TP, Vol. II, Hindi Intr., p. 20).

3. The TS (Sanskrit, Triloka-sāra) ed., with the commentary of Madhava-candra, by Manohar Lal Shastri. Bombay, 1918 (Manikachandra Digambara Jain Granthamālā No. 12).

(iii) *Jambū-Paṇṇatti-Saṁgaho* (=JPS), I, 20 (p. 3) of Padmanandin.[4]

The *Viṣṇu-purāṇa*, a non-Jaina work, also takes the Jambūdvīpa to be of the same shape and size.[5]

The constancy of the ratio of the circumference of any circle to its diameter was recognized in all parts of the ancient world. This ratio is denoted by the Greek letter π (*pi*), so that the circumference C is given by

$$C = \pi D \quad \ldots \quad (2)$$

However, pi is not a 'simple' number. It is not only irrational but transcendental. Hence its true value cannot be expressed by *an* integer, fraction, surd, or by a terminating decimal. Thus, for any practical purpose, we can use only an approximate value of pi.

The simplest approximation to the exact formula (2) will be

$$C = 3D \quad \ldots \quad (3)$$

A rule equivalent to (3) is contained, for example, in TS, 17 (p. 9) which states

वासो तिगुणो परिही ॥१७॥

Vāso tiguṇo parihī...... //17//

'Diameter multiplied by three is the circumference.'

Utilizing the crude formula (3), the circumference of the Jambūdvīpa will be given by

$$C = 300{,}000 \text{ yojanas} \quad \ldots \quad (4)$$

However, the Jainas knew the inaccuracy of the rough value given (4). That is why they attempted to find an accurate value which is far better than (4).

The purpose of the present paper is to describe those values of C which were intended to be more accurate and explain as to how they were obtained.

For the purpose of comparision, we first find the correct modern value of *C*. Taking the true modern value of pi, correct upto 27 decimal places, and using (2) we get[6]

---

4. The JPS ed. by A.N. Upadhye and Hiralal Jain, Sholapur, 1958 (Jivaraj Jain Granthamālā No. 7).

   According to the editors (JPS. Intr., p. 14), Padmanandin might have composed the JPS about 1000 A.D.

5. See the *Viṣṇu-purāṇa*, aṁśa 2, chapter 2 (pp. 138-40), ed., with Hindi translation by Munilal Gupta, Geeta Press, Gorakhpur, 4th ed., 1957. Also cf. TP, Vol. II, Hindi Intr., p. 83.

6. See Howard Eves, *An Introduction to the History of Mathematics*. p. 94, New York, 1969 Holt, Rianehart and Winston).

C=314159. 265, 358, 979, 323, 846, 264, 338, 3 yojanas ... (5)

correct to 22 decimal places.

However, the form in which ancient values were expressed should not be expected to be of the type (5) which utilizes decimal fractions. For expressing fractional parts, the Jainas employed a series of sub-multiple units to a very very fine degree. Starting with the *paramāṇu* ('extremely small particle') of an indeterminately small size and ending with a *yojana,* the TP, I, 102-106 (pp. 12-13) and I, 114-116 (p. 14), contains a system of linear units which we present in Table I below :[7]

TABLE—I.

(Units of length from the *Tiloya-paṇṇatti*)

Infinitely many paramāṇus	=	1 avasannāsanna skandha
8 avasa. units	=	1 sannāsanna
8 sannāsannas	=	1 truṭareṇu
8 truṭareṇus	=	1 trasareṇu
8 trasareṇus	=	1 rathareṇu
8 rathareṇus	=	1 uttama bhogabhūmi bālāgra
8 ut. bho, bālāgras	=	1 madhyama bhogabhūni bālāgra
8 ma. bho. bālāgras	=	1 jaghanya bhogabhümi bālāgra
8 ja. bho. bālāgra	=	1 karma-bhūmi bālāgra
8 ka. bālāgras	=	1 likṣā
8 likṣas	=	1 yūka
8 yūkas	=	1 yava ('barley corn')
8 yavas	=	1 aṅgula ('finger-breadth')
6 aṅgulas	=	1 pāda
2 pādas	=	1 vitasti ('span')
2 vitastis	=	1 hasta ('fore-arm' or 'cubit')
2 hastas	=	1 rikkū (or kiṣku)
2 kiṣkus	=	1 daṇḍa ('staff') or dhanuṣ ('bow')
2000 daṇḍas	=	krośa
4 krośas	=	1 yojana

3. As follows in *TP*, since others are (slights)
7. Cf. L.C. Jain, "Mathematics of the TP" (in Hindi), prefixed with the Sholapur ed. of the JPS., p. 19.

TABLE—II.

(Circumference of the Jambūdvīpa of Diameter 100,000 yojanas)

Sl. No.	Denomination or unit.	By C=πD, with actual value of pi	By C=$\sqrt{10}$D. with actual value of $\sqrt{10}$	As found in the Tiloya paṇṇati (TP)	Area=C.D/4, with C from TP. (in square units)
1.	yojana	314159	316227	316227	79056, 94150
2.	krośa	1	3	3	1
3.	daṇḍa	122	128	128	1553
4.	kiṣku	1	0	0	0
5.	hasta	1	0	0	0
6.	vitasti	0	1	1	1
7.	pāda	1	0	0	0
8.	aṅgula	5	0	1	1
9.	yava	5	7	5	6
10.	yūka	4	3	1	3
11.	likṣa	4	4	1	3
12.	ka. bālāgra	3	7	6	2
13.	ja. bho. bālāgra	2	4	0	7
14.	ma. bho. bālāgra	3	3	7	3
15.	ut. bho. bālāgra	6	5	5	7*
16.	rathareṇu	7	5	1	4*
17.	trasareṇu	4	2	3	2*
18.	truṭareṇu	3	1	0	3*
19.	sannāsanna	0	5	2	7
20.	avasa. units	6	7	3	1
21.	kha-kha fraction (or remainder)	43/100 nearly	71/100 nearly	$\frac{23213}{105409}$	$\frac{48455}{105409}$

From Table I, it can be easily seen that

1 yojana$=5.3\times10^{16}$ avasa. units roughly,

so that an avasa. unit is of the order of about 10^{-17} of an yojana or of the order of about 10^{-22} with respect to the given diameter (1). That is why we must employ a decimal value correct to about 25 places in order to check or compare with another value which is specified upto the avasa. units together with the fractional remainder there-after.

The value (5), which is in conformity with above consideration, can now easily be transformed and expressed in terms of the units of Table I. We have done this by successively changing the value of the fractional part of left into sub-units at each stage. This transformed form of the correct modern value of the circumference of the Jambūdvīpa is shown in Table II.

2. *THE JAINA VALUE OF THE CIRCUMFERENCE*

Naturally, we need not expect the exact modern value of C (as calculated by us above) to be stated in any ancient Jaina work, because, like all other ancient peoples, the Jainas also used only approximate values of pi needed in the relation (2).

The Jainas commonly employed the following formula, which is better than (3),

$$C=\sqrt{10D^3} \quad \ldots \quad (6)$$

or

$$C=\sqrt{10}D \quad \ldots \quad (7)$$

There is no shortage of references to (6) or (7) in Jaina works. It occurs in the *Bhāṣya* (p. 170)[8] which accompanies the TDS under III, II. Some other references are :

(i) TP, I, 117, first half (Vol. I, p. 14) ; TP, IV, 9 (vol. I, p. 143) ; etc.

(ii) TS, 96, first half (p. 41) and TS, 311, first half (p. 123).

(iii) JPS, I, 23 (p. 3).

(iv) *Jyotiṣ-karaṇḍaka* (gāthā 185)[9].

By taking the value of $\sqrt{10}$ correct to 27 decimal places, we get, from (7) which is theoretically enquivalent to (6),

$$C=316227.766,016,837,933,199,889,354,4 \quad (8)$$

8. Premi, op. cit., pp. 524-529, believes that the *Bhāṣya* is by the author of TDS itself, while J.P. Jain, op. cit., p. 135, says that 'no evidence of the existence of such a *Bhāṣya* prior to 8th century A.D. has yet been discovered.'

9. As quoted by R.D. Misra, "Mathematics of ā circle etc." (in Hindi), *Jaina Siddhānta Bhāskara*, Vol. 15, no. 2 (January 1949), p. 105.

Accorning to the commentator Malayagiri (c. 1200 A.D.), the *Jyotiṣ-karaṇḍaka* (of Pūrvācārya) was edited on the basis of the first Valabhi *vācanā* which took place c. 301 A.D. ; see J.C. Jain, *History of Prakrit Literature* (in Hindi), pp. 38 and 131, Chowkhamba Vidya Bhavan Vranasi, 1961.

As before, we have converted this value in terms of the units of Table I. The result obtained is shown in Table II.

The value of the circumference of the Jambūdvīpa as found stated in the TP, IV, 50-57 (Vol. I, p. 148)[10] is also given in Table II. The TP value is slightly *more* than

C=316227 yojanas, 3 krośas, 128 daṇḍas, and $13\frac{1}{2}$ aṅgulas ... (9)

This simplified value which is rounded off to the nearest half of an aṅgula is found in many works including :

जम्बू० प्र० पृ० ७२

(i) *Anuyogadvāra-sūtra*, 146, where it is given as the circumference of a *palya* of diameter one lac yojana."[11]

(ii) *Jīvājīvābhigama-sūtra*. 82 (without reference to Jambūdvīpa)[12]

(iii) TS, 312 (p. 126) as an accurate value.

(iv) JPS, I, 21-22 (p. 3).

A glance at the Table II will show that the TP value does not fully agree with that which is accurately found by the Jaina formula (6) or (7). The latter value is slightly *less* than

316227 yojanas, 3 krośas, 128 daṇḍas, and 13 aṅgulas ... (10)

Thus, there is a divergence even between the frequently met and rounded off Jaina value, given by (9), and the one given by (10) which is based on the correet value of the square-root of ten to a desired degree.[13]

Naturally, we are keen to know the cause of disagreement between the two sets of values, particularly because the values are intended to give accuracy to a very fine degree of smallness. Is there some arithmetical error of calculation in extracting the square root, successively, to the desired degree ? Or, the Jains followed some different procedure ? This we answer in the following pages.

3. *HOW THE CIRCUMFERENCE WAS OBTAINED*

For finding the square-root of a non-square positive integral number N, the following binomial āpproximation was frequently used during the ancient and mediaeval

$$\sqrt{N}=\sqrt{a^2+x}=a+(x/2a) \quad \ldots \quad (11)$$

10. In this connection, the TP mentions the work *Diṭṭhioāda* (Sanskrit, Dṛṣṭivāda) from which the value is apparently quoted ; (see *Babu Chotelal Jain Smriti Grantha* Calcutta, 1967, English section p. 292 ; and the *Anusandhāna Patrikā*, no. 2, April June, 1973, p. 30 (Jaina Vishva Bharati, Ladnu).
11. See the *Mūlasuttāṇi* edited by Kanhaiya Lalji, pp. 561-562 (Gurukul Printing Press, Byavara, 1953).
12. Quoted by H.R. Kapadia in the "Introduction", p. XLV, to his edition of the *Gaṇita-tilaka*, Oriental Institute, Baroda, 1937.
13. The comparasion made by Dr. C.N. Srinivasiengar, *The History of Ancient Indian Mathematics*, p. 22 (World Press, Calcutta, 1967) is wrong because he takes one dhanus (or daṇḍa) to be equal to 100 aṅgulas (instead of 96).

where a and x are positive integers, and the 'remainder' x is less than the 'divisor' 2a; otherwise or alternately, we may use

$$\sqrt{N}=\sqrt{b^2-y}=b-(y/2b) \quad \ldots \quad (13)$$

The approximation (11) was known to the Greek Heron of Alexandria (between c. 50—c. 250 A.D.)[14] and even to the ancient Bobylonians.[15] Thc Chinese Sun Tzu (between 280 and 473 A.D.),[16] while extracting the square-root of 234567 by an elaborate rule, finally said :[17]

"Thus we get 484 for the square-root in the above and 968 for the *hsia-fa*, the remainder being 311."

He gave the answer

$$484+(311/968) \quad \ldots \quad \ldots \quad (13)$$

Thus, whatever be the method of Sun Tzu, the result (13) is equivalent to what we get by using (11).

The *Jaina Gem Dictionary* (pp. 154-155) gives the same rule, as represented by (11), for finding the square-root.[18] The TP, I, 117 (V. I, P. 14) implies that the circumference of a circle of diameter one yojana was calculated to be 19/6 yojanas. This is in agreement with the use of the rule (11), since

$$\sqrt{10}=\sqrt{3^2+1}=3+(1/6) \quad \ldots \quad (14)$$

Now from (1) and (6) we get

$$C=\sqrt{100,000,000,000}$$

$$=316227+\frac{484471}{2\times316227} \text{ yojanas} \quad \ldots \quad (15)$$

by applying the approximation (11).
In the present case, therefore, we have

'divisor' = 632454

and

'remainder' = 484471

The fractional yojana remainder, namely

484471/632454

when converted into krośas, will give

$$484471\times4/632454 \text{ krośas}$$

$$=3+(40522/632454) \text{ krośas} \quad \ldots \quad (16)$$

---

14. D.E. Smith, *History of Mathematics*. Vol. II, p. 254 (Dover reprint, New York, 1958).
15. C.B. Boyer, *A. History of Mathematics*, p: 31 (Wiley, New York, 1968).
16. See *ISIS*, Vol. 61, part 1 (1970), p. 92.
17. Y. Mikami, *The Development of Mathematics in Ghina and Japan*, p. 31 (Chelsea reprint, New York, 1961).
18. Quoted by Kapadia (ed.), op. cit., p. XLVI.

The fractional krośa remainder, namely

40522/632454

can, similarly, be converted into the next lower sub-units (daṇḍas). The process can be continued likewise.

We shall easily get 128 daṇḍas, 1 vitasti (=12 aṅgulas), and 1 aṅgula with the fractional aṅgula remainder to be equal to

407346/632454 ... ... (17)

which is equal to

67891/105409 ... ... (18)

Thus, we see that the fractional aṅgula-remainder (18) is slightly more than half. In this way, we get the circumfenerence of the Jambūdvipa as giv by (9).

However, if we want to carry out the evaluasion to lower and lower units (as should be done in order to get a value comparable to that found in the TP), we easily have putting 105409 equal to H) :

(a) aṅgula-fraction, 67891/105409
=5+(16083/H) yavas
(b) yava-fraction, 16083/H=1+(23255/H) yūkas
(c) yūka-fraction, 23255/H=1+(80631/H) likṣas
(d) likṣa-fraction, 80631/H=6+(12594/H) ka. bālāgras
(e) ka. bāl. fraction. 12594/H=0+(100752/H) ja. bho. bālāgras
(f) ja. bho. bāl. fraction, 100752/H=7+(68153/H) ma. bho. bālāgras
(g) ma. bho. bāl. fraction, 68153/H=+(18179/H) ut. bho. bālāgras
(h) ut. bho. bāl. fraction, 18179/H=+(40023/H) rathareṇus
(i) ratheṇu fraction, 40023/H=+3957/H) trasareṇus
(j) transareṇu franction. 3957/H=0+(31656/H) truṭareṇus
(k) truṭareṇu fraction, 31656/H=2+(42430/H) sannāsanna
(l) sannāsanna fraction, 42430/H=3+(23213/H) avasa. units

Thus we have, finally. the avasannāsanna fractional remainder

=23213/105409 ... (19)

In this way, we see that the above long calculation yields a value which is in complete agreement with the TP value right from the whole number of yojanas down to the lowest submultiple units defined in the text. Moreover, we have found out a meaning of the fraction (19), designated as *kha-kha* (or *ananta-ananta*, endlessly endless') term, which can yield measures in still smaller and smaller units of length (to be defined with the help of the infinitely small particles or paramāṇus) if desired.

That the above method is the actual one which was used by the Jainas is quite evident from the full agreement obtained above and is also confirmed by what is given by

Mādhava-candra in the commentary of his teacher's TS under the gāthā 311 (pp. 125-126) where the calculation has been carried out upto the fractional aṅgula remainder (17).

Once we know the circumference. the area of the Jambūdvīpa can be computed by using the well-known rule, for example see TP. IV. 9 (Vol. I. p. 143), namely.

Area = C. D/4 ... (20)

The result of our computation of the area by using (20) and TP value of C is shown in Table II. The contribution of the fraction (19)

$= 23213 \times 25000/105409$ square avasa. units

$= 5505 + (48455/105409)$ ... (21)

The measures of various denominations (specifying the area) as found in the TP, IV, 58-64 (Vol. I, p. 149) agree with the corresponding values which we have computed, inc[illegible]ding the *kha-kha* franction given by the bracketed quantity in (21). This again canfirms our calculations and interpretations.[19]

Incidently we have discovered that at least one line (or verse), which ought to be there to specify the numerical values (marked by asterisks in Table II) of the four denominations from ut. bho. bālāgras to truṭareṇus, is missing in the printed text of the TP (between verses 61 and 62 in the fouth mahādhikāra) which we have consulted, if not in the original manuscripts.

The contents of the manuscript entitled *jambudvīpa-paridhi*[20] ('Jambūdvīpa-Circumference'), which seems to be relevant to the subject of our present paper, are not known to me.

19. See L. C. Jain, op. cit., pp. 49-50, for his comments on these kha-kha fractions.
20. See the *Catalogue of Mannscripts at Limbadi* (in Devanagari), edited by Catura-vijaya, p. 61, serial no. 1014, Bombay, 1928 (Āgamodaya Samiti).

GEO CENTRE Versus HELEO CENTRE

(Based on Jain Theory)

—Sri A.B. Jain Sadalga

It is a normal fact that all living beings have to reap as they sow. If auspicious and phillanthrofic works are performed, the said life is anticipated to get all joyous fruits of supreme type i.e. heaven—Urdhwaloka. If otherwise indulged in wicked actions, adicted to but-chery, hunting, flesh eating, deception, looting others', wealth, betting, stealing, non-celibacy etc., the said life is fated with heavy sufferings for one's own heinous behaviour in hell—Adholoka. Jain cosmology exposunds that universe is immensely large on composite unit with full of 6 fundamental substances of which is constituted namely : (1) Jeewa—living life (2) Pudgal—physical matter with fusion and fision with no life (3) Dharma—one that helps motion passively (4) Adharma—one that helps staticity passively (5) Ākāśa—sky space area that gives support to all universal matters and (6) Kāla—time or that transforms matter from old to new or vice versa. First two matters are active while others are inactive. Wherever these basic materials are existing it is known as Loka-Universe. Its area is 343 cu. Rajus. Its shape is like a prompt man standing with two legs widely spread out and placed firm on ground with two hands being rested on both sides of opposite waists. It resembles Mridang a (two tabors placed one over other with coincided faces).

Adholoka: hell—is like Wetrāsana—cane chair with a seat without arms. Its bottom is 7 Rajus, height 7 Rajus (tapering upward). Its area is 196 cu. Rajus. For better understanding, the universe is divided in 3 parts from bottom to top.

Bottom is named Adholoka (hell), (2) Madhyaloka—mid-world, (3) Top—Urdhwa loka—heaven. Mid world is round similar to the surface of a tabor. Diameter of Madhyalok is 1 Raju and height 1 lakh yojan. Area is 1 Raju × 1 lakh yojan. Area of circumferential body is found by sūtra—formula = orbit $\times \frac{1}{4}$D. where d = diameter. Urdhwaloka—heaven shape is like Mridanga. Its bottom diametrical width is 1 Raju, top side 1 Raju and it is 5 Rajus in its mid section. Its area is 147 cu. Rajus. Triloka is supported by 3 kinds of high speed winds named (a) Dhanodadhi (b) Dhanuwātawalaya and (c) Tanuwātawalaya with 20,000 yojan width for each of them. Total 80,000 yojans.

(a) Dhanodadhi (heavy water) wātawalaya envelopes Triloka on all sides, as supporter to Triloka.

(b) Dhanu wāta-walaya—thick wind is just below Dhano-dadhi, serves as supporter to Dhano-dadhi (upper side to Dhanu-wāta-walaya).

(c) Tanu wāta-walaya is just below Dhanu wāta-walaya serving support to Dhanu wātawalaya.

Tanu wāta-walaya is supported by sky—space area. Sky supports all 3 heavy winds along with Triloka and is self supported and supporter for its ownself as it is formless. Colour of Dhanodadhi wind is like Go-Mootra (urine of cow)—yellow-red mixture. Dhanu wāta walaya is like Moong-green and Tanu-wāta-walaya is of variant colour with no distinction among them.

Adholoka-hells : There are 7 hells one below other distributed within 6 Rajus and Nigoda-Jeewa region is in 7th Raju (1 Raju) with least knowledge which is void of bondage by Karmic particles. Nigoda lives have mini knowledge known as 'Paryāya Jñān', if this least knowledge is bonded by Karma particles, it will be equal to Pudgal with no understanding power. The whole universe is full of Nigoda lives with no space left vacant except absence thereof in 8 types of living beings—Teerthankara, celestial gods, hell residents (5 sensed), Agnikāya etc. Nigoda lives are infinite ones—infinite in number, if, one Nigoda life takes birth, dies or respirates (infinite lives are contained in one life). So they all take birth, die or respirate simultaneously at one samaya (ultimate smallest part of time unit like atom of a matter (pudgal). There are 18 births and deaths if Nigoda lived in one samaya. They belong to one sensed (Ekendriya) living beings. There is maxi torture sorrow in Naraka Jeewas. They are most ugly and frightful shape. There height varies mini 7 Dhanuṣa (bow) 3 hast (hands) 6 angulas (fingures), maxi 500 Dhanushas. Mini and Maxi age—10000 years to 33 sāgaropam (innumerable years).

Ūrdhwaloka: heaven—There are 4 types of celestial gods—(1) Bhawan (2) Vyantara (3) Jyotishya and (4) Waimānika. All beings are with 5 senses. They have super type of happiness and enjoyment. Their height varies mini 1 Ratni to 7 Ratnis. They are most fair with beautitude of highest order. Their age is Mini 1000 years to Maxi 33 sāgorapam. They spend most of their time in religious discussions, purification of souls visiting Akritrima (natural) temples, idols worship, prayer of purest soul Sarwajñya (omniscient) all infinite matters with infinite knowledge, having infinite happiness, infinite conation and power.

Triloka is situated in exact centre of infinite sky as supporter and supportee. Madhyaloka with (Nriloka) human world is in between Adholoka and Ūrdhwaloka. Its shape is like raised top part of the tabor round sided with borders little bit raised. On north (top) direction is Ūrdhwaloka with circular round bottom being in intimate touch with Madhyaloka in one compounded unit undivided. On south side, is Adholoka, with top side being just in contact of Madhyaloka. Top of Adholoka and bottom of Urdhwaloka, just coincide with Madhyaloka. They are all concurrent to each other when they are placed one over the other horizontally on mid-world (in respect of Trasanadi.)

There is an area in the mid-part of Triloka from bottom to top with one square Raju sides and height of 14 Raju (square) named as 'Trasanadi' in which all varieties of Trasa-Jeewas (2 sensed to 5 sensed Panchendri) reside. All sides of Trasanadi are 1 Raju

square, circumference with one Raju daimeter can be inscribed therein. This is i.e. 1 Raju —equal to the dia of mid world. Nigoda (existing at bottom of Triloka) lives have mini knowledge, while topmost part of Triloka where Sidhdhalaya with 4500000 lakh yojan area is situated, have maxi knowledge (omniscience). The total area of Nigoda Niwas is 7 sq. Rajus of which 1 Raju area is being in Trasanadi part and remaining 6-1/7 Raju horizontally placed at bottom part of Trilok with 7 Raju sq. side $(7\times1)\times14$ cu. R. Out of 14 cu. Rajus of Tansnadi 10 cu. Raju is in Adholoka and rest 4 cu. Raju is in Adholoka and rest 4 cu. Rajus is in Ūrdhwaloka. Total $14\times1\times1=14$ cu. Rajus.

My treatise on Jainology, has superficially touched Triloka etc. as I have to restrict to mid-world, specially Agama Bharatakhand situated in southern portion of Jambū Dweep as to understand whereabouts of the present world, its sizes, area etc. being in one composite unit of Triloka. My theme will be of some usage and interest to the common reader, for introspective stride and for a researcher to disclose high lights from precious treasure of ultimate truth/and to develop on (a) experience (b) inference and (c) sutras. If all these 3 factors coincide under all items, it should be conceived as truth. If it fails in any one item out of three, it should be classed under wrong column.

My theme is to prove geo-centre negating heleo-centre. Earth is stable, flat, round sided on all directions having mountains, highest peaks, hills, hillocks, lakes, seas, rivers, tanks, rivulets, oceans, gulfs, caves, forests, self-existing temples with beautiful idols from immemmorial ages for prayer, meditation and to purify interior filthy soul imbibed in multitudal attachments, anger, pride, deceit etc.

There is no necessity of taking into consideration 23°—27° inclined rotatory revolving earth round sun; stable north pole star has been taken for all observations and calculations in heleo-centre (Sūrya Kendra) as he is seen moving by our eyes and telescope observations too. Moving earth has been completely excluded in my proof as all natural phenomena are happening during our day-to-day observations. I am at a loss to understand as to why and what made the scientists, administrators, politicians required its intervention when all day-to-day occurrences are in operation, processes undisturbed with stable earth, Madhya Meru is being situated in centre, round which sun, moon, planets, constellations and stars constantly revolve round Meru and above earth with spiral and round eccentric and concentric orbits with mini-radial distance from Meru (its exterior body) 44820 yojans off Meru, or diametrical distance between 2 suns/2 moons (to be proved in the writings) being 99640 yojans, its equal orbit—315089 yojans (formula used/$D^2\times10$=orbit 3.16227 where D=diameter) first day starting path of southern declaration on Shrawan Krishna Pakṣa I Pushynaksatra—constellation being in conjunction with sun at the time of his rise in the morning with variant altitudal heights from Chitta Bhoomi (land) in sky with unbroken and continuous spiritual movements from Jambu Dwīpa (North) to Lawan Ṣamudra (salt sea) South direction and vice versa throughout the year (366 days=2 Ayans

of 183 days each) in respect of all planet with potents lights of one self and circular round rings cut off independent ones (in respect of constellations and stars) (1) bestowing empirical (practical) time, (2) varying day and nights (24 hours) not more or less (3) maxi day+mini night (summer) and mini day+maxi night (winter)=24 hours (4) Summer, rainy and winter season in one year period (5) extended night measure 16-18-20 hours with short day light lasting for 6-4-2 hours from 66°—77° latitude in temperate zone and 1-3-5 moths twiligh/darkness with short sunshine for 1 to 1.5 hour in 77° to 90° latitude Arctic and Antartic polar regions, (6) eclipses of sun and moon with Rāhu and Ketu planets on Amāwāsyā (black half) and Pürnimā (full moon) after every 6 months in the year, (7) phases, occultations and maxi illuminary (glow) of Mercury, Venus, Jupiter and Mars at variant periods during the year. (8) small Ayan (sidereal period) on small and big orbits, big Aryan on small and big orbits, (9) high and low tides in salt sea water (Lawan Sa.) with 1008 Wadawanal Patal Kalashas twice in a day, with increase/decrease of high and low tides during Shukla Pakṣa and Krishna Pakṣa fortnight period with gradual modification of water and gas (heavy) contents in middle division (out of 3 equal divisions—bottom, middle and top parts) into full of heavy gas on Pūurnimā and vice versa retreading back change of gas to water containing water on Amāvāsyā in the interior mid division Wādawānal Patal Kalashas (10) Present visible universe being 183° as light of physical matter show one half of the substances and not full 100%. Present world is enveloped fully with day light from morning to evening, sunrise to sunset i.e. east to west=91.5°+darkness from evenig sunset to morning sunrise i.e. west to east=91° total 183.0°. Our eyesight, knowledge and practical works (behaviour) constitute one triangular unit that can be inscribed in the semi circle i.e. 183°= triangle=a semi circle. Nothing can be seen beyond 91.5° as expanse of light and darkness of sun is limited to 91.5° within any circle. (11) Maxi longitudal spread of light and darkness of sun is limited to 83333⅓ yojans only from orbit of centre or vice versa from centre to orbit of a circle along sides of radii like spokes of a wheel, beyond which light turns to twilight/ darkness ultimately. This is the experience during one day period. It is quite erroneous to imagine one/or more light years etc.

Every planets has potent light of oneself and not borrowed from sun, as sun, moon. Mercury, Venus, Jupiter, Mars and Saturn, Rāhu and Ketu all belong to one class, they travel from north (Meru) to South Lowan Sa. and vice versa South to North side, have their individual respective variant Ayan period by their constant movements from one direction to other on varied altitudes but are same eccentric (growing from North to South—Meru to Lawan Sa.) and concentric decreasing from South to North from Lawan Sa. to Jambu Dweep with varied individual royal roads. Every matter is independent with their intrinsic fixed attributes and never depend on others with their potential utility and latent operative active functions. They all belong to celestials to supply us light. Why potent light of self be refuted for some accepting the same light for some other ones when their characteristics behaviour, functions

are alike ? During my exquisite enquiry to gather opinion on heleo-centre, I find that most of the professors, teachers of geography and public at large do not like and approve what they instruct us and prescribe compulsorily in the curricula, viz. (a) how can a shadow of a globe earth (convex shape) cast down concave shadow on moon (Shukla pakṣa 1 to 7 and Krișna pakṣa 9 to 14 days) Reply is impossible. (b) Inclination of axis of rotation to ecliptic period of rotation—7.0° in respect of sun and inclination of orbit to ecliptic plane—5.8° in respect of moon, cross ecliptical diagrams, Mathematics etc. can't easily be understood by normal intellectuals. So it is a hatred theme to all interested in moral truths as a cultural background, destroying all basic, ethical, cosmic idiology involved in spiritual development.

FIGURES AT A GLANCE

(Bird's Eye View)

Basic figures are Pramana that are always correct, non-failing and permanent according to the tradition of Jainology.

1.	Mini radial distance from Meru (exterior body) in respect of 1 sun	44820 Yojans.
2.	Mini diametrical distance between 2 suns/2 moons.	99640 ,,
3.	Maxi radial distance from Meru	45330 ,,
4.	Maxi dia distance between 2 suns/2 moons.	100660 ,,
5.	Mini-orbit (circumference) of column—2	315089 ,,
6.	Maxi orbit of col. 4	318315 ,,

Name	Dia	G.K. (Gagan Khanda)	Royal path (Mārga)	Rays	Ayan Kāla
800 sun	48/61 yjn	1830	2-0 yjn	12000	183
880 moon	56/61 ,,	1768	35-214/427	12000	14-392/1551
,, Rāhu	50/61 ,,	1859-11/12	2100 yjn	—	14.0489
Ketu	,, ,,		2-50/61		
888 Mercury	½ Kresh	—	—	dim	
891 Venus	1 Kresh			2500	
894 Jupiter	Less than 1 Kresh			Bright Light.	
897 Mars	½ Kresh			dim	
Saturn	½ Kresh			dim	
Constellations	¼ Kresh			Circular path	

Jaghanya	—	1005×6	15 yjn.
Madhyama	—	2010×15	30 ,,
Abhijit		630	
Utkrishta	—	3015×16	45 ,,
Royal Path Marga		Jambu D.	Lawan Sa.
Sun—183 Spiral		65	119
Moon—15 Spiral		5	10
Constellations 8 rounds.		2	6

Minimum distance in which Jyotirdewas are absent from Meru — 1121 yojans.

CALCULATED ON BASIC PRAMAN FIGURES

	Siderical Period	Day Measure.
Sun	183 days	24 hours—30 Mahurta.
Moon	13-47/61 days	31-23/442 Mahurta.
Rāhu	Dia 60/61	Ayan 13,0087
Ketu	180 days.	2-50/61
Constellations	—	29-338854 Mahūrtas.
Mercury	44 days.	
Jupiter	2166.30 5.931 years.	
Mars.	343.49 days	
Saturn	14.429 (5370.3012)	

	Mini Yjn.	*Max. Yjn.*	*Avg. increasel decrease ratio*
Speed of sun	5251-29/30	5305-7/30	0.236 p. day
,, moon	5075-7744/13725	5125½	0.77 ,,
Rāhu Ketu			
Constellations	5265-18263/ 21960 yjns	5319-15998/ 21960 yjn	
Eye-sight power limit	31831.4 ,,	47263-7/20	29.68 yjn ,,
Increase/decrease of spriral orbits of planets p. day.			
Equal orbit for	36-179/427 yjns.	115-143/854 yjns.	17-38/61 yjns.

FIGURES AT A GLANCE

Symbols

D = Diameter
G.K. = Gagan Khand
J S = Jagat Shrenee
S P A = Sankyat Pratarangule
J P = Jagat Pratar

1. Area of Madhyaloka — $(1 \text{ Raju})^2 \times 100000$ yjns.
   (a) ,, Nriloka — 45 lakh × 100000 ,,
   (b) ,, Jyotirloka — $(1 \text{ Raju})^2 \times 110$-13032925015
2. Number of Moons $= (JS)^2$ — (SPA × 45892736000,000,000. Moon = Indra (King) 7733248)
3. ,, Suns $= (JS)^2$ — (SPA × 45892736000000000. 7733248) sun—Pratendra = Vice King.
4. ,, Planets $= (JS)^2$ — (SPA × 54865920000000000. 966656) × 11
5. ,, Constellations $(JS)^2$ — (SPA × 10973184000000000. 1933312) × 7
6. ,, Stars $(JS.)^2$ — (SPA × 26790000000000000 472) 498782957984375
7. Total No. of Jyotisdewas = (J.S)—65536 Angulas
   Sum of Col. 2 to 6
   $JS = (7 \text{ Raju})^3 = 343$ cu. Rajus.
8. J.P. × 736725000,000,000 1928 4/65-52920,000,000,000,000,000.

Calculated figures.

Total Ayan Kshetra = 161504820 yjns. (included between 315089 to 318314 yjns.

Orbits—

———

JAINISM

Dr. Ramanlal C. Shah

Jainism is one of the greatest and the oldest religions of the world, though it is not known much outside India. Even in India, compared to the total population of India, Jainism at present is followed by a minority of the Indian population amounting to about four million people. Yet Jainism is not unknown to the scholars of the world in the field of religion and philosophy, because of its highest noble religious principles. Though followed by comparatively less number of people in the world, Jainism is highly respected by all those non-Jainas who have studied Jainism or who have come into contact with the true followers of Jainism. There are instances of non-Jaina people in the world who have most willingly either adopted Jainism or have accepted and put into practice the principles of Jainism. Though a religion of a small minority, Jainism is not the religion of a particular race, caste or community. People from all the four classified communities of ancient India—Brahmin, Kshatriya, Vaishya and Shudra—have followed Jainism. In the principles of Jainism, there is nothing which would debar a person of any particular nation, race, caste, community, creed. etc., from following Jainism. Hence Jainism is a Universal Religion.

The followers of Jainism are called Jainas. The word "Jaina" is derived from the Sanskrit word "Jina". One who follows and worships Jina is called a Jaina. Etymologically "Jina" means the conqueror or the victorious. Those who have conquered all their passions and have attained perfect liberation of their soul from the cycle of birth and death are called "Jina". A "Jina" who spiritually leads and guides his followers is called "Tirthankara". According to Jainism the time is cyclic. One cycle of time, coosisting of six parts of ascendance and six parts of descendance, has more than millions of million years, and in one such ascendance or descendance of cycle, there are twenty-four such Tirthankaras. In the present cycle of time, the first Tirthankara is Bhagavan Rishabhadeva or Ādinātha and the last Tirthankara is Bhagavān Mahāvīra.

THE JAINA CONCEPT OF SOUL

In order to understand fully the Jaina concept of the soul and the process of attaining emancipation of the soul from the cycle of birth and death, i.e., Moksha, it is essential to know the form and nature of nine elements, viz., Jīva, Ajīva, Puṇya, Pāpa, Asrava, Samvara, Nirjara, Bandha and Mokha, which are explained in much detail in the Jaina scriptures.

According to Jainism, the universe is composed of six substances, viz. Jīva (the Conscious), Pudgala (Matter), Dharma (which helps motion), Adharma (which helps to rest), Kala (Time) and Akasha (Space). Of these six substances, Pudgala, Dharma, Adharma, Kala and Akasha are grouped under Ajiva, the unconscious. Thus, the universe is composed of two main substances, Jiva and Ajiva.

Of all the substances, Jiva is the most powerful substance. It is consciousness which is the essence of the soul. Souls are of two classes : Emancipated (Mukta) and Embodied or Worldly (Baddha or Samsarin).

Jainism believes that there is life not only on this earth, but also on other planets and even beyond the solar system, i.e., in the whole universe. The Jaina concept of the Cosmos is given in detail in the Jaina scriptures.

Jainism believes that the universe is without a beginning and without an end. The universe has always existed and will exist for ever. There is nothing but infinity, both in the past and in the future. However, the universe is continuously undergoing countless changes. These changes are effected by the powers of the six substances, but in essence there is permanence in these changes, because the substances have three vital characteristics, viz. Utpada (Origination), Vyaya (Decay) and Dhrauvya (Permanence).

Jainism believes in plurality of soul, i:e., every living being has a soul. Not only human beings and animals, even trees, plants, bacteria and microscopic viruses have souls. There is life even in mud, water, air, fire and light, which we cannot see with the naked eye or with the most powerful microscope. Jainism has classified 8.4 million different species of life in the universe.

All living beings, whether big or small, has a soul. All souls are equal. The soul is independent, eternal, immortal and invisible. It cannot be cut, it cannot be burnt, it cannot be melted or it cannot be dried up. At the end of the life the body dies but not the soul. The soul transmigrates to another life. It moves from life to life and expands or contracts according to the size of the body of the living being. The soul thus keeps on transmigrating from life the to life, unless and until it liberates itself from the cycle of birth and death. When it attains liberation or salvation, i.e., Moksha or Nirvana, it has never to enter again into the cycle of birth and death. In order to achieve this highest goal of Moksha, Jainism explains the Law of Karma and shows the Path of Moksha.

THE LAW OF KARMA

The world is full of joy and sorrow. Some people are happy and some are unhappy allthrough out their life some people are happy or unhappy for sometime. A child is born without eyes and ears. A man saves his life miraculousaly in a plane crash. A saint is murdered. A murderer enjoys all his life without being detected. When we ponder over all such and so many other incidents happening around us, we are puzzled.

we ask ourselves, "Is there justice in this world? If it is there why should such things happen in this world? Is not God cruel and unjust? Is there any rule or law which decides all these things?" To this Jainism answers, "Yes. There is a law which decides and explains all these things. It is the Law of Karma (i.e. The Law of Deeds or Actions)."

According to Jainism, the Law of Karma leads us to believe in the theory of rebirth, which explains all that is inexplicable about such incidents.

With this Law of Karma, Jainism explains why there are joys and sorrows, happiness and unhappiness, prosperity and adversity, equalities and inequalities in the world; why one person is rich and the other is poor; why one is intelligent and the other is dull; why two persons do not have similar face, figure, voice, fingerprints etc. According to Jainism there are eight types of Karma and whatever happens to any living being at any time is due to the nature and intensity of the relevant Karma, either as result of an old Karma of the previous or the present birth or is due to a new Karma which is being produced. These eight types of Karma are (1) Jnanavaraniya (Regarding Knowledge), (2) Darshana-varaniya (Regarding Faith), (3) Vedaniya (Regarding Experiences), Mohaniya (Regarding Attachment), (5) Aayu (Regarding type of Life and Age), (6) Nama (Regarding different physical and other attributes), (7) Gotra (Regarding Family) and (8) Antaraya (Regarding obstacles in different activities of life). Of all these Karmas, it is most difficult to conquer the Karma of attachment because of anger, ego, infatuation, greed etc. When the body dies the soul transmigrates to another life with the remaining Karma.

Jainism believes that soul is an independent and the most powerful substance and therefore the soul itself can liberate itself from the bondage of Karma. This could be done by adopting the right path of liberation—the Path of Moksha.

THE PATH OF MOKSHA

Right Knowledge, Right Faith, and Right Conduct are the three most essentials for attaining Moksha, libetation. In order to acquire these, one must take the five great vows: (1) Ahimsa (Non-injury), (1) Satya (Truth), (3) Asteya (Non-stealing), (4) Brahmacharya (Celibacy) and (5) Aparigraha (Non-acquisition). Among these five vows "Ahimsa" is the cardinal principle of Jainism and hence it is called the highest religious principle or the cornerstone of Jainism.

AHIMSA (NON-INJURY)

Bhagavan Mahavira has said that all living beings desire life and not death: therefore no one has a right to take away life of any other being. Therefore killing of life is the greatest sin. There are people who believe in not killing human beings, but they do not mind animals being killed. According to Jainism, killing of animals is also a great sin. Jainism goes still further and says that there is life in trees and plants, and there is life in air, water, mud etc., and all living beings have an equal right to exist. Therefore we should not kill life of even lower or lowest strata. Life is dearer to everyone and therefore we must have respect for life. Not only "Live and let Live" but "Live and help others in Living,"

should be our principle. Just as a head of the family looks after the welfare of the family members, a human being, who enjoys the highest place in the evolution of life, should look after the welfare of the other lower living beings.

Jainism further says that sometimes you may not kill a living being, but may speak something which may hurt the feelings. Sometimes you may not kill a living being, but you may think of killing it. Therefore you also commit sin when you speak hurting words or the moment you start thinking of killing some life. Hence, according to Jainism, The sin is committed not only by action, but by speech and by thought also, which again is threefold, i.e., (1) you may commit sin yourself or (2) you may ask some one to commit sin on your behalf or (3) you may support or praise the sin committed by someone. Hence one should refrain from committing this nine-fold sin.

The universe is full of living beings, big and small, and therefore it is impossible to exist without killing or injuring some of the smallest living beings. Some lives are killed even when we breathe or drink water or eat food. Therefore, Jainism says that minimum killing should be our ideal. Moreover, it is more serious where killing is done intentionally or through indifference. Therefore great care should be taken in all our daily activities so that minimum violence is committed by our deeds, speech and mind.

In the universe, there are different forms of life, such as human beings, animals, insects, trees and plants, bacteria, and even still smaller lives which cannot be seen even through the most powerful microscope. Jainism has classified all the living beings according to their sense organs, i.e., having five senses, four senses, three senses, two senses and one sense. It is more serious if life of the highest form is killed. Therefore Jainism preaches strict vegetarianism and prohibits flesh-eating.

Jainism firmly believes that life is sacred irrespective of caste, colour, creed or nationality and therefore not only physical or mental injury to life should be avoided, but one should have all possible kindness towards all the living beings. This should be the spirit of Ahimsa.

SATYA (TRUTH)

To speak truth requires moral courage. Only those who have conquered greed, fear, anger, jealousy, ego, vulgarity, frivolity etc., can speak the truth when required. Jainism insists that one should not only refrain from falsehood, but should always speak the truth which should be wholesome and pleasant.

ASTEYA (NON-STEALING)

The vow of Non-Stealing insists that one should be honest and should not steal anything or rob others of their wealth, belonging, etc. Further, one should not take anything which does not belong to him. It does not entitle one to take away a thing which may be

lying unattended or unclaimed. One should observe this vow very strictly and should not touch even a worthless thing which does not belong to him.

BRAHMACHARYA (CELIBACY)

Total abstinence from sex-indulgence is called Brahmacharya or Celibacy. Sex is an infatuating force which obscures the right path of Maksha and sets aside all virtues and reason at the time of indulgence. This vow of controlling sex passion is very difficult to observe in its subtle form, because one may refrain from physical indulgence but may still think of the pleasures of sex. There are several rules laid down for observing this vow, both for monks and for householders.

APARIGRAHA (NON-ACQUISTION)

Jainism believes that the more a man possesses worldly wealth, the more he may be unhappy and the more he is likely to commit sin, physical and mental, because worldly wealth creates attachments which would continuously result in greed, jealousy, selfishness, ego, hatred, violence, etc. Bhagavan Mahavira has said that wants and desires have no end and only the sky is the limit for them.

Attachment to worldly objects results in the bondage of the cycle of birth and death. Therefore, one desirous of spiritual liberation should withdraw from all attachments to the pleasing objects of all the five senses.

This Jaina principle of limited possession helps in equitable distribution of wealth, comforts, etc., in the society. Thus Jainism helps in establishing socialism, economic stability, and welfare in the world.

Jainism has laid down and described in much detail these five great vows for the path of Moksha. These are to be observed strictly and entirely by the monks and nuns. Partial observance is laid down for the householders with additional seven vows. There are other thirty-five rules of conduct laid down for the householders.

In addition to these five great vows, Jainism has laid great stress on Amity (Maitri), Appreciation (Pramoda), Compassion (Karuna), and Equanimity (Madhyastha) and on the observance of ten-fold code of conduct, i.e , (1) Forgiveness, (2) Humility, (3) Straightforwardness, (4) Truthfulness, (5) Purity of mind, (6) Control of senses, (7) Penance, (8) Renunciation, (9) Greedlessness, and (10) Chastity.

Jainism has thoughts of the gradual evolution of the soul and has described fourteen stages (Gunasthana) for the liberation of soul. With the help of above-mentioned vows and virtues a soul can gradually liberate itself and attain Nirvana.

ANEKANTAVADA

The principle of the Anekantavada or Syadvada is a very valuable contribution of Jainism to the world thought. This doctrine is also known as the theory of Relativity or the

Philosophy of Non-absolutism or the Philosophy of Relative Pluralism. This principle teaches us how to realise truth in its varied aspects.

Bhagavan Mahavira has said that every substance has infinite attributes or qualities and different attributes may be seen through different angles. Just as a coin has two sides or a prism has many sides, similarly every substance or situation has many aspects which could be seen from more than one side. A man may be son of a father and father of a son or he may be someone's brother or nephew or uncle or brother-in-law, or grandfather or grandson and so on. The town in which you stay is in the south for the people of the north and is in the the north for the people of the south and so on. Therefore every substance or situation should be looked from different angles in order to realise the truth underlying its different aspects. It helps us to understand the view-points of others. If a man ignores various other angles or view-points of an object or situation, and sticks to one particular angle or viewpoint he will never realise truth in its varied aspects.

Thus, Anekantavada teaches us that the kingdom of truth can be reached through different ways. It also teaches us that we should not impose our own thoughts or views on others, but should try to reconcile with the thoughts or views-points of others. This principle, therefore, if earnestly put into practice shows us how to remove our short-sighted, selfish and partial outlook. It shows us how to remove discord and disharmony and establish concord and harmony in life, by being catholic and tolerant in our outlook and attitude towards others.

The principle of Anekantavārda should be applied to every field of life. It shows us how to respect can did opinions of all free thinkers of the world and therefore the roots of modern democracy could be traced in this Jaina principle. It establishes unity in diversity. It promises reconciliation of divergent or conflicting statements, thoughts, ideologies, systems, religions etc. The princlple of Anekantavada therefore can be a great instrument to peaceful co-existence and unity in the world.

Thus Jainism believes in the right faith, right knowledge, right conduct, non-injury, truthfulness, non-stealing, celibacy and non-adultery, non-acquisition of wealth, amity, appreciation, compassion, equanimity, forgiveness humility, straightforwardness, purity of mind, control of senses, mercy, penance, renunciation, greedlessness, chastity, respect for other's view-points, etc. In short Jainism has advocated for all the best virtues required for peaceful and happy living for all the liberation of the living beings and also required for the liberation of the soul from the cycle of birth and death. Jainism has thought of every possible situation in life, has elaborately analysed them and has guided the followers of all categories towards the right path.

2,500 years before Bhagavan Mahavira reorganised Jainism and put it on a very

sound footing, so that it is followed till now by the Jainas without a break and without a change.

Let us end with one of the daily prayers of Jainism :

I forgive all the living beings and let all the living beings forgive me. I have amity with all and enmity with none.

Let all the living beings be happy. Let all the living beings be busy in making other happy. Let the evils disappear from everywhere and let the whole world be happy.

विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

१.	काश्मीरेतिहासः	पण्डितमार्तण्ड श्री हनुमत्प्रसाद शास्त्री,	१५-००
२.	गीतिकादम्बरी	कविरत्न श्री अमीरचन्द्र शास्त्री	२०-००
३.	अध्वरमीमांसा कुतूहलवृत्ति (१, २, ३ अध्याय, प्रथम भाग)	सम्पादक, आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री	३०-००
४.	,,(४, ५, ६, ७, ७ अध्याय, द्वितीय भाग)	,,	३०-००
५.	,,(६, १०, अध्याय, तृतीय भाग	,,	१५-००
६.	,,(११, १२ अध्याय चतुर्थ भाग	,,	
७.	ऋग्वेद-कवि-विमर्शः	डॉ० मधुकर गो० माईणकर	३-००
८.	पञ्चामृतम्	(विविधभाषणसंग्रहः)	१५-००
९.	प्रमाणप्रमोदः	सम्पादिका-श्रीमती उज्ज्वला शर्मा	७-००
१०.	नित्यकर्मप्रकाशः	श्री भवानीशंकर त्रिवेदी	४-००
११.	संस्कृत साहित्य में शब्दालङ्कार	डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी	४०-००
१२.	रस-सिद्धान्तः	डॉ० नगेन्द्र [अनु० श्री अमीरचन्द्र शास्त्री]१	५-००
१३.	ऋतु इन संस्कृत लिटरेचर	पद्मभूषण डॉ० वी० राघवन्	१६-००
१४.	बौद्धालङ्कार-शास्त्रम्	अनु० व सम्पादक, डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी	१५-००
१५.	संचारी भावों का शास्त्रीय अध्ययन	डॉ० रघुवीरशरण 'व्यथित'	२०-००
१६.	अध्ययन माला (प्रथम कुसुम)	प्र० सं० डॉ० पुष्पेन्द्रकुमार शर्मा सं० डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी	१०-००
१७.	प्रवचन-पारिजातः	पञ्च भाषणानां संग्रहः	६-००
१८.	म० म० पं० परमेश्वरानन्दशास्त्रि-स्मृतिग्रन्थः (अध्ययनमाला-विशेषांकः)	प्र० सं० डॉ० पुष्पेन्द्रकुमार शर्मा सम्पादक-डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी	३५-००
१९.	जीवन परिमल	डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी	
२०.	भाषण-भूषणम्	षण्णां भाषणानां संग्रहः	
२१.	रस-मीमांसा	सं० अनु० डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी	
२२.	राघवाह्निकम् गेयकाव्यम्	अनु० डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी	
२३.	चान्द्रव्याकरणवृत्तेः समालोचनात्मकमध्ययनम्	डॉ० हर्षनाथमिश्रः	
२४.	देवीपुराणम्	सं० डॉ० पुष्पेन्द्रकुमार शर्मा	
२५.	कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिता सायणभाष्य-हिन्दी-अनुवादसहिता	अनु० म० म० परमेश्वरानन्द शास्त्री	

प्राप्तिस्थानम् :—

श्रीलालबहादुरशास्त्रीकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्

१/६, शान्तिनिकेतनम्, नई दिल्ली-२१